॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

५९

॥ श्रीः ॥

आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्

श्रीहरदत्तमिश्रविरचितयाऽनाकुलया वृत्त्या

श्रीसुदर्शनाचार्यविरचितेन तात्पर्यदर्शनेन च

व्याख्यानेन समलङ्कृतम्

तच्च

महामहोपाध्याय अ० श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिणा

विषमस्थलटिप्पण्या समलङ्कृत्य सम्पादितम्

(तस्यायं द्वितीयं संस्करणम्)

हिन्दी व्याख्याकार तथा भूमिकालेखक

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७१

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

59

******

ĀPASTAMBA-GṚHYA-SŪTRA

With the 'Anākulā' Commentary

OF

ŚRĪ HARDATTA MIŚRA,

THE 'TĀTPARYADARŚANA' COMMENTARY

OF

ŚRI SUDARŚANĀCĀRYA

AND

Notes in Sanskrit

BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA

A. CHINNASVMĀI

Edited with

Hindi Translation, Explanatory Notes,

Critical Introduction & Index

BY

DR. UMESH CHANDRA PANDEY

M. A., Ph. D.

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1971

दो शब्द

'आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र' के द्वि० संस्करण की विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत करते हुए मुझे यह सन्तोष है कि इसके पूर्व प्रकाशित मेरे 'गौतमधर्मसूत्र' तथा 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' के संस्करण आधुनिक अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्रस्तुत गृह्यसूत्र भी उसी दिशा में एक प्रयास है।

इस ग्रन्थ में सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए व्याख्या आवश्यक है, वहाँ टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। प्रस्तावना में गृह्यसूत्र साहित्य पर, 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' के सभी पहलुओं पर तथा प्रमुख संस्कारों पर समालोचनात्मक दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्त में सूत्रों में उल्लिखित विषयों एवं नामों की अनुक्रमणिका भी दी गयी है, जो अनुसन्धित्सुओं के लिए सुविधाजनक होगी।

मुद्रण और प्रकाशन का सारा श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के संचालकों एवं सम्पादकों को है। उन्हें अपनी ओर से धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है। इस रचना में मेरा अपना जो कुछ है वह उसे ही समर्पित करता हूँ, जिसकी प्रेरणा से इसे प्रस्तावना आदि के साथ पूरा कर सका हूँ। अन्य सूत्रग्रन्थों के संस्करणों के समान प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपादेय सिद्ध होगा, यही आशा है।

निर्जला एकादशी
वि० सं० २०२८

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

प्रस्तावना सूची

ग्रन्थ सूची

परिशिष्टम्

प्रस्तावना

वेदाङ्ग

वेद एक दुरूह विषय है। उसका अर्थ जानने के लिए अनेक विषयों का परिचय होना आवश्यक माना गया और वेदज्ञान में उपकारक जिन ग्रन्थों की रचना हुई उन्हें वेदाङ्ग नाम से पुकारा गया है। 'अङ्ग' शब्द का अर्थ है 'उपकारक'—"अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि" जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सरलता हो उन्हें 'अङ्ग' कहते हैं। वेदाङ्ग नाम की रचनाओं में वेद का मुख्यतः दो दृष्टियों से अध्ययन किया गया है—भाषाविषयक अथवा अर्थज्ञान सम्बन्धी—जिनके अन्तर्गत निरुक्त, व्याकरण, छन्द, शिक्षा नाम की रचनाएँ आती हैं। दूसरी दृष्टि कर्मकाण्डविषयक है। इस प्रकार की वेदाङ्ग रचनाएँ कल्प और ज्योतिष हैं। वेदाङ्ग के अन्तर्गत छः प्रकार की रचनाएँ आती हैं—

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। वैदिक मंत्रों के शुद्ध और स्वर के नियम के अनुसार उच्चारण करने के लिए शिक्षाशास्त्र का ज्ञान आवश्यक होता है। वेद का मुख्य प्रयोजन कर्मकाण्ड या यज्ञक्रिया है, जिसका व्यवस्थित विवेचन 'कल्प' नाम के वेदाङ्ग में किया गया है। शब्द की रचना के ज्ञान के लिए, प्रकृति तथा प्रत्यय के ज्ञान के लिए 'व्याकरण' वेदाङ्ग का अध्ययन अनिवार्य है। वैदिक पदों के निर्वचन का ज्ञान 'निरुक्त' से होता है। अधिकांश वैदिक रचनाएँ छन्दों में हैं। उनका शुद्ध पाठ तभी हो सकता है जब छन्द का ज्ञान हो, मात्राओं और अक्षरों का ज्ञान हो और इसके लिए 'छन्दःशास्त्र' भी वेदाङ्ग है। यज्ञों का अनुष्ठान नक्षत्रों के अनुसार होता है और नक्षत्रों के ज्ञान के लिए ज्योतिष भी एक सहायक शास्त्र है। इस प्रकार इन छः वेदाङ्गों का अपना विशिष्ट प्रयोजन है।

"मन्त्रों के उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का, शब्दों के रूपज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरुक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित कालनिर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग है और इनकी उपयोगिता के कारण ये छहों 'वेदाङ्ग' माने जाते हैं।"

कल्प

वेद का प्रमुख प्रयोजन यज्ञ है। इस दृष्टि से 'कल्प' वेदाङ्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यज्ञों का विवेचन तो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी किया गया है, किन्तु वे विवेचन इतने जटिल हो गये थे कि उनको और स्पष्ट करने के लिए कल्पसूत्रों की रचना अनिवार्य हो गयी थी। "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र" जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय। अथवा कल्प वेदविहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करनेवाला शास्त्र है।

"कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।"

सूत्र साहित्य

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और यह अपनी विशिष्ट शैली के कारण अन्य सभी प्रकार की रचनाओं से भिन्न है। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक परम्परा का प्रतिनिधि है। सूत्र साहित्य एक ऐसी शृङ्खला है जो वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ती है। जैसा कि मैक्स मूलर ने कहा है, इन सूत्रों की शैली का परिचय उसी व्यक्ति को मिल सकता है जिसने इन्हें समझने का प्रयत्न किया है और इनका शाब्दिक अनुवाद तो सम्भव हो ही नहीं सकता।

सूत्र का अर्थ है धागा, और सूत्रों में छोटे, चुस्त, अर्थगर्भित वाक्यों को मानो एक धागे में पिरोकर रखा जाता है। संक्षिप्तता इनकी विशेषता है। पश्चिमी विद्वानों ने इन सूत्रों की शैली पर बहुत आलोचनात्मक ढंग से विचार किया है। प्रो० मैक्स मूलर ने 'हिस्ट्री आफ एंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर' नाम की पुस्तक में सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है—

"Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law or philosophy, is reduced to a mere skelton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and cleasness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas."

—Page 37

(इस प्रकार जिस शास्त्र का प्रतिपादन किया गया हैं, वह चाहे व्याकरण हो, छन्द, धर्मशास्त्र या दर्शन हो, उसे एक ढाँचा मात्र बना दिया गया है। किसी भी विचारधारा के सभी प्रमुख तथ्यों और सम्बन्धों को सूक्ष्मतम और अत्यन्त स्पष्ट रूप से खोल कर रख दिया गया है किन्तु इन रचनाओं में अन्विति या अर्थ के विकास जैसी कोई वस्तु नहीं है)।

कोलब्रूक ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है—

"Every apparent simplicity of design vanishes in the perplexity of the structure. The endless pursuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts. that the reader cannot keep in view their intended connection and mutual relation. He wonders in an intricate maze, and the clue to the labyrinth is continually slipping from his hands"

(इस शैली की बाहर से दिखायी पड़नेवाली सरलता रचना की जटिलता में लुप्त हो जाती है। अपवादों एवं बाधों की अनन्त शृंखला सामान्य सिद्धान्त को इतना व्यवच्छिन्न कर देती है कि पाठक उनके अभिप्रेत सम्बन्ध तथा पारस्परिक अन्विति को ध्यान में नहीं रख सकता। पढ़नेवाला पेचीदा भूलभुलैया में चकित होकर रह जाता है और इससे निकलने का संकेतचिह्न निरन्तर उसके हाथों से छूटता रहता है।)

सूत्र रचनाओं में शास्त्रीय विषय को व्यवस्थित रूप में संक्षिप्त शैली में प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उसे याद किया जा सके। विण्टरनित्स के शब्दों में 'विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में इन सूत्रों की तरह की कोई रचना नहीं है। इस प्रकार की रचनाओं में यथासम्भव थोड़े से शब्दों में सिद्धान्त को व्यक्त करना ही रचयिता का उद्देश्य होता है, भले ही स्पष्टता और बोधगम्यता का बलिदान करना पड़े। वैयाकरण पतञ्जलि का यह कथन प्रायः उद्धृत किया जाता है कि "सूत्रकार आधी मात्रा की बचत पर उतना ही आनन्दित होता है जितना पुत्रजन्म पर।"

("There is probably nothing like these sūtras of the Indians in the entire literature of the world. It is the task of the author of such a work to say as much as possible in as few words as possible, even at the expense of clearness and intelligibility." Histoty of Indian Literature, p. 235.)

सूत्रों की शैली की आलोचनाएँ इस सीमा तक की गयी हैं कि प्रो० मैक्स मूलर ने भी इन्हें नीरस कहने में संकोच का अनुभव नहीं किया है। अपने ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ एंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर" में उन्होने कहा है—

"There is no life and no spirit in these Sūtras, except what either a teacher or a running Commentary, by which these works are usually accompanied, may impart to them."

—Page 65.

सूत्र रचनाओं की शैली के विषय में जितनी आलोचना क्यों न हो, इस विषय में दो मत नहीं हो सकता कि मौखिक उपदेश के समय इनकी संक्षिप्त शैली एक आवश्यकता बन गयी और इनकी विशिष्ट शैली के कारण ही इनमें से अधिकांश की रक्षा हो सकी, अन्यथा लेखन के अभाव में इनका सर्वथा लोप ही हो गया होता। सूत्रों की इस विशिष्ट शैली के अन्तर्गत ही एक नये प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का भी विकास हुआ। इसका समीकरण मैक्स मूलर ने बीजगणित के सूत्रों से किया है। इस विशिष्ट शब्दावली को 'परिभाषा' अध्याय के अन्तर्गत पढ़ा जाता है। व्याकरण के सूत्रों में तो यही विशिष्ट शब्दावली ही अर्थबोध की कुञ्जी बन गयी है। मैक्स मूलर ने इस परिभाषावली के विषय में कहा है—

"they coin a new kind of language, if language it can be called, by which they succeed in reducing the whole system of their tenets to a mere algebraic formulas."

सूत्र साहित्य की प्राचीन रचनाओं में अनेक शताब्दियों के ज्ञान का भण्डार एकत्र किया गया है। वे शताब्दियों के चिन्तन, मनन और अध्ययन के परिणाम हैं और उन्हें जो रूप प्राप्त हुआ है वह भी अनेक शताब्दियों की अनवरत परम्परा का परिणाम है। भारतीय परम्परा में वेद को श्रुति कहा गया है और वह अपौरुषेय माना गया है, अर्थात् वेदान्तर्गत प्राचीन रचनाएँ—संहिता, ब्राह्मण—मनुष्यकृत रचनाएँ नहीं हैं। वे ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं, उनके द्वारा रचित नहीं हैं। सम्पूर्ण वेदाङ्ग साहित्य वेद पर आधृत होने पर भी श्रुति से भिन्न है और उसे अपौरुषेय न मानकर आचार्यों की रचनाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। कल्प के अन्तर्गत आनेवाली सूत्रशैली की रचनाएँ भी श्रुति से भिन्न हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र नाम की सभी रचनाएँ श्रुति से भिन्न अर्थात् स्मृति हैं। यदि ब्राह्मणों और परवर्ती काल के मन्त्रों के साथ तुलना करें, तो हमें सूत्रों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिसके कारण उन्हें श्रुति में सम्मिलित न किया जाय। हाँ, इसका एक ठोस कारण हो सकता है उनकी बाद के समय की रचना। इनके मनुष्यों द्वारा लिखित होने का स्पष्ट ज्ञान है, यथा—

"यथैव हि कल्पसूत्रग्रन्थानितरांगस्मृति-निबन्धनानि चाध्येत्रध्यापयितारः स्मरन्ति तथाश्वलायन-बौधायनापस्तम्बकात्यायनप्रभृतीन् ग्रन्थकारत्वेन।"

श्रुति के विपरीत स्मृति में न केवल सूत्र रचनाएँ आती हैं, अपितु मनु,

याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि के श्लोक में निबद्ध ग्रन्थ भी आते हैं, जिन्हें स्पष्टतः स्मृति कहा गया है।

स्मृति का आधार भी श्रुति ही है। श्रुति से स्वतन्त्र रूप में स्मृति की प्रामाणिकता नहीं होती। जैसा कि कुमारिल ने कहा है इनके नाम से ही यह तथ्य स्पष्ट है—

पूर्वविज्ञानविषयज्ञानं स्मृतिरिहोच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥

इस प्रकार सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किये जाते हैं—श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। इनमें श्रौतसूत्र तो वे हैं जिनके स्रोत श्रुति में मिलते हैं और स्मार्त वे हैं जिनका इस प्रकार का कोई स्रोत नहीं है। यह स्मरणीय है कि जिन विषयों का विवेचन सूत्रों—श्रौत, गृह्य और सामयाचारिक सूत्रों—में किया गया है, उन्हीं का प्रतिपादन श्लोकबद्ध स्मृतियों में भी किया गया है।

सूत्र भी स्मृति हैं इस सम्बन्ध में कुमारिल का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

यद्यपि स्मृतिशब्देन नाङ्गानामभिधेयता।
यथाप्येषां न शास्त्रत्वप्रमाणत्वनिराक्रिया॥

सूत्रों के साथ भी ऋषियों के नाम संयुक्त हैं, किन्तु ये नाम व्यक्तियों के द्योतक हैं, चरण के नहीं।

"यथा च कठादिचरणैरनादिभिः प्रोच्यमानानामनादिवेदशाखानामनादिसमाख्यासम्भवो नैवं नित्यावस्थितमशकादिगोत्रचरणप्रवचननिमित्तसमाख्योत्पत्तिः। मशकबौधायनापस्तम्बादिशब्दा ह्यादिमदेकद्रव्योपदेशिन इति न तेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽनादिग्रन्थविषयसमाख्याव्युत्पादनसम्भवः॥"

वैदिक साहित्य में कल्प को वेदाङ्ग के अन्तर्गत रखा गया है। 'चरणव्यूह' के अनुसार—'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्' ये वेदाङ्ग हैं। आपस्तम्ब ने इन्हें इस क्रम में गिनाया है २. ४. ८ "षडंगो वेदः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा"। कल्प सबसे पूर्ण वेदाङ्ग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। ये सूत्र यज्ञ के नियमों के विषय में हैं। इनके महत्त्व के विषय में मैक्स मूलर ने ठीक ही कहा है—"कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्व है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के एक नये प्रयोजन के सूचक हैं, अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप में योग दिया, जिनका अब केवल नाम ही ज्ञात है।"

"The Kalpa-sūtras are important in the history of Vedic literature for more than one reason. They not only mark a new period of literature, and a new purpose in the literary and religious life of India, but they contributed to the gradual extinction of the numerous Brāhmaṇas, which to us are therefore only known by name."—Page 166

वेद की सहायता या अध्ययन के बिना भी कल्पसूत्रों के आधार पर यज्ञ किये जा सकते हैं, किन्तु सूत्रों की सहायता के बिना ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। कुमारिल ने कल्पसूत्र के महत्त्व के विषय में कहा है—

वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात् ॥

कल्पसूत्रों के महत्त्व के कारण ही इनके रचयिता स्वयं नयी शाखाओं के संस्थापक बन गये और उनकी शाखा में उनके सूत्र का ही प्रधान स्थान हो गया तथा ब्राह्मण और वेद का महत्त्व कुछ सीमा तक कम हो गया। यद्यपि सूत्र स्मृति थे, श्रुति नहीं, तथापि उन्हें स्वाध्याय के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। विभिन्न चरणों एवं शाखाओं में सूत्र साहित्य के विकास के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी कल्पसूत्र शाखाओं के अन्तर्गत भिन्न होते हैं और कभी भिन्न नहीं होते हैं। शाखाओं के भेद एक कारण उनके स्वाध्याय का भेद है। कुछ कारण सूत्रों की भिन्नता भी है। अतः कई स्थानों पर जहाँ शाखा का भेद है वहाँ सूत्र का भी भेद है। यही बात महादेव ने हिरण्यकेशिसूत्र की टीका में कही है—

"तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरकैकमेव। तैत्तिरीयके च समाम्नाये समानाध्ययने नानासूत्राणि। अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परम्पराश्रय इति वाच्यम् ॥"

इसी आचार्य ने अर्वाचीन कहे जानेवाले सूत्रों की प्राचीनता के विषय में भी एक नवीन बात कही है कि वे सूत्र भी जिनके रचयिता अर्वाचीन मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः शाश्वत हैं और प्राचीन ऋषियों से निःसृत हैं।

'न हि सूत्राणां कर्तृसम्बन्धिसंज्ञाद्यतनी किन्तु नानाकल्पगतासु तत्तन्नामकर्षिव्यक्तिषु नित्या तत्प्रणीतसूत्रेषु च नित्यां जातिमवलम्ब्य तिष्ठति यथा पुरुषनामाङ्कितशाखासु संज्ञा।'

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—

१—श्रौतसूत्र—श्रौत अग्नि से होनेवाले बड़े यज्ञों का विवेचन करनेवाले सूत्र ।

२—गृह्यसूत्र—गृह्य अग्नि में होनेवाले घरेलू यज्ञ का उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विवेचन करनेवाले सूत्र ।

३—धर्मसूत्र—चारों आश्रमों, चारों वर्णों तथा उनके धार्मिक आचारों का तथा राजा के कर्तव्यों का वर्णन करनेवाले सूत्र ।

४—शुल्बसूत्र—यज्ञ में वेदि आदि के निर्माण-विधि का वर्णन करनेवाले सूत्र ।

कल्पसूत्रों के शाखाभेद

कल्पसूत्रों की रचना के पहले ब्राह्मणग्रन्थों की विभिन्न शाखाएँ या चरण थे । ब्राह्मणों में किसी सूत्र का उल्लेख नहीं है, किन्तु ऐसा कोई सूत्र नहीं है, जिसमें ब्राह्मणों की विविध शाखाओं के नामों का उल्लेख न हो । सूत्रों की रचना के साथ-साथ कुछ नयी शाखाओं या चरणों का विकास हुआ । आश्वलायन और कात्यायन की शाखाएँ ऐसी ही हैं । कुछ सूत्र तो प्राचीन हैं और उनका सम्बन्ध ब्राह्मणग्रन्थों की शाखाओं से ही है । सूत्ररचनाओं के तिथिक्रम के विषय में प्रो० मैक्स मूलर ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि शाखाओं की परम्परा के आधार पर भी सूत्रों के काल का संकेत किया गया है । उदाहरण के लिए तैत्तिरीय शाखा का प्राचीनतम सूत्र बौधायन का है । उनके बाद भारद्वाज, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी, वधून और वैखानस के सूत्र हैं । इनमें अन्तिम दो को छोड़कर अन्य के नाम पर विभिन्न चरणों का नाम पड़ा है । यद्यपि कोई भी सूत्र किसी चरण की स्थापना का उद्देश्य लेकर नहीं रचा गया था, तथापि इसे विभिन्न वर्गों ने एक नये चरण का रूप दे दिया ।

शाखाओं की भिन्नता स्वाध्याय के आधार पर उत्पन्न हुई है । आश्वलायन और कात्यायन के कल्पसूत्र दोनों शाखाओं मे समान हैं, किन्तु तैत्तिरीयसंहिता से सम्बद्ध सूत्र भिन्न-भिन्न शाखाओं के हैं । कभी-कभी सूत्र के भेद के साथ ही शाखाभेद की उत्पत्ति हुई है ।

हिरण्यकेशी-सूत्र के व्याख्याकार महादेव ने तो सूत्रों का सम्बंध भी अपौरुषेय कही जानेवाली वैदिक रचनाओं से जोड़ा है—

"यथाध्ययनभेदाच्छाखाभेदोऽनादिरेव सूत्रभेदादपि । न हि सूत्राणां कर्तृसम्बन्धिसंज्ञाद्यतनी किन्तु नानाकल्पगतासु तत्तन्नामकर्षिव्यक्तिषु

नित्या तत्प्रणीतसूत्रेषु च नित्यां जातिमवलम्ब्य तिष्ठति यथा पुरुष-नामाङ्कितशाखासु संज्ञा ॥"

इस प्रकार महादेव ने शाखा से मंत्रों और ब्राह्मणों की परम्परा का अर्थ लिया है। शाखा के अन्तर्गत अङ्ग भी आ सकता है और उसके होने पर भी हम उसे वेद मान सकते हैं।

"ननु स्वाध्यायैकदेशो मन्त्रब्राह्मणात्मकः शाखेत्युच्यते। तयोर्मन्त्र-ब्राह्मणयोरन्यतरभेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेदः स्यादिति चेत्। सत्यम् यथा साङ्गः स्वाध्यायो वेदशब्दवाच्य एवं शाखापि साङ्गैव वेदैकत्वेन शाखान्तरत्वं लभते। तत्राङ्गस्य सूत्रस्य भेदाद्भिद्यत एव स्वाध्यायाध्य-यनमिति भवतु चरणभेद एव शाखाभेदव्यवहारे हेतुः। तथा च यथा शाखाध्ययनं नियतं तथा सूत्राध्ययनमपि।"

प्रो० मैक्स मूलर ने कल्पसूत्रों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है—

शुक्लयजुर्वेद

१. आपस्तम्ब,	मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।
२. बौधायन,	मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।
३. सत्याषाढ हिरण्यकेशी,	मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।
४. मानवसूत्र,	विस्तृत खण्डों में उपलब्ध।
५. भारद्वाजसूत्र,	उद्धृत।
६. वाधूनसूत्र,	उद्धृत।
७. वैखानससूत्र,	उद्धृत।
८. लौगाक्षिसूत्र,	उद्धृत।
९. मैत्र-सूत्र,	उद्धृत।
१०. कठसूत्र,	उद्धृत।
११. वाराहसूत्र,	उद्धृत।

शुक्लयजुर्वेद

१. कात्यायन-सूत्र, मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।

सामवेद

१. मशक आर्षेय कल्प, मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।

२. लाट्यायन-सूत्र (कौथुम), मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।

३. द्राह्यायणसूत्र (राणायनीय) मूल तथा व्याख्या उपलब्ध।

ऋग्वेद

१. आश्वलायनसूत्र, मूल तथा व्याख्या उपलब्ध ।

२. शांख्यायनसूत्र, मूल तथा व्याख्या उपलब्ध ।

३. शौनकसूत्र, मूल तथा व्याख्या उपलब्ध ।

अथर्ववेद

१. कौशिकसूत्र, मूल उपलब्ध ।

गृह्यसूत्र

सूत्र साहित्य के अन्तर्गत श्रौतसूत्र के अतिरिक्त गृह्य और सामयाचारिक-सूत्र भी आते हैं । गृह्यसूत्रों और सामयाचारिक अथवा धर्मसूत्रों को स्मार्तसूत्र के वर्ग में रखा जाता है ।

गृह्यसूत्रों में मुख्यतः उन याज्ञिक कर्मों और संस्कारों का वर्णन है, जिनका सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थ से है । एक ओर जहाँ श्रौतसूत्रों में दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ पशु, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाहयाग, अहीन नाम के यज्ञों का विवेचन है, तो दूसरी ओर धर्मसूत्रों में चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों का, शिष्टाचार, राजा के कर्तव्य, अतिथि-सत्कार, प्रायश्चित्त और सम्पत्ति के उत्तराधिकार से सम्बद्ध नियमों का विवेचन है । किन्तु गृह्यसूत्रों के विषय विविध हैं । इनमें संस्कारों का वर्णन प्रधान होने पर भी अनेक सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों के भी वर्णन हैं । पञ्चमहायज्ञ, श्राद्धकर्म तथा आभिचारिक क्रियाओं के भी वर्णन हैं । गृह्यसूत्रों में वर्णित विषयों को इस प्रकार समझा जा सकता है ।—विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, समावर्तन संस्कार, प्रति वर्ष किये जानेवाले पञ्चमहायज्ञ, देवों, पितरों के लिए बलिकर्म, समिदाधान, तर्पण के अतिरिक्त वर्ष के विभिन्न अवसरों पर किये जानेवाले कर्म जैसे भवन निर्माण के समय के कर्म, नये अन्न के ग्रहण के कर्म, पृथ्वी पर सोने के लिए विधान, रोगी बालक या पत्नी के रोग को दूर करने के लिए अभिचारिक क्रियाएँ और श्राद्धकल्प का वर्णन ।

गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत अनेक रोचक कर्मों का भी वर्णन किया गया है । इन कर्मों का सम्बन्ध प्रथाओं और रीतिरिवाजों से है । विण्टरनित्स के शब्दों में —

"The contents of the Gḥryasūtras are still more manifold, and in some respects more interesting. They contain directions for all usages, ceremonies and sacrifices by virtue of which the life of the Indian receives a higher 'sanctity', what the Indians call samskara, from the moment when he is conceived in the womb, till the hour of his death and still further through the death ceremonies and cult of the soul."—Page 238

'गृह्य' शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है, आश्वलायनगृह्यसूत्र की व्याख्या के अनुसार गृह का अर्थ घर और पत्नी है। जैसे 'सगृहो गृहमागतः' में 'गृह' का प्रयोग 'पत्नी' और 'घर' दोनों ही अर्थों में हुआ है। गृह्यकर्म उस अग्नि में किये जाते हैं जो अग्नि विवाह के समय प्रज्वलित की जाती है। इस अग्नि या अग्नि की वेदी को गृह्य कहते हैं। किन्तु जैसा कि मैक्स मूलर का कथन है 'गृह' का पत्नी अर्थ होने में सन्देह है, अपितु उपर्युक्त प्रयोग में परिवार का ही अर्थ प्रतीत होता है। गृह्य का मौलिक अर्थ घर अथवा अग्नि की वेदी भी माना गया है, बड़े यज्ञों में अग्नि की कई वेदियाँ बनायी जाती थीं लेकिन गृह्यकर्मों में अग्नि की एक ही वेदी होती थी।

"Gṛhya, therefore, probably meant originally the house or the family-hearth, from gṛha, house, and it was in opposition to the great sacrifices for which several hearths were required, and which was called *Vaitanika,* that the domestic ceremonies were called gṛhya, as performed by means of one domestic fire."—मैक्स म्यूलर।

गोभिलसूत्र में इन कर्मों को 'गृह्यकर्माणि' कहा गया गया है और व्याख्याकार ने गृह्य का अर्थ स्मृति के आधार पर किये जानेवाले कर्म अथवा 'पत्नी के साथ किये जानेवाले कर्म' अर्थ ग्रहण किया है—

"अथातो गृह्यकर्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥ गृह्यशब्देन स्मार्तोग्निरुच्यते। तस्मिन् यानि कर्माणि तानि गृह्यकर्माणि। दीर्घत्वं छान्दसम्। अथवा गृह्या स्मृतिः, तस्यां यानि कर्माणि। अथवा गृह्या पत्नी। तया सहितस्य यानि कर्माणि।"

गृह्यसूत्रों के अनुसार जो कर्म किये जाते हैं उनका सामान्य नाम पाकयज्ञ है। 'पाक' का अर्थ पकाना नहीं है अपितु छोटा या पूर्ण अर्थ है। हरदत्त

का भी कथन है "पाकशब्दोऽल्पवचनः ।" छोटे के अर्थ में यह प्रयोग उद्धृत किया गया है : 'योऽस्मात् पाकतरः" । व्याख्याकार के अनुसार इसका अर्थ पूर्णता है । ये कर्म मनुष्य को योग्यता प्रदान करते हैं । सुदर्शनाचार्य के अनुसार "पाकेन पक्वेन चरुणा साध्यो यज्ञः पाकयज्ञः" पाकयज्ञ के अन्तर्गत निम्नलिखित संस्थाएँ आती हैं—औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, सर्पबलि, ईशानबलि । गृह्यसूत्रों में जिन कर्मों का वर्णन है वे आचारलक्षण हैं । इनका ज्ञान प्रयोग या आचार से होता है, श्रुति से नहीं । 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' का प्रथम सूत्र है—

"अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते ।"

'अनाकुला' वृत्ति के रचयिता हरदत्त के शब्दों में—

"द्विप्रकाराणि कर्माणि—श्रुतिलक्षणानि आचारलक्षणानि च । तत्र श्रुतिलक्षणानि व्याख्यातानि । अथेदानीं यानि कर्माणि विवाहप्रभृतीनि आचारात् प्रयोगात् गृह्यन्ते, ज्ञायन्ते, न प्रत्यक्षश्रुतेः, तानि व्याख्यास्यामः ।"

पाकयज्ञ के भी कई विभाग किये गये हैं । पारस्करगृह्यसूत्र में पाकयज्ञ का वर्गीकरण चार वर्गों में किया गया है—हुत, आहुत, प्रहुत और प्राशित । बोधायनगृह्यसूत्र के अनुसार पाकयज्ञ सात प्रकार के हैं, हुत, प्रहुत, आहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण तथा अष्टकाहोम । यज्ञ में आहुति देने को हुत कहा जाता है । आहुति के उपरान्त ब्राह्मणों को दक्षिणा देने पर प्रहुत होता है । यदि उसके उपरान्त कर्म करनेवाला उपहार प्राप्त करे तो आहुत होता है जैसे उपनयन और समावर्तन में ।

गृह्यसूत्रों में ११ से लेकर १८ संस्कारों तक का विवेचन किया गया है । पारस्करगृह्यसूत्र में निम्नलिखित १३ संस्कारों का विवेचन है—विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, अन्त्येष्टि । आपस्तम्बगृह्यसूत्र में भी इन संस्कारों का विवेचन है—विवाह, गर्भाधान, उपनयन, समावर्तन, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदानकर्म ।

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध विभिन्न वेदों से है । अधिकांश गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध यजुर्वेद से है । तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध बोधायन, भारद्वाज, हिरण्यकेशी, काठक, मैत्रायणीय गृह्यसूत्रों के भी उद्धरण उपलब्ध होते हैं । शुक्लयजुर्वेद के गृह्यसूत्रों की संख्या और भी अधिक प्रतीत होती है । वाजसनेयी शाखा के प्रत्येक चरण में कुल धर्म थे, जिनको गृह्यसूत्र या धर्मसूत्र माना जा सकता

है, किन्तु वाजसनेयी शाखा का केवल पारस्करगृह्यसूत्र ही इस समय उपलब्ध है। यहाँ विभिन्न वेदों के गृह्यसूत्रों के विषय में संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है—

आश्वलायनगृह्यसूत्र—ऋग्वेद से संबद्ध आश्वलायनगृह्यसूत्र में चार अध्याय हैं, जिनका विभाजन कई खण्डों में किया गया है। इसमें प्राचीन आचार्यों के नाम मिलते हैं और वेद के अध्ययन के नियमों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। हरदत्त की व्याख्या के साथ यह गृह्यसूत्र अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित है।

शाङ्खायनगृह्यसूत्र—ऋग्वेद से संबद्ध दूसरा गृह्यसूत्र शाङ्खायनगृह्यसूत्र है। संस्कारों के वर्णन के अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र के ६ अध्यायों में गृहनिर्माण, गृहप्रवेश आदि का भी वर्णन है। इस गृह्यसूत्र की रचना सुयज्ञ ने की है। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डेन बर्ग ने किया है।

कौषितकिगृह्यसूत्र—प्रायः शाङ्खायन और कौषीतक शाखा को एक ही माना जाता रहा है, किन्तु शाङ्खायन शाखा के गृह्यसूत्र के अतिरिक्त कौषीतक शाखा का भी कौषीतकि-गृह्यसूत्र उपलब्ध हुआ है। इसके रचयिता शाम्भव्य के नाम के आधार पर इस गृह्यसूत्र को शाम्भव्यगृह्यसूत्र भी कहा गया है। इस गृह्यसूत्र में शाङ्खायन गृह्यसूत्र में वर्णित विषय की दृष्टि से समानता अवश्य उपलब्ध होती है, तथापि दोनों सर्वथा भिन्न हैं। कौषीतकगृह्यसूत्र में ५ अध्याय हैं। इनमें प्रथम ४ अध्याय विषय की दृष्टि से शाङ्खायनगृह्यसूत्र के अनुरूप हैं। यह गृह्यसूत्र १९४४ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित हुआ है।

पारस्करगृह्यसूत्र—शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र पारस्करगृह्यसूत्र है। यह सर्वाधिक प्रख्यात गृह्यसूत्र है। इसमें तीन काण्ड है। प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्नि का आधान तथा गर्भधारण से आरम्भ कर अन्नप्राशन तक का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीताकर्म का विवरण है। अन्तिम काण्ड में श्राद्ध, अवकीर्ण-प्रायश्चित्त की विधियों का वर्णन है। इस गृह्यसूत्र की कई व्याख्याएँ हुई हैं। इसके पाँच व्याख्याकार हैं कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथ। कर्कभाष्य के साथ पारस्करगृह्यसूत्र का संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुआ है। पाँच भाष्यों के साथ इस गृह्यसूत्र का संस्करण गुजराती प्रेस बम्बई से प्रकाशित है।

बौधायनगृह्यसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का गृह्यसूत्र बौधायनगृह्यसूत्र है। इसके अतिरिक्त इस शाखा के चार और गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं। बौधायनगृह्यसूत्र अपने श्रौत तथा कल्प के साथ इस प्रकार संबद्ध है कि सम्पूर्ण

कल्प एक ग्रन्थ के रूप में प्रतीत होता है। इस गृह्यसूत्र का प्रकाशन गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर से हुआ है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र—आपस्तम्बगृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध है। आपस्तम्बकल्प का प्रश्न २५, २६ गृह्यसूत्र है। इस गृह्यसूत्र में आठ पटल और तेईस खण्ड हैं। इसका सम्पादन डॉ० विण्टरनित्स ने १८८७ में किया और चौखम्बा संस्कृत सीरीज में इसका पहली बार प्रकाशन १९२८ में हुआ। इसका हिन्दी अनुवाद युक्त संस्करण प्रस्तुत है। ओल्डेनबेर्ग ने इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट' गन्थमाला ३० में किया है। इस गृह्यसूत्र के विषय में विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का तीसरा गृह्यसूत्र हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र भी उपलब्ध है। इसे सत्याषाढ़गृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसका प्रथम संस्करण डॉ० क्रिष्टे ने वीयना से निकाला था और इसका अंग्रेजी अनुवाद भी 'सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट' ग्रन्थमाला ३० में हुआ है।

भारद्वाजगृह्यसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का एक अन्य गृह्यसूत्र भारद्वाजगृह्यसूत्र है। यह लाइडेन से १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

मानवगृह्यसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का यह गृह्यसूत्र अष्टावक्रभाष्य के साथ गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज में प्रकाशित है।

काठकगृह्यसूत्र—काठकगृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से संबद्ध है। इसे लौगाक्षिगृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसमें ७३ कण्डिकाएँ हैं अथवा पाँच अध्याय हैं। इसे 'गृह्यपञ्चिका' भी कहते हैं। इसकी तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। डॉ० कैलैण्ड ने इसका संस्करण लाहौर से प्रकाशित कराया था।

गोभिलगृह्यसूत्र—सामवेद से संबद्ध गृह्यसूत्रों में गोभिलगृह्यसूत्र प्रमुख है। यह सबसे प्राचीन है और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें सामवेद और मन्त्रब्राह्मण के मन्त्रों के उद्धरण हैं। इसका संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित है।

खदिरगृह्यसूत्र—सामवेद की राणायनीय शाखा का गृह्यसूत्र खदिरगृह्यसूत्र है जो गोभिलगृह्यसूत्र से मिलता-जुलता है। यह मैसूर से प्रकाशित है।

जैमिनीयगृह्यसूत्र—सामवेद से संबद्ध जैमिनीय गृह्यसूत्र दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में २४ कण्डिकायें हैं और द्वितीय खण्ड में ९ कण्डिकायें है इसमें सामवेद के अनुसार ही मन्त्रों के उद्धरण हैं। इसका संस्करण लाहौर में प्रकाशित हुआ है।

कौशिकगृह्यसूत्र—अथर्ववेद से संबद्ध केवल एक ही गृह्यसूत्र उपलब्ध है कौशिकगृह्यसूत्र। इसमें १४ अध्याय हैं। इस गृह्यसूत्र की दो व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं जिनके लेखक हारिल और केशव हैं। इसमें यातुविद्या अथवा प्राचीन काल के जादू की अनेक क्रियाओं का वर्णन है और अथर्ववेद के कई आभिचारिक सूक्तों को समझने में सहायता मिलती है। वैद्यकशास्त्र के विषयों पर भी इस गृह्यसूत्र से प्रकाश पड़ता है। इसका संस्करण ब्लूमफील्ड ने १८९० में अमेरिका से प्रकाशित कराया और हिन्दी अनुवाद के साथ संस्करण १९४२ में मुजफ्फरपुर से प्रकाशित हुआ है।

गृह्यसूत्रों का उद्भव

वैदिक साहित्य के अत्यन्त प्राचीन अंशों में गृह्यकर्मों का वर्णन नहीं मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि गृह्यसूत्रों में वर्णित अनेक संस्कार सूक्तों की रचना के पहले भी प्रचलित थे। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय इन गृह्यकर्मों का स्वरूप अत्यन्त सरल था; उनमें यजुस् मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। मन्त्रों की रचना के बाद ही उनका प्रयोग आरम्भ हुआ होगा। श्रौतयज्ञों में ही पहले मन्त्रों का प्रयोग आरम्भ हुआ जैसे सोमयज्ञ में। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त मन्त्रों के विषय में ओल्डनबेर्ग का कथन है—

"Some of these verses indeed are old Vedic verses, but we have no proof that they were composed for the purpose of the Gṛhya ceremonies, and the connection in which we find them in the Rig-veda proves rather the contrary."

—Sacred Books of the East. 30, P. X.

(इनमें से कुछ मन्त्र निश्चय ही प्राचीन मन्त्र हैं किन्तु हमें इसका प्रमाण नहीं मिलता कि उनकी रचना गृह्य संस्कारों के लिए हुई थी और हम उन्हें ऋग्वेद में जिस रूप में संबद्ध पाते हैं वह बिल्कुल इससे विपरीत स्थिति को ही प्रमाणित करता है।)

ओल्डेनबेर्ग का ही मत है कि ऋग्वेदिक काल के बाद के युग में विवाह तथा अन्त्येष्टि जैसे कर्मों में मन्त्रों का प्रयोग आरम्भ हो गया। दसवें मण्डल में विवाह तथा मृत्यु से संबन्धित मन्त्र मिलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्ञात होता है गृह्यकर्म की अहुतियाँ उस समय होती थीं। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण १.४.२.१० में तथा १.७.१.३ में पाकयज्ञ का उल्लेख है। १.७.१.३ में स्थालीपाक का उल्लेख है। किन्तु ब्राह्मणों के काल में भी गृह्यकर्मों, पाकयज्ञ या स्थालीपाक का वर्णन करने

वाले ग्रन्थों का अभाव था। यदि ऐसी रचनाएँ उस समय रही होतीं तो उनका अवशिष्ट रूप या खण्डित रूप अवश्य मिलता। उन रचनाओं का उल्लेख कहीं न कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता, किन्तु ऐसा नहीं है। ब्राह्मणों के समय गृह्यसूत्र जैसी रचनाएँ नहीं थीं इसका एक प्रणाण ओल्डेनबेर्ग ने यह प्रस्तुत किया है कि उनमें कहे स्थानों पर ऐसे विषयों का भी विवेचन है जिनका वर्णन गृह्यसूत्र में होना चाहिए था। यदि गृह्यसूत्र रचनाएँ थीं तो उन विषयों का विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में करने को क्या आवश्यकता थी।

"Precisely this sporadic appearance of Gṛhya chapters in the midst of expositions of a totally different contents leads us to draw the conclusion that literary compositions did not then exist, in whieh these chapters would have occupied their proper place as integral part of a whole."

उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण ११.५.४ में उपनयन का विवेचन है। यह विवेचन भी ब्राह्मण ग्रन्थ की विशिष्ट शैली में किया गया है। बीच में एक ऐसा श्लोक भी दिया गया है जैसा श्लोक हम गृह्यसूत्रों में भी पाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में ही दूसरा उदाहरण ११. ५. ६१ है, जिसमें पञ्चमहायज्ञ का विवेचन किया गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र का तृतीय अध्याय भी बाकयज्ञ के विवेचन उसी भाषा में करता है जिस भाषा में ब्राह्मण में किया गया है। इस आधार पर ओल्डेनबेर्ग का कथन है कि आश्वलायन में जिस शैली को अपनाया गया है वह सूत्रों की शैली से भिन्न है और इसका कारण यही हो सकता है कि इस स्थल पर गृह्यसूत्र के रचयिता के सामने ब्राह्मण ग्रन्थ का विवेचन विद्यमान था, चाहे वह शतपथ ब्राह्मण हो या दूसरा कोई ब्राह्मण।

तीसरा उदाहरण शतपथ १४. ९. ४. १७ में मिलता है। इसमें विद्वान्, यशस्वी, वक्ता, वेद के विद्वान् पुत्र की उत्पत्ति के लिए आज्य आहुति का वर्णन है और गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, आयुष्यकर्म मेधजनन क्रिया आदि का वर्णन है जो गृह्यसूत्रों की क्रियाओं के समान ही है। "यद्यपि गृह्यसूत्रों की सभी क्रियाओं के विषय में ऐसी बात नहीं है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि इन क्रियाओं के अनेक अंश और मन्त्र उन क्रियाओं के साथ पहले संबद्ध थे, उन क्रियाओं का विकास सार्वभौम क्रियाओं या कर्तव्यों के रूप में नहीं हुआ अपितु व्यक्तियों के विशिष्ट कर्म के रूप में हुआ जो विशेष फल की कामना से इन क्रियाओं को करते थे।"

इस प्रकार ब्राह्मण-काल गृह्यसूत्रों में वर्णित क्रियाओं के विवेचन का

आरम्भकाल था। कुछ के विषय में विवेचन आरम्भ हो गया था। पाक-यज्ञ का ज्ञान हो चुका था और उनमें प्रयुक्त होने वाले कतिपय श्लोकों का भी विकास हो चुका था।

गृह्यसूत्रों को अपना वास्तविक रूप सूत्रकाल में मिला। श्रौतयज्ञों के बाद गृह्यकर्मों को भी स्थान मिला। श्रौतसूत्रों में ब्राह्मणों में विवेचित विषयों को ही प्रस्तुत किया गया, किन्तु गृह्यसूत्रों की शैली उनकी अपेक्षा अधिक सरल थी। यद्यपि गृह्यसूत्रों का मुख्य विषय स्थालीपाक था, तथापि उनमें ऐसे विषयों का भी विवेचन हुआ जो यज्ञ न होकर आभिचारिक क्रिया मात्र थे। किन्तु इन गृह्यसूत्रों का श्रौत और धर्मसूत्रों के साथ सम्बन्ध बना रहा। कई शाखाओं में सूत्र साहित्य का विस्तृत संकलन मिलता है जिसमें श्रौतसूत्र, गृह्य-सूत्र और धर्मसूत्र एक दूसरे के साथ संबद्ध हैं। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब शाखा का सूत्र साहित्य कुल ३० प्रश्नों में है।

प्रश्न १—२४ श्रौतसूत्र।
प्रश्न २५—परिभाषा।
प्रश्न २६—गृह्यसूत्र के मन्त्र।
प्रश्न २७—गृह्यसूत्र।
प्रश्न २८-२९—धर्मसूत्र।
प्रश्न ३०—शुल्वसूत्र।

धर्मसूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध श्रौतसूत्र से अधिक है। ओल्डेन-बेर्ग के मत से इसका प्रमुख कारण यह है कि गृह्यकर्मों और श्रौतकर्मों में समानता है तथा गृह्य-क्रियाओं के विवेचन में श्रौत-क्रियाओं का ध्यान रखना आवश्यक है। इन कारणों से गृह्यसूत्र धर्मसूत्रों की अपेक्षा श्रौतसूत्र से अधिक संबद्ध हो गये हैं।

"The close analogy between the sacrificial ritual of the Gṛhya acts and that of the Srauta acts, and the consequent necessity of taking into account the Srauta ritual in the exposition of the Gṛhya ritual necessarily brought the Gṛhya-sutras into closer connection with and into greater dependance on the Srauta-Sūtras than in the case of the Dharma-Sūtras."

P. XXX.

प्रत्येक गृह्यसूत्र का संबन्ध किसी न किसी संहिता से है क्योंकि गृह्यसूत्र में संहिता के मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार प्रत्येक गृह्यसूत्र से

पहले श्रौत रचना के होने के भी संकेत स्पष्ट रूप से मिलते हैं। कभी-कभी श्रौतसूत्र का एकाध सूत्र भी गृह्यसूत्र में मिल जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र के आरम्भिक सूत्र से ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह गृह्यसूत्र श्रौतसूत्र का दूसरा खण्ड है। किन्तु तब यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार परस्पर संबद्ध श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र एक ही आचार्य की रचना हैं? परम्परा से इस विषय में कोई एक विचार नहीं है। कुछ सूत्रग्रन्थों के विषय में उनका एक ही लेखक द्वारा लिखित होना ज्ञात होता है। किन्तु कुछ के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों को एक ही चरण के श्रौत तथा गृह्यसूत्र का रचयिता माना गया है। उदाहरण के लिए आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी।

ओल्डेनबेर्ग का मत है कि परम्परा से जहाँ श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र का रचयिता एक ही आचार्य को माना गया है वहाँ उसका पूर्णरूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरी स्थिति में वह पूर्णतः विश्वसनीय है। उनके अनुसार यदि एक आचार्य के नाम से प्रख्यात श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र में परस्पर समानता है तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि गृह्यसूत्र का रचयिता श्रौतसूत्र से परिचित रहा हो और उसने अपनी रचना को श्रौतसूत्र के अनुरूप बनाने का सोद्देश्य प्रयास किया हो। इसके विपरीत यदि एक ही आचार्य के नाम से प्रख्यात श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की सूक्ष्मरूप से तुलना की जाय तो यह स्पष्ट दिखायी पड़ेगा कि दोनों में ऐसी अनियमितताएँ ऐसी असंगतियाँ हैं कि उनका भिन्न लेखकों द्वारा रचित होना सिद्ध होता है। इस प्रकार सम्प्रति यह स्वीकार्य नहीं है कि श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों की रचना एक ही आचार्य द्वारा हुई है।

दूसरी ओर गृह्यसूत्रों का धर्मसूत्रों के साथ सम्बन्ध भी विचारणीय है। जर्मन विद्वान् प्रो० ब्यूह्लर ने इस विषय पर 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' ग्रन्थमाला, खण्ड २ में विचार किया है। उनके मतानुसार आपस्तम्ब धर्मसूत्र और आपस्तम्बगृह्यसूत्र एक ही आचार्य की रचनाएँ हैं। इसका कारण यह है कि आपस्तम्ब ने गृह्यसूत्र के कई विषयों का विवेचन धर्मसूत्र के अन्तर्गत किया है। इसके अतिरिक्त इन दोनों सूत्रों में एक दूसरे का उद्धरण तथा सन्दर्भ मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० ओल्डेनबेर्ग का मत भिन्न है।

उनके अनुसार गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के दैनिक जीवन की घटनाओं, धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों का वर्णन आरम्भ किया है। किन्तु वे मुख्यतः याज्ञिक क्रियाओं तक ही सीमित रह जाते हैं। इसके बाद धर्मसूत्र आगे महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हैं। वे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की प्रथाओं, रीति-

रिवाजों एवं संस्कारों के वर्णन का लक्ष्य लेकर चलते हैं। इस कारण स्वाभाविक रूप में धर्मसूत्र अन्य विषयों के साथ-साथ गृह्यसूत्रों में विवेचित विषयों को भी समेट लेते हैं। किन्तु उनका विस्तार से वर्णन न कर उनको सामान्य रूप में ही ग्रहण करते हैं। उनके अनुष्ठान सम्बन्धी नियमों की सूक्ष्म विवेचना नहीं करते हैं। (द्र०—से० बु० ई०, खण्ड ३० भूमिका, पृ० ३४)

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र के विषयों की समानताएँ मुख्यतः स्नातक के व्रत और अनध्याय के सम्बन्ध में नियमों के सन्दर्भ में ही द्रष्टव्य हैं। ये समानताएँ इतनी पर्याप्त नहीं हैं कि यह सिद्ध किया जा सके कि जहाँ भी गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र एक ही आचार्य के नाम से प्रख्यात हैं वहाँ दोनों एक ही आचार्य की रचनाएँ हैं। धर्मसूत्रों का विषयक्षेत्र व्यापक है, उसमें गृह्यसूत्र के किसी विषय का समावेश ऐसी घटना नहीं जो निश्चित रूप से सूत्रकार के ऐक्य का प्रमाण हो सके। ओल्डेनबेर्ग के शब्दों में—"मेरा विश्वास है कि कोई भी पाठक जो इन दोनों प्रकार की रचनाओं की तुलना करता है जिस विषयपरिधि में धर्मसूत्रों की व्याख्या घिरी है वह निश्चित रूप से गृह्यसूत्रों के विषयक्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।"

गृह्यसूत्रों में आये हुए मन्त्र

गृह्यसूत्रों में आये हुए मन्त्रों के विषय में ओल्डेनबेर्ग ने अपने अनुवाद की भूमिका में विस्तार से विवेचन किया है। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त कतिपय मन्त्र निःसन्देह प्राचीन हैं और अनेक मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आये हैं। गृह्यसूत्रों के छन्दों की विशेषताओं के आधार पर यह सिद्ध होता है कि "इनमें से यदि सभी नहीं तो अधिकांश मन्त्रों की रचना उन क्रियाओं के विवेचन से पहले हो चुकी थी जिन क्रियाओं के विवेचन के बीच इन मन्त्रों को रखा गया है।

The metre.... clearly proves which is indubitable from other reasons, that most, if not all, of these verses were composed at a perceptibly older period than the descriptions of the Sacred acts in the midst of which they are inserted.

इन मन्त्रों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में ऐसे अनेक मन्त्रों के भी प्रयोग हैं जो ऋग्वेद के मन्त्रों के बाद के हैं। इनमें कई मन्त्र या श्लोक 'तदप्याहुः' हैं। अथवा 'तदपि श्लोकः' कहकर उद्धृत किये गये हैं। गृह्यसूत्रों में कुछ ऐसी पंक्तियां भी दिखायी पड़ती हैं जो श्लोक-नाम से निर्दिष्ट नहीं हैं, किन्तु छन्दोबद्ध दिखायी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए ओल्डेनबेर्ग ने आश्वलायन-

गृह्यसूत्र में राक्षस-विवाह के सन्दर्भ में दी गयी पंक्ति उद्धृत की है—"हत्वा भित्त्वा च शीर्षाणि रुदतीं रुदद्भ्यो हरेत्"। इसी प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र १.२.२१ तथा २.४.२ में भी सूत्र लगभग श्लोक से मिलता-जुलता है।

इन श्लोकों के विषय में यही सम्भावना की गयी है कि ये किसी छन्दोबद्ध रचना से उद्धृत न होकर यज्ञगाथाओं से लिये गये हैं। बाद में स्मृतियों की रचना होने पर इनमें से कई श्लोक स्मृतियों में घुलमिल गये।

गृह्यसूत्रों का विषय विस्तार

गृह्यसूत्रों का सर्वाधिक महत्त्व सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से है। प्राचीन हिन्दू जीवन की जो स्पष्ट रूपरेखा गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में मिलती है वह अन्यत्र नहीं देखी जा सकती। श्रौतसूत्र बड़े यज्ञों तक सीमित हैं और उनका परिवेश सामाजिक दृष्टि से अधिक संकुचित है। धर्मसूत्र व्यक्ति को समाज के सम्बन्धों के बीच लाकर खड़ा कर देता है, किन्तु गृह्यसूत्र उसके व्यक्तिगत जीवन की सभी स्थितियों पर कुछ न कुछ प्रकाश डालता है। "गृह्यसूत्रों में हिन्दू जीवन की जिन घटनाओं का विवेचन है वे सभी मानो एक वृत्त के समान हैं। उनमें आरम्भबिन्दु का चयन करना कठिन है। इस जीवन के दो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण भाग हैं। एक ओर वेद का अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी का काल है। इस काल के आरम्भ में उपनयन संस्कार है और अन्त में समावर्तन संस्कार है। दूसरी ओर, विवाहित जीवन का काल है, जिसका गृह्यकर्म के लिए विशेष महत्त्व है और गार्हपत्य अग्नि की क्रियाएँ विवाह के साथ ही आरम्भ होती हैं।"

इस आधार पर अनेक गृह्यसूत्रों का आरम्भ उपनयन से आरम्भ होता है और अनेक का विवेचन विवाह से आरम्भ होता है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में उपनयन से ही आरम्भ किया गया है, जब कि अन्य गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह से ही होता है।

इस प्रकार गृह्यसूत्रों में एक ओर तो हिन्दू जीवन में गृहस्थ के व्यक्तिगत जीवन के संस्कारों का विवेचन मुख्य रूप से हुआ है किन्तु इनके साथ प्रातः एवं सायंकाल की दैनिक आहुतियों का, प्रतिमास किये जाने वाले बलिकर्मों का, प्रतिदिन की बलियों का भी वर्णन किया गया है। इनके साथ ही वार्षिक कर्मों के विवेचन को भी गृह्यसूत्रों में स्थान मिला। इस प्रकार के कर्म हैं—सर्पबलि, पृथ्वी पर शयन का आरम्भ, नये अन्नों के प्रयोग के समय किये जाने वाले कर्म, अष्टका कर्म तथा पितृकर्म। अग्नि का आधान सभी गृह्यकर्मों में किया जाता है और इस कारण अनेक गृह्यसूत्रों में जिन क्रियाओं को सार्वभौम रूप में सभी संस्कारों में करना होता है उनके विवेचन के अन्तर्गत

अग्नि के आधान का वर्णन गृह्यसूत्र के आरम्भ में ही किया गया है। किन्तु अनेक गृह्यसूत्र बिना किसी विशिष्ट संस्कार का विवेचन करते हुए आरम्भ होते हैं।

वार्षिक कर्मों के अतिरिक्त कुछ ऐसी क्रियाओं का विवेचन भी गृह्यसूत्रों में हुआ है जिनका जीवन के साधनों से तात्पर्य है जैसे घर बनाने के लिए भूमि का चुनाव, घर बनाने की विधि, स्तम्भ रखने की विधि। उपाकरण अर्थात् स्वाध्याय के आरम्भ की क्रिया, उत्सर्ज अर्थात् स्वाध्याय के सत्र समापन की क्रियाओं को भी गृह्यसूत्रों में स्थान मिला। इसी प्रकरण में गृह्यसूत्रों में अनध्याय के दिनों का भी निर्देश किया गया है। ये सभी क्रियाएँ गृहस्थ के दैनिक जीवन से सम्बद्ध हैं।

इन क्रियाओं के अतिरिक्त अन्त्येष्टि और पितृकर्म की क्रियाएँ तीसरे प्रकार के विषय के रूप में गृह्यसूत्रों में विवेचित हुईं। किन्तु इन सभी प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त घरेलू आभिचारिक क्रियाओं के विवेचन को भी गृह्यसूत्रों में स्थान मिला है। जैसे पुत्र या पत्नी को रोग होने पर किये जाने वाले अभिचार, पत्नी को परपुरुषगामिनी होने से बचाने के लिए अभिचार, भागनेवाले नौकर को स्थायी रूप से रखने के लिए अभिचार। इन क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ प्रायश्चित्तकर्मों का भी विवेचन गृह्यसूत्रों में हुआ, जैसे ब्रह्मचर्य भंग होने पर अवकीर्णी का प्रायश्चित्त जिसके लिए ईशानबलि दी जाती है।

अन्ततः गृह्यसूत्रों में मंगल के लिए छोटे-छोटे निमित्त या अवसर पर किये जाने वाले अभिमन्त्रण का भी बीच-बीच में उल्लेख है। यात्रा के समय जाने और लौटते समय के मन्त्र, पुत्र या पुत्री को स्नेह देने के लिए अभिमन्त्रण, न्यायालय में या सभा-समारोह में प्रभाव बढ़ाने के लिए किये गये मन्त्रपाठ।

इस प्रकार गृह्यसूत्रों के इस विषयविस्तार को हम इन वर्गों में रख सकते हैं—

१. जीवन से सम्बद्ध संस्कार।

२. दैनिक जीवन के होमकर्म तथा अन्न की बलि।

३. मासिक पर्वों पर किये जाने वाले कर्म।

४. वार्षिक कर्म।

५. जीवन से सम्बद्ध कर्म जैसे गृहनिर्माण।

६. श्रौतकर्म जैसे श्राद्ध आदि।

७. आभिचारिक कर्म।

८. प्रायश्चित्त के कर्म।

९. अभिमन्त्रण के निर्देश।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र

जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, आपस्तम्ब के नाम से ख्यात सूत्रचरण का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। यह अध्वर्यु नाम के ऋत्विज् के कल्प का प्रमुख अंग है। आपस्तम्बसूत्रचरण उन चरणों में से एक है, जिनके सभी प्रकार के कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। आपस्तम्बकल्पसूत्र का २७ वाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध 'चरणव्यूह' के अनुसार आपस्तम्बशाखा खाण्डिकीयशाखा की पाँच शाखाओं में से एक थी और खाण्डिकीयशाखा तैत्तिरीयशाखा की एक उपशाखा थी। कालक्रम की दृष्टि से आपस्तम्बीयशाखा बौधायनशाखा के बाद की है किन्तु यह सत्याषाढ हिरण्यकेशीशाखा से पहले की है। प्रो० माक्सम्यूल्लेर के अनुसार आपस्तम्बशाखा एक सूत्रचरण है।

किन्तु आपस्तम्बगृह्यसूत्र पर विचार करने से पहले यह प्रश्न उठता है कि क्या आपस्तम्ब के नाम से उपलब्ध श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों का रचयिता एक ही व्यक्ति है। इस विषय पर ब्यूह्लर और ओल्डेनबेर्ग ने दो भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। ब्यूह्लर के तर्कों के अनुसार आपस्तम्ब गृह्यसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र में इतना अधिक घनिष्ठ संबंध है कि दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानना उचित प्रतीत होता है। ध्यान देने योग्य है कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र विस्तार की दृष्टि से अन्य गृह्यसूत्रों से छोटा और संक्षिप्त है। इसमें ऐसे अनेक विषयों को छोड़ दिया गया है जो सामान्यतः गृह्यसूत्र में होते हैं, उदाहरण के लिए विवाह के विभिन्न भेद, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य आदि। इन विषयों का विवेचन आपस्तम्बधर्मसूत्र में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि रचयिता आपस्तम्ब ने पहले धर्मसूत्र की रचना की और उसमें गृह्यसूत्र से संबद्ध कई विषयों का विवेचन किया और फिर पुनरुक्ति के भय से उन विषयों का विवेचन गृह्यसूत्र में करना उचित नहीं समझा। इससे यह संकेत मिलता है कि दोनों के रचयिता एक ही थे। किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र में गृह्यसूत्र के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि धर्मसूत्र से पहले गृह्यसूत्र विद्यमान था। और दूसरी ओर आपस्तम्बगृह्यसूत्र में धर्मसूत्र के नियमों का निर्देश है। इन दोनों की रचना के विषय में यही समाधान प्रतीत होता है कि दोनों की रचना एक ही समय में एक ही व्यक्ति ने की है।

किन्तु इसके विपरीत ओल्डेनबेर्ग ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया

है कि एक ही आचार्य से ख्यात रचनाएँ भिन्न-भिन्न आचार्यों की रचना हो सकती हैं। वे परम्परा पर विश्वास नहीं करते हैं। उनके शब्दों में—

"We shall not be able to trust so implicity to tradition where it puts down the same author for the Gṛhyasūtras as for the Corresponding S'rauta-sūtra, the possibility that such data are false is so large that we have to treat them as doubtful so long as we have not discovered certain proofs of their Correctness."

श्रौत तथा गृह्यसूत्रों के रचयिता एक नहीं हैं इसके पक्ष में इतने अधिक प्रमाण हैं कि उनपर अविश्वास नहीं किया जा सकता। आपस्तम्ब के श्रौत तथा गृह्य में भाषा और शैली की असंगतियाँ हैं। ये असंगतियाँ आकस्मिक या लेखक की असावधानी के कारण नहीं मानी जा सकतीं। अतएव आपस्तम्ब-गृह्य और श्रौतसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है यह प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आपस्तम्बधर्म और गृह्यसूत्र के रचयिता के विषय में भी ओल्डेनबेर्ग ने ब्यूह्लेर के मत की आलोचना की है। वे यह स्वीकार नहीं करते की दोनों की रचना एक व्यक्ति ने पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार की है और जो दोनों में असंगतियाँ हैं वे आकस्मिक हैं। वे इस तीसरी सम्भावना को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं कि दोनों के रचयिता भिन्न-भिन्न हैं।

"But there remains a third possible explanation, that the two texts are by different authors, one of whom knows and imitates the style of the other." भूमिका, पृ० ३२, टि० २ इस प्रकार ओल्डेनबेर्ग भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि गृह्यसूत्र और आपस्तम्ब में कौन पहले रचित है। वे केवल यही प्रस्तावना करते हैं कि इनमें से कोई एक दूसरे की नकल पर रचा गया है। जहाँतक आपस्तम्बधर्मसूत्र में आपस्तम्बगृह्य के कतिपय विषयों के विवेचन का प्रश्न है, ओल्डेनबेर्ग इसे स्वाभाविक मानते हैं, क्योंकि धर्मसूत्र का विषयक्षेत्र विस्तृत है उसमें गृह्य-सूत्र के विषय का विवेचन होना आश्चर्यजनक नहीं।

ओल्डेनबेर्ग का मत भी निर्णायक नहीं है। वे एक शंका या सम्भावना ही उत्थापित करते हैं। जबतक दोनों रचनाओं के विषय में भिन्न लेखक या भिन्न काल का निर्धारण नहीं होता, तबतक यह मानना अनुचित नहीं होगा

कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र के रचयिता एक ही आचार्य हैं और दोनों एक ही काल की रचनाएँ हैं।

आपस्तम्बकल्पसूत्र का सम्बन्ध दक्षिण भारत से है। इस शाखा का संस्थापक सम्भवतः आन्ध्रदेशीय था। 'चरणव्यूह' में 'महार्णव' नाम की रचना से उद्धृत पद्यों के अनुसार आपस्तम्बशाखा नर्मदा के दक्षिण में प्रचलित थी—

"नर्मदादक्षिणे भागे आपस्तम्ब्याश्वलायनी।
राणायनी पिप्पला च यज्ञकन्याविभागिनः॥
माध्यन्दिनी शाङ्खायनी कौथुमी शौनकी तथा।"

'महार्णव' में आपस्तम्बीय शाखा को स्पष्टतः आन्ध्रदेशीय बताया गया है—

आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेयीगोदासागर आवधि।
यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्या आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता॥

आपस्तम्ब के धर्मसूत्र में श्राद्ध के प्रकरण में ब्राह्मणों के हाथ में जल गिराने की प्रथा 'उत्तर के लोगों में प्रचलित है' (उदीच्याः) कहा गया है। ऐसा कहकर आपस्तम्ब ने अपने दक्षिण भारतीय होने का संकेत कर दिया है। आपस्तम्ब के धर्मसूत्र में तैत्तिरीय आरण्यक से कुछ मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। ये मन्त्र आन्ध्रपाठ से ही हैं। इस आधार पर ब्यूह्लेर आपस्तम्ब को निश्चित रूप से आन्ध्रदेशीय मानते हैं—

"It would therefore follow, from the adoption of an Āndhra text by Āpastamba, that he was born in that country, or at least had resided there so long as to have become naturalised in it."

इस प्रकार ब्यूह्लेर ने यह निष्कर्ष निकाला कि आपस्तम्ब का जन्म आन्ध्रप्रदेश में हुआ था, अथवा उन्होंने वहाँ इतने दीर्घकाल तक निवास किया था कि वे वहीं के हो गये थे।

आपस्तम्ब का गृह्य और धर्मसूत्र लगभग एक ही समय की रचनाएँ हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र में जिन प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख या सन्दर्भ मिलते हैं उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आपस्तम्ब का धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र पुराणों और महाभारत के बाद की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार इन ग्रन्थों को मीमांसा और वेदान्त दर्शन के उद्भव के बाद का भी सिद्ध किया है। (द्रष्टव्य, आपस्तम्बधर्मसूत्र की प्रस्तुत लेखक द्वारा भूमिका पृ० ३३)। कई समानताओं के आधार पर महामहोपाध्याय काणे ने यह मत प्रस्तुत किया है कि

आपस्तम्ब जैमिनि के मीमांसासूत्र से परिचित थे। सम्भव है कि वे जिस मीमांसासूत्र से परिचित थे वह उस समय तक वर्तमान रूप न प्राप्त कर सका हो।

"The correspondence in language with the Pūrvamīmāṁsā–sūtra is so close that one is tempted to advance the view that Āpastamba knew the extant Mīmāṁsā Sūtra or an earlier version of it that contained almost the same expressions."

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ४२

आपस्तम्ब का धर्मसूत्र गौतम और बौधायन के धर्मसूत्र के बाद का है। उसमें सभी वेदों और वेदाङ्गों का उल्लेख है। उसमें श्वेतकेतु का उल्लेख है, अतः वह श्वेतकेतु के बाद की रचना है, किन्तु बहुत बाद की रचना नहीं है। उसमें बौद्धधर्म का कोई उल्लेख न होने के कारण उसे उस समय की रचना मानते हैं जब दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार नहीं था। आपस्तम्ब का धर्मसूत्र उस समय की रचना है जब जैमिनि ने अपने दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। आपस्तम्बधर्मसूत्र (दूसरी शताब्दी ई० पू०) से पहले की रचना है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से तथा श्वेतकेतु के सम्बन्ध में उल्लेख पर ध्यान देते हुए ब्यूह्लेर ने यह विचार प्रकट किया है कि आपस्तम्ब के धर्मसूत्र को तृतीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं मानना चाहिए। किसी भी स्थिति में इसके रचनाकाल की निचली सीमा १५०–२०० वर्ष और पहले रखनी चाहिए।

"On linguistic grounds it seems to me Āpastamba cannot be placed later than the third century B. C. and if his statement regarding Śvetaketu is taken into account, the lower limit for the composition of his Sūtras must be put further back by 150–200 years."

प्रायः इन्हीं विषयों और तथ्यों पर ध्यान देते हुए महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने आपस्तम्बधर्मसूत्र के लिए ६००–३०० ई० पू० के बीच का समय मानना उचित ठहराया है।

"We shall not be far wrong if we assign it to some period between 600-300. B. C."

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र १. पृ० ४५

आपस्तम्बगृह्यसूत्र धर्मसूत्र के समय की ही रचना है, इसके विरोध में

जबतक प्रमाणों का अभाव है तबतक आपस्तम्बगृह्यसूत्र का समय ६००–३०० ई० पू० मानना असंगत नहीं है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र की समीक्षा

आपस्तम्बगृह्यसूत्र आपस्तम्ब के कल्पसूत्र के ३० प्रश्नों के अन्तर्गत २७ वाँ प्रश्न है। इस गृह्यसूत्र का निकटतम सम्बन्ध हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र से है। दोनों ही गृह्यसूत्र तैत्तिरीय शाखा के हैं और कृष्णयजुर्वेद से संबद्ध हैं। आपस्तम्बगृह्यसूत्र में मन्त्रों को उद्‌धृत नहीं किया गया है अपितु उनका एक अलग संग्रह उपलब्ध होता है। हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र में क्रियाओं के विवेचन के साथ-साथ मन्त्रों को भी उद्‌धृत किया गया है। यही शैली आश्वलायन, शांखायन और पारस्कर गृह्यसूत्र में भी अपनायी गयी है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र को शैली गोभिलगृह्यसूत्र में भी मिलती है और उसमें भी मन्त्रों को गृह्यकर्मों के विवेचन के साथ नहीं दिया गया है। ओल्डेनबेर्ग के अनुसार इस स्थिति में सूत्र मन्त्रों के पूर्व अस्तित्व का संकेत देते हैं और मन्त्रपाठ सूत्रों की पूर्व स्थिति सूचित करते हैं।

"The Sūtras presuppose the existence of the Mantrapāṭha, just as the latter text seems to presuppose the Sūtras."

आपस्तम्बगृह्यसूत्र का प्रथम संस्करण जर्मन विद्वान् विण्टरनित्स ने १८८७ में वियना से प्रकाशित कराया। जर्मनी के ही डॉ० ओल्डेनबेर्ग ने 'सेक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अन्य गृह्यसूत्रों के साथ इसका भी अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया (खण्ड ३०)। हरदत्त की अनाकुला वृत्ति और सुदर्शनाचार्य की तात्पर्यदर्शन टीका के साथ १९२८ ई० में आपस्तम्बगृह्यसूत्र का संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत संस्करण उपर्युक्त संस्करण का हिन्दी व्याख्या से संवलित रूप है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र ८ पटलों में विभक्त है। इन पटलों के अन्तर्गत कुल २३ खण्ड हैं। प्रथम पटल—में तीन खण्डों का समावेश है। यह "अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते" से आरम्भ होता है अर्थात् प्रयोग से प्राप्त कर्मों के विवेचन की प्रतिज्ञा की गयी है। आचार से प्राप्त कर्मों को सूर्य के उत्तरायण में होने पर अथवा मास के पूर्व पक्ष में शुभ दिन को करना चाहिए। ये सभी कर्म यज्ञोपवीत धारण करने वाले द्वारा किये जाते हैं। इन कर्मों का आरम्भ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होता है। पितरों के लिए किये जानेवाले कर्म मास के उत्तर पक्ष में किये जाते हैं और प्राचीनावीती होकर किये जाते हैं।

गृह्यसूत्र में कतिपय नैमित्तिक कर्म भी किये जाते हैं। इन नैमित्तिक कर्मों के विषय में यह सामान्य निर्देश दिया गया है कि इन कर्मों को निमित्त होने पर ही करना चाहिए।

कतिपय क्रियाएँ सभी गृह्यकर्मों में सामान्य होती हैं। उनका विवेचन गृह्यसूत्र के आरम्भ में ही किया गया है। जैसे अग्नि का आधान और कुश का परिस्तरण। कुश को बिछाते समय पितृकर्म के प्रसङ्ग में कुशों का अग्रभाग दक्षिण की ओर रहना चाहिए, अन्य कर्मों में पूर्व की ओर। परिस्तरण के अतिरिक्त पात्रों का आधान भी सामान्य कर्म है। अग्नि के उत्तर ओर कुशों पर देवता के लिए जोड़े पात्र उल्टा करके रखे जाते हैं। मनुष्यों के लिए अभिप्रेत कर्म होने पर विवाह आदि में एक-एक करके पात्र रखे जाते हैं, दोनों हाथों से नहीं। पितृकर्म में भी एक-एक पात्र रखा जाता है।

कुश को तिनके या काष्ठ से काटकर उससे दो पवित्रा बनाये जाते हैं जो दर्शपूर्णमास यज्ञों के ही अनुसार होते हैं। इन पवित्राओं को बनाते समय मन्त्र नहीं पढ़ा जाता है। अब उल्टे हुए पात्रों को सीधा कर दिया जाता है और हाथ में पवित्रा धारण कर उनका तीन बार प्रोक्षण किया जाता है। पात्रप्रोक्षण के बाद अग्नि के पश्चिम में पवित्राओं से जल को तीन बार पवित्र कर उसे मुख और नासिका तक ऊँचा उठाकर अग्नि के उत्तर की ओर कुशों पर रखकर कुश से ढँक दिया जाता है। यह प्रणीता जल कहलाता है।

अग्नि के दक्षिण की ओर कुश पर कोई ब्राह्मण आसीन होता है। इसके बाद आज्यसंस्कार किया जाता है। अग्नि से अङ्गारों को निकालकर उसपर आज्य पिघलाया जाता है। आज्य में दो कुशों का अग्रभाग काटकर डाल दिया जाता है और उस आज्य के चारों ओर उल्का घुमाते हैं। अङ्गारों को अग्नि में मिलाते हैं और पवित्रों को अग्नि में फेंक दिया जाता है।

(प्रथमखण्ड)।

जिस पात्र, दर्वी या हाथ से हवन करना होता है उसे पहले अग्नि दिखाया जाता है। अग्नि के चारों ओर परिधि रखी जाती है। परिधि के रूप में अधिकांश गृह्यकर्मों में कीली (शमी) का प्रयोग होता है। इसके बाद परिषेचन का कर्म होता है। अग्नि के चारो ओर जल छिड़का जाता है। पितृकर्म में परिषेचन बिना मन्त्र के होता है। अग्नि पर समिधा रखकर आघार होम तैयार किया जाता है और उसका बिना मन्त्र के ही होम किया जाता है। इसके बाद आज्यभाग नाम के दो होम किये जाते हैं। इन आहुतियों के अतिरिक्त कर्म के अनुसार अन्य आहुतियाँ भी होती हैं। जैसे

जया आहुति तेरह होती हैं और तैत्तिरीयसंहिता, तृतीय अध्याय, "चित्तञ्च चित्तिश्च" मन्त्र से आरम्भ होती हैं। 'अभ्यातान' नाम की अठारह आहुतियाँ होती हैं जो "अग्निर्भूतानाम्" से आरम्भ होती हैं। प्रजापति के लिए 'राष्ट्रभृत्' नाम की बाईस आहुतियाँ होती हैं, जो तैत्तिरीय संहिता ३.४.७ के "ऋताषाट्" से आरम्भ होती हैं। व्याहृतियों के लिए भी आहुतियाँ होती हैं "भूः स्वाहा', 'भुवः स्वाहा' आदि। अग्नि स्विष्टकृत् के लिए भी आहुतियाँ होती हैं, जो "यदस्य कर्मणः" ऋचा से आरम्भ होती हैं।

गृह्यसूत्र का प्रमुख विवेच्य पाकयज्ञ है। लौकिक जीवन से संबद्ध कर्मों को पाकयज्ञ कहा गया है—"लौकिकानां पाकयज्ञशब्दः" लोक का अर्थ शिष्ट है। पाकयज्ञ से विवाह आदि कर्मों का निर्देश किया गया है। पाक का अर्थ 'अल्प' भी है। यदि 'पाक' का अर्थ 'पाक' पकायी गयी वस्तु की हवि से लिया जाय तो आज्यहोम को पाकयज्ञ में स्थान नहीं मिलेगा अतः पाक का अर्थ 'अल्प' ही होना चाहिए। ऐसा अनाकुलावृत्तिकार हरदत्त मिश्र का कथन है—

"पाकशब्दोऽल्पवचनः, यथा क्षिप्रं यजेत पाको देव (आप० गृ० २०.१५) इति। पाकगुणको यज्ञः पाकयज्ञ इति निर्वचने आज्यहोमेषु संज्ञा न स्यात्।" (द्रष्टव्य, पृ० ३७)।

इन सामान्य याज्ञिक क्रियाओं अग्न्याधान, परिस्तरण, पात्रप्रयोग, पवित्रसंस्कार, पात्रप्रोक्षण, प्रणीता, आज्यसंस्कार, प्रतितपन, परिधि, परिषेचन, आघार होम, आज्यभाग होम प्रधान आहुतियों का विवेचन करने के बाद आपस्तम्बगृह्यसूत्रों में संस्कारों का विवेचन आरम्भ किया गया है (पृ० ४०)।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के लिए शिशिर के दो मास (माघ और फाल्गुन) तथा ग्रीष्म ऋतु का अन्तिम मास (आषाढ़) छोड़कर सभी ऋतुएँ उपयुक्त होती हैं। ज्योतिष के अनुसार शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त में ही मांगलिक वाद्य, गीत, सजावट के साथ विवाह संस्कार होना विहित है। विवाह में कई क्रियाएँ बिना मन्त्र के लोक में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार भी होती हैं। इन क्रियाओं के लिए कुल की वृद्धाएँ ही प्रामाणिक होती हैं। ऐसी क्रियाओं को 'आवृत्' कहते हैं। मृगशिरस् नक्षत्र विवाह के लिए अच्छा माना जाता है। (द्वितीय खण्ड)।

मघा नक्षत्र में कन्या का पिता वर पक्ष से दो गायें प्राप्त करता है। वधू को पतिगृह जाने के लिए फल्गुनी नक्षत्र उत्तम माना गया है (पृ० ४४)।

और घनिष्ठा नक्षत्र में कन्या का विवाह करने पर कन्या पति के यहाँ जीवनभर सुखी रहती है, ऐसा विश्वास किया जाता है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के काल में विवाह के समय वरपूजन के लिए एक गौ के वध का भी संकेत है ("विवाहे गौः। गृहेषु गौः। पृ० ४६)। प्रथम गौ द्वारा वर के लिए मधुपर्क का विधान है और दूसरी गौ के आलभन द्वारा वर के पिता या आचार्य के लिए आलभन का विधान है। गौ का आलभन केवल तीन अवसरों पर ही होता था—अतिथि के आगमन, पितरों के लिए किये जानेवाले अष्टका कर्म तथा विवाह। "एतावद् गोरालम्भनस्थानमतिथिः पितरो विवाहश्च" (आप० गृ० १,३,१०, पृ० ४८)।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में भी कन्या के दुर्गुणों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इनमें कुछ तो शारीरिक दोष से संबद्ध हैं जैसे पीले नेत्र, बैल की तरह शरीर, नीले रोम, कुबड़ापन, गंजा सिर, मेढ़क के रंग की त्वचा, अधिक स्थूल जाँघें। कुछ दोषों का संबन्ध चरित्र के लिए सन्देह उत्पन्न करने वाली स्थितियों से है, जैसे खेलकूद में अधिक रुचि, खेत की रखवाली करना, गाय बछड़े चराना, अनेक सखियों और मित्रों का होना, संरक्षिता होना। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे दोष हैं, जिनमें सामाजिक नैतिक नियम का विचार है, जैसे कन्या का किसी दूसरे के लिए वाग्दत्ता होना, धार्मिक दृष्टि से सांकारिका (दूसरे कुल में उत्पन्न, या जिसके गर्भस्थ होने पर माता ने अपने पति का अस्थिसंचयन किया हो) निषिद्ध है। कन्या की छोटी बहन अधिक सुन्दर हो तो वह कन्या वर्जित मानी गयी है। संभवतः इसलिए कि उस कन्या को छोटी बहन की ओर आकर्षण की स्थिति आ सकती है। जिस वर्ष में वर का जन्म हुआ हो, उसी वर्ष में उत्पन्न कन्या से विवाह का निषेध किया गया है।

("दत्तां गुप्तां द्योतामृषभां शरभां विनतां विकटां मुण्डां मण्डूषिकां साङ्कारिकां रातां पालीं मित्रां स्वनुजां वर्षकारीं च वर्जयेत्।")

इन बातों के अतिरिक्त एक विचित्र बात और देखने में आती है कि जिन जिन कन्याओं के नाम नक्षत्र, नदी या वृक्ष के नाम के आधार पर हों वे गर्हित होती हैं। जिन कन्याओं के नामों की उपधा में र् या ल् वर्ण हो उनके वरण का भी निषेध किया गया है।

विवाह के समय कुछ शकुन अपशकुन का विचार भी होता था, इसका निर्देश आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में मिलता है। आज की दृष्टि से इसे अन्धविश्वास मात्र कहा जा सकता है। कन्या वरण के समय एक साथ मिले हुए व्रीहि, यव आदि अनेक प्रकार के बीज, वेदी से ली गयी मिट्टी, खेत से ली गयी मिट्टी का ढेला, गाय का गोबर तथा श्मशान से लिया गया मिट्टी

का ढेला कन्या से छिपाकर रखा जाता है। इनमें उसे किसी एक का वरण करना होता है। इनमें अन्तिम पदार्थ अर्थात् श्मशान की मिट्टी का स्पर्श गर्वित होता है। बीजों के स्पर्श से सन्तान की उत्पत्ति का फल सूचित होता है, वेदी की मिट्टी पर हाथ रखने पर यज्ञों द्वारा फल की समृद्धि की सूचना मिलती है। यदि कन्या खेत की मिट्टी के ढेले पर हाथ रखे तो धन-धान्य की वृद्धि होती है। गोबर पर हाथ रखने पर पशुओं की वृद्धि होती है और श्मशान की मिट्टी मृत्यु का सूचक होती है।

कन्या के इन दोषों का निषेध कर आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में स्पष्टतः निर्देश दिया गया है कि उत्तम कुल वाली, उत्तम आचरण वाली, स्त्रियोचित गुणों से युक्त और स्वस्थ कन्या से विवाह करना चाहिए। "बन्धुशीललक्षणसम्पन्नाम-रोगामुपयच्छेत।" और वर के लिए भी उत्तम कुल, उत्तम आचरण, उच्च अध्ययन और स्वास्थ्य गुण हैं। किन्तु इन सभी वर्जन के नियमों के होते हुए भी वर की पसन्द को सर्वोपरि कहा गया है। इस प्रकार प्रेम के कारण भी विवाह विहित है। आपस्तम्ब ने स्पष्ट कहा है कि जिस कन्या से मन और नेत्रों को तृप्ति होती है, उससे निश्चय ही सुख की प्राप्ति होती है। अतएव वर को अन्य बातों की ओर ध्यान न देकर उसी से विवाह करना चाहिए—

"यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके ॥"

१,३,२१

यह कुछ आचार्यों का ही मत है। (तृतीय खण्ड)।

कन्या का वरण करने के लिए वर के बन्धु-बान्धव जाते हैं। ये वरण करने वाले वेदाध्ययन से सम्पन्न होते हैं। किन्तु वरण की प्रथा ब्राह्म विवाह और दैव विवाह में नहीं होती। वर कन्या को स्व ' देखता है।

कन्यावरण के बाद विवाह के समय ही वर-वधू के नेत्रों पर दृष्टिपात करता है और कुश से भौंहों के बीच मार्जन कर कुश को पश्चिम की ओर फेंक देता है। ये क्रियाएँ मन्त्र पढ़ते हुए की जाती हैं। इसके बाद वधू को स्नान कराया जाता है। अयुग्म घड़ों से अयुग्म बार स्नान कराया जाता है। और स्नान कराते समय पाँच मन्त्रों का पाठ होता है। स्नान के समय कन्या के सिर पर कुश का मण्डल रखा होता है। कन्या के स्नान के बाद वर-वधू के दाहिने हाथ को पकड़कर अग्नि के समीप लाकर बैठाता है। वे दोनों अग्नि के पश्चिम इस प्रकार बैठते हैं कि वर उत्तर की ओर और कन्या दक्षिण की ओर बैठती है। उस समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है उसे या तो श्रोत्रिय के घर से लाते हैं अथवा मन्थन करके उत्पन्न करते हैं। तदुपरान्त

अग्नि के आधान से लेकर आज्य भाग की आहुति तक के सामान्य कर्म किये जाते हैं।

इसके बाद विवाह का पाणिग्रहण कर्म होता है। वर अपने दाहिने हाथ से वधू के दाहिने हाथ को पकड़ता है। पाणिग्रहण की विधि में भी आपस्तम्ब ने पुत्र या पुत्री के उत्पत्ति की कामना के आधार पर भेद बताया है। पुत्री की कामना से वधू की अंगुलियों को और पुत्र की कामना से अँगूठे को ग्रहण करने का विधान है।

इसके अनन्तर सप्तपदी का विधान है। वर-वधू को अग्नि के पूर्व या उत्तर की ओर सात पद चलाता है। यह क्रिया मन्त्रों के पाठ के साथ होती है। (चतुर्थ खण्ड)।

अग्नि की प्रदक्षिणा कर वर और वधू पहले के समान ही अग्नि के पश्चिम में बैठते हैं। तब अश्मारोहण का कर्म होता है। अग्नि के उत्तर में एक प्रस्तर खण्ड के ऊपर कन्या के पैर को 'आतिष्ठ' आदि मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि के उत्तर में एक प्रस्तर खण्ड के ऊपर रखवावे। वधू की अञ्जलि में आज्य फैलाने के बाद उसमें लाजा डाला जाता है। यह कार्य कन्या का सहोदर भाई करता है। वर लाजा का होम करता है और यह होम कन्या की ओर से किया जाता है। पुनः पहले के समान ही वधू के पैर को प्रस्तर खण्ड के ऊपर रखवावे। तब होम और अग्नि की परिक्रमा करते हैं और जया आदि आहुति दी जाती है। योक्त्र को खोलकर रथ या पालकी पर चढ़ाकर वधू को वर अपने घर ले जाता है। वैवाहिक अग्नि को भी उखा में रखकर लाया जाता है। यह अग्नि निरन्तर प्रज्वलित रखी जाती है। मार्ग में वर यथोचित निमित्त के अनुसार मन्त्रों का पाठ भी करता जाता है। वर वधू को मन्त्र पढ़ते हुए अपना घर दिखाता है और घर के कोने-कोने से परिचित कराता है। वर पहले स्वयं घर में प्रवेश करता है, फिर निवास के घर में लाल बैल का चमड़ा बिछाता है, तदुपरान्त वधू का दाहिना पैर पहले घर में रखते हुए प्रवेश कराता है। भोजन करने के बाद चर्म के पूर्व में विवाहाग्नि स्थापित की जाती है। वर अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्य भाग की आहुति तक के कर्म करता है और वधू उसका स्पर्श किये रहती है। फिर वे चर्म पर बैठते हैं। वर उत्तर दिशा की ओर बैठता है। वधू की गोदी में वर किसी ऐसी स्त्री के पुत्र को बैठाता है, जिसके केवल पुत्र उत्पन्न हुए हों और सभी पुत्र जीवित हों। तदुपरान्त नक्षत्रों के उदय तक वे दोनों मौन रहते हैं। नक्षत्रों के निकलने पर वर वधू को घर से पूर्व

या उत्तर दिशा की ओर ले जाकर ध्रुव तथा अरुन्धती नक्षत्र को दिखाता है। (षष्ठ खण्ड)।

तृतीय पटल—पत्नी के साथ अग्नि देवता के लिए स्थालीपाक के यज्ञ का विधान है। पत्नी होम तथा ब्राह्मण भोजन के लिए पर्याप्त धान या जौ कूटकर स्थालीपाक तैयार करती है। इस यज्ञ में वर ही ऋत्विज् होता है। स्थालीपाक का आज्य से परिषेचन कर उसे अग्नि के पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखते हैं। तदुपरान्त अग्नि के उपसमाधन से लेकर आज्यभाग की आहुतियाँ देकर वर स्थालीपाक से हवन करता है और पत्नी उसे पकड़े रहती है। ये होम अग्नि के मध्य में और उत्तर में किये जाते हैं। स्थालीपाक और आज्य में एक कुश डालकर उस कुश को अग्नि में डालना चाहिए। यहाँ भी जयादि आहुतियाँ की जाती हैं। अवशिष्ट स्थालीपाक को किसी ब्राह्मण को खाने के लिए दिया जाता है। आचार्य को दक्षिणा के रूप में एक बैल का दान करने का विधान भी है। स्थालीपाक का जो विधान विवाह के बाद के समय के लिए बताया गया है, वही विधान पर्वों पर भी अर्थात् पौर्णमासी, अमावस्या को भी किये जाते हैं। प्रथम स्थालीपाक के दिन से ही पति प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल अग्नि में दो बार अन्न की आहुति करे।

"सायं प्रातरत ऊर्ध्वं हस्तेनैते आहुती तण्डुलैर्यवैर्वा जुहुयात्" । ३.१.१६ (पृ० १०६)।

स्थालीपाक के बाद वरवधू तीन रात्रियों तक ब्रह्मचर्य रखते हैं। वे भूमि पर सोते हैं और नमक मिर्च के भोजन से परहेज करते हैं। उन दोनों के सोते समय बीच में दूधदार वृक्ष का डण्डा, सुगन्धित करके, वस्त्र में लपेटकर रखा जाता है। चौथी रात के तीसरे प्रहर में मन्त्र पढ़कर इस डण्डे को उठाता है और उसे धोकर अलग रख देता है फिर पत्नी के साथ अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्य भाग की आहुति तक के कर्म करता है। जया आहुति, परिषेचन कर्म के बाद पत्नी को अग्नि के पश्चिम बैठावे। उसके सिर पर तीन व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए चौथी बार ओम् कहते हुए आज्य लेकर छिड़के। अवशिष्ट आज्य में से वर अपने और पत्नी के हृदय पर लगाता है। उनके संभोग के समय पति 'आरोहोरुम्' आदि मन्त्र का जप करता है अथवा अन्य ब्राह्मण उनके संभोग में प्रवृत्त होने के पूर्व इस अनुवाक का जप करता है। इसके पूर्व वधू के वस्त्रों को बदलने का भी नियम है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में भी सन्तानोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल की रात्रियों का विधान है। इसके साथ ही वर के मन को वधू की ओर आकृष्ट करने के लिए भी स्थालीपाक का विधान किया गया है (पृ० १४६)

चतुर्थ पटल—उपनयन संस्कार के वर्णन से आरम्भ होता है। बालक का उपनीत होना वेदाध्ययन के लिए तथा स्मार्त कर्म के लिए अनिवार्य है।

"येन आचार्यकुलम् उपनीयते कुमारः तदुपनयनं नाम कर्म।"
"कुमारस्य आचार्यसमीपमनयनमस्मिन् कर्माणि।"

उपनयन की क्रियाओं में बालक के वर्ण का ध्यान रखा गया है। ब्राह्मण बालक का उपनयन गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का उपनयन ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य बालक का उपनयन बारहवें वर्ष में करने का विधान है। इसी प्रकार वर्ण के अनुसार इनके उपनयन की ऋतुएँ भी भिन्न हैं। ब्राह्मण के लिए वसन्त, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म और वैश्य के लिए शरद् ऋतु।

उपनयन की प्रथम क्रिया ब्राह्मण भोजन है। ब्राह्मणों और बालक को भोजन कराने के बाद मन्त्र पाठ करते हुए बालक के सिर को भिगोते हैं। केशों के बीच चारों दिशाओं में तीन-तीन कुश रखकर चार मन्त्रों से चारों ओर से केशवपन किया जाता है। केशवपन के समय एक ब्रह्मचारी या बालक की माता दक्षिण की ओर बैठकर मन्त्रपाठ करते हैं। बालक की माता या कोई ब्रह्मचारी बैल के गोबर के ऊपर जौ डालकर उस पर कटे केशों को रखकर उसे उदुम्बर वृक्ष की जड़ पर रख आवे।

इसके बाद बालक को स्नान कराया जाता है। बालक के स्नान के बाद अग्नि का उपसमाधान होता है और आज्यभाग की आहुति तक की सामान्य क्रियाएँ की जाती हैं। कुमार अग्नि पर एक समिध् रखता है और अग्नि के उत्तर में रखे प्रस्तर पर पैर रखता है।

वस्त्र का अभिमन्त्रण कर उसे बालक को पहनने के लिए दिया जाता है। बायें से दाहिने की ओर तीन बार ले जाते हुए मूंज की मेखला पहनायी जाती है और मन्त्र के साथ चर्म धारण कराया जाता है। अग्नि के उत्तर में आचार्य कुश बिछाकर उस पर बालक को बैठाता है और मन्त्रों का पाठ करते हुए उसे देवों को संरक्षण के लिए अर्पित करता है। (खण्ड १०)

आचार्य बालक को यथोचित मन्त्र प्रदान करता है। इसके बाद आज्यभाग और जया नाम की आहुतियाँ दी जाती हैं। बालक आचार्य के चरण का उपसंग्रहण करता है और मन्त्रदान की प्रार्थना करता है। सावित्री मन्त्र ग्रहण करने के बाद मन्त्र के साथ बालक ओठ का स्पर्श करता है। पुनः मन्त्र से कानों को स्पर्श करता है और मन्त्र का पाठ करते हुए दण्ड धारण करता है। दण्ड की लकड़ी के विषय में भी वर्ण का विचार किया गया है, जैसे ब्राह्मण के लिए पलाश का, क्षत्रिय के लिए न्यग्रोध का और वैश्य के लिए वदर या उदुम्बर का दण्ड होना चाहिए। इसके बाद बालक आचार्य को

दक्षिणा देता है। और सूर्य की स्तुति करता है। आचार्य बालक के दाहिने हाथ को पकड़ कर मन्त्र पढ़ता है और अग्नि पर मन्त्र पढ़ते हुए बारह समिधाएँ रखता है। तदुपरान्त आचार्य बालक को ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश देता है। (खण्ड ११)

आपस्तम्बगृह्यसूत्र की कुछ पाण्डुलिपियों में उपाकरण और उत्सर्जन नाम के कर्मों का विवेचन भी है। उपाकर्म श्रावण मास के पूर्वपक्ष में ओषधियों के उत्पन्न होने पर अथवा हस्तनक्षत्र से युक्त पौर्णमासी को किया जाना चाहिए। इस कर्म के लिए अग्नि पर समिधा रखने से लेकर आज्यभाग की आहुति तक के कर्म किये जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुवाक का पाठ होता है और तीन दिन का अनध्याय होता है। इस कर्म में आचार्य और शिष्य सम्मिलित रहते हैं।

उत्सर्ग का कर्म तैषी पौर्णमासी को किया जाता है। शिष्यों के साथ आचार्य पूर्व या उत्तर दिशा में किसी पोखरे पर जाता है। वहाँ वे मन्त्रों के साथ घड़ों से स्नान करते हैं तथा मार्जन एवं तीन बार प्राणायाम करते हैं। पवित्र स्थान में देवों के लिए तथा ऋषियों के लिए कुशों के आसन बनाते हैं। शाखाकारों के लिए तथा पितरों के लिए भी आसन बनाये जाते हैं। फिर देवों और ऋषियों का तर्पण तथा सामूहिक प्रार्थना करते हैं। तीन अनुवाकों का अध्ययन होता है। जल में प्रवेश करके वे समुद्र की तरह क्षोभ उत्पन्न करते हैं। जल से निकलकर वे पूर्व या उत्तर दिशा को दौड़ते हैं। इसे आजिधावन कहते हैं। फिर घर में प्रवेश कर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। जल से प्रतिदिन देवों, ऋषियों और पितरों के तर्पण का विधान है।

पञ्चम पटल—का आरम्भ ब्रह्मचारी के स्नान या समावर्तन नाम के कर्म से आरम्भ होता है। यह कर्म वेदों का अध्ययन समाप्त करने पर किया जाता है। ब्रह्मचारी गायों के घर में जाकर मृगचर्म पर बैठता है। उस दिन उसके शरीर पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ना चाहिए। दोपहर को वह अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक के सामान्य कर्म करता है। अग्नि के पश्चिम में बैठकर छुरे को अभिमन्त्रित करके केशवपन के लिए नाई को देता है। केशवपन की क्रिया का आरम्भ आचार्य करे और फिर नापित पूरा करता है। केशों को उदुम्बर की झाड़ी में स्थापित किया जाता है। गायों के निवासस्थान के पीछे बैठकर मेखला निकालकर किसी ब्रह्मचारी को देता है। वह ब्रह्मचारी उस मेखला को उदुम्बर वृक्ष के मूल में

या कुशों की झाड़ी में छिपाकर रख देता है। शीतल और उष्ण जल से मिश्रित जल से छः मन्त्रों से स्नान करे और मन्त्र के साथ उदुम्बर की दातौन से दाँत साफ करता है। पुनः सुगन्धित जल से स्नान करता है। शरीर में चन्दन का लेप करता है। सोने की मणि को जल में घुमाकर गले में बाँधता है। नया वस्त्र धारण करता है। उस वस्त्र के छोर में दो कर्णभूषण बाँधता है। कर्णाभूषणों को दर्वी में रखकर उन पर आज्य गिराता है और आठ मन्त्रों से आठ प्रधान आहुतियाँ तथा जया आहुतियाँ करता है। अग्नि के चारो ओर जल के परिषेचन तक की क्रियाएँ करता है और मन्त्र पढ़ते हुए कर्णाभूषणों को एक-एक कर कानों में बाँधता है। तदुपरान्त मन्त्रों के साथ दर्पण में मुख देखना, जूता, छाता और छड़ी धारण करने का कार्य करता है। नक्षत्रों के उदय तक मौन रखकर दिशाओं तथा नक्षत्रों की पूजा करता है। मित्र से सम्भाषण कर वह अभीष्ट आश्रम में प्रवेश करता है। (खण्ड १२)। मधुपर्क तथा अतिथि पूजा की विधि का भी निर्देश आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में किया गया है। स्नातक जब घर लौटता है तो उसके लिए मधुपर्क की पूजा होती है। स्नातक कुटुम्बियों द्वारा प्रदत्त घासों के कूर्च पर बैठता है। मधुपर्क देने वाला पहले जल उपस्थित करता है। अतिथि जल के ऊपर मन्त्र पढ़ता है और दाहिना पैर ब्राह्मण द्वारा धोये जाने के लिए बढ़ाता है। उसका बायाँ पैर शूद्र धोता है। किन्तु यह नियम केवल ब्राह्मण स्नातक के लिए है, क्षत्रिय या वैश्य स्नातक के लिए नहीं। अतिथि मन्त्र पढ़ते हुए पैर धोने वाले को छूकर अपने हृदय का स्पर्श करता है। मधुपर्क प्रदाता मिट्टी के पात्र में जल लेकर अर्घ के लिए प्रस्तुत करता है। यह जल पुष्प, अक्षत से युक्त होता है। अतिथि उस जल का कुछ अंश अञ्जलि में मन्त्र पढ़ते हुए लेता है। शेष जल पूर्व की ओर ले जाकर गिरा दिया जाता है। इस समय वस्त्रादि उपहार भी दिये जाते हैं। दही और मधु काँसे के बर्तन में मिलाकर उसे काँसे के बर्तन से ढँककर दोनों ओर घास के कूर्च से पकड़कर अतिथि के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और "यह मधुपर्क है" ऐसा निवेदन किया जाता है। कहीं-कहीं मधुपर्क दही, मधु, घी का मिश्रण होता है। कहीं-कहीं पाँच पदार्थ होते हैं और धाना और सत्तू का भी मिश्रण होता है। अतिथि उस मधुपर्क को भी अभिमन्त्रित कर मन्त्रों के साथ तीन बार खाता है और शेष अंश अपने कृपा-पात्र को दे देता है। तदुपरान्त 'गौ' उपस्थित करते हैं। गौ के ऊपर अतिथि मन्त्र पढ़ता है। उस 'गौ' का अतिथि के इच्छानुसार वध भी हो सकता है। वध होने पर उसकी वपा को पकाकर आज्य के साथ अग्नि में हवन किया जाता है। पूज्यमान व्यक्ति गौ को छोड़ देने का भी आदेश दे सकता है "ओम्

उत्सृजत" । जो अन्न पूज्यमान के लिए बनाया जाता है उसका भी पूज्यमान अभिमन्त्रण करता है । अन्न मांसयुक्त होता है ।

ये अर्घ कर्म अपने आचार्य, ऋत्विज, श्वसुर और राजा के लिए भी किये जाते हैं, यदि वे एक वर्ष के बाद आये हों । (खण्ड १३)

षष्ठ पटल—का आरम्भ सीमन्तोन्नयन संस्कारसे होता है । यह संस्कार स्त्री के प्रथम गर्भकाल के चौथे महीने में किया जाता है । इसमें स्त्री के केशों के बीच की रेखा का उन्नयन किया जाता है । "सीमन्तो उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत्" । ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद उनसे स्वस्तिवाचन कराकर पत्नी से संयुक्त होकर पति अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुति तक के कर्म, आठ प्रधान आहुतियाँ तथा जया आहुतियाँ करता है । अग्नि का परिषेचन कर पत्नी को अग्नि के पश्चिम में पूरब की ओर मुख करके बैठाकर उसके केशों को तीन दर्भ के टुकड़े, उदुम्बर के गुच्छे, साही के काँटे से सीमन्त का उन्नयन करता है । यह कर्म मन्त्र के साथ होता है । इस समय वीणा बजाने वाले गाथा भी गाते हैं । पत्नी के सिर पर अंकुरित जौ सूत्र द्वारा बांधता है और वह नक्षत्रों के उगने तक मौन रहती है । नक्षत्रों का उदय होने पर पत्नी के साथ पूर्व या उत्तर को जाकर गौ के बछड़े का स्पर्श कर व्याहृतियों का जप कर मौन का परित्याग करता है ।

पुंसवन संस्कार पुत्रोत्पत्ति की आकांक्षा से उस समय किया जाता है जब गर्भ स्पष्ट हो गया है । यह संस्कार तिष्य नक्षत्र में किया जाता है । यह गर्भ के तीसरे या चौथे मास में किया जाता है । न्यग्रोध वृक्ष की ऐसी टहनी तोड़कर जिसमें दो फल पास-पास अण्डकोष के रूप में हों लाकर किसी ऐसी कन्या से, जो रजस्वला न हुई हो, पिसवाया जाता है । उसे वस्त्र से छनवाया जाता है । अग्नि के उपसमाधान से लेकर अन्य कर्म सीमन्तोन्नयन के समान किये जाते हैं । ब्राह्मणभोजन और स्वस्तिवाचन नहीं होता । पत्नी को अग्नि के पश्चिम में उत्तान लिटाकर उसके नाक के दाहिने छिद्र में न्यग्रोध का रस प्रवेश कराता है । यहीं आपस्तम्ब गृह्य सूत्र में शीघ्र अर्थात् अधिक पीड़ा के बिना पुत्रोत्पत्ति होने के लिए भी एक प्रकार की आभिचारिक क्रिया की जाती है । (खण्ड १४)

जातकर्म नाम का संस्कार उत्पन्न हुए पुत्र के लिए ही किया जाता है, पुत्री के लिए नहीं । पिता वत्सप्री ऋषि के मन्त्र का पाठ करते हुए पुत्र का स्पर्श करता है, फिर मन्त्र पढ़ते हुए गोद में लेता है, उस पर मन्त्र पढ़ता है । उसके सिर को सूँघता है और तदुपरान्त उसके कान में जप करता है । उस समय बालक का नक्षत्र का नाम रखता है । यह नाम गुप्त रहता है ।

मधु और घृत मिलाकर सोने के टुकड़े को दर्भ से बाँधकर बालक को चटाता है। दूसरे काँसे के पात्र में दही और घृत मिलाकर पृषदाज्य बनाकर चार-बार चटाया जाता है। बचे हुए पृषदाज्य को गायों के रहने के स्थान पर गिरा दिया जाता है। मन्त्र से ही उसे माँ की गोद में रखता है और मन्त्र पढ़कर स्तनपान कराता है। बालक को लिटाने पर उसके सिरहाने जल से भरा घड़ा रखते हैं और आठ मन्त्रों से सरसों और धान की भूसी का हवन करता है। जब भी कोई उस घर में प्रवेश करता है तो विना मन्त्र के तीन-तीन बार हवन करता है।

नामकरण दसवें दिन होता है। इस दिन सूतिकास्नान के बाद सूतिका के चिह्नों को हटा दिये जाने पर पिता नाम रखता है। पुत्र का नाम चार अक्षरों का तथा पुत्री का अयुग्म अक्षरों का नाम उत्तम माना गया है। (खण्ड १५)

अन्नप्राशन कर्म जन्म से छठे महीने में होता है। पहले ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। उनसे स्वस्तिवाचन कराने के बाद दही, मधु, घृत और भात मिलाकर चार मन्त्रों से कुमार को खिलाते हैं। यह कर्म जन्म से छठे महीने में होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार अन्नप्राशन में तित्तिर पक्षी का मांस भी विहित है।

चौल या चूड़ाकरण संस्कार जन्म के तीसरे वर्ष में पुनर्वसु नक्षत्र के समय होता है। मन्त्र के साथ यह कर्म पुत्र के लिए ही होता है, पुत्री के लिए नहीं। पहले ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और उनसे स्वस्ति-वाचन कराया जाता है। तदुपरान्त अग्नि के उपसमाधान से लेकर परिषेचन तक के कर्म किये जाते हैं। बालक को अग्नि के पश्चिम पूर्व की ओर मुख कर बैठाया जाता है। उसके केशों को तीन दर्भ, अनपके उदुम्बर फल का गुच्छा तथा तीन चिह्नों वाले साही के काँटे से सँवार कर ऋषि के अनुसार शिखा बनायी जाती है। छुरे को धोकर रख दिया जाता है और तीन दिन तक यह कर्म किया जाता है।

इसी प्रकार गोदान नाम का कर्म होता है जो सोलहवें वर्ष में किया जाता है। यह गोदान कर्म अग्नि देवता के लिए किया जाताहै, अथवा पूरे वर्ष तक इसका व्रत रखा जा सकता है। गोदान कर्म में सम्पूर्ण केशों का वपन होता है, किन्तु चौलकर्म में शिखा छोड़ी जाती है। गोदान कर्म आचार्य करता है।

सप्तम पटल—का आरम्भ गृह सम्मान विधि से होता है। इसके पूर्व यज्ञ के अधिकारी पुरुष की देह से सम्बद्ध संस्कारों का वर्णन किया गया है।

किन्तु ये कर्म विधिवत् बनाये गये घर में ही किये जाते हैं। इस कारण गृहसम्मान विधि (विधिपूर्वक घर बनाना) गृह्यसूत्र में वर्णित है। घर बनाने के लिए दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थान का चयन करना उचित माना गया है। कुदाल से खोदकर शमी की टहनियों से धूल झाड़ी जाती है। तीन बार झाड़ने के बाद उस भूमि का अभिमन्त्रण किया जाता है और बायें से दाहिने की ओर खम्भों के लिए गड्ढे खोदे जाते हैं। मन्त्रों के साथ पहले द्वार स्तम्भ लगाया जाता है। मन्त्र पढ़ते हुए ही खम्भों पर बल्ली रखी जाती है। घर का निर्माण होने पर उसका अभिमन्त्रण करता है। पहले घर से शमी या पलाश की समिधा जलाकर प्रवेश करता है। उसे घर की उत्तर पूर्व दिशा में स्थापित करता है। उस अग्नि के दक्षिण में जल रखने का स्थान बनाया जाता है। दर्भ पर चावल और जौ रखकर उस पर जल रखने का पात्र उद-धान स्थापित करता है। इसमें मन्त्र पढ़ते हुए चार घड़े पानी डाला जाता है। अग्नि के उपसमाधान से आरम्भ कर चार प्रधान आहुतियाँ और जया आदि आहुतियाँ की जाती हैं। अग्नि का परिषेचन करने के बाद ब्राह्मणों को पुआ, सत्तू और भात खिलाया जाता है। (खण्ड १७)।

अन्य गृह्यसूत्रों के समान आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में भी कतिपय आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन है। उदाहरण के लिए, विवाह का विवेचन करने के बाद पति को वश में करने, सपत्नियों का प्रभाव समाप्त करने के लिए सपत्नीबाधन तथा पत्नी को राजयक्ष्मा से स्वस्थ करने के लिए आभिचारिक क्रियाएँ दी गयीं हैं। (पृ० १४६–१५१)।

पुंसवन संस्कार को भी एक प्रकार का अभिचारिक कर्म कहा जा सकता है। पुत्र की उत्पत्ति के समय कष्टरहित प्रसव के लिए जो मन्त्रसहित कर्म बताये गये हैं वे भी आभिचारिक कर्म ही कहे जा सकते हैं। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अठारहवें खण्ड का आरम्भ भी ऐसी ही आभिचारिक क्रिया या झाड़-फूंक से है। यदि बालक को श्वग्रह अर्थात् पिशाच ने ग्रहण कर लिया हो अथवा कुत्ते की तरह चेष्टा करने का रोग लग गया हो तो बालक को एक जाल से ढँककर घण्टी बजाते हुए पीछे के द्वार से जुआ खेलने के स्थान पर ले जाय और जुए की गोटियों के ऊपर उत्तान लिटाकर मन्त्रों का पाठ करते हुए नमक मिला हुआ दही उसके ऊपर छिड़के। यह कर्म तीनों समय किया जाता है। शंख रोग के लिए भी अभिमन्त्रण का नियम बताया गया है।

सर्पबलि—गृहस्थ को पर्वों पर बलि कर्म करना होता है। सर्पबलि भी इसी प्रकार का कर्म है। यह प्रत्येक वर्ष किया जाता है। श्रावण की पौर्ण-

मासी से आरम्भ कर मार्गशीर्ष की पौर्णमासी तक किया जाता है। आज्य भाग की आहुतियों तक के कर्म किये जाते हैं और स्थालीपाक से अंश ग्रहण कर हवन किया जाता है। चार आज्य आहुतियाँ और जया आहुतियाँ होती हैं। बाहर निकलकर रेखाएँ खींचकर उन पर कुटा हुआ धान, लावा, अञ्जन, अभ्यञ्जन, स्थगर और उशीर आदि छोड़े। अठ्ठारह मन्त्रों से सर्पों की पूजा कर चुपचाप लौट आना होता है।

आग्रयण कर्म प्रथम फलों का अंश ग्रहण करने का कर्म है। नये अन्नों का स्थालीपाक बनाकर चार आहुतियाँ आग्रयण के देवों के लिए और पाँचवीं आहुति अग्नि स्विष्टकृत् के लिए दी जाती है।

गृहस्थ के जीवन से संबद्ध कर्मों में 'प्रत्यरोहण' कर्म भी है। हेमन्त ऋतु में चारपाई को छोड़कर नीचे भूमि या पुआल पर सोने के कर्म को हेमन्त-प्रत्यवरोहण कहा जाता है। यह प्रत्येक वर्ष होता है। इस अवसर पर स्थाली-पाक होम भी होता है। परिवार के बच्चों के सोने का स्थान भी विहित होता है। सोने के बाद उठकर मन्त्र पढ़कर पृथ्वी का स्पर्श करना होता है।

ईशान बलि नाम के कर्म को ही शूलगव कहते हैं। यह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर क्षेत्रपति के लिए अर्पित की जाती है। दूसरे गृह्यसूत्रों में इस अवसर पर गो का आलभन भी विहित है किन्तु आपस्तम्ब ने केवल स्थाली॰ पाक का विधान किया है। यह नित्य कर्म है, काम्य या नैमित्तिक कर्म नहीं है। अग्नि के पश्चिम में दो झोपड़ियाँ बनायी जाती हैं। दक्षिण की ओर की झोपड़ी में ईशान का और उत्तर की ओर की झोपड़ी में मीढुषी देवी का आवाहन होता है। इन दोनों के बीच में जयन्त का आह्वान होता है। पहले उन्हें जल दिया जाता है और फिर स्थालीपाक का हवन। सत्रह मन्त्रों से इन तीनों को हवन देने के बाद अग्नि स्विष्टकृत् के लिए हवन किया जाता है। ईशान की पूजा के बाद सात मन्त्र पढ़ते हुए ओदन युक्त बीस पत्ते अर्पित किये जाते हैं। इसे पर्णदान कहते हैं। पुनः चार मन्त्रों से दो-दो पत्ते और रखते हैं। भात का एक पिण्ड बनाकर वृक्ष पर रखते हैं। इस समय अनुवाक का जप भी किया जाता है।

क्षेत्रपति की बलि—गायों के मार्ग में बिना अग्नि जलाये ही भूमि पर दी जाती है। ईशान बलि के समान क्षेत्रपति का भी आवाहन होता है और चार या सात पत्तों पर भात रखा जाता है। तदुपरान्त मन्त्रों से प्रार्थना करने के बाद ब्राह्मण को भोजन कराने का विधान है। (खण्ड २०)।

अष्टम पटल—मासिश्राद्ध कर्म प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष में पितरों के

लिए किया जाता है। विषम संख्या में योग्य ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद सात ऋचाओं से उस अन्न से ही हवन किया जाता है। छः आज्य आहुतियों के बाद ब्राह्मणों के लिए परोसे गये भोजन का स्पर्श करे। ब्राह्मणों के भोजन करने के बाद उनके प्रस्थान के समय उनके पीछे चले। उनकी प्रदक्षिणा करे। कुशों को बिछाकर, उन पर जल गिराने के बाद पिण्डदान किया जाता है। सबके अन्त में दक्षिण की ओर पिण्ड देकर जल गिराये।

अष्टका नाम का कर्म माघ मास की पौर्णमासी के बाद ज्येष्ठा नक्षत्र की अष्टमी को किया जाता है। इसे एकाष्टका कहते हैं। यह मासि-श्राद्ध का विकृत रूप है और वर्ष भर में केवल एक बार किया जाता है। चार शराव की मात्रा के चावल का अपूप बनाया जाता है। अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुति तक के कर्म कर उस अपूप से ही हवन करता है। उसका आठ भाग कर घी से युक्त कर ब्राह्मणों को देता है। पाँच आज्य आहुतियों के बाद गौ की वपा का होम होता है। फिर मांस युक्त भात की आहुति सात ऋचाओं से दी जाती है। स्विष्टकृत् होम से लेकर पिण्ड रखने तक के कार्य किये जाते हैं। दूसरे दिन नवमी को मांस और ओदन से ही अन्वष्टका कर्म होता है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में विभिन्न अवसरों पर मन्त्र पढ़ने के नियम दिये गये हैं—जैसे रथ की प्राप्ति होने पर, हाथी प्राप्त होने पर, हाथी या घोड़े के शरीर पर चोट आने पर, संवाद अर्थात् मुकदमे में जाने पर, क्रोधी व्यक्ति को देखने पर, व्यापार आदि में कार्य की सिद्धि के लिए घर की वस्तुओं से हवन किया जाता है।

गृह्यसूत्र में कुछ विचित्र आभिचारिक क्रियाएँ भी वर्णित हैं, जैसे पत्नी को परपुरुष के सम्पर्क से विरत करने की क्रिया (पृ० ३४२) और भागनेवाले भृत्य को बनाये रखने के लिए अभिचार कर्म (पृ० ३४५)। सोये हुए भृत्य के चारो ओर ऋचा का पाठ करते हुए मूत्र गिराने और चार मन्त्रों से आहुति करने का विधान है।

कई आहुतियाँ छोटे-छोटे निमित्त के लिए भी बतायी गयी हैं, जैसे घर में लगे खम्भे में कोंपल फूटने, मधुमक्खी का छत्ता लगने, रसोई घर में कबूतर का पैर दिखायी पड़ने, रोग होने, अद्भुत कार्यों पर ग्यारह मन्त्रों से आहुति का विधान किया गया है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में व्यक्ति और समाज

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में प्राचीन भारत के गृहस्थ जीवन का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है। गृह्यसूत्र का क्षेत्र सीमित है। यह मुख्यतः गृहस्थ के

जीवन से संबद्ध क्रियाओं तक ही सीमित है और सामाजिक परिवेश का प्रवेश उसी सीमा तक दिखायी पड़ता है, जिस सीमा तक गृहस्थ हिन्दू के अनिवार्य कर्तव्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक है। लेकिन उस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझना कठिन नहीं है। गृह्यसूत्रों की अपेक्षा धर्मसूत्रों में उस समाज का विस्तृत परिवेश दिखायी पड़ता है। और गृह्यसूत्र का समाज वही है जो धर्मसूत्र का।

गृह्यसूत्रों का सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्व है। गृह्यसूत्रों के महत्त्व पर डॉ० विण्टरनित्स का कथन उचित ही है—"यद्यपि ये गृह्यसूत्र साहित्यिक रचनाओं के रूप में कम महत्त्वपूर्ण हैं तथापि इनसे प्राचीन भारतीय के जीवन में गम्भीर अन्तर्दृष्टि मिलती है। वे वस्तुतः नृवंशविद्या के अध्येताओं के लिए वास्तविक भाण्डार हैं। यहां भारत में हमें प्राचीन भारतीयों के जीवन पर अत्यन्त विश्वसनीय विवरण मिलते हैं जो प्रत्यक्ष द्रष्टा के विवरण कहे जा सकते हैं। वे मानो प्राचीन भारत के "जनजीवन की पत्रिकाएं हैं।

"Here in India we have the most reliable reports, we may say reports of eye-witnesses, upon the daily life of ancient Indians, in the form of rules and precepts in these apparently insignificant sūtra-texts. They are, as it were, the 'Folklore Journals' of ancient India." पृ० २३९

"यह सत्य है कि गृह्यसूत्र प्राचीन भारतीय परिवार के पिता का जीवन धार्मिक दृष्टि से प्रस्तुत करता है, किन्तु चूंकि धर्म प्राचीन भारतीय के जीवन को इस सीमा तक व्याप्त करता था कि कुछ भी कर्म धार्मिक क्रिया के बिना नहीं होता था।"

"It is true, they describe the life of the ancient Indian father of the family only from the religious side, but as religion permeated the whole existence of the ancient Indians to such an extent that actually nothing could take place without an attendant religious ceremony, they are for the ethnologist most invaluable sources for the popular customs and usages of that ancient period."

गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों और प्रथाओं की योरोपीय संस्कारों और रीति-रिवाजों के साथ तुलना करने पर इन गृह्यसूत्रों का एक और महत्त्व दिखलायी पड़ता है और वह यह कि भाषा के आधार पर यूनानी, रोमन,

ट्यूटानिक आदि जातियों से भारतीय आर्य का जो मौलिक संबन्ध प्रमाणित किया गया है उसकी पुष्टि रीति-रिवाजों तथा संस्कारगत समानताओं द्वारा होती है—डा० विण्टरनित्स के शब्दों में—

"The numerous parallels in the manners and customs of other Indo-European peoples, which have been discovered long ago, with the usages described in the Gṛhyasūtras, make these documents all the more important. In particular, the comparison of the Greek, Roman, Teutonic and Slavonic marriages customs with the rules contained in the Gṛhyasūtras, has shown that the relationship of the Indo-European peoples is not limited to language, but that these peoples, related in language. have also preserved common features from pre-historic times in their manners and customs."

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० २३९

गृह्यसूत्रों में हिन्दू गृहस्थ के जीवन की जो झाँकी दिखायी पड़ती है उसे हम दो खण्डों में बाँट सकते हैं। एक तो गृहस्थ का जीवन, जो सभी धर्म-कर्मों, संस्कारों, पूजन, अतिथि संस्कार में अपनी पत्नी के साथ संलग्न है। दूसरा ब्रह्मचारी का जीवन है जो गृहस्थ जीवन के दायित्वों के निर्वाह की योग्यता अर्जित करने में संलग्न है और अपनी उन्नति, अपने आत्मविकास के लिए निरन्तर आचार्य से संबद्ध है। इसके साथ ही गृह्यसूत्र में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की कोंपल इस तरह फूटकर अलग होती हुई दिखायी पड़ती है कि सभी संस्कार एक वृत्त के रूप में पुरुष से संबद्ध दिखायी पड़ते हैं। यह जीवन एक ऐसा जीवन है जिसमें पूर्व भी है और पर भी है जिसके दोनों छोर संबद्ध हैं और जिसमें एक सातत्य है, एक निस्तरता है और एक परम्परा है। एक सुव्यवस्थित सोद्देश्य जीवन का जो आदर्श रूप गृह्यसूत्रों में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस व्यवस्था को हम अपरिवर्तन या रूढ़िवादी जीवन की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि वह जीवन जिन लक्ष्यों पर आधारित है वे लक्ष्य शाश्वत हैं। जो शाश्वत है उसमें परिवर्तन संभव ही नहीं, भले ही उसका नाम कुछ बदल दिया जाय। संस्कारों की पृष्ठभूमि में ये ही शाश्वत तत्त्व हैं—जीवन का एक उदात्त उपयोग करने, उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर करने का आदर्श है। जितने विधान किये गये हैं वे सभी उसी लक्ष्य को लेकर किये गये हैं—इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस

की सिद्धि। धर्म के अनुसरण के लिए ही अन्धविश्वास या अभिचार की क्रियाओं का भी उपयोग किया गया है। धर्म की सिद्धि के लिए ही वर्ण या आश्रम की व्यवस्था का मौलिक स्वरूप स्थापित हुआ था। गृह्यसूत्रों का साक्षात् संबन्ध आचार से है और गृह्यसूत्र के कर्मों का ज्ञान प्रयोग से प्राप्त होता है श्रुति से नहीं। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का प्रथम सूत्र है—"अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते"।

गृह्यसूत्रों की क्रियाएँ और संस्कार सभी जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए व्यवस्थित किये गये हैं। ये क्रियाएँ केवल तीन वर्णों के लिए मन्त्रों के साथ विहित हैं किन्तु मन्त्र के बिना इनमें से अधिकांश कर्म शूद्र वर्ण के लिए भी विहित थे। गृह्यसूत्रों की क्रियाओं की आधारभूमि गृहस्थ आश्रम है। अतः हम गृहस्थाश्रम की व्यवस्था पर आपस्तम्बगृह्यसूत्र के आलोक में विचार करेंगे।

गृहस्थाश्रम का महत्त्व

सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः, गृहस्थाश्रम वास्तविक लौकिक कर्म और श्रम का जीवन है और अन्य सभी आश्रम इसी पर आश्रित होते हैं। प्रायः सभी धर्मसूत्रों में गृहस्थाश्रम के महत्त्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है—

"ऐक्याश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्ष विधानाद् गार्हस्थ्यस्यैव" १.३.३५।
गृहस्थाश्रम में ही देवों, पितरों, मनुष्यों और ऋषियों की पूजा संभव हो सकती है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी कहा गया है—"तीन प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता आचार्यों का मत है कि वेद ही परम प्रमाण है। इस कारण वेदों में व्रीहि, यव, यज्ञपशु, आज्य, दुग्ध, कपाल का उपयोग करते हुए, पत्नी के साथ, मन्त्रों का उच्च या मन्द स्वर से पाठकर जिन कर्मों के करने का विधान है उन्हें करना चाहिए और इस कारण उनके विपरीत आचरण का निर्देश करने वाले नियमों को वेदज्ञ प्रमाण नहीं मानते हैं।"

"त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियवपश्वाज्यपयः कपाल-पत्नी सम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति नैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते।" (२.२३.९)

गृहस्थाश्रम के महत्त्व के विषय में ही आगे कहा गया है—

"अथाप्यस्य प्रजापतिममृतमाम्नाय आह—प्रजामनु प्रजायसे तदुते मर्त्याऽमृतमिति।"

"हे मरणधर्मा मनुष्यो, तुम अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो, अतः सन्तान ही तुम्हारे लिए अमरत्व है।"

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में प्रजापति के दूसरे वचन का भी उल्लेख किया गया है—

"त्रयी विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम्। य एतानि कुर्वते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्निति।" जो तीनों वेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, श्रद्धा, तप, यज्ञ तथा दान—इन कर्मों को करता है वह धूल में मिल जाता है।"

इस प्रकार गृहस्थाश्रम का महत्त्व मुख्यतः दो कारणों से है। देवों, पितरों, ऋषियों और मनुष्य के प्रति कर्तव्य, पूजन, तर्पण, बलिकर्म इसी आश्रम में संभव हैं और इसी आश्रम में सन्तान उत्पन्न कर पितृऋण से मुक्त होने के लिए विवाह संस्कार की व्यवस्था है। सन्तान केवल भौतिक दृष्टि से धन सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए आवश्यक नहीं है अपितु सन्तान के साथ-साथ धर्म का भी विस्तार होता है।

स्मृतियों में गृहस्थाश्रम की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। मनु के शब्दों में "जिस प्रकार समस्त प्राणी अपने जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं। गृहस्थ ज्ञान तथा अन्न से दूसरे तीनों आश्रमों की सहायता करता है। गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ है।"

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहन्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमे गृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ३. ७७–७९,

संस्कारों का महत्त्व

संस्कार सम् पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न है। इसके अनेक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में संस्कार शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किये गये हैं। इस शब्द के निम्नलिखित अर्थ प्रयोग में देखे जाते हैं—"शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, स्मरण-शक्ति, स्मरणशक्ति पर पड़नेवाला प्रभाव, शुद्धिक्रिया, धार्मिक विधि,

विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता।" (हिन्दू संस्कार, पृ० १८)

वस्तुतः संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा दैहिक एवं बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है। इनमें आचार के नियमों का भी समावेश है। हिन्दुओं के सभी संस्कार मनुष्य के जीवन को निश्चित दिशा में परिष्कृत करनेवाली धार्मिक क्रियाएँ हैं। ये वे क्रियाएँ हैं जो जीवन को एक उत्तम उद्देश्य की ओर प्रेरित करती हैं। इन क्रियाओं की सामाजिक आवश्यकता है और उसके साथ-साथ धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी है। यद्यपि संस्कार किसी-न-किसी रूप में सभी जातियों में हैं, तथापि हिन्दू संस्कृति में संस्कारों की अपूर्व श्रृंखला देखने को मिलती है। हिन्दू जीवन एक ऐसा अद्भुत जीवन है, जिसका कोई क्षण निरुद्देश्य नहीं, कोई ऐसा क्षण नहीं जो पवित्र न बना दिया गया हो। प्राचीन हिन्दू जीवन की जो रूपरेखा धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में मिलती हैं वह एक ऐसा भव्य प्रासाद है जिसकी प्रत्येक ईंट बड़े सुन्दर और सही ढंग से रखी गयी है।

संस्कारों के धार्मिक महत्त्व के विषय में प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने मत व्यक्त किये हैं। मनु का कथन है—"गर्भाधान के समय किये गये, होम, जातकर्म, चूडाकर्म और मौञ्जीबन्धन अर्थात् उपनयन संस्कार के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीजसम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।"

> गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीबन्धनैः ।
> बैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ मनुस्मृति २.२७

मनु के ही अनुसार वे संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करने चाहिए इससे इस लोक और परलोक में पुण्य की प्राप्ति होती है—

> वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
> कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ मनु० २.२६

मनु ने आगे कहा है—

> स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
> महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

"स्वाध्याय, व्रत, होम, देव-ऋषियों के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या तथा पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य हो जाता है।"

ऐसी प्राचीन मान्यता रही है कि मनुष्य जन्म से शूद्र ही उत्पन्न होता है लेकिन संस्कारों के बाद वह द्विज हो जाता है—

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।" संस्कारों को मोक्ष की

प्राप्ति का भी साधन माना गया है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि के शब्दों में—

"न हि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्व प्राप्तिः प्रज्ञानकर्म समुच्चयात् किल मोक्षः। एतैस्तु संस्कृतः आत्मनोपासना स्वधिक्रियते।"

संस्कारों के महत्त्व के विषय में शङ्खलिखित का यह विचार भी ब्रह्म के सायुज्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य को ही व्यक्त करता है—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वरुत्तरैरनुसंस्कृतः।
नित्यमष्ट गुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः॥
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥

संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँच कर ब्राह्मपद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता।"

अङ्गिरा के शब्दों में सभी संस्कार चित्ररचना के रंगों के समान मानव रूपी चित्र को पूर्ण स्वरूप देने के साधन हैं—

चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥

वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण के लिए इन संस्कारों का ऐसा ही महत्त्व है। लोक में चरित्रनिर्माण ही संस्कारों का मुख्य प्रयोजन है। इससे न केवल आत्मा का अपितु शरीर का भी श्रेयस् के लिए सही विनियोग होता है। डॉ० राजबली पाण्डेय के शब्दों में "संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था। जीवन की इस पद्धति में शरीर और उसके कार्य बाधा नहीं, पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकते थे।"—हिन्दू संस्कार, पृ० ३९)।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में विवाह और नारी

सभी संस्कारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्वभौम संस्कार विवाह है। चूँकि गृहस्थाश्रम विवाहित जीवन का ही दूसरा नाम है इस कारण गृह्य कर्मों का आरम्भ विवाह से ही होता है। यही कारण है कि अनेक गृह्यसूत्र विवाह के वर्णन से ही आरम्भ होते हैं। सभी गृह्यकर्मों का उद्‌गम या केन्द्र विवाह संस्कार ही है। 'गृह' को पत्नी का ही पर्यायवाची माना गया है।

गृह्यकर्मों और संस्कारों से ही मनुष्य का व्यावहारिक और वास्तविक जीवन संबद्ध था। इसलिए विवाह संस्कार का महत्त्व सर्वोपरि होना स्वाभाविक है। गृह्यकर्म, यज्ञ, स्थालीपाक द्वारा किये जाने वाले यज्ञ पत्नी की सहायता से ही सम्पन्न हो सकते थे, अतः विवाह का गृह्यकर्मों तथा संस्कारों के साथ अन्वयव्यतिरेक संबन्ध था। पत्नी ही धर्म, अर्थ और काम—तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है। कोई भी अविवाहित पुरुष, चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिकारी नहीं हो सकता। इस विषय में भी सूक्ति है—

पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रवरं स्मृतम्।
अपत्नीको नरो भूप कर्मयोग्यो न जायते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नरः॥

हिन्दू धर्म की मौलिक व्यवस्था में विवाह को भोगमात्र का साधन कहीं भी नहीं बनाया गया है। यह तो कर्त्तव्यपालन, धर्म के अनुष्ठान और जीवन के सदुपयोग का एक आध्यात्मिक बन्धन माना गया है। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र में विवाह और नारी विषयक उदात्त धारणाएँ अत्यन्त स्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र संस्कारों में विवाह का वर्णन सबसे पहले करता है। विवाह का उत्सव मङ्गलमय बताया गया है और इसमें सभी प्रकार के मांगलिक कार्यों, गीत, सजावट का विधान किया गया है (पृ० ४२)। आपस्तम्ब ने नक्षत्रों को भी विशिष्ट फलप्रद बताया है। जैसे इन्वकानक्षत्र के विवाह को उत्तम माना गया है। आपस्तम्ब के समय तक विवाह संस्कार में अनेक लोकप्रथाओं का भी प्रचलन हो चुका था। इसके लिए स्त्रियों के वचन प्रामाणिक माने जाते थे। इन क्रियाओं को आवृत् कहा गया है और उनके लिए मन्त्रों के प्रयोग का विधान नहीं है। "आवृत्तश्चास्त्रीभ्यः प्रतीयेरन्" (पृ० ४२)।

विवाह में वर और वधू के उत्तम कुल का विचार किया जाता था क्योंकि विवाह का प्रमुख लक्ष्य सन्तान की उत्पत्ति था। सन्तान की उत्पत्ति के लिए पति-पत्नी के स्वास्थ्य के अतिरिक्त उनके कुल और आचार का भी ध्यान रखा जाता था। प्रायः सभी धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में वर और कन्या के उत्तम गुणों पर जोर डाला गया है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र में भी कन्या के विषय में कहा गया है : "बन्धुशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत्" (उत्तम-कुलवाली, उत्तम आचरणवाली, स्त्रियोचित गुणों से युक्त, स्वस्थ कन्या का उद्वाह करे।) वर के विषय में भी कहा गया है "बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः

श्रुतवान रोग इति वरसम्पत्" (उत्तम कुल, उत्तम आचरण, शुभ लक्षण, अध्ययनसम्पन्नता और स्वास्थ्य वर के गुण हैं) ।

इन सभी गुणों का विचार होने पर भी आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में यह संभावना व्यक्त की गयी है कि दोषों के होते हुए भी कन्या के प्रति आकर्षण हो सकता है और ऐसी स्थिति में विवाह करना उचित होता है : "यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेत्येके ।" १.३.२१ (पृ० ५५)। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अनुसार विवाह की सभी क्रियाएँ वर ही करता था और वर तथा कन्या में किसी भी प्रकार का पर्दा नहीं होता था । वर कन्या को मन्त्र पढ़ते हुए देखता था और उसकी आँखों के ऊपर कुश से स्पर्श करता था । यह भी एक प्रकार का आभिचारिक अभिमन्त्रण था । विवाह में कन्या का वरण वरपक्ष के कतिपय लोगों के समक्ष होने का नियम था ।

विवाह में अनेक प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है जैसे अश्मारोहण और ध्रुव दर्शन । अश्मारोहण जीवन में स्थिरता, संबन्ध की दृढ़ता और व्रतपालन का प्रतीक है और ध्रुवदर्शन भी स्थिरता का प्रतीक है ।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में कन्या के जिन दोषों का उल्लेख किया गया है उनका संबन्ध कन्या के स्वास्थ्य और चरित्र से है । इसके अतिरिक्त उसके प्रति अनुरक्ति की संभावना का भी विचार किया गया है । विवाह के समय शकुन, अपशकुन द्वारा पतिपत्नी के भावी जीवन पर विचार करने की प्रथा भी दिखायी पड़ती है । कन्या के सामने एक साथ मिले हुए अनेक प्रकार के बीज, वेदी से ली गयी मिट्टी, खेत से लिया गया मिट्टी का ढेला, गाय का गोबर तथा श्मशान से लाया गया मिट्टी का ढेला छिपाकर रखा जाता था और कन्या को इनमें से किसी का अनुसरण करना होता था । वस्तु के अनुसार फल की कल्पना की जाती थी ।

पाणिग्रहण संस्कार की विधि ही सन्तान की कामना से प्रेरित थी । पुत्र की अभिलाषा से वधू के अँगूठे को ही पकड़ना विहित है । विवाह में जितने भी यज्ञकर्म विहित हैं उन सबमें पत्नी भी सहभागिनी होती है । आपस्तम्बगृह्यसूत्र के समय विवाहिता स्त्री रथ पर या पालकीपर ढोवाकर ले जायी जाती थी । उनके पीछे-पीछे विवाह की अग्नि भी ले जायी जाती थी । इसी अग्नि का आधान करना होता था और यह अग्नि बराबर प्रज्वलित रखने का विधान था । किसी कारणवश इस अग्नि के बुझ जाने पर अरणियों से मन्थन कर या श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर से अग्नि लाकर पुनः प्रायश्चित्त करते हुए अग्नि का आधान करना होता था ।

पत्नी को ले जाते समय सम्पूर्ण मार्ग में मन्त्रों द्वारा अनिष्ट से उसकी

रक्षा करना पति का कर्तव्य था। पत्नी पति के घर पहुँचते ही उसके सभी यज्ञकर्मों में सहभागिनी बनकर स्थालीपाक की तैयारी में जुट जाती थी। वैवाहिक सम्बन्ध भोग के जीवन का आरम्भ न होकर यज्ञकर्म तथा देवों, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों की पूजा का आरम्भ था और इसके लिए विधिपूर्वक अग्नि का आधान करने की क्रिया प्रथम थी। पति-पत्नी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तीन रात्रियाँ व्यतीत करते थे। पुत्र की कामना से एक और प्रतीक प्रधान कर्म यह था कि वधू की गोद में ऐसी स्त्री का पुत्र रखा जाता था जिसके केवल पुत्र ही हो और सभी पुत्र जीवित हों। (पृ० ९१)।

पति के घर आते ही पत्नी को स्थालीपाक के लिए—धान कूटना पड़ता था (पृ० ९५) इससे वह स्थालीपाक तैयार करती थी और पति-पत्नी दोनों स्थालीपाक से आहुति देते थे। आहुति देने का कार्य पति करता। पत्नी उसे पकड़े रहती। इस प्रकार दोनों साथ ही कर्ता होते थे।

विवाहोपरान्त पति-पत्नी के सम्बन्ध का एकमात्र लक्ष्य सन्तान-प्राप्ति था। प्रथम समागम के समय मन्त्रों का पाठ वैवाहिक संभोग को भी पवित्रता और पुत्रप्राप्ति के लक्ष्य से अन्वित करता था। इसी प्रकार प्राग्जन्म संस्कार सीमन्तोन्नयन और पुंसवन कर्म भी पुत्रप्राप्ति के लिए एक प्रकार की मंगल तथा अभिचार से युक्त क्रियाएँ थीं। इनके साथ याज्ञिक अंश तथा आशीर्वाद का समन्वय कर दिया गया था। पति पत्नी के लिए एक मित्र के समान है जो उपयुक्त अवसर पर पत्नी को कर्तव्यों का भी उपदेश और पत्नीधर्म की शिक्षा देनेवाला कहा गया है। मासिक धर्म के समय नियम के उपदेश की व्यवस्था तथा तदुपरान्त मन्त्रों द्वारा पत्नी के अभिमन्त्रण भी आपस्तम्ब ने पति का कर्तव्य बताया है (पृ० १४१–१४२)। पुत्र-प्राप्ति के लिए ऋतुकाल की उपयुक्त रात्रियों का निर्देश भी आपस्तम्बगृह्यसूत्र में किया गया है। (पृ० १४३)।

जीवन में पत्नी पति के सभी धार्मिक कार्यों में सहयोगिनी और सहभागिनी के रूप में प्रस्तुत की गयी है। धार्मिक कर्म के लिए विवाह और विवाह के दिन से ही अनवरत धार्मिक कर्मों, पूजन, बलिकर्म का सिलसिला आरम्भ होता है जो पर्वों पर, मास में, वर्ष में गृहस्थ को करना है और उन सबमें पति-पत्नी साथ हैं। विवाहित जीवन का यही आदर्श गृह्यसूत्र में दिखायी पड़ता है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र के समाज में नारी की वही स्थिति है जो आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में देखी जा सकती है। पत्नी के रूप में वह पति के धार्मिक कर्मों में सहधर्मिणी है और कोई भी गृह्य संस्कार या पाकयज्ञ, उसके अभाव में अपूर्ण

है। इस दृष्टि से नारी को घर में सम्मान प्राप्त था। योग्य सन्तान की उत्पत्ति के लिए नारी का गुणवती होना और पति में परम आस्था रखना अनिवार्य माना गया है। स्त्री द्वारा स्वयं किये जानेवाले यज्ञ कर्म गर्हित माने गये हैं। "स्त्रियानुपेतेन क्षारलवणावरान्नसंसृष्टस्य च होमं परिचक्षते" (पृ० १३२)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक स्त्री-द्वारा मन्त्रों के उच्चारण की विधि समाप्त हो रही थी। उपनयन संस्कार में केशवपन के समय बालक की माता या किसी ब्रह्मचारी के मन्त्र पढ़ने का नियम है। सम्भवतः माता के उपस्थित होने पर आचार्य ही मन्त्र बोलता था, जैसा कि वृत्तिकार और हरदत्त ने भी निर्देश किया है (पृ० १५९)। कुमारी अवस्था में स्त्री के ऊपर विशेष ध्यान रखा जाता था और उसको विवाह के लिए योग्य बनाने की सतर्कता रखी जाती थी। कन्याओं के नाम भी नियम के अनुसार रखे जाते थे, क्योंकि विवाह में नामों का भी विचार होता था। आपस्तम्बगृह्यसूत्र में एक इस प्रकार की आभिचारिक क्रिया का भी संकेत है जो पत्नी को दूसरे पुरुष के प्रति आसक्ति से विरत करने के लिए की जाती थी। (पृ० ३४२) इसी प्रकार सपत्नीबाधन के अभिचार कर्म से सिद्ध होता है कि विवाहित जीवन में भी पुरुष भिन्न स्त्री से संबद्ध हो सकता था। धार्मिक दृष्टि से नारी अस्वतन्त्र थी और वह पूर्णतः घर में सीमित थी। विवाहादि मंगल कार्यों में स्त्रियाँ अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों का अनुष्ठान भी करती थीं। गृह्यसूत्र में नारी का केवल एक ही रूप दिखायी पड़ता है—पत्नी का, धार्मिक कर्मों में पति की सहयोगिनी का। धर्मसूत्र में हम नारी को अधिक व्यापक परिवेश में देख सकते हैं।

मन्त्रपूत जीवन—गृह्यसूत्रों के हिन्दू जीवन का प्रत्येक क्षण मन्त्रपूत दिखायी पड़ता है। गर्भाधान से लेकर और मृत्यु के बाद तक मन्त्रों से व्यक्ति और व्यक्ति के कर्मों में पवित्रता के आधान का क्रम सतत चलता रहता है। व्यक्ति का संस्कार मन्त्रों से ही है। सामान्यतः शारीरिक भोग समझे जानेवाले कर्म में भी मन्त्रों का जप इस पवित्रता की दृष्टि से ही विहित है। कन्या को देखने, वरण करने में मन्त्र का पाठ और उसे पिता के घर से ले जाते समय मार्ग में प्रत्येक अवसर पर मन्त्र पाठ, निमित्त होने पर मन्त्र का पाठ, गाड़ी पर बैठते समय, नाव से नदी पार करते समय, घर दिखाते समय मन्त्र के पाठ का विधान है। जातकर्म में बालक का अभिमन्त्रण होने की क्रिया पुनः आरम्भ होती है और वह नयी पीढ़ी में भी अनवरत चलती रहती है।

सामान्यतः प्रत्येक निमित्त के अवसर पर मन्त्रपाठ का निर्देश किया

गया है। अशुभ पक्षी के बोलने पर या प्राचीन वृक्ष को देखकर भी मन्त्र पाठ विहित है (पृ० १४५) छींक आने पर भी मन्त्र पाठ विहित है (पृ० १४४) यात्रा से लौटने पर पुत्र और पुत्री का (पृ० २४४) भिन्न प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त होने पर विभिन्न मन्त्रों का पाठ (पृ० ३३६) विहित है।

गृहस्थ जीवन की क्रियाएँ ही नहीं क्रियाओं की भूमि भी मन्त्रों द्वारा संस्कृत की जाती थी। घर बनाने के लिए भूमि का मन्त्रों का संस्कार, स्तम्भों को रखते समय मन्त्रपाठ, घर में उदधान रखने के लिए मन्त्रों का पाठ करने का विधान किया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दू जीवन एक महान् यज्ञ के रूप में है और उसकी प्रत्येक क्रिया मन्त्रों द्वारा संस्कृत है, पवित्र है। इस व्यवस्था में मनुष्य को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है।

ब्रह्मचर्य और शिक्षा—ब्रह्मचारी का जीवन पूर्णतः गुरु से सम्बद्ध है और "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।" की उपनिषद् में अभिव्यक्त गुरु और शिष्य के आदर्श का अक्षरशः पालन दिखायी पड़ता है। आचार्य शिष्य के प्रत्येक कर्म में सहयोगी है। उनके साथ ही वह उपाकरण और उत्सर्ग कर्म करता है। साथ-साथ स्नान करता है, साथ-साथ उठता-बैठता है। इस जीवन में ब्रह्मचारी को आचार्य से न केवल शिक्षा मिलती है, अपितु स्नेह भी मिलता है। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र में आचार्य और शिष्य का यही सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। ब्रह्मचर्य शिष्य के लिए जीवन तथा चरित्रनिर्माण के लिए उत्तरदायित्वपूर्ण अवस्था है। दूसरी आचार्य भी अध्यापन, शिष्य के निर्माण के महान् लक्ष्य से प्रेरित है।

स्नातक का समाज में महत्त्व था और अध्ययन समाप्त कर लौटने पर उसका आदर-सत्कार विहित किया गया है। वह मधुपर्क का अधिकारी होता था और उसका समाज में सम्मान था।

वर्णव्यवस्था—आपस्तम्बगृह्यसूत्र के समय तक वर्णव्यवस्था को कठोर रूप प्राप्त हो चुका था। याज्ञिक क्रियाओं के अधिकारी उच्चवर्ण ही थे। मन्त्रों के प्रयोग के बिना कई क्रियाएँ शूद्रों के लिए भी विहित थीं। आचारनियम शूद्रों के लिए भी थे और उच्चवर्णों के धार्मिक संस्कारों में शूद्र का भी सहयोग होता था। शूद्र वर्ण के व्यक्ति सेवक के रूप में होते थे। स्नातक का पैर धोने के लिए शूद्र का भी उल्लेख है और इसी प्रकार भृत्य को भागने से विरत करने के लिए भी अभिचार बताया गया है। उपनयन संस्कार में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए अवस्था, दण्ड, अजिन, मेखला आदि का पृथक् विधान है। इस गृह्यसूत्र में ब्राह्मण गृहस्थ की क्रियाएँ ही मुख्यतः

वर्णित हैं, अतः दूसरे वर्ण के सदस्यों के लिए अधिक निर्देश नहीं दिये गये हैं। गृह्य तथा धर्मसूत्र के काल में ब्राह्मण सभी दृष्टियों से समाज का महत्त्वपूर्ण वर्ग था।

अतिथिसत्कार और गोवध—गृहस्थ के कर्तव्यों का अतिथिसत्कार भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र में अतिथि के लिए अनिवार्यतः गो के वध करने का विधान किया गया है। "अविकृतमातिथ्यम्" (द्र० पृ० ११८)। गौ का आलभन विवाह में भी विहित है "विवाहे गौः" प्रथम गौ द्वारा वर की पूजा होती थी और घर में भी एक गौ आलब्धव्य होती थी। इस गौ द्वारा वर के पिता या आचार्य की पूजा होती थी (पृ० ४७)। गौ के आलभन के लिए तीन अवसर विहित थे "एतावद्गोरालम्भस्थानमतिथिः पितरो विवाहश्च" (पृ० ४८) अतिथि के सत्कार के लिए जिस मधुपर्क का विधान किया गया है उसमें भी 'गौ' अतिथि के सामने प्रस्तुत की जाती है। उस गौ का आलभन कर आज्य के ऊपर उसकी पकाई गयी वपा फैलाकर हवन करने का विधान है (पृ० २१४) किन्तु यदि पूज्यमान व्यक्ति चाहे तो उसे छोड़ देने का भी आदेश दे सकता है "यद्युत्सृजेदुपांशूत्तरां जपित्वो-मुत्सृजतेत्युच्चैः" (पृ० २१५)। इस नियम से यह संकेत मिलता है कि आपस्तम्ब के समय 'गो' के वध की प्रथा में कमी आने लगी थी। 'गो' भी सभी प्रकार के अतिथि के लिए नहीं प्रस्तुत की जाती थी, आचार्य, ऋत्विज्, राजा, वेदाध्यायी के लिए ही मधुपर्क में गो का विधान था। अष्टका कर्म में भी गो की वपा पकाकर हवन करने का निर्देश है "तूष्णीं पञ्चाज्याहुतीर्हुत्वा तस्यै वपा श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति।" (पृ० ३२५)

आभिचारिक क्रियाएँ—गृह्यसूत्र में संस्कारों के साथ अनेक आभिचारिक क्रियाओं को भी स्थान मिल गया है। प्राचीनकाल से ही सभी जातियों और देशों में आभिचारिक क्रियाएँ और अन्धविश्वास प्रचलित रहे हैं और भारत में तो इनका उद्गम वैदिकसंहिता के काल में ही हुआ। अथर्ववेदसंहिता प्रार्थनाओं और आभिचारिक क्रियाओं की आधारभूमि पर स्थित है। आप-स्तम्बगृह्यसूत्र में ऐसी कई आभिचारिक क्रियाएँ वर्णित हैं।

पति को पत्नी के प्रति अनुरक्त बनाये रखने के लिए वधू के पिता द्वारा किये जानेवाले अभिचार में यज्ञकर्म और आभिचारिक क्रिया का विचित्र संयोग है। यह पति को वश में करने का कर्म है (पृ० १४७) पाठा नाम के औषधि के मूल को दो भागों में काटकर पत्नी रात्रि में उन टुकड़ों को हाथ में लिये हुए एक मन्त्र का पाठ करते हुए हाथ में बाँधकर रखती है और पति के

शयन के समय मन्त्र पढ़कर इस प्रकार आलिंगन करती है कि वे टुकड़े एक दूसरे के ऊपर पड़ें। यही कर्म सपत्नीबाधन के लिए भी किया जाता है।

पत्नी के राजयक्ष्मा से पीडित होने पर एक अन्य अभिचार कर्म का निर्देश किया गया है। ब्रह्मचर्य रखकर पति ऐसे कमल के मूलों को जिसकी पंखड़ियाँ बन्द हों लेकर उनसे मन्त्रों का पाठ करते हुए मन्त्रानुसार शरीर के अंग को रगड़कर पश्चिम-दिशा की ओर फेंक देता है। (पृ० १५१)

इसी प्रकार की आभिचारिक क्रिया बालक के श्वग्रह द्वारा ग्रस्त होने पर की जाती थी। श्वग्रह पिशाच से ग्रस्त होवे को या कुत्ते के समान चेष्टावाले रोग को कहा गया है। पिता उपवास कर बालक को एक जाल से ढँककर घण्टी बजवाते हुए बालक को पिछले द्वार से जुआ खेलने के स्थान पर ले जाता है। वहाँ बीचमें मिट्टी ऊँचाकर, उसपर जल छिड़ककर गोटियाँ डालता है। बालक को उन गोटियों पर उत्तान लिटाता है, फिर मन्त्रों का पाठ करते हुए नमक मिले दही को अंजलि में लेकर बालक पर छिड़कता है।

प्रसवकाल में किये जानेवाला एक अभिचारकर्म पञ्चम पटल में है। इसके अनुसार कोरे मिट्टी के पात्र में नदी की धारा की ओर से जल लेकर स्त्री के पैरों के पास तुर्यन्ती नाम का पौधा रखने का तथा मन्त्रों का पाठ करते हुए जल छिड़कने का विधान किया गया है। (पृ० २२९)। पत्नी को परपुरुष से बचाने के लिए एक विचित्र अभिचार कर्म भी गृह्यसूत्र में वर्णित है।

भागनेवाले भृत्य के लिए आभिचारिक क्रिया का निर्देश कई गृह्यसूत्रों में मिलता है। यदि यह इच्छा करे कि कोई व्यक्ति उससे दूर होकर न भाग जाय तो जीवित पशु की सींग में अपना मूत्र डालकर दो मन्त्रों को पढ़ते हुए उस व्यक्ति के चारो ओर दाहिने से बायें चलते हुए गिरावे।"

(पृ० ३४४–३४५)

आभिचारिक क्रियाओं के अतिरिक्त मन्त्रों के जप का प्रभाव भी स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट है। अशुभ के शमन के लिए मन्त्र का जप तो सर्वत्र मंगलकारक माना ही गया है, मुकदमे में जाते समय बायें हाथ में छाता और छड़ी धारण करना अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करनेवाला माना गया है (पृ० ३४०)। क्रोधी व्यक्ति के समक्ष विशिष्ट मन्त्र का पाठ करने से उसके क्रोध का शमन होना विहित है।

इन आभिचारिक क्रियाओं का वैदिक यज्ञ क्रियाओं के साथ विचित्र संयोग गृह्यसूत्र में देखने को मिलता है। यद्यपि आभिचारिक क्रियाएँ अन्ध-विश्वासपूर्ण हैं, किन्तु इनके पीछे जो भावना है उसका गृह्यसूत्र की मुख्य भावना और लक्ष्य से कोई विरोध नहीं है।

गृह्यसूत्र का सन्देश—गृह्यसूत्रों में हिन्दू जीवन का जो व्यवस्थित रूप उपलब्ध होता है, वह एक आदर्श है। प्राचीनकाल से ही शास्त्रों ने मानव की महान् शक्तियों को सन्तुलित और केन्द्रित करने के लिए विधान किये हैं। आश्रम की व्यवस्था इसी उद्देश्य से प्रेरित थी और सभी संस्कार इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए विहित थे।

गृह्यसूत्रों में हिन्दू जीवन कर्त्तव्यमय दायित्वपूर्ण और सोद्देश्य था। उसका प्रत्येक क्षण धर्म के अनुष्ठान में समर्पित था। प्रत्येक धार्मिक क्रिया के पीछे एक दार्शनिक आधार है और संस्कार केवल उत्सव के अवसर मात्र नहीं। जीवन केवल जीने, भोगने के लिए नहीं समझा गया है। वह इस लोक और इसके बाद के लोक में अपने लिए तथा सभी प्राणियों के लिए सुख और श्रेयस् की सृष्टि के लिए कर्म की अवधि है और कर्म के लिए प्राप्त इस अवधि के प्रत्येक क्षण का उपयोग ही प्राचीनकाल से अभीष्ट रहा है। बहुमूल्य मानवजीवन धर्म के लिए प्राप्त हुआ है और यह जीवन एक यज्ञ है, एक महान् संस्कार है।

संस्कारों का उदात्त रूप लुप्त हो चुका है। जो संस्कार अवशिष्ट हैं, वे केवल निर्वाह मात्र के लिए किये जाते हैं। जो संस्कार सामाजिक, भौतिक और मनःशारीरिक आधार पर अनिवार्य घटनाओं पर आवृत हैं, वे तो किसी न किसी रूप में रहेंगे ही, जैसे विवाह संस्कार, किन्तु अन्य संस्कारों का भी प्रायः लोप हो चला है। आश्रमव्यवस्था के अभाव में अन्य संस्कारों का अनुष्ठान केवल औपचारिक ही रह गया।

किन्तु एक प्रश्न उठता है : आधुनिक जीवन की उद्देश्यहीनता का, युवकों की शक्ति का स्वनिर्माण की दिशा को भूलकर अपराध, भोग, नैराश्य एवं असन्तोष के पथ पर बिखराव का और मनुष्य मनुष्य में सौहार्द, विश्वास, उपकार की भावना के उत्तरोत्तर लोप का क्या समाधान है? क्या जीवन में व्यवस्था, लक्ष्य, कर्तव्य के गौरव का स्थान नहीं होना चाहिए?

हम गृह्यसूत्रों के युग में नहीं लौट सकते। परिवर्तन का पहिया पीछे नहीं घूम सकता, लेकिन हमारी प्राचीन जीवनव्यवस्था में ऐसा बहुत कुछ है जो हमारे आधुनिक जीवन को भी प्रेरणा और दिशा दे सकता है। अपने प्राचीन शाश्वत जीवनमूल्यों को ग्रहण कर ही हम आत्मविस्मृति, विशृंखलता और सन्त्रास के युग में भी आत्मोत्थान और सुख की आशा कर सकते हैं, शान्ति पा सकते हैं।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

किञ्चित् प्रास्ताविकम्

(प्रथमं संस्करणम्)

अथेदानीमापस्तम्बगृह्यसूत्रं श्रीहरदत्ताचार्यकृतयाऽनाकुलाख्यया वृत्त्या श्रीसुदर्शनाचार्यविरचितेन तात्पर्यदर्शनेन चोपबृंहितमध्येतृसौकर्याय मुद्राप्य प्राकाश्यं नीयते। यद्यप्यस्य नेदं [1] प्राथमिकं प्रकाशनम्, देवनागरीग्रन्थतैलङ्गाक्षरेषु देशान्तरेऽस्मद्देशे च बहुत्र यतो मुद्रितमासीत्, तथापि समग्रेणानेन व्याख्याद्वयेन मण्डितं सदधुनैवात्मानमिदं प्रथमतयाऽऽविर्भावयतीति शक्यते वक्तुम्। वियन्नानगरे विण्टर्निट्स् (Winternitz) महाशयेन व्याख्ययोरनयोस्संग्रहः प्रकाशितः, न सामग्र्येण। अतो मन्ये ग्रन्थस्यास्य व्याख्याद्वययुतस्य प्रथममिदमाविष्करणमवश्यं मुदमावहेदेतन्मार्गपरिशीलिनामिति।

सुदर्शनाचार्यकृतस्य तात्पर्यदर्शनस्य सर्वत्र दक्षिणभारते प्रसिद्धिरविरला समस्तीति विदितचरमेव। तत्र च "केचिद्" इत्यनेन प्रायशः प्रतिसूत्रं खण्डनार्थं मतान्तरप्रदर्शनार्थं वा कस्यचिन्मतमनूद्यते। तत्र क्वचित् क्वचित् खण्ड्यस्यैव स्वारसिकतां पश्यता मया कस्येदं मतम्? इति कस्माच्चन वर्षपूगात्पूर्वं तदन्वेषणे प्रवृत्तेन पञ्चनदक्षेत्रे दक्षिणदेशस्थिते कस्य चित्पण्डितस्य गृहे समग्रानाकुला वृत्तिरुपलब्धा। तां च सामग्र्येण परिशीलयता मया एतद्ग्रन्थकारमतमेव तात्पर्यदर्शने खण्ड्यते इत्यवगच्छता एतद्ग्रन्थस्य खण्डकग्रन्थापेक्षया गभीरतां शब्दसंग्रहवत्तां चावलोक्य तन्मुद्रणे दत्तचित्तेन तदैवैतस्य प्रतिलिपिरेका कारिता। ततो याते कियति चन काले ततः काशीमागतेन मया एतन्मुद्रणार्थमवबोधितः यदाऽयमभ्युपागच्छत् श्रीमान् चौखम्बापुस्तकालयाधिपतिः तदा आदर्शपुस्तकान्वेषणे आयतमानेन प्रथमं पुस्तकमेकं प्रत्नग्रन्थसमुद्धारणे नितरां निविष्टदृष्टीनां पण्डितधौरेयाणां श्रीमतां आ. वा. ध्रुवमहाशयानामदरकृपया प्राप्तं, श्रीकाशीविश्वविद्यालयीयपुस्तकालयस्थं वियन्नामुद्रितं, नागराक्षरलिखितं सरस्वतीभवनात् श्रीवाराणसेयप्रसिद्धपुस्तकालयात् श्रीमतां प्राचीनग्रन्थाविष्करणेऽनवरतं दत्तचित्तानां पण्डितवरेण्यानां श्रीगोपीनाथकविराजमहोदयानामनुकम्पया लब्धमपरम्, मन्निकटस्थमेकम्, इति अनाकुलापुस्तकत्रितयमवलम्ब्यारब्धं मुद्रणायादौ पञ्चाशत्पृष्ठपर्यन्तं मुद्रितमासीत्। प्रायशस्त्रिष्वपि पुस्तकेष्वेषु अशुद्धिस्थलेऽपि परस्परमैकमत्यमासीत्। परन्तु क्वचित्स्पष्टतरं कञ्चन ग्रन्थपातमनुमाय तत्राप्येकरीतिमेषां दृष्ट्वा तावतैव त्रिष्वप्युत्पन्नविशयः श्रीकाशीहिन्दूविश्वविद्यालयेऽध्यापकपदमधितिष्ठतां मन्मित्रमणीनां वेदाचार्याणां पं. श्रीविद्याधरशर्मणां सविधे न्यवेदयम्—यतः कुतश्चिद्धस्तलिखितमनाकुलापुस्तकमेकमानाय्यतामिति। ते च तदानीमेव

---

१. प्रथमतः तञ्जानगरे (१८८४) तमे क्रिस्ताब्दे ज्योतिर्विलासयन्त्रालये ग्रन्थाक्षरेषु, ततो वियन्नानगरे (१८८९) तमे खिस्ताब्दे देवनागरलिप्यां, ततो महीशूरराजधान्यां (१८९३) खिस्ताब्दे राजकीयमुद्रणालये, ततो मद्रपुर्यां (१८९७) खिस्ताब्दे ग्रन्थाक्षरेषु, ततः कुम्भघोणे (१९०३) वत्सरे च तेष्वेवाक्षरेषु मुद्रितम्। तत्र सर्वत्रापि तात्पर्यदर्शनेनैव साकं मुद्रितमासीन्नानाकुलया ॥

काशीस्थश्रीबापूदीक्षितजडेमहोदयेभ्यः पुस्तकमेकमानाय्य मह्यमदुः। तत्र च पूर्वेभ्यः पुस्तकेभ्यो महान् पाठभेदस्समदृश्यत। तदा च महति संशये पतितः तत्कालागतानामस्मन्मित्रमणीनां पं. आर्. ए. शास्त्रिणां मुखाद्विश्वभारतीपुस्तकालये पुस्तकमेकमस्तीत्यवगम्य ततस्तदानाययम्। तैलङ्गाक्षरलिखितेन दक्षिणदेशादेव विश्वभारतीमागतेन तेन सह श्रीबापूदीक्षितपुस्तकस्य महत्सादृश्यमासीत्। एवं पुस्तकद्वयस्यैकरीतितां पुस्तकत्रयस्य चान्यप्रकारतामवलोक्य कतरदनयोर्मध्ये युक्ततरमिति निर्णयाय प्रवृत्तस्य मम कानि चन प्रमाणान्युपलब्धानि—द्वैतीयीके पुस्तकद्वये "केचित्" इत्यादिना [1]तात्पर्यदर्शनेऽनूदिता विषया अक्षरश उपलभ्यन्ते। प्राथमिके च त्रिके नोपलभ्यन्ते। किञ्च सुदर्शनाचार्यः समावर्तनप्रकरणारम्भे—(पृ. १६१) "केचित्......'अथात उपाकर्मोत्सर्जने व्याख्यास्यामः' इत्यादिकं व्रतपटलं नाम व्याचक्षते। नैतत्," इत्यादिना व्याख्यान्तरे उपनयनानन्तरोक्तं व्रतपटलं खण्डयति। व्रतपटलोऽयं हरदत्तोक्त एव भवितुमर्हति। अथात इति सूत्रानुपूर्व्या ऐक्यात्। अपि च "तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरमेत्" (आप. ध. २—९—२.) इति सूत्रव्याख्यानावसरे उज्ज्वलायां हरदत्ताचार्यैः 'उत्सर्जनं कुर्यात्। तस्यापि प्रयोगो गृह्य एवोक्तः' इति स्वयमेव कथ्यते। तेन उपाकर्मोत्सर्जनप्रयोगः कैश्चित् गृह्ये हरदत्ताचार्यैरुक्त इत्यवगम्यते। स च द्वैतीयीक एव द्विके उपलभ्यते, न प्राथमिके त्रिके। तेनेदं प्रतीयते—देशे द्विविधाः कोशाः सन्ति। केचन ग्रन्थकारेण यथालिखितमन्यूनानतिरिक्ताः, केचन ततस्सङ्गृहीताः इति। अतोऽन्यूनानतिरिक्तं द्वैतीयीकमेव द्वयं शुद्धतरमिति निरचिनवम्। तदनुरोधेनैव च ततः प्रभृत्यमुद्रापयं यावद्ग्रन्थसमाप्ति। प्राथमिकं त्रिकमपि तत्र तत्राक्षरशोधनादावुपकरोति स्म। ततः पुनरपि पुस्तकमेकं दक्षिणदेशादानायितम्। एवं—

(१) मन्निकटस्थमेकं पुस्तकं, (४) श्रीबापूदीक्षितानामेकं,
(२) सरस्वतीभवनादागतमेकं, (५) विश्वभारतीयं तैलङ्गाक्षरलिखितमेकं,
(३) वियन्नामुद्रितमपरं, (६) दक्षिणदेशादानीतं ग्रन्थाक्षरलिखितमपरं,

इति षण्णामनाकुलापुस्तकानां साहाय्येनेयमनाकुला वृत्तिः मुद्रिता।

तात्पर्यदर्शनं तु अन्यत्र मुद्रितमपि अनाकुलाखण्डनरूपत्वात् खण्डनखण्ड्यग्रन्थयोरेकत्र सभावेशे पठितॄणामुपकारं मन्वानेन,

(१) महीशूरपुरे देवनागराक्षरेषु अनेकपाठभेदेन सह मुद्रितमेकं,

(२) वियन्नानगरे मुद्रितमपरमस्मद्विश्वविद्यालयस्थं,

(३) मद्रपुर्यां ग्रन्थाक्षरेषु मुद्रितमितरत् हनुमद्भट्टस्थैरेव श्रीस्वामिशास्त्रिमहोदयैर्दत्तं,

(४) कुम्भघोणे तेष्वेवाक्षरेषु मुद्रितमन्यत् मन्निकटस्थं,

इति पुस्तकचतुष्टयमवलम्ब्य सहायत्वेन मुद्रितम्। सूत्राणि व्याख्याभ्यां सह मुद्रितान्यपि पाठसौकर्यार्थं पृथगपि मुद्रितानि। तत्र हरदत्तसुदर्शनाचार्ययोः सूत्राक्षरेषु नातीव दृश्यते वैमत्यम्, परन्तु सूत्रच्छेदे तदर्थवर्णने च प्रायशस्तौ विवदत एव।

---

१. ९२, ११६, १६२, पृष्ठेष्वनूदितो भागो नास्ति प्राथमिके पुस्तकत्रयेऽपि।

अतो यत्र सूत्रसंख्यायां तच्छेदे वा वैमत्यं तयोः, तदपि तत्तत्सूत्रपृष्ठाधोभागे तत्तत्खण्डान्ते च निर्दिष्टम्। व्याख्ययोर्यत्र मीमांसापदार्था उपात्ताः ते तत्र तत्र सम्यग्विवेचिताः। सूत्रस्यास्य भाष्यमेकं कपर्दिस्वामिना रचितं प्राचीनमुपलभ्यत इदानीमपि, यदेवानुसृतवान् सुदर्शनाचार्यः स्वीयग्रन्थे। यद्यपि तदप्येतावता न कुत्रापि मुद्रितमिति तस्यापि मुद्रणमवश्यं कर्तव्यमासीत्, तथापि तदिदानीं मद्रपुर्यां मन्मित्रेण पं० टि० आर्० चिन्तामणिशर्मणा मुद्रणायारब्धमिति श्रुत्वा न तत्र मया व्यापृतम्।

सूत्रस्यास्य कर्ता भगवान्महर्षिरापस्तम्बस्त्रिंशत्प्रश्नात्मकं ग्रन्थमेकमरीरचत्। यत्रादितः प्रश्नानां[1] त्रयोविंशत्यां दर्शपूर्णमासप्रभृतीनि सहस्रसंवत्सरपर्यन्तानि वैतानिकानि कर्माण्याम्नातानि। चतुर्विंशतितमे प्रश्ने परिभाषासूत्राणि प्रवरखण्डः हौत्रमन्त्राश्चेति पठितानि। पञ्चविंशतिषड्विंशतितमयोः प्रश्नयोः गृह्योक्तकर्मोपयुक्ता मन्त्राः इतस्ततस्समाहृत्यैकत्र समावेशिताः। सप्तविंशतितमः प्रश्नः गार्ह्यकर्मविधायको, योऽयं प्रकृतग्रन्थात्मकः। अष्टाविंशत्येकोनविंशतितमौ प्रश्नौ धर्मसूत्रात्मकौ। त्रिंशत्तमश्शुल्बसूत्रात्मकः, यो वैतानिककर्मौपयिकवेदिचितीष्टकादीनां प्रमाणादिकमावेदयति।

एवं श्रौतगृह्यधर्मात्मना विभक्तोऽयं ग्रन्थः तैत्तिरीयशाखामवलम्ब्यैव प्रवृत्त इति नाविदितम्। अन्येऽपि च केचन सूत्रकाराः शाखामिमामवलम्ब्य सूत्राण्यरीरचन्। ते च बौधायन, भारद्वाज, सत्याषाढ, विखनस, वाधूलप्रभृतयः। सर्वेष्वेषु मध्ये भगवानापस्तम्ब एव स्वगृह्यसूत्रे आत्मीयं प्रौढिमानमितरदुर्लभं प्रकटयामास। प्रथमतस्तावद्गृह्यकर्मणामवश्यकर्तव्यानामेकाग्निसाध्यानां जातकर्मादीनां संस्काराणां क्रमं कञ्चन मनसि निधाय मन्त्रांस्तदुपकारकान् इतस्ततस्सङ्कलय्य प्रश्नद्वयात्मकं भागमेकं समपादयत्। यद्यपि तत्रत्या मन्त्राः ऋग्वेदादिषूपलभ्यन्त एव तथापि इतस्ततो विशकलितानां तेषामेतद्गृह्योक्तकर्मक्रमानुसारेण सङ्कलनमापस्तम्बस्यैव। अतस्तत्सन्निवेशक्रमेणैव गृह्याणि कर्माणि विदधानस्य तत्र मन्त्रप्रतीकमन्तरा उत्तरया, उत्तराभ्यां, उत्तराभिः, उत्तरेण यजुषा, इत्येव विनियोगकल्पनं सुशकमभूदस्य। तेन च महल्लाघवं समपादि।

एवं सूत्रकारान्तरापेक्षयाऽयमनुष्ठेयानां नित्यानां नैमित्तिकानाञ्च गार्ह्यकर्मणां प्रतिपादनेऽप्यसाधारणीं नैपुणीमाविश्चकार। शब्देष्वविस्तरः, यावच्छक्तिः सङ्गृह्यैव कर्मणां विधानं, तत्र तत्र चातिदेशचातुरी, अवश्यानुष्ठेयभिन्नानां कर्मणां प्रायशोऽकथनमित्यादिना सर्वानप्यतिशेते सूत्रकारान् महर्षिरयमित्यवश्यवक्तव्यं भवति। अतस्सर्वाङ्गीणसुन्दरमिदमापस्तम्बगृह्यसूत्रमिति नातिशयोक्तिः।

अयं गृह्यसूत्रात्मको भागः त्रयोविंशतिखण्डात्मना विभक्तस्सूत्रकारेण। अत्र सर्वेष्वपि प्राचीनेषु हस्तलिखितेषु खण्डशो विभाग एव दृश्यते। पटलविभागस्य नामापि न श्रूयते। अतोऽयं पटलविभागोऽर्वाचीनो भाष्यकारादिभिरेवादृत इति गम्यते।

---

१. यदत्र भूलरमहाशयेन—आदितश्चतुर्विंशतिः प्रश्नाः वैतानिककर्मसम्बन्धिनः। पञ्चविंशतौ परिभाषादिकम्। षड्विंशतौ गार्ह्यमन्त्राः। इत्युक्तमापस्तम्बधर्मसूत्रभूमिकायां तत् तद्ग्रन्थमनवलोक्यैव यतः कुतश्चित् श्रुत्वा लिखितमिति भाति।

कोऽस्य कालः ?

महर्षिरयमापस्तम्बः कदा कं देशमलंचकारेति नाद्यापि केनापीदंतया निरणायि, तथापि (George Buhler) बूलर् महाशयेन आपस्तम्बधर्मसूत्रभूमिकायां बहुभिर्हेतुभिरस्य कालदेशादिसाधनाय यतितम्। न ततो मया प्रमाणान्तरमधिकमुपलब्धं, तथापि यत्किञ्चिदुपलब्धं श्रीमतां पुरत उपस्थापयामि—

सूत्रकारेण तावदनेन व्याकरणाननुगताः व्यवहारे प्रायशः क्वचिदपि देशे इदानीमप्रयुक्ताः केचन शब्दाः प्रयुज्यन्ते धर्मसूत्र इव गृह्यसूत्रेऽपि। ते यथा—राता (३. १२)नक्षत्रनामाः, नदीनामाः (३–१३)अभीव (४–१४)आरोहतीं (५–२४) तरती(६–२) पुंस्वाः(६–११) त्रिस्सहैः(९–५) त्रिवृतां(१०–११) प्रष्टं (११–२)अभ्यानायन् (१२–७)रातिः (१२–१४) तैत्तिरेण(१६–२) प्रमुष्टिः (२०–११)मर्गे (२०–१२) प्रासवराध्यं(२१–७) सनिः (२२–१३)सम्बाधे (२३–३)कुप्त्वां (२३–७) इत्यादि। अन्येऽपि अथास्यै दक्षिणेन(३–११) तस्यै वपां(२२–४)वासश्चतुर्थीम्(११–२४) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी सप्तम्यर्थे द्वितीया इत्यादयो विभक्तिविपरिणामा अपि कृताः।

यद्यपि सूत्रकारान्तरैरपि एवंविभक्तिव्यत्यासः क्रियते, यथा-आश्वलायनगृह्ये-अथास्यै शिखे (१–५–१६) अथास्यै तण्डुलागार (१–११–५) इत्यादि, पारस्करेऽपि-अथास्यै दक्षिणं हस्तं(१–६–३) अथास्यै दक्षिमंसम् (१–११–७) इत्यादि; तथापि यावन्त आपस्तम्बसूत्रे, न तावन्तोऽन्यत्र व्याकरणाननुगता उपलभ्यन्ते। बौधायनीये गृह्ये परं केचनोपलभ्यन्ते। एवमपाणिनीयपदप्रयोगे महर्षेरस्य कारणद्वयेन भाव्यम्-महर्षिणानेन पाणिनिपूर्वकालिकेन भाव्यम्, अथवा अतन्तरकालिकेनापि पाणिनीयान् नियमाननभ्युपगच्छता भाव्यम्। तत्र तदनन्तरकालिस्य सतः तन्नियमानभ्युपगमे विशेषकारणादर्शनात् तत्पूर्वकालिक एवायं महर्षिरासीत् इत्यवगम्यते। अतो यदि ख्रिस्तात् पूर्वमष्टमशताब्दी सप्तमशताब्दी वा भगवतः पाणिनेः कालः तर्हि ततोऽपि पूर्वकालिकेनामुना दशमशताब्दीगतेन नवमशताब्दीस्थितेन वा भाव्यम्।

कोऽस्य देशः ?

नासिक, पूना, आमेडनगर, सतारा, षोलापूरप्रभृतिषु आपस्तम्बीयानां बहुलमुपलम्भात्, पूर्वकालिकराजभिस्तद्देशीयैश्चापस्तम्बीयानुद्दिश्यैव भूम्यादिदानस्य ताम्रशासनादितोऽवगमाच्च तत्सूत्रकारेणापि तद्देशीयेनैव भाव्यम्। किञ्च "उदीच्यवृत्तिश्चेदासनगतेषूदपात्रानयनम्" (आप. ध. १. १७. १७) इत्यासनेषूपविष्टानां हस्ते उदकदानमुदीच्यानां सम्प्रदायः श्राद्धे" इति वदन् आत्मनो दाक्षिणात्यत्वमवबोधयति। एतेन कारणत्रयेणापस्तम्बो दक्षिणदेशनिवासीति गम्यत इति[1] बूलरमहाशयः। नेदमहं युक्तिसहं पश्यामि। न हि आपस्तम्बीयानां दक्षिणदेशनिवासित्वमापस्तम्बस्यापि तद्देशीयत्वे कारणं भवितुमर्हति। उत्तरदेश एव पूर्वमवस्थितैः केनापि कारणेन पश्चाद्दक्षिणदेशगतैः तैः कुतो न भाव्यम्। यद्ययं

---

१. आपस्तम्बधर्मसूत्रस्य द्वितीयसंस्करणभूमिकायां ३४–३७. पृष्ठेषु.

पक्षोऽभ्युपगम्येत तर्ह्यापस्तम्बस्यापि उत्तरदेशावस्थितत्वमेव सिध्यति। "उत्तरवृत्तिः" इति कथनमात्रेण यद्यापस्तम्बस्य दाक्षिणात्यत्वं सिध्येत्, 'स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति' इति दाक्षिणात्यं निन्दन् तत्रभवान् कुमारिलपादोऽपि कथमात्मन उत्तरदेशीयत्वं नावबोधयेत्। कुतो वा "कर्माण्यपि जैमिनिः परार्थत्वात्" (पू. मी. सू. ३–१–४) इति मीमांसासूत्रे स्वनाम गृणन् भगवान् जैमिनिः सूत्रकारस्य जैमिनिभिन्नतां नावबोधयेत्? अतो मन्ये नेदमापस्तम्बस्य दाक्षिणात्यत्वसाधकमिति। प्रत्युतोत्तरदेशीयत्वे प्रमाणमेकमुपलभ्यते—अयं हि सीमन्तप्रकरणे वीणागाथिभ्यां गेयं मन्त्रद्वयमेकाग्निकाण्डे पठति—

"यौगन्धरिरेव नो राजेति साल्वीरवादिषुः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव॥
सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेणासौ तव" इति॥

मन्त्रयोरनयोरयमर्थः–"हे यमुने! तव तीरे आसीनाः साल्वदेशनिवासिनो जनाः युगन्धरपुत्र एवास्माकं राजे'ति वदन्ति। ब्राह्मणास्तु 'सोम एवास्माकं राजे'ति वदन्ति" इति। अत्र प्रकरणे सर्वेऽपि सूत्रकारा द्वितीयमेव मन्त्रं पठन्ति। अयं तु मन्त्रद्वयं पठित्वा "उत्तरयोः पूर्वा साल्वानां, ब्राह्मणानामितरा" (आप. गृ. १४–३.) इति मन्त्रद्वयस्य विनियोगं वदति गृह्ये। 'साल्वदेशवासिनां त्रयाणां वर्णानां पूर्वो मन्त्रः, अन्यदेशवासिनां द्वितीयः' इति कपर्दिस्वामी बभाषे। इतरेषु सूत्रकारेषु श्रुतिस्मृत्यादौ प्रथमगणनीयतया सर्वत्र प्रसिद्धां भगवतीं भागीरथीमेवोपाददत्सु तां परित्यज्य द्वितीयपरिगणनीयां यमुनां, तत्तीरस्थितं कञ्चन देशविशेषं, तत्राधिकृतं च तात्कालिकं कञ्चन राजानमनुवदन् स्वस्य यमुनातीरस्थसाल्वदेशाभिजनतां स्वकालिकं राजानं च सूचयतीव मे भाति। न मयेदानीमेवमेवेदमिति निर्णीयोच्यते, अभ्यूहं कश्चिदेवं कर्तुमस्ति युक्ततरं प्रमाणमित्येतावदुपक्षिप्यते। निर्णये विचारशीलाः प्रमाणम्।

व्याख्यात्रोर्विषये श्रीहरदत्ताचार्यः प्राचीनः, सुदर्शनाचार्योऽर्वाचीनः इति पूर्वं सूचितम्। तत्र पूर्वो यद्यपि द्वितीयवत् आत्मनः पूर्वमीमांसादिशास्त्रान्तरप्रणयितां नाविष्करोति स्वग्रन्थे, तथापि बहुश्रुतोऽनेकसूत्रव्याख्याता इत्यत्र नास्ति विशयः। अनेन हि कृताः—

(१) आपस्तम्बगृह्यमन्त्रव्याख्या;
(२) आपस्तम्बगृह्यसूत्रव्याख्याऽनाकुला,
(३) आपस्तम्बधर्मसूत्रव्याख्योज्ज्वलाख्या,
(४) [1]आपस्तम्बपरिभाषाव्याख्या,
(५) आश्वलायनगृह्यसूत्रव्याख्याऽनाविलानाम्नी,
(६) गौतमधर्मसूत्रव्याख्या मिताक्षरानामिका,

---

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्रस्य पञ्चदशप्रश्नप्रभृति हरदत्ताचार्यैः व्याख्या कृता यदन्तर्गतोऽयं परिभाषाव्याख्यारूपो भागः इत्यपि वदन्ति बहवः।

(७) [1]काशिकाव्याख्या पदमञ्जरी चेति ग्रन्थाः। अयं शिवभक्तो यतो मङ्गलं शिवनमस्कारात्मकमेव करोति। श्लोकं तत्तद्ग्रन्थनामविपरिवर्तनमात्रकरणेन आपस्तम्बाश्वलायनगृह्ययोः गौतमधर्मसूत्रस्य च व्याख्यायामादौ न्यवेशयत्। तद्यथा—

[2]नमो रुद्राय यद्गृह्यमापस्तम्बेन निर्मितम्।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिरनाकुला॥

[3]नमो रुद्राय यद्गृह्यमाश्वलायननिर्मितम्।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिरनाविला॥

[4]नमो रुद्राय यद्धर्मशास्त्रं गौतमनिर्मितम्।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिर्मिताक्षरा॥ इति॥

'प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता'।

इत्येकरूपं पूर्वार्धमेकाग्निकाण्डभाष्यारम्भे उज्ज्वलावृत्तौ च।

अत्र सर्वत्र "नमो रुद्राय" इत्ययं भागः श्लोकान्तर्गत एवेति ज्ञायते। सत्येवं गृह्यसूत्रभूमिकायां विन्टर्निट्ज् (Dr. Winternitz) महाशयेन "नमो रुद्राय" इति भागं पृथक्कृत्य ततः पद्यस्यापरिपूर्णतामभिसन्धाय तत्पूरणार्थं "यत् पद्यमापस्तम्बेन सूत्रकारेण निर्मितम्"। इति भवितुमर्हति इत्यभ्यूहः कृतः सोऽनवधानकृत एवेति वक्तव्यं भवति।

अयं च दाक्षिणात्यो दक्षिणदेशे कावेरीतीरनिवासीति ज्ञायते। यतः सीमन्तोन्नयनान्तर्गतस्य "नदीनिर्देशश्च यस्यां वसन्ति" (आप. गृ. १४-६) इति सूत्रस्य व्याख्यानावसरे एकाग्निकाण्डभाष्ये च—'यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्तीत्यर्थः। यथा—तीरेण कावेरि तवे'ति दक्षिणदेशे प्रसिद्धां[5] कावेरीमेवोपाददाति स्म। एवमाश्वलायनसूत्रव्याख्यायामपि; कावेरीमेव प्रथमं निर्दिशति स्म यतोऽत्र गार्ग्यनारायणेन[6] गङ्गाया एव नामोपात्तम्। यतोऽस्य कावेर्यां पक्षपातः ततोऽयं कावेरीतीरनिवासीत्यवगम्यते।

अस्य जीवनकालः ख्रिस्तीयपञ्चदशाब्दी ततः शतवर्षेभ्यः पूर्वं वेति भूलरमहाशयेन[7] निर्णीतम्। द्वादशशताब्द्याः अन्त इति[8] पं० गणपतिशास्त्रिणः। पञ्चदशाब्दीतः पूर्वमित्यत्र तु नास्त्येव विशयः। यतो १६६८ वैक्रमाब्दे निर्णयसिन्धोस्स्वग्रन्थस्य समाप्तिं वदन्तः श्रीकमलाकरभट्टाः सुदर्शनाचार्यमुल्लिखन्ति तत्र। तेन च सुदर्शनाचार्यस्य कालः क्रिस्तवीया षोडशाब्दी वेत्यवगम्यते। तत्पूर्वतनेन हरदत्ताचार्येण पञ्चदशाब्दीगतेनैव भाव्यम्। यदि तु पं० गणपतिशास्त्रिणामाशया-

---

१. भूमिकायां ७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।
२. अत्रैव प्रथमपृष्ठे। ३. अनन्तशयनमुद्रिताश्वलायनगृह्ये १ पृष्ठे।
४. पूनामुद्रिते गौतमधर्मे १ पृष्ठे। ५. आश्व. गृ. पृ. ६० अनन्तशयने मुद्रितपुस्तके।
६. आश्व. गृ. पृ. ५२. बम्बईमुद्रितपुस्तके।
७. आपस्तम्बधर्मसूत्रभूमिकायां द्वितीयसंस्करणे आक्सवर्ड्मुद्रिते ४७. पृष्ठे।
८. अनन्तशयनमुद्रिताश्वलायनगृह्यसूत्रभूमिकायाम्।

नुरोधेन पदमञ्जरीकारोऽप्ययमेव हरदत्ताचार्य इत्यभ्युपगम्यते ततस्तदुक्तहेतुना द्वादशशताब्दीगत एवायं हरदत्ताचार्य इत्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। परन्तु पदमञ्जरीश्रुतिसूक्तिमालयोरप्ययमेव कर्तेति अभ्युपगमे ग्रन्थकर्त्रोर्नामैक्यं विना तदपि ग्रन्थद्वयमामूलं परिशीलयता न किमपि प्रमाणान्तरमुपलब्धम्।

श्रीहरदत्ताचार्यसुदर्शनाचार्ययोर्विषये इतिवृत्तमेकं दक्षिणदेशे प्रसिद्धम्-"अस्ति काचन कंसपुरं नाम द्विजातिवसतिश्चोलदेशे। तत्र श्रीवैष्णवस्य कस्य चन परमैकान्तिनः सुदर्शनो नाम तनय आसीत्। स च बाल्यात् प्रभृति शिवे भक्तिमानासीत्। बाल्य एव पित्रा बहुवारं निवारितोऽपि भगवन्तमुमारमणमेवाराधयति स्म। अकृत्वा शिवदर्शनं कदापि न भुङ्क्ते स्म। एकस्मिन् दिने तस्य पिता स्वसम्प्रदायविरुद्धमनुतिष्ठन्तं स्वकं बालकं सम्यक् प्रताड्य द्वारि स्थूणायां बद्ध्वा "नेतः परं कदापि शिवदर्शनं कार्यम्, यद्येवं प्रतिजानासि तदैव मोचयेयं त्वाम्" इत्यवदत्। बालस्तु किञ्चिदप्यनुक्त्वा शिवमेव परं ध्यायन्, भगवन्! कथमहं भवद्दर्शनं विना तिष्ठेयं, इति तद्गतमानस एव रुदन्नासीत्। अर्धरात्रसमये शिवं ध्यायतस्तस्य स्वयमेव बन्धश्छिन्नः। ततस्त्वरितं धावित्वा, शिवमन्दिरं गत्वा मन्दिरे पूर्वं पिहितद्वारेऽपि एतद्गमनसमनन्तरमेव स्वयमुद्घाटितकवाटे शिवं दृष्ट्वा सानन्दं प्रतिनिवर्तते स्म। तदनु प्रहलब्धैर्वाग्विलासैर्बहून् ग्रन्थानारचयति स्म। ततः प्रभृत्येव हरदत्त इति प्रथामवाप" इति। तामिमां कथामवलम्ब्य अनाकुलातात्पर्यदर्शनकृतोरप्येकतां मन्वते बहवः। स्यान्नामान्यः कश्चित् सुदर्शनाचार्यो यो हरदत्ताचार्यतामापन्नः। अनयोस्तु ग्रन्थकर्त्रोः कथमपि नैकता सम्भाविनी। यतो हरदत्तोक्तं पङ्क्तिशः अनूद्य खण्डयति सुदर्शनाचार्यः। किञ्च कथा पूर्वं सुदर्शनस्य सतः पश्चाद्धरदत्तत्वं बोधयति। अत्र च वैपरीत्यं दृश्यते। अत इमौ परस्परं भिन्नौ भिन्नकालिकौ चेत्यत्र नास्ति संशयः। श्रीसुदर्शनाचार्योऽपि दक्षिणदेशीय एव। अलं विस्तरेण।

एवं विश्वेशकृपया समासमुद्रणस्यास्य ग्रन्थस्य कृते भूमिकाकृते च तत्तदपूर्वविषयोपदेशेन प्रथमतः पुस्तकवितरणेन च मामत्यन्तमुपकृतवतां पण्डितकुलतिलकानां श्रीमदानन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुवमहोदयानां श्रीगोपीनाथकविराजमहाशयानां चोपकारमनवरतं स्मरामि। यावन्मुद्रणसमाप्ति मन्निकट एव पुस्तकमवस्थापितवद्भ्यः श्रीमद्भ्यः पं० नारायणशास्त्रिखिस्तेमहोदयेभ्यः अन्येभ्यश्च पूर्वनिर्दिष्टेभ्यः पण्डितवर्येभ्यः सादरं कृतज्ञतां प्रकटयामि। कार्येऽस्मिन् शोधनाद्यर्थं बहूपकृतवते मच्छिष्याय श्रीपट्टाभिरामशर्मणे वैदिकीमाशीःपरम्परां प्रयुञ्जे।

एतादृशेषु कार्येषु सुतरामाविष्कृतादरस्य चौखम्बापुस्तकालयाध्यक्षस्य श्रीबाबू-जयकृष्णदासगुप्तस्योत्साहमभिवर्धयन्त्विति विद्वद्वरानन्यांश्च सुरभारत्यनुरागिणोऽभ्यर्थये—

वाराणसी
१९८४ वै० सं०

सुधीजनवशंवदः
अ. चिन्नस्वामिशास्त्री

विषयानुक्रम

प्रथम पटल

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

द्वितीय पटल

चतुर्थ खण्ड

पञ्चम खण्ड

आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्

सानुवाद 'अनाकुला' 'तात्पर्यदर्शन' व्याख्योपेतम्

प्रथमः पटलः

[1]अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते ॥ १ ॥

अनु०—अब उन कर्मों का विवेचन किया जायगा जिनका ज्ञान प्रयोग से प्राप्त होता है (श्रुति से नहीं) ॥ १ ॥

टि०—कर्म दो प्रकार के होते है। श्रुतिलक्षण और आचारलक्षण। श्रुतिलक्षण कर्मों की व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है, यहाँ विवाह आदि उन कर्मों का विवेचन किया गया है जिनका ज्ञान प्रयोग तथा व्यवहारसे होता है, श्रुति से नहीं। यहाँ 'अथ' शब्द के प्रयोग का यही भाव है कि श्रौत कर्मों की व्याख्या कर लेने के बाद स्मार्त कर्मों की व्याख्या की जायगी। यज्ञ २१ प्रकार के होते हैं, सात पाकयज्ञ-औपासन-होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, सर्पबलि और ईशानबलि। सात हविर्यज्ञ होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञादि दर्वीहोम। सात सोमसंस्था वाले यज्ञ-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। आचार की व्युत्पत्ति है—आङ् इत्युपसर्गस्य अभिव्छेदो व्याप्तिरभिप्रेतोऽर्थः। चारः चरणं कर्मसु प्रवर्तनम् ॥ १ ॥

अनाकुला

नमो रुद्राय यद्गृह्यमापस्तम्बेन निर्मितम्।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिरनाकुला ॥

द्विप्रकाराणि कर्माणि—श्रुतिलक्षणानि आचारलक्षणानि च। तत्र श्रुतिलक्षणानि व्याख्यातानि। अथेदानीं यानि कर्माणि विवाहप्रभृतीनि आचारात्

---

१. अत्र सूत्राणां विभागः सुदर्शनमतानुसारेण कृतः। यत्र चानयोर्वैमत्यं तत् तत्तत्सूत्राधोभाग एव सूचयिष्यते।

प्रयोगात् गृह्यन्ते, ज्ञायन्ते, न प्रत्यक्षश्रुतेः, तानि व्याख्यास्यामः। किं प्रयोजनं सूत्रस्य? स्मार्तानां कर्मणां अधिकारः। तेन उदगयनादिनियमः, "सर्वत्र स्वयं प्रज्वलितेऽग्नौ" (आप. गृ. ८-५) इत्येवमादीनि च गार्ह्येष्वेव कर्मसु भवन्ति, न श्रौतेषु। अत्राथशब्देन श्रौतोपदेशानन्तरं स्मार्तोपदेशं करिष्यामीति वदन् तदपेक्षामस्य दर्शयति। तत्र याः परिभाषाः "स त्रयाणां वर्णानां" (आप. परि. १-२) "मन्त्रान्तैः कर्मादीन् सन्निपातयेत्" (आप. परि. २-१) "रौद्र, राक्षस" (आप. परि. २-९) "तदिदं सर्वप्रायश्चित्त" मित्येवमाद्यास्ता इहापि भवन्ति (इदं कार्याणि) ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्[4]

यो वर्णैरिज्यते नित्यैः कर्मभिश्चोदितैर्निजैः।
तेभ्योऽपवर्गदो[1] यश्च तं नमाम्यद्वयं हरिम्[2] ॥
आपस्तम्बमुनिं वन्दे मन्दधीहितकाम्यया।
योऽनुष्ठेयपदार्थानां क्रमकल्पमकल्पयत् ॥
यत्कृतं वेदवद्भाष्यमाद्रियन्ते विपश्चितः।
स कपर्दी चिरं जीयाद्वेदवेदार्थतत्त्ववित् ॥
सुदर्शनार्यः[3] कुरुते गृह्यतात्पर्यनिर्णयम्[4]।
केवलं वैदिकश्रद्धाप्रेरितो मन्दधीरपि ॥

अथशब्द आनन्तर्यार्थः। तदर्थं पूर्ववृत्तमुच्यते। इह हि यज्ञा एकविंशतिभेदाः। तत्र च सप्त पाकयज्ञसंस्थाः—औपासनहोमः, वैश्वदेवं, पार्वणम्, अष्टका, मासिश्राद्धम्, सर्पबलिः, ईशानबलिरिति। सप्त च हविर्यज्ञसंस्थाः—अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणं, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणिः पिण्डपितृयज्ञादयो दर्वीहोमा इति। [5]सप्तैव च सोमसंस्थाः—अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः अप्तोर्याम इति। एते च नित्याः नियतप्रदोषादिकालीनजीवननिमित्तका इत्यर्थः। कुत एते नित्याः? जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिरृणवा जायते। ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः, (तै. सं. ६-३-१०) इत्यत्र 'यज्ञेन' इत्येकवचनं 'यज्ञं व्याख्यास्यामः' (आप. परि. १-१) इतिवत् जात्यभिप्रायं मन्यमानस्य भगवतो वसिष्ठस्य 'नैयमिकं ह्येतदृणत्रयं संस्तुतम्' (व. सं. ११-४७) इति वचनेन एषामवश्यानुष्ठेयत्वावगमात्।

---

१. ख—पुस्तके भोगापवर्ग, इति पाठः।

२. अच्युतं हरिम्, अच्युतं हरम्, अद्वयं, हरम्, इति च क्वचित्।

३. ख—सुदर्शनाख्यः। ४. ख, ग—दर्शनम्। ५. ग, सप्त च।

तथा 'सायं प्रातरत ऊर्ध्वम्' (आप. गृ. ७-१९) 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत' (आप. श्रौ. १०-२-५) इत्येवमादिभिः, 'अहरहः प्रवृज्यते' (तै. ब्रा. २-१-३), अर्धमासेऽर्धमासे प्रवृज्यते' (तै. ब्रा. ३-२-८), 'पुनर्भक्ष्योऽस्य सोमपीथो भवति' (तै. ब्रा. ३-२-३) इत्येवमादिभिः, [1]कर्मण्यारम्भन्यायेन च प्रयोगाभ्यासावगमात् ।

तथैव सोमस्येष्ट्यादेश्चाकरणे ऐन्द्राग्नपशुविभ्रष्टेष्ट्यादिप्रायश्चित्तविधानेन प्रत्यवायोत्पत्त्यवगमात् । तथैव 'स एताँश्चतुर्होतॄनात्मस्मरणानपश्यत्' (तै. ब्रा. २-३-७) इति अग्निहोत्रादिसोमान्तानामात्मनिष्क्रयणार्थत्वावगमात् । न तु सौर्यादिवत्[2] केवलं काम्याः, उक्तहेतूनां सर्वेषामनुपपत्तेः । यत एवैते नित्याः, अत एव 'अनाहिताग्नितास्तेयम्' (मनु. ११-६५) इत्यनाहिताग्निताया उपपातकगणे पाठः । अत एव नित्याधिकारविधिप्रयुक्तमाधानम् । काम्यसिद्धिस्तु नित्यानुष्ठानेनैव गुणफलाधिकारविधया प्रासङ्गिकी भवतु ।

मीमांसकमत्या तु यद्यपि काम्याधिकारविधिप्रयुक्तमाधानं, काम्यानुष्ठानेन च नित्यसिद्धिः[3] प्रसङ्गात्; तथापि कल्पसूत्रकाराणां प्रक्रियया साधिकारत्वेन [4]प्रयुक्तिशक्तियोग्यतया अन्यतोऽप्रयुक्तौ नित्याधिकारविधिप्रयुक्तिरप्युपपन्ना । यथा [5]विवरणमते स्वविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति । तस्मात् मन्दमध्यमोत्कृष्टबुद्धिभि[6]स्सर्वैरपि त्रैवर्णिकैरेतेऽवश्यं कर्तव्याः । ते च नानासाधनका नानाशाखान्तरस्थाङ्गका मीमांसान्यायसहस्रनिर्धार्यवचनव्यक्तिका मन्दबुद्धिभिरिदानीन्तनै[7]र्दुर्ज्ञानाः अज्ञाने चानुष्ठातुमशक्ताः कथञ्चन प्रत्यवेयुरिति कृपाविष्टचेतस्कतया सूत्रकारेण 'यज्ञं व्याख्यास्यामः'(आप. परि. १-१) इति परिभाषायामेकविंशतियज्ञान् सामान्यतः [8]संक्षेपतश्च व्याख्याय, तावन्मात्रेणानुष्ठानानुपयोगात् 'अथातो दर्शपूर्णमासौ' (आप. श्रौ. १-१) इत्यारभ्य श्रौता हविर्यज्ञास्सोमसंस्थाः [9]क्षामवत्यादयो नैमित्तिकाः प्रसङ्गात् काम्याश्च [10]विशेषतो व्याख्याताः ।

---

१. ख—कर्मारम्भप्रभृतिप्र ..त्. ञ. कर्मारम्भ. काम्यानां कर्मणां भूयो भूयः फलेच्छायां सत्यां भूयो भूयोऽनुष्ठानम् , इति न्यायः पूर्वमीमांसायां एकादशप्रथमतृतीयाधिकरणोक्तः कर्मारम्भन्यायः । (११-१-३) । २. ख, ग—सौर्यादिवत् इति न ।

३. ग, ङ, ब, झ–सिद्धिप्रसङ्गात् । अन्यत उपकारलाभप्रयुक्ताङ्गाननुष्ठानं प्रसङ्गः ।

४. ङ, च, छ, ब—प्रयुक्तिशक्तियोगितया, प्रयुक्तशक्तियोगितया, प्रयुक्तिशक्तियोग्यतया, इति च भेदाः । ५. ङ—विवरणादौ । ६. ञ मतिभिः ।

७. ञ—अप्रज्ञाना । ८. ख, ङ—संक्षेपत इति न ।

९. यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् (त. सं. २—२—२—९) इति गृहदाहे निमित्ते कर्तव्यतया विहितेष्टिः क्षामवतीष्टिः ।

१०. ख—अशेषतः ।

अथ अनन्तरम्। आचारात्—आङ् इत्युपसर्गस्य अविच्छेदो व्याप्तिरभिप्रेतोऽर्थः। चारः चरणं कर्मसु प्रवर्तनम्, 'पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' (आप० श्रौ. १-७-२) इत्यादौ दर्शनात्। तेन यत्सर्वेषु देशेषु, सर्वेषु कालेषु च सर्वैस्त्रैविद्यवृद्धै शिष्टैर्लौकिकप्रयोजनाभावेऽप्यविच्छिन्नमवि[1]गानेनाद्रियमाणम्, अत एव मूलान्तरासम्भवात् स्वमूलभूतवेदानुमाने लिङ्गभूतं कर्मसु प्रवर्तनं स आचारः। तस्मादाचारात् अनुमितैर्वेदैः यानि औपासनहोमादीनि पाकयज्ञशब्दवाच्यानि,पाणिग्रहणादीनि च यज्ञेष्वधिकरिष्यमाणदेहसंस्कारार्थानि कर्माणि गृह्यन्ते ज्ञायन्ते कर्तव्यत्वेन, तानि व्याख्यास्याम इति शेषः। यत एव आचारानुमेयवेदावगम्यानि गार्ह्याणि कर्माणि, अत एव तेभ्यः प्रथममनुष्ठेयेभ्योऽपि पूर्वं श्रौतानां व्याख्यानं कृतम्; प्रत्यक्षश्रुतिविहितेषु जिज्ञासायाः प्रथमभावित्वात, अनुमितवेदार्थजिज्ञासाया[2]श्चरमभावित्वात्, जिज्ञासाशान्त्यर्थत्वाच्च व्याख्यानस्येति।

अत्र च आचारादित्याचारेणोपलक्ष्य गार्ह्याणि कर्माणि वदन्नेवं ज्ञापयति—इह साक्षादनिबद्धानामपि येषां 'जमदग्नीनां तु पञ्चावत्तम्' (आप. श्रौ. २-१८-२) इत्यादीनां पदार्थानामाचारः कृत्स्नदेशादिव्याप्तस्यात् तेऽपि वेदमूला: एवेति। कृत्स्नदेशादिव्याप्तिश्चाधिकपौनरुक्त्यादिभिश्श्रौते दर्शनेन गृह्यान्तरैर्धर्मशास्त्रैः न्यायबलेन सम्प्रदायविद्व्याख्यातृवचनैर्वा निश्चेतव्या। इदं चाधिकारसूत्रम्। यान्यङ्गान्युत्तरत्र 'पुरस्तादुदग्वोपक्रमः' (आप. गृ. १-५) इत्यादीनि वक्ष्यन्ते, तेषां गार्ह्यकर्मार्थतां, श्रौतानां सार्वत्रिकाणामपि स्वतोऽनिदमर्थतां च ज्ञापयितुम्। एतच्च समानोपदेशातिदेशयोरभावात्।

केचित्—कर्माणीत्येतद्गृह्ये वक्ष्यमाणान्यस्मच्चरणार्थान्येव, न तु धर्मशब्दाधिकृतधर्मशास्त्रोक्तवत्सर्वार्थानि। तथा श्रौतानन्तरं गार्ह्याधिकारः श्रौतोक्तसार्वत्रिकधर्माणामिह प्राप्त्यर्थ इति ॥ १ ॥

उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु कार्याणि ॥ २ ॥

अनु०—इन कर्मों को सूर्य के उत्तरायण में होने पर, मास के पूर्व पक्ष में शुभ दिनों करना चाहिए ॥ २ ॥

टि०—इस सूत्र में उदगयन का निर्देश इस लिए किया गया है कि दक्षिणायन में इन कर्मों का निषेध है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी कहा गया है। "उदगयने आपूर्यमाणपक्षे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः" (१.४) गृहनिर्माण और गृहप्रवेश

---

१. अ, ट,—अविभागेन। २. ट—अनन्तर। ३. ज—समान इति न।

कर्म ज्योतिश्शास्त्र के अनुसार दक्षिणायन में भी हो सकते हैं। ऐसा तात्पर्यदर्शनकार ने निर्देश किया है। कुछ आचार्यों के अनुसार कृत्तिका से विशाखा नक्षत्र तक पुण्यदिन होते हैं ॥ २ ॥

अनाकुला

उदगयनादिविधानं दक्षिणायनादिप्रतिषेधार्थम्। समुच्चयश्चोदगयनादीनां न विकल्पः। पुण्याहाः देवनक्षत्राणि ज्योतिश्शास्त्रे प्रसिद्धानि यमनक्षत्राणि च तद्विहितानि ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उदगयनादयः प्रसिद्धाः। पुण्याहास्त्वह्नो नवधा विभक्तस्यायुजो भागाः–प्रातस्सङ्गव[1]मध्याह्नापराह्णसायंशब्दवाच्याः पुण्यनक्षत्रापरपर्यायाः पञ्च। 'समानस्याह्नः पञ्च पुण्यानि नक्षत्राणि' (तै. ब्रा. १-५-३) 'मित्रस्य सङ्गवः, तत्पुण्यं तेजस्व्यहः' (तै. ब्रा. १-५-३) इत्यादिश्रुतेः। युग्मास्त्वश्लीलाः, चत्वार्यश्लीलानि (तै. ब्रा. १-५-३) इति श्रुतेः।

केचित्–कृत्तिकादिविशाखान्तानि देवनक्षत्राणि पुण्याहाः, 'यान्येव देवनक्षत्राणि। तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात्। पुण्याह एव कुरुते' (तै. ब्रा. १-५-२) इति श्रुतेः।

उदगयनेत्यादिरयं समासो द्वन्द्वः। तेषु कार्याणि। गार्ह्याणीति शेषः। एषां समुच्चयः, न विकल्पः। एतच्च सामान्यविधानं तत्र तत्र विशेषविधानेनापोद्यते, नियम्यते च। एवमुदगयनादीनां विधाने सत्यपि क्वचिदनियमः प्रतिभासते। 'सर्व ऋतवो विवाहस्य' (आप. गृ. २-१२) इति वचनात् तदा दक्षिणायनेऽपि विवाहस्यात्तदा समावर्तनं तत्कालसमीपकाल एव। इतरथा उदगयनसमावृत्तस्य शरदि विवाहे सति बहुकालव्यवधाने, 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः'। (दक्षसं. अ. १) इति निषेधातिक्रमप्रसङ्गात्।

किञ्च आश्वलायनगृह्ये 'उदगयन आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः' (आश्व. गृ. १-५) इत्यत्र चौलविकारत्वादेव गोदानस्य उदगयनप्राप्तौ पुनस्तत्र तद्विधिः तद्विकारान्तरे समावर्तने उदगयननियमनिवृत्त्यर्थ इति गम्यते। तथा बौधायनीये समावर्तनस्य चौलविकारत्वादेव आपूर्यमाणपक्षप्राप्तौ पुनस्तत्र तद्विधि[2]रुदगयनानियमार्थ इति गम्यते। तथा गृहनिर्माणप्रवेशयोः ज्योतिश्शास्त्रे दक्षिणायनस्यापि विधानात्, अविगीतशिष्टाचाराच्च उदगयनानियमः। तथा अपरपक्षेऽप्यापञ्चम्याः ज्योतिश्शास्त्रादेव शिष्टाः कर्माणि आचरन्ति। तथैव ज्योतिश्शास्त्रादन्नप्राशन[3] गृहनिर्माणप्रवेशान् रात्रा-

---

१. ख—मध्यन्दिन। २. क, ज, च, ख–उदगयननियमार्थ ३. ट–त्रिवाहैत्यधिकम्।

वप्याचरन्ति । तथैव यदा पुण्याहाः ज्यौतिषोक्तदोषोपहताः, तदा अश्लीलेष्वपि तदुक्तगुणयुक्तेषु[1] अविगागेन कर्माण्याचरन्ति । ज्योतिश्शास्त्रमपि[2] वेदाङ्गत्वाद्-गृह्यमाणकारणत्वात्, शिष्टपरिगृहीतत्वाच्च कल्पसूत्रादिवदादरणीयमेव । निर्णये तु शिष्टाः प्रमाणं सर्वत्र ॥ २ ॥

यज्ञोपवीतिना ॥ ३ ॥

अनु०--(बाएँ कन्धे पर) यज्ञोपवीत धारण करने वाले व्यक्ति द्वारा ही ये कर्म किये जाने चाहिए ॥ ३ ॥

अनाकुला

कार्याणि इत्यनुवर्तते ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

कार्याणीति सम्बन्धः । ननु यज्ञोपवीतं पाकयज्ञेषु 'प्रागपवर्गाणि' (आप० प. २-५) इत्यादिना सिद्धम् । विवाहादिहोमेषु, जपादिषु च 'होमे जप्यकर्मणि' (आप. ध. १-१-१५) इत्यादिना । अतोऽत्रैतद्विधिर्व्यर्थः । सत्यम् ; यत्राप्राप्ति[3]-र्हेमन्तप्रत्यवरोहणादिषु तत्रायं विधिस्सार्थ एव ॥ ३ ॥

प्रदक्षिणम् ॥ ४ ॥

अनु०—इन कर्मों को बाएँ से दाहिने की ओर करना चाहिए ॥ ४ ॥

अनाकुला

प्रदक्षिणं च तानि कर्तव्यानि दक्षिणं पाणिं प्रतिगतं प्रदक्षिणम् । उदाहरणं परिस्तरणादि । ननु-तदिदमुभयमविधेयम्, पूर्वमेव श्रौतेषु विहितत्वात् 'दैवानीति (आप. प. २-१५) तत्रोच्यते, इह मानुषेषु जातकर्मादिष्वप्येतयोः प्रवृत्ति-रिष्यते[4] तदर्थमयमारम्भः ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

कार्याणीत्येव सम्बन्धः । इदं तु प्रादक्षिण्यं पाकयज्ञेषु, तत्कोटिषु च विवाहादिषु परिभाषासिद्धमपि "तद्व्यतिरिक्तगाह्यार्थं[5] विधीयते । 'तथापवर्गः' (आप. गृ. १-६) इति चेत्थमेव ॥ ४ ॥

पुरस्तादुदग्वोपक्रमः ॥ ५ ॥

अनु०—कर्मों का आरम्भ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए (पश्चिम या दक्षिण की ओर नहीं) ॥ ५ ॥

---

१. ट, व.—अविभागेन २. ट—वेदाङ्गत्वेन गृह्यमाणत्वात्

३. हेमन्तप्रत्यवरोहण एकोनविंशे खण्डे वक्ष्यति सूत्रकार एव ।

४. ट—तदर्थोऽयम् ५. ट. ठ.—व्यतिरिक्त ।

अनाकुला

अनियमे नियमार्थमिदं वचनम्। दक्षिणतः पश्चाद्वोपक्रमो माभूदिति। परिस्तरणाद्येवोदाहरणम्॥५॥

तात्पर्यदर्शनम्

कार्य इति शेषः। अयं तु सर्वेष्वपि यज्ञाङ्गरूपगार्ह्येष्वप्राप्तत्वाद्विधीयते॥५॥

तथापवर्गः॥ ६॥

अनु०—इनकी परिसमाप्ति भी उसी प्रकार (पूर्व या उत्तर दिशा में) होवे॥६॥

अनाकुला

तेषामपवर्गोऽपि तथा प्रत्येतव्यः। पुरस्तादुदग्वेत्यर्थः। अपवर्गः परिसमाप्तिः। न चात्र उपक्रमापवर्गयोः समानदिङ्नियमः क्रियते—पुरस्तादुपक्रान्ते तत्रैव समाप्यं, उदगारभ्यं च तत्रैवेति। किं तर्हि यथासम्भवं प्रवृत्तिः, तद्यथा परिस्तरणस्य पुरस्तादुपक्रान्तस्य तत्रैवापवर्गासम्भवादुदगपवर्गः। तत्रापवर्गविधेरानर्थक्यं, श्रौतेष्वेव परिभाषितत्वात् "प्रागपवर्गाण्युदगपवर्गाणि वे"ति (आप. प. २-१५)। उच्यते। यद्यपवर्गविधिः पुनरिह नारभ्यते, अपरेणाग्निं द्वे कुटी कृत्वे' (आप. गृ. १९-१४) त्यत्र दक्षिणापवर्गता प्राप्नोति, अत्रोपक्रमस्योदग्गतत्वनियमात्। अतो तिप्रतिषेधे अपवर्गबलीयस्त्वं यथा स्यादित्ययमारम्भः। अन्यथा प्रदक्षिणपरिभाषया सामान्यपरिभाषा बाध्यते किञ्चिद्दैवानि कर्माणीति तत्र विशेषितम। अतो मानुषेषु कर्मादिष्वपि प्राप्त्यर्थोऽपवर्गनियमः॥६॥

तात्पर्यदर्शनम्

पुरस्तादुदग्वा क्रियापरिसमाप्तिः कार्येत्यर्थः। ननु-पुरस्तादुदग्वोपक्रमः' इति विधेरेव समन्तपरिषेकादावर्थसिद्धत्वान्नारब्धव्यं 'तथाऽपवर्गः, इति। न; अनारभ्यमाणेऽस्मिन् सूत्रे प्राचीलेखोत्पवनादेरुदीचीलेखा[1] कुटीकरणादेश्चापवर्गः प्रत्यक् दक्षिणा च स्यात्। अतस्तद्बाधनायेदमारब्धव्यमेव।

केचित्—प्राचीनां लेखानामुदगुपक्रमः, उदीचीनां च प्रागपवर्गः, अग्निपरिस्तरणवदुभयविध्यसम्भवात्[2] इति॥६॥

*** अपरपक्षे पित्र्याणि॥ ७॥ प्राचीनावीतिना॥ ८॥ प्रसव्यम्॥ ९॥ दक्षिणतोऽपवर्गः॥ १०॥**

---

* हरदत्तमते एतत्सूत्रचतुष्टयमप्येकं सूत्रम्।

१. आप. गृ. १९-१४। २. क. विध्यर्थसंभवात्।

अनु०—पितरों के लिए किए जाने वाले कर्मों को मास के उत्तरपक्ष में किया जाता है ॥ ७ ॥

टि०—इसी गृह्यसूत्र के २१ वें खण्ड में विधान किया है 'मासिश्राद्धस्यापरपक्षे" तथा 'या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद्व्यष्टकेति।' और इस प्रकार दूसरे पक्ष का निर्देश किया गया है। इस सूत्र के द्वारा गयाश्राद्ध आदि तथा काम्य पितृकर्म एवं पार्वण श्रद्धादि कर्मों के लिए भी अपरपक्ष का नियम किया गया है ॥ ७ ॥

अनु०—(दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करने वाले) प्राचीनवीती द्वारा पितृकर्म किये जाने चाहिए ॥ ८ ॥

अनु०—पितृकर्मों को दाहिने से बाएँ की ओर करे ॥ ९ ॥

अनु०—कर्मों की परिसमाप्ति दक्षिण दिशा की ओर करे ॥ १० ॥

अनाकुला

पितृदैवत्यकर्माण्यपरपक्षे कार्याणि। "मासिश्राद्धस्यापरपक्षे" (आ. प. गृ. २१-१) 'या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद्व्यष्टकेति' (आप. गृ. २१-१०) तत्रापरपक्ष उपदिष्टः। इदं तु नियमनं यानि गयाश्राद्धादीनि देशविशेषेण, पात्रविशेषेण काम्यान्युपदिष्टानि अस्माभिश्च परिगृहीतानि पार्वणे नातोऽन्यानीत्यत्र तेष्वपरपक्षप्राप्त्यर्थं च। तेन पूर्वपक्षे मृतस्यापरपक्ष एकोद्दिष्टं कर्तव्यं न त्वेकादशेऽहनि। अनुष्ठानञ्च (त्वे) कादशेऽहनि। मासिश्राद्धस्यापरपक्षविधेः प्रयोजनं तत्रैव वक्ष्यामः।

अयं चापरपक्षविधिः कृत्स्नस्योदगयनादेरपवादो न पूर्वपक्षमात्रस्य। तदा 'न च नक्तं श्राद्धं कुर्वीत' इति रात्रिप्रतिषेधोऽर्थवान्। तेन सर्वोऽपरपक्षः श्राद्धकालः पुण्याहनियमश्च तत्रानादरणीयः। प्रसङ्गञ्च पित्र्याणि कर्माणि कर्तव्यानि। उदाहरणं परिस्तरणादि। उपक्रमस्तु पूर्वस्तादुदग्वा यथायोगम्। उदाहरणं परिस्तरणादि तदिदं प्राचीनावीत्यादित्रयमविधेयम्। श्रौतेष्वेव परिभाषितत्वात्; उच्यते—'यज्ञोपवीतिना प्रदक्षिणं' 'तथापवर्गं' इत्येताः परिभाषा अविशेषेणात्र प्रकरणे पठिताः सामान्यपरिभाषाया बाधितत्वात् पित्र्येष्वपि प्राप्नुवन्ति तद्बाधार्थमिदम्।

अत्र च येषां पित्र्याणां स्वातन्त्र्येण स्वकाले प्रवृत्तिः तेषामेवायं प्राचीनावीतविधिः, नत्वन्यत्राङ्गत्वेन प्रयुज्यमानानाम्। तेन दैवेषु, मानुषेषु च कर्मसु "पितरः पितामहा" इत्यत्र यज्ञोपवीतमेव भवति।

अपर आह—"तस्मादभ्याताना वैश्वदेवा" (तै. सं. ३-४-५) इति दर्शनात् "पितरः पितामहा" इत्यस्यापि पित्र्यत्वादेव प्राचीनावीतस्याप्रसङ्गः

[1]इति। तथा "अपरपक्षे पित्र्याणी" त्यस्मिन्नधिकारे 'अभिहितं प्राचीनावीत-मविशेषेण पित्र्ये कर्मणि साङ्गे प्रवर्तते। तेन पित्र्ये आज्यभागान्ते कर्मणि, जयादौ च प्राचीनावीतमेव भवति॥ ७-१०॥

तात्पर्यदर्शनम्

कार्याणीत्येव। अयं च विधिस्स्वतन्त्रपित्र्योद्देशेन। [2]अङ्गानां तु सह-प्रयोज्यानां मुख्यकालत्वेन कालविध्यपेक्षाऽभावात्। एष च न पूर्वपक्षमात्राप-वादः। किं तर्हि? सर्वापवादार्थं विध्यन्तरम्। आः! कुत एतद्ज्ञायते? 'न च नक्तं श्राद्धं कुर्वीत' (आप. ध. २-१७-२३) इति ज्ञापनात्. [3]यदि ह्ययं पूर्व-पक्षमात्रापवादस्स्यात्, तत उदगयनादीनां त्रयाणामपवादाभावाद्रात्राववप्रसक्तेः प्रतिषेधो न स्यात्, [4]अस्ति च प्रतिषेधः, इत्यतो ज्ञायते विध्यन्तरमेवेति। प्रयोजनं त्वविशेषेण दक्षिणायनेऽप्यपरपक्षेऽह्नि काम्यश्राद्धानि कर्तव्यानीति। मासिश्राद्धं तु 'मासि मासि कार्यम्' (आप. धर्म. २-२६-४) इति [5]वीप्सया दक्षिणायनेऽपि सिद्धमेव।

नन्वस्मिन् सति 'मासि श्राद्धस्यापरपक्षे' (आप. गृ. २१-१) इति विधिः किमर्थः? । नियमार्थः। तथा हि-अपरपक्ष एव मासिश्राद्धम्, न पुनर्दैवान्मा-नुषाद्वा [6]विघातादपरपक्षेऽतिक्रान्ते "सर्वोऽपरपक्षः पूर्णमासस्य" इत्यादिवत् पूर्वपक्षेऽपि कर्तव्यम्। किन्तु प्रारब्धस्मार्तनित्यकर्मव्यापत्तौ प्रायश्चित्तमेव। तच्च 'भूर्भुवस्सुवस्स्वाहा' इत्येको होमस्सर्वप्रायश्चित्ताख्यः। 'यद्यविज्ञाता सर्व-व्यापद्वा भूर्भुवस्स्वरिति सर्वा अनुद्रुत्याहवनीय एव जुहुयात्'(ऐ. ब्रा. २५-३४) इति बह्वृचश्रुतेः। अयं चात्रौपासने, नैमित्तिकैकविधिपरश्रुतिस्थाहवनीयश-ब्दस्य न्यायतो निमित्तवत्कर्मार्थाग्निमात्रप्रदर्शनार्थत्वात्। उपवासश्च कार्यः।

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।

स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥ (मनु ११-२०३) इति मनु-

---

१. ट—विहितं।

२. पूर्वमीमांसायामेकादशाध्याये प्रथमपादे—प्रधानोपकारकत्वादङ्गानां प्रधान-फलेनैव फलवत्त्वात् प्रधानेन सहैवानुष्ठाने कर्तव्ये प्रधानस्य ये देशकालकर्त्रादयः त एवाङ्गानामपीति प्रधानानुष्ठानदेशकालाभोरेव प्रधानकर्तृभिरङ्गान्यप्यनुष्ठेयानि-इति सिद्धान्तितम्। अतश्चाङ्गभूतेषु पित्र्येषु प्रधानसम्बन्धिकालेनैवाकांक्षाशान्तेः पृथक् स्वातन्त्र्येण कालपेक्षाया अभावात् अपरपक्षविधिरयं प्रधानभूतेषु पित्र्येष्वेव भवितुमर्ह-तीति भावः। ३. ट—यदा। ४. ट—प्रतिषेधे सति च तेन ज्ञायते।

५. ट. ठ. वीप्सावशात्। ६. ट विघ्नात्।

वचनात् [1]'आतमितोः प्राणायामश्च, 'नियमातिक्रमे वान्यस्मिन्' (आप. ध. २-१२-१८) इति वचनात् ।' एतेषां समुच्चय एव न विकल्पः एकस्मिन्दोषे श्रूयमाणानि प्रायश्चित्तानि समुच्चीयेरन्' (आप. श्रौ. ९-१-२) इति दर्शितत्वात् ।

प्रसङ्गादन्येषां लोपेऽपि प्रायश्चित्तमुच्यते । एवमन्येषामपि प्रारब्धानां प्रायश्चित्तं पाकयज्ञानां व्यापत्तौ, गौणकालेऽप्यतिक्रान्ते । गौणकाले तु सर्वप्रायश्चित्तिपूर्वकं तेऽनुष्ठेयाः । औपासनहोमस्य तु बहुकालातिक्रमे अष्टभ्यो होमकालेभ्यः पूर्वं प्रत्येकं सर्वप्रायश्चित्तपूर्वकं [2]अतीता होमाः कर्तव्याः । अत्रोपवासप्राणायामयोराचारो न दृश्यते । ऊर्ध्वं तु धार्यमाणेऽप्यग्नौ 'अनुगतो मन्थ्यः' (आप. गृ. ५-१५) इत्याद्यग्न्युत्पत्तिप्रायश्चित्ते भवतः, 'चतूरात्रमहूयमानोऽग्निर्लौकिकस्सम्पद्यते' इति वचनात् । यदि पुनरालस्यादिनोत्सन्नाग्निरेव चिरकालं वर्तेत,तदा स्मृत्यन्तरतस्तत्कालानुरूपं कृच्छ्रादिकं होमद्रव्यदानं च वेदितव्यम् । स्वकाले अनारब्धानां तु पाकयज्ञानां सर्वप्रायश्चित्तं हुत्वाऽऽरम्भः कर्तव्यः ।

[3]केचित्—पाकयज्ञानां [4]स्वकालेष्वनारम्भे, आरब्धानां चाकरणे, गौणकालातिक्रमे च चतुर्गृहीतेनाज्येन सप्तहेण सप्तहोत्रा जुह्वति । यद्यपि 'सप्तहोत्रा यज्ञविभ्रष्टं याजयेच्चतुर्गृहीतेनाज्येन' (आप. श्रौ. १४-१४-११) इति श्रौतो दर्वीहोमः यज्ञविभ्रेषे युक्तः, तथापि 'एषा वा अनाहिताग्नेरिष्टिर्यच्चतुर्होतारः' (आप. श्रौ. १४-१३-२) इत्युपक्रम्य 'आहिताग्नेस्तान् प्रतीयादुभयोरितरान्' (आप. श्रौ. १४-१५-५) इत्युपसंहारात्, गार्ह्ये विभ्रेषे आहत्य प्रायश्चित्तविधानेनापेक्षितत्वाच्च तद्विभ्रेषेऽपि युक्त एवेति । तत्तु कपर्दिस्वामिनोक्तम् ।

जातकर्मादीनां तु [5]स्वकालातिक्रमे सर्वप्रायश्चित्तपूर्वकं तदनुष्ठानम् । कर्माङ्गानां तु लोपे सर्वप्रायश्चित्तं प्राणायामश्च । अनुष्ठानं चारादुपकारकाणामाकर्मसमाप्तेः । द्रव्यसंस्काराणां तु द्रव्योपयोगात् पूर्वमेव सम्भवताम् । पाकयज्ञेष्वाग्नि [6]विधौ, चोपनयने चाङ्गेव्यापत्तौ 'भुवस्स्वाहा' इति तत्त [7]त्कर्माङ्गाग्नौ होमः । 'अनाज्ञातम्' इति तिसृभिश्च होमो, जपो वा । भुवरनाज्ञातविध्यर्थयोर्विकल्पो वा, 'ब्राह्मणावेक्षो विधिः' (आप. गृ. २-११) इति 'श्रुतितस्संकारः' (आप. धर्म. २-१-८) इति श्रौतप्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थत्वात् । ननु-'भुवः' इति दक्षिणाग्नौ 'अनाज्ञातं' इति चाहवनीये । सत्यम्, इह तयोरग्न्योरभावात् नैमित्तिकानामप्यङ्गत्वेनेतराङ्गवत् प्रधानाग्नौ होमस्य युक्तत्वाच्च ।

---

१. ख ग, आतमनात् । २. छ प्रत्येकमतीताः । ३. ट अपरे । ४. ट स्वस्वकाले । ५. क स्वस्वकाला । ६. क—विधौ तूपनयने । ७. ज कर्माग्नौ ।

'केचित् सर्वेषु गार्ह्यकर्मसु तदङ्गेषु च प्रैषे 'अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्' इति न्यायेन गृह्यान्तरोक्तानि प्रायश्चित्तान्याहुः, तच्चिन्त्यम् ।

अलं प्रासङ्गिकेन । प्रकृतमुच्यते । यत्तु 'अपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान्' (आप. धर्म. २-१६-५) इति, तदपराह्णविधानार्थमनुवादः, यथा पात्नीवते 'सर्वत्रानुवषट्कारो द्विदैवत्यर्तुग्रहादित्यसावित्रपात्नीवतवर्जम्' (आप. श्रौ. १२.२४.२) इत्यनुवषट्काराभावे प्राप्तेऽपि'अपि वोपांश्वनुवषट्कुर्यात्'इत्युपांश्वनुवषट्कारविधानार्थं 'नानुवषट्करोति । अपि वोपांश्वनुवषट्कुर्यात्' (आप.श्रौ. १३-१४-९, १०) इति । 'सर्वेष्वेवापरपक्षस्याहस्सु' (आप. धर्म. २-१६-७) इति त्वहर्विशेषणार्थम् । अपरपक्षस्याहस्स्वेव मासिश्राद्धं, न पूर्वपक्षस्याहस्सु विकल्पेनाप्यभिमतमिति । इतरथा आशौचादतिक्रान्तेऽपरपक्षे—

''दैवात् पितृणां श्राद्धे तु आशौचं जायते यदि ।
आशौचेऽथ व्यतीते वै तेभ्यश्श्राद्धं प्रदीयते ॥''

इति स्मृत्यन्तरात् कदाचित् पूर्वपक्षस्याहस्स्वपि विकल्पेनेदं स्यात् । नित्यश्राद्धं तु 'एवं संवत्सरम्' (आप. ध. २-१८-१२) इति अत्यन्त[1]संयोगे द्वितीयाबलात् पूर्वपक्षेऽपि ॥ ७ ॥

पित्र्याणि कार्याणीति शेषः । इदं तु वासोविन्यासभेदविधानं स्वतन्त्रास्वतन्त्रसर्वपित्र्यार्थम्, 'प्राचीनावीतिना पित्र्याणि' इत्यनेन वाक्येन अविशेषावगमात्, उद्देश्ये पित्र्यमात्रे लब्धे[2] अधिकाप्रकृतस्वातन्त्र्यविवक्षायां वाक्यभेदापत्तेः, अङ्गेष्वपि प्राचीनावीते विधेये 'अपरपक्षे पित्र्याणि' इतिवदनपेक्षितत्वाभावाच्च । तेन यानि स्वतंत्राणि यथा प्रधानाहुतयः, यानि चास्वतन्त्राणि । यथा द्वितीयनिमार्जनादीनि, तानि सर्वाण्येव प्राचीनावीतिना कार्याणि । इत्थमेव 'यज्ञोपवीतिना' इत्यपि । तेन पित्र्याङ्गान्यपि दैवान्याघारादीनि यज्ञोपवीतिनैव । इतराङ्गानां तु पात्रप्रयोगादीनां तत्तत्प्रधानवदेव ।

केचित्—अङ्गानां प्रधानधर्मता[3] न्याय्येति पित्र्याङ्गानि दैवान्यपि प्राचीनावीतिना, दैवाङ्गानि पित्र्याण्यपि यज्ञोपवीतिनेति, तच्चिन्त्यम् ॥ ८ ॥ तथैव शेषः ॥ ९ ॥

पित्र्येषु कार्यं इति शेषः । अत्र 'प्राचीनावीतो' (आप. परि. २-१६) इत्यादिपरिभाषया एषां त्रयाणामपि सिद्धत्वात् अपाकयज्ञनित्यषोडशश्राद्धाद्यर्थो विधिः ॥ १० ॥

---

१. ट अन्ये तु । २. ज—संयोगार्थं ।
३. क—अधिकाराप्रकृत, ख, ग, छ—अधिकप्रकृत । ४. ट-कार्येति ।

निमित्तावेक्षाणि नैमित्तिकानि ॥ ११ ॥

अनु० —जो कर्म किसी विशेष अवस्था के निमित्त किए जाते हैं, उनको अवसर के अनुसार किया जाता है ॥ ११ ॥

टि०—जो नैमित्तिक कर्म हैं उन्हें संबद्ध निमित्त के उपस्थित होने पर ही करना चाहिए। उनके लिए उदगयन आदि की प्रतीक्षा नहीं की जाती। उदाहरण के लिए घर में लगे हुए खम्भे में कोंपल या अंकुर निकलने पर तत्काल कर्म करना चाहिए "अगारस्थूणाविरोहण"। कुछ लोग गृहप्रवेश को भी नैमित्तिक मानते हैं ॥ ११ ॥

अनाकुला

प्राचीनावीतिना प्रसव्यं दक्षिणतोऽपवर्ग इति पूर्वसूत्रेण सम्बन्धः। निमित्तावेक्षाणि यानि नैमित्तिकानि कर्माणि, तानि निमित्तमवेक्ष्य तदनन्तरमेव कर्तव्यानि, न तत्र उदगयनाद्यपेक्षा। "अगारस्थूणाविरोहण" (आप. गृ. २३-९) इत्युदाहरणानि। तत्रामावास्यायां निशायामिति वचनात् तावानुत्कर्षः। गृहप्रवेशनं नैमित्तिकमिति केचित्। नेत्यन्ये ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

नैमित्तिकान्याग्रयणातिथ्यसोमन्तादीनि निमित्तावेक्षाणि। निमित्तानि व्रीहिपाकादीन्येवानुष्ठानेऽवेक्षन्ते नोदगयनादीनीत्यर्थः। अत्रापि सम्भवतः पूर्वपक्षादेर्नापवादः ॥ ११ ॥

एवं प्रयोगानुबन्धं कालादिकमुक्त्वा इदानीं सर्वगार्ह्यप्रधानहोमानां साधारणतन्त्रनामानं प्राच्योदीच्याङ्गसमुदायं प्रयोज्यभेदमाह–'अग्निमिध्वा' इत्यादि 'मन्त्रसन्नामः' (आप. गृ. २-८) इत्यन्तेन।

*अग्निमिध्वा प्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति ॥ १२ ॥ प्रागुदगग्रैर्वा ॥ १३ ॥

अनु०—अग्नि को प्रज्वलित करके उसके चारों ओर कुश की घास को इस प्रकार रखकर कि उनका अग्रभाग पूर्व दिशा की ओर हो, परिस्तरण करता है ॥१२॥

अनु०—अथवा कुश के अग्रभाग को पूर्व दिशा की ओर एवं उत्तर दिशा की ओर करके रखते हुए परिस्तरण करता है ॥ १३ ॥

टि०—पाकयज्ञ की परिभाषा बताने के बाद उसकी सामान्य क्रिया का निर्देश इस सूत्र में किया गया है। यहाँ जो अग्नि प्रज्वलित करने का निर्देश किया गया है वह अग्नि कौन सी होगी? कुछ आचार्य जात कर्म से ही अग्नि के परिग्रह का

---

* सूत्रद्वयमिदं हरदत्ताचार्यैरेकसूत्रतया परिगणितम्।

विधान करते हैं। कुछ आचार्य उपनयन के समय से अग्नि का परिग्रह बताते हैं और कुछ आचार्य समावर्तन से। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही' (१-९७) अर्थात् गृहस्थ सपत्नीक विवाह के समय परिगृहीत औपासन अग्नि में प्रतिदिन स्मार्त कर्म करे। इस प्रकार पाकयज्ञ, सीमन्त आदि स्मार्त कर्म औपासन अग्नि में ही करने चाहिए। श्राद्ध के विषय में तात्पर्यदर्शनकार ने यह निर्देश किया है कि अनुपनीत पुत्र भी अधिकारी होता है। इस सूत्र में 'अग्निमिद्ध्वा' आदि का अभिप्राय यह है कि अग्नि के पहले से जलते रहने पर भी उसमें ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित करे ॥ १३ ॥

अनाकुला

उक्ताः पाकयज्ञपरिभाषाः। अथ तेषां साधारणतन्त्रं वक्ष्यते—अग्निमिध्वेति। तदग्नेरुपसमाधानमित्युच्यते। एतच्च कर्माङ्गम्। कः पुनरत्राग्निः? पत्नीसम्बन्धेष्वौपासनम्। अन्यत्र लौकिकः, केचिज्जातकर्मप्रभृति परिग्रहमग्नेरिच्छन्ति। अन्ये पुनः उपनयनप्रभृति। अपरे समावर्तनादि। "यत्रान्त्यां समिधमादध्यात् तं वा परिगृह्णीया" दिति। यत्र तु प्रसिद्धोऽग्निर्नास्ति तत्र श्रोत्रियागारादाहरणं मथनं वा। "यत्र क्वचाग्नि" मित्ययं तु देशसंस्कारः सर्वत्र भवति यदि स्यादसंस्कृतो देशः। केचिद्देशसंस्कारं कर्माङ्गमिच्छन्ति। तदा धारणमग्नेरुखायामाहुः। अग्निमिध्वेति। प्रकृते पुनरग्निग्रहणं येषु तन्त्रं न प्रवर्तते, तत्रापि परिस्तरणं यथा स्यादिति—अग्निं परिस्तृणाति सर्वमेवेति। उपसमाधानं तु तत्रार्थसिद्धम् ॥१२॥ प्रागुदगग्रैर्वा। अथ वा न सर्वतः प्रागग्रैरेव परिस्तरणं किंतर्हि प्रागग्रैरुदगग्रैश्च। तत्रोदगग्राः पश्चात्पुरस्ताच्च॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्र च अग्निपदार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं स्मार्तेष्वग्निर्निरूप्यते। तत्र याज्ञवल्क्यवचनम्—

'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही' ॥ (या. स्मृ. १-९७) इति। अस्यार्थः— गृही गृहस्थः सपत्नीकः स्मार्तं कर्म विवाहाग्नौ—औपासनाग्नौ कुर्वीत। यस्य कर्मणः प्रयोगे संकल्पावघातान्वारम्भद्रव्यत्यागानुमत्यादिपदार्थद्वारा पत्न्यास्सहत्वम्, तत् कर्म स्वौपासने कुर्वीत इत्येतत्। अथ वा यस्य अग्निसाध्यस्य कर्मणः फलं साक्षात् कर्मान्तरप्रणाडथा वा जायापतिगाम्यन्यतरगामि वा भवति, तत्कर्म गृही स्वौपासने कुर्यात्, 'कुर्वीत' इत्यात्मनेपदश्रवणादिति।

एवं च स्मार्तानि पाकयज्ञसीमन्तादीनि औपासनाग्नौ कर्तव्यानि। गृहप्रवेशोऽपि तत्कर्मजन्यवास्तुशान्तेः जायापत्यायुराद्यर्थत्वादौपासन एव। तथा पित्रादेर्मातामहादेश्च सपिण्डीकरणमप्यौपासने। सपिण्डीकरणफलस्य

प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्वप्राप्तिरूपस्याभ्युदयिकमासिश्राद्धादौ सम्प्रदानार्थत्वात्, तत्फलस्य च जायापतिगामित्वादिति ।

अत एव सपिण्डीकरणं सर्वैरपि पुत्रैर्न कर्तव्यम्, एकेनापि कृते पितृतया सम्प्रदानत्वसिद्धेः । अतो यत्र पत्न्यास्सहत्वं क्रियाफलं वा जायापतिगामि, तत्कर्म[1] औपासन एव । यदि तु पुत्रोऽनग्निरनुपनीतादिः संवत्सरे पूर्णेऽवश्यं कर्तव्यत्वात् सपिण्डीकरणं करोति, तदा श्रोत्रियागारादाहृतेऽग्नौ; बोधायनेन 'अथ वा श्रोत्रियागारादेव तमौपासनम्' (बौ. गृ. ६-२) इत्यौपासनसंस्तवात्, आचाराच्च । अनुपनीतोऽपि पुत्रश्श्राद्धाधिकार्येव ।

'अर्हत्यनुपनीतोऽपि विनाप्यग्निं विनाऽऽपदम्, ॥ (मनु. २-१७२) इति वचनात्, 'न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्' (गौ. ध. २-५) इति गौतमवचनस्थस्वधाशब्दस्य सकलौर्ध्वदैहिकप्रदर्शनार्थत्वाच्च ।

'भ्राता वा भ्रातृपुत्रो वा सपिण्डश्शिष्य एव वा ।
सपिण्डीकरणं कृत्वा कुर्यादभ्युदयं ततः' ॥

इति वचनात् यदा भ्रातृपुत्रादिः करोति, तदा यथोक्तसहत्व-फलभागित्वयोरभावात् श्रोत्रियागारादाहृताग्नावेव ।

अन्ये तु—भ्रात्रादिगतपितृत्वप्राप्तिरपि पुत्रगतपूतत्वादिफलवत् पतिगामि फलमित्यौपासने; तच्चिन्त्यम् ।

तथा जातकर्मचौलोपाकरणसमापनगोदानसमावर्तनान्यपि । तथोपनयनमपि । आचार्यकरणसिद्ध्यर्थमुपनयनमिति[2] मतेऽपि नाचार्यस्यौपासने । तस्य नित्यधार्यत्वात् 'त्र्यहमेतमग्निं धारयन्ति' (आप. गृ. ११. २०) इति सूत्रविरोधात् । विवाहोऽप्यस्मिन्, निर्मन्थ्ये वा, असम्भवाद्विवाहजन्यौपासनस्य । सम्भवेऽपि प्रथमौपासनस्य, न तस्मिन् द्वितीयादिविवाहः; यां कामयेत राष्ट्रमस्यै प्रजा स्यादिति तस्या औपासने' इति प्रतिभार्यामौपासनभेदावगमात्, बौधायनीये अग्निद्वयसंसर्गविधानात्, आचाराच्च । कर्मार्थस्यौपासनस्य संस्कृते देशे, अनुपसमाहितस्यान्यस्य वाग्नेः, 'यत्र क्व चाग्निम्' (आप. ध. २-१-१३) इति धर्मशास्त्रोक्तविधिना अग्निप्रतिष्ठापनं कर्तव्यम् ।

केचित्—इदं नाग्न्यङ्गं, कर्माङ्गमेवेति प्रतिकर्म कार्यम्, उद्वायां चाग्नेर्धारणमिति ।

अथ सूत्रं व्याख्यायते । अग्निमिध्वा—इन्धीतेत्यर्थः । यद्यप्यर्थप्राप्तमग्नेरिन्धनं तथाप्येतद्वचनात् इद्धमपि पुनरिन्धीत । अत्र विध्यर्थे लिङादौ ग्राह्ये क्त्वाग्रहणमिन्धनस्य परिस्तरणपूर्वकालतानियमार्थम् । तेन इन्धनानन्तरं

१. ट ठ स्वौपासने । २. क सिध्यङ्ग । ग. ङ विध्यङ्गं, घ विध्यर्थे ।

परिस्तरणमेव कार्यम्, न तु तयोर्मध्येऽवश्यकार्यमपि सूत्रनिरसनादि कर्मार्थ-सँभारोपकल्पनं च।

नन्वेकस्मिन् सूत्रे इन्धनपरिस्तरणयोर्विधाने वाक्यभेदस्स्यात्; सत्यम्, न तु सूत्रे वाक्यभेदो दोषः; सूचनात् सूत्रमिति निर्वचनात्। इत्थमेव व्याख्यानं प्रयोजनं च सर्वत्र क्त्वाग्रहणेषु। प्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति। सर्वासु दिक्षु प्रागग्रैः कुशैरग्निं परिस्तृणाति ॥ १२ ॥

अथ वा प्रागग्रैरुदगग्रैश्च दर्भैरग्निं परिस्तृणाति। दक्षिणत उत्तरतश्च प्रागग्रैः, पश्चात् पुरस्ताच्चोदगग्रैः, 'उदगग्राः पश्चात्पुरस्ताच्च' (आ. प० श्रौ० १-१४-१५) इति श्रौते दर्शनात्। एतान् कुशान् दक्षिणानुत्तरान् करोति, उत्तरांश्चाधरान्;[1] बौधायनभरद्वाजगृह्याभ्यामुक्तत्वात्। दक्षिणतः पश्च उपरिष्टाद्भवत्यधस्तादुत्तरः' इति। अत्र 'अग्निमिद्ध्वा' इति प्रकृतेऽप्यग्नौ, 'अग्निम्' इति पुनर्वचनं नियमार्थम्—अग्निमेव परिस्तृणाति नान्यद्[2] ङ्गमपीति। तेन उत्तरेण पूर्वेण वा निहितमुदकं बहिरेव भवति।

केचित्—[3]अतन्त्रकेष्वपि कर्मस्वग्निः परिस्तीर्य एवेति नियमार्थमिति ॥ १३ ॥

*दक्षिणाग्रैः पित्र्येषु ॥ १४ ॥ दक्षिणा प्रागग्रैर्वा ॥ १५ ॥

अनु०—पित्र्यकर्मों में दक्षिण की ओर अग्रभाग वाले कुशों से परिस्तरण करे ॥ १४ ॥

अनु०—अथवा दक्षिण एवं पूर्व की ओर कुशों का अग्रभाग रखते हुए उनके द्वारा परिस्तरण करे ॥ १५ ॥

अनाकुला

पितृदैवत्येषु कर्मसु दक्षिणाग्रैः परिस्तरणम् ॥ १४ ॥ अथवा दक्षिणाग्रैः प्रागग्रैः। तत्र दक्षिणाग्राः पश्चात् पुरस्ताच्च ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पित्र्येषु मासिश्राद्धादिषु कर्मसु सर्वासु दिक्षु दक्षिणाग्रैः परिस्तृणाति ॥१४॥ यद्वा दक्षिणाग्रैः प्रागग्रैश्च दर्भैः। पश्चात्पुरस्ताच्च दक्षिणाग्रैः, उत्तरतो दक्षिणतश्च प्रागग्रैः। उत्तरानुत्तरान् दक्षिणांश्चाधरान् कुर्यात्। तथा प्रागुपक्रम्य प्रसव्यं परिस्तृणाति ॥ १५ ॥

उत्तरेणाग्निं दर्भान् संस्तीर्य द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति देवसंयुक्तानि ॥ १६ ॥

---

१. दक्षिणानुत्तरानुत्तरानधरान् यदि प्रागग्राः इति बोधायनः।

२. ट ठ-अन्यङ्ग। ३. ट अतन्त्रकेषु। *सूत्रद्वयमप्येकं सूत्रं हरदत्तमते।

अनु०—(परिस्तरण क्रिया के बाद) अग्नि के उत्तर की ओर कुशों को फैलाकर उनके ऊपर दर्व्वी आदि पात्रों को उलटा करते हुए देवों के लिए अभिप्रेत कर्म होने पर दो-दो करके रखे ॥ १६ ॥

अनाकुला

परिस्तरणानन्तरं अग्नेरुत्तरतः पात्रप्रयोगार्थं[1] दर्भान् प्रागग्रान् संस्तृणाति। प्रथितं स्तरणम्। प्रयुनक्ति—सादयति। न्यञ्चि—न्यग्भूतानि। सर्वाणि च द्रव्याणि प्रयोजनवन्ति पात्रग्रहणेन गृह्यन्ते। तेनोपनयनादौ मेखलादीनामपि सादनं भवति। तत्र यानि देवसंयुक्तानि तानि द्वन्द्वं प्रयुनक्ति। द्वे द्वे इत्यर्थः। पार्वणादीनि देवकर्माणि। अग्निग्रहणमनर्थकमविकृतत्वात् अग्निमिध्वेति। ज्ञापकार्थं चैतत् ज्ञापयति-अग्निपरिस्तरणे विहितोऽयं पात्रप्रयोगे नानुवर्तते इति। कदा पुनरसौ? दर्भाग्रविशेषस्तन्त्राभावे प्रवृत्तिश्च। तेन पित्र्येष्वपि प्रागग्राणामेव संस्तरणं अग्नेश्चोत्तरतः तन्त्राभावे च पात्रप्रयोगाभावात्। अधिकारादर्वाग्निप्रतिपत्तावेव। तदप्युभयं प्रतिपत्तव्यं स्यात् अधिकारादेव ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्नेरुत्तरतोऽदूरेण दर्भान् संस्तृणाति। एते च प्रागग्राः,[2] बौधायनगृह्यात्। प्रथितं च स्तरणम्, समुपसर्गात्। उदक्च स्तरणापवर्गः। पित्र्येष्वप्यग्नेरुत्तरत एव प्रागग्रैः,[3] 'उत्तरत उपचारो विहारः, (आप. प. २-१०) इति सिद्धेऽपीहाप्युत्तरेणेति वचनात्, प्रकृतेऽप्यग्नौ' अग्निम्' इत्यधिकशब्दस्य अधिकार्थपरत्वस्य युक्तत्वात्, परिस्तरणवद्विशेषस्यानुक्तेश्च। अपवर्गस्तु दक्षिणत एव। देवसंयुक्तानि—देवकर्मसंयुक्तानि। पात्राणि—दर्व्यादीनि। द्वन्द्वं—द्वे द्वे। न्यञ्चि अधोबिलानि। प्रयुनक्ति—सादयति।

ननु—उत्तरत्र 'मनुष्यसंयुक्तानि' 'पितृसंयुक्तानि' इति विशेषणेनैव सिद्धत्वात् 'देवसंयुक्तानि' इति व्यर्थम्। न; दैवानि हि कर्माणि द्विविधानि-पुरुषार्थरूपाणि, मनुष्यसंस्कारकाणि च। तत्रोभयत्रापि दैवपात्राणां दध्यादीनां द्वन्द्वतासिद्ध्यर्थत्वात् ॥ १६ ॥

तत्र मनुष्यसंस्कारकर्मार्थेषु केषुचित् पात्रेष्वपवादमाह—

सकृदेव मनुष्यसंयुक्तानि ॥ १७ ॥

अनु०—मनुष्यों के लिए अभिप्रेत कर्म होने पर पात्रों को एक-एक ही रखे, (दो-दो करके नहीं) ॥ १७ ॥

---

१. धर्म। २. उत्तरेणाग्निं प्रागग्रान् दर्भान् संस्तीर्य इति (बौ.गृ,१-४) बौधायनः।
३. ख ग इतियुक्त

टि०—मनुष्यसंयुक्त कर्म है विवाह आदि। ऐसे कर्मों में पात्रों की संख्या अधिक होती है, अतः दोनों बाहुओं से पात्रों को न रखकर एक-एक करके रखा जाता है ॥ १७ ॥

अनाकुला

यानि मनुष्यसंयुक्तानि पात्राणि तानि सकृदेव प्रयुनक्ति, न द्वन्द्वम्। मनुष्यकर्माणि विवाहादीनि। एवकारः क्रियाभ्यावृत्तिनिषेधार्थः। पात्रबाहुल्यात् द्वाभ्यां बाहुभ्यां सादनाशक्तावप्युपायेन सकृदेव सादनमिति। केचित् मेखलादीनामेव मनुष्यसंयुक्तानां सकृत् प्रयोगमिच्छन्ति, न होमार्थानाम्। वयं तु मनुष्यसंयुक्तानि मनुष्यकर्मसंयुक्तानीत्यवोचाम ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

मनुष्यसंयुक्तानि मनुष्यद्वारा संयुक्तानि अश्मवासोमेखलादीनि सकृदेव क्रियाभ्यावृत्तिपरिहारेण प्रयुनक्ति, पात्रबहुत्वेऽप्युपायेन।

केचित्—मनुष्यसंस्कारकर्मसु दर्व्यादीन्यपि सकृदेवेति ॥ १७ ॥

एकैकशः पितृसंयुक्तानि ॥ १८ ॥

अनु०—पितृकर्मों में भी पात्रों को एक-एक ही रखे ॥ १८ ॥

अनाकुला

यानि पितृकर्मसंयुक्तानि तान्येकैकशः प्रयुनक्ति। एकमेकमित्यर्थः ॥१३॥

तात्पर्यदर्शनम्

पितृकर्मार्थानि दर्व्यादीनि, स्वधापात्रादीनि च एकमेकं प्रयुनक्ति ॥१८॥

पवित्रयोस्संस्कार आयामतः परीमाणं प्रोक्षणीसंस्कारः पात्रप्रोक्षणं इति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् ॥ १९ ॥

अनु०—दोनों पवित्रों का (दो कुश जिनके अग्रभाग तृण या काष्ठ से काटे गये हों, नाखून से नहीं) निर्माण, उनकी लम्बाई, प्रोक्षणी जल तथा पात्रों का प्रोक्षण—ये वैसे ही होंगे जैसे दर्शपूर्णमासयज्ञ में रहते हैं और इन सब क्रियाओं को मौन रहकर ही किया जाता है ॥ १९ ॥

टि०—जिस प्रकार दर्शपूर्णमास में दोनों पवित्रों का संस्कार चुपचाप किया जाता है उसी तरह यहाँ भी पवित्रों को चुपचाप, बिना मन्त्र के संस्कृत किया जाता है। दर्भ को नख से न काटकर बीच में दूसरा तृण या काष्ठ लगाकर काटा जाता है। उसे मूल से लेकर अग्रभाग तक जल से पोछा जाता है। दोनों पवित्रोंकी लम्बाई उतनी ही होती है जितनी दर्शपूर्णमास में पवित्रों की लम्बाई होती है। मोटाई के बारे में समानता का निर्देश नहीं है। संख्या के विषय में भी समानता का निर्देश नहीं है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। दर्शपूर्णमास में इक्कीस काठ के ईन्धन होते हैं। प्रोक्षणी संस्कार यहाँ भी उसी प्रकार बिना मन्त्र के होता है जिस

प्रकार दर्शपूर्णमास में। पात्रों को सीधा करके हाथ में पवित्र धारण करके तीन बार उनका प्रोक्षण किया जाता है ॥ १९ ॥

अनाकुला

पवित्रयोस्संस्कारः तृणं काष्ठं वेत्येवमादिः। तयोरायामतो यत् परीमाणं दीर्घप्रमाणं प्रादेशमात्रा (आप. श्रौ. १-११-९) वित्येतत्। प्रोक्षणीसंस्कारः "पवित्रान्तर्हितायामग्निहोत्रहवण्या" (आप. श्रौ. १-११-९) मित्यादि। तत्राग्निहोत्रहवण्या इहाभावात् पात्रान्तरं प्रापयते। उत्तानानि पात्राणि इत्यादि पात्रप्रोक्षणम्। तदेतत् पदार्थचतुष्टयं दर्शयति। दर्शपूर्णमासयोरिवात्रापि कर्तव्यम्। तूष्णीमिति मन्त्रप्रतिषेधः। यथा प्रोक्षणे पात्राणामुक्ता क्रिया विस्रंसनञ्चेध्मस्य तदन्तर्भावादेव सिद्धम्। इदं तु वचनं नियमार्थम्—पवित्रयोरेवायामतः परीमाणं यथा स्यात् इध्मस्य दर्भाग्रयोश्चाज्ये प्रत्यस्यमानयोर्मा भूदिति। कथं पुनस्तत्र प्रसङ्गः? एतदेव ज्ञापयति–भवत्यत्रापि दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीं संस्कार इति। आयामग्रहणमायामपरिमाणस्यैव च पवित्रयोर्नियमेन यथा स्यात्तेन संख्यापरीमाणं दार्शपूर्णमासिकमेवेध्मस्य भवति। तेनात्राविद्यमानेष्वनूयाजेषु न एकविंशतिदारुरिध्मो भवति। उपहोमास्त्वनूयाजार्थे भवन्ति ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पवित्रयोस्संस्कारो दर्शपूर्णमासाभ्यां तुल्यं मन्त्रवर्जं कार्यः। समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे कुरुते, तृणं काष्ठं वाऽन्तर्धाय छिनत्ति, न नखेन। ततोऽप उपस्पृशेत्। 'रौद्रराक्षस' (आप. प. २-९) इति वचनात्। ततस्तयोर्मूलमारभ्याऽग्रादद्भिर्मार्जनम्। तयोश्चायामतः परीमाणं दर्शपूर्णमासवदेव। यद्यपि 'पवित्रयोस्संस्कारो दर्शपूर्णमासवत्' इति वचनादेव तद्वदायामतः परीमाणं प्राप्तम्, तथापि यदायामतः परीमाणं प्रादेशमात्राविति तदेव तद्वत्, न त्विह पृथुत्वेनापि साम्यमित्येवमर्थं 'आयामतः परीमाणम्' इति पुनर्वचनम्।

केचित्—पवित्रयोरेवायामतः परीमाणं दर्शपूर्णमासवत्, न त्विध्मस्य दर्भाग्रयोश्चाज्ये प्रत्यस्यमानयोरिति नियमार्थं पुनर्वचनम्। एवं ब्रुवतैव सूत्रकारेण दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीमिध्मस्य दर्भाग्रयोश्च संस्कारः प्रसिद्धवदभ्यनुज्ञातः। तथैव चाचारः। तेन खादिरः पालाशो वा शुल्वसन्नद्ध इध्मो विस्रस्य त्रिः प्रोक्षितव्यः। पार्वणे च पूर्वेद्युस्सन्नद्धव्यः। दर्भाग्रे च 'तृणं काष्ठं वा' (आप. श्रौ. १-११-७) इत्यादिविधिना संस्कृत्याज्ये प्रत्यसितव्ये। अत्र च यद्यप्ययमर्थः 'आयामतः' इति वा 'परिमाणं' इति वान्यतरेण सिद्धः, तथापि नियमान्तरार्थमेवमुक्तम्। आयामत एव यत्परिमाणं तदेव पवित्रयोः

दर्शपूर्णमासवत्, न संख्यातः परिमाणम्। तेनेध्मस्य संख्यापरिमाणं दर्शपूर्णमासवत्, न संख्यातः परिमाणम्। तेनेध्मस्य संख्यापरिमाणं दार्शपूर्णमासिकमेव 'एकविंशतिदारुमिध्मम्' (आप. श्रौ. १-५-६) इति; आयामस्यैव पवित्रयोर्नियमितत्वात्। यद्यप्यनूयाजाभावादेकविंशत्या न कार्यम्; तथाप्येतद्बलात्तत्स्थाने जयादयः कल्प्याः—इत्ययुक्तं[1] भूयिष्ठं च पूर्वव्याख्यानेनान्यथासिद्धेऽपि सूत्रे कल्पयन्ति।

प्रोक्षणीसंस्कारोऽपि दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम्। उदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां अन्तर्हितायां वैकङ्कत्यां स्रुच्याप आनीय ताभ्यां त्रिरुत्पूय प्रोक्षेत्। पात्रप्रोक्षणमपि तद्वत्तूष्णीम्। उत्तानानि पात्राणि कृत्वेध्मं च विस्रस्य ताभिस्सपवित्रेण पाणिना त्रिः प्रोक्षेत्॥ १९॥

अपरेणाग्निं पवित्रान्तर्हिते पात्रेऽप आनीयोदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूय समं प्राणैर्हृत्वोत्तरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा दर्भैः प्रच्छाद्य॥ २०॥

अनु०—(पात्रप्रोक्षण के बाद) अग्नि के पश्चिम की ओर दोनों पवित्रों से ढंके हुए पात्र में जल लाकर उत्तर की ओर अग्रभाग वाले दो पवित्रों से जल को तीन बार पवित्र करे, उसे मुख तथा नासिका की ऊँचाई तक उठाकर अग्नि के उत्तर की ओर कुशों के ऊपर रखकर कुशों से ही उसे ढंक दिया जाता है॥ २०॥

टि०—तात्पर्यदर्शन के अनुसार उस जल को, जो प्रणीता का जल होता है, मुख और नाक की ऊंचाई तक उठाने के बाद अग्नि के उत्तर फैलाये गये दर्भों पर रखा जाता है। 'अपरेणाग्निम्' से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि दूसरे पात्र से, अतः सूत्र में दुबारा 'उत्तरेणाग्निम्' का प्रयोग किया गया है॥ २०॥

अनाकुला

पात्रप्रोक्षणानन्तरमपरेणाग्निं प्रणीतार्थे पात्रे पवित्रं निधाय तस्मिन्नुदगग्रे पवित्रे अन्तर्धायाप आनीय पवित्राभ्यां उदगग्राभ्यां त्रिरुत्पुनाति प्रागपवर्गम्। अग्निग्रहणं पात्राधिकारात्। [2]अंगुष्ठोपकनिष्ठाभ्यामुत्तानाभ्यां पाणिभ्यामिति दृष्टो विशेषः। उत्पूय ता अपस्समं प्राणैर्हरति। मुखेन तुल्यमित्यर्थः। हृत्वो-

---

❀ अग्नयः पात्राणि च यस्मिन् विह्रियन्ते स विहारः। उपचारः क्रिया। अनिर्दिष्टदेशाः क्रिया विहारस्योत्तरतः कार्या इत्यर्थः। इयं च १५ पृष्ठस्थ १६ संख्यासंबधिसूत्रस्य टिप्पणीति बोध्यम्। १. इति युक्तं।

२. अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामुत्तानाभ्यां पाणिभ्यां "सवितुष्ट्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण वसोस्सूर्यस्य रश्मिभिरि"ति प्रागुत्पुनाति (आश्व. गृ. १-३-३) इत्याश्वलायनः।

त्तरेणाग्निं दर्भेषु संस्तीर्णेषु सादयति । अग्निग्रहणं पात्रैर्व्यवधानं मा भूदिति । सादयित्वा दर्भैः प्रच्छादयति । सर्वञ्चैतत् पवित्रहस्तः करोति ॥१५॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्नेरदूरेण पश्चात् पवित्रान्तर्हिते कस्मिंश्चित् पात्रेऽप आनीयोदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पुनाति । अत्र प्रकृतयोरपि पवित्रयोः पुनर्ग्रहणात् पाण्योः प्रागग्रत्वमाचारसिद्धं 'अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामुत्तानाभ्यां पाणिभ्याम्' (आश्व. गृ. १-३-३) इत्याश्वलायनोक्तं[1] च ज्ञापितम् । ततस्ता अपस्समं प्राणैर्हृत्वा प्राणस्थानाभ्यां मुखनासिकाभ्यां सममुद्धृत्य उत्तरेणाग्निं पुनस्तीर्णेषु दर्भेषु सादयति, 'दर्भेषु' इति [2]वचनात् । अन्ये पूर्वस्तीर्णेषु । ततो दर्भैः प्रच्छादयेत् । अत्र 'अपरेणाग्निम्' इत्यग्निग्रहणं पात्राणामपरेण मा भूदिति । 'उत्तरेणाग्निम्' इति तु पात्रव्यवधाननिवृत्त्यर्थम् ॥ २० ॥

ब्राह्मणं दक्षिणतो दर्भेषु निषादय ॥ २१ ॥

अनु०— अग्नि के दक्षिण ओर कुशों पर किसी ब्राह्मण को बैठावे ॥ २१ ॥

टि०—इस सूत्र में अग्नि के दक्षिण किसी ब्राह्मण को बैठाने का विधान किया गया है, दर्शपूर्णमास में दक्षिण ओर ब्रह्मन् ऋत्विज बैठता है किन्तु यहाँ ब्रह्मन् से अभिप्राय नहीं है । सामवेदियों में ब्रह्मन् ही दक्षिण ओर बैठता है ॥ २१ ॥

अनाकुला

प्रकृतत्वादग्नेः दक्षिणतः । तत्रापरेणाग्निं दक्षिणातिक्रम्य तूष्णीं तृणं निरस्योपवेशनमिच्छन्ति । अग्रेणाग्निं परीत्यान्ये । 'हौत्रब्रह्मत्वे स्वं कुर्वन् ब्रह्मासनमुपविश्य चि (छ) त्रमुत्तरासङ्गं कमण्डलुं वा तत्र कृत्वाथान्यत् कुर्या- (खा० सू० १-१-२६) दिति कल्पान्तरम् । कृताकृतमाज्यहोमेषु परिस्तरणम् । तथाज्यभागौ वा ब्रह्मा चेदा (त्या) श्वलायनः ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निमिध्वेति प्रकृतत्वात् अग्नेर्दक्षिणतो दर्भेषु कंचिद्ब्राह्मणमुपवेशयेत् । न तु दर्शपूर्णमासवद्ब्रह्माणं, समानविधानवचनानां चोदनालिङ्गानि विनात्र तदीयस्य ब्रह्मणः प्राप्त्यभावात्, 'ब्राह्मणं दक्षिणतो दर्भेषु निषाद्य' इति कृत्स्न-विधानाच्च । तेनात्र ब्रह्मधर्माः वरणतृणनिरसनादयो न कर्तव्याः । पितृभूतर्त्विक्पक्षेऽपि यः पितुर्ब्रह्मा स एवात्र निषाद्यत [3]इति नियमो नास्ति ।

अन्ये तु—श्रौते ब्रह्मा दक्षिणेनाग्निं दर्भेषु निविष्टो दृष्टः । तथैव बह्वृ-

---

१. ट ठ-आश्वलायनसूत्रं च । २. ख ग ङ ट-वचनात् अन्येषु पुनस्तीर्णेषु । ३. ज-निषाद्य इ. ।

चनां छन्दोगानां च गृहे [1]ब्रह्मेत्येव चोदितः। अतोऽत्रापि 'ब्राह्मणं दक्षिणत' इति लक्षणया ब्रह्मैव चोद्यते। तेन सम्भवन्तो ब्रह्मधर्मा इहापीति। तन्न, स्वगृह्यस्थस्य ब्राह्मणशब्दस्य श्रुत्यर्थत्यागेन परगृह्याल्लक्षणाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। न च दक्षिणतो निषादिनस्य ब्राह्मणमात्रस्य ब्रह्मत्वं सूत्रकारस्येष्टम्। यदि हि तथा स्यात्, 'यं ब्राह्मणं विद्यां विद्वांसं यशो नर्च्छेत्' (आप. श्रौ. १४-१३-७) इत्यत्राल्पैरेवाक्षरैः 'ब्रह्मणे वरं ददाति' इति ब्रूयात्, न पुनस्त्रिगुणैः 'यो दक्षिणत आस्ते तस्मै वरं ददाति' (आप. श्रौ. १४-१३-९.) इति। सम्भवतां धर्माणां प्राप्तौ मन्त्राणामपि प्राप्तिर्दुर्वारा। 'ब्राह्मणं दक्षिणतो निषाद्य' इत्यत्रानुक्तानां मन्त्रादीनां परिसंख्येयं चेति वदतां चोक्तरीत्या स्वार्थपरत्वे सम्भवति [2]दोषत्रययुक्तपरिसंख्याश्रयणं निर्हेतुकम्॥ २१॥

आज्यं विलाप्यापरेणाग्निं पवित्रान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यामाज्यं निरुप्योदीचोऽङ्गारान्निरूह्य तेष्वधिश्रित्य ज्वलतावद्युत्य द्वे दर्भाग्रे प्रत्यस्य त्रिः पर्यग्नि कृत्वोदगुद्वास्याङ्गारान् प्रत्यूह्योदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां पुनराहारं त्रिरुत्पूय पवित्रे अनु प्रहृत्य॥ २२॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यसूत्रे प्रथमखण्डः समाप्तः॥

अनु०—आज्य को पिघला कर अग्नि के पश्चिम की ओर, आज्यस्थाली में डाले जिसके ऊपर पहले ही दो पवित्र रखे हुए होते हैं, यज्ञ की अग्नि में से जलते अङ्गार निकालकर अग्नि के उत्तर में रखे, और उन अङ्गारों के ऊपर आज्य रखे, जलते हुए तृणकी नीचे की ओर निकलने वाली लपट से उसे द्योतित करे; दो कुशों के अग्रभाग को (तृण आदि बीच में रखकर) काटकर (जल से स्पर्श कराके) उन दोनों को (एक ही साथ उस आज्य में) डाल दे' उसके बाद एक उल्क (छोटी लुकारी) तीन बार उसके चारों ओर घुमावे, उसे अग्नि की ओर से उत्तर की ओर घुमावे (पहले निकालकर रखे गये) अङ्गारों को फिर अग्नि में मिला देना चाहिए। फिर (पहले की तरह) दो पवित्रों द्वारा, जिनके अग्रभाग उत्तर दिशा की ओर होने चाहिए, तीन बार पवित्रों को आगे से पीछे की ओर ले जाते हुए आज्य को पवित्र (उत्पवन) करे और पवित्रों को अग्नि में फेंक दे॥ २२॥

---

१. तत्रर्त्विक् ब्रह्मा सायंप्रातर्होमवर्जम् (खा. गृ. १-१-२१) इति खादिरः। ब्रह्मा च धन्वन्तरियज्ञशूलगववर्जम् (आश्व गृ. १-३-६) इत्याश्वलायन।

२. द. दोषत्रयोपेत. परिसंख्यायास्त्रैदोष्यं च स्वार्थहानिः परार्थस्वीकारः, प्राप्तबाधश्चेति।

टि०—निरूहण का अर्थ है पृथक् करना। दो दर्भाग्रों को जो पवित्र की तरह ही बनाये जाते हैं, आज्य में डाला जाता है। अग्निहोत्र कर्म में भी दो दर्भाग्र होते हैं। आज्य के चारों ओर जलती हुई अग्नि का उल्क तीन बार घुमाया जाता है। उपर्युक्त दर्भाग्रों के परिमाण का संकेत नहीं किया गया है ॥ २२ ॥

अनाकुला

अथाज्यसंस्कारः। तत्र विलापनमाज्यस्य यस्मिन्कस्मिंश्चिदग्नौ भवति उत्तरत्राज्यग्रहणात्। निर्वापः आनयनम्। पुनराज्यग्रहणमनाधारेऽपि कर्मणि संस्कारः आज्यस्य यथा स्यात्। आज्यं सर्वत्र निरुह्य जुहोतीति। निरूहणं पृथक्करणम्। उद्गवचनं पित्र्येष्वपि यथा स्यात्। एतेनोद्वासनं व्याख्यातम्। अवद्योतनं ज्वलता तृणेनावदीपनम्। तत्र द्वे दर्भाग्रे पवित्रवत्संस्कृत्याज्ये प्रत्यस्यति प्रक्षिपति। द्वे ग्रहणमेकं वेत्यस्याग्निहोत्रदृष्टस्य विकल्पस्य प्रतिषेधार्थम्। तेनाग्निहोत्रिकेऽपि तन्त्रे द्वे एव दर्भाग्रे भवतः। ततस्तदाज्यं त्रिः प्रदक्षिणं पर्यग्नि करोति आज्यस्य सर्वतोग्निं त्रिरावर्तयति तृणेनोल्मुकेन वा। तत्र पित्र्येष्वपि प्रदक्षिणं पर्यग्निकरणमिच्छन्ति। उद्वासनं निर्हरणम्। प्रत्यूहनमग्निना संसर्जनम्। पुनराहारं पुनराहृत्य। त्रीण्येतानि उत्पवनानि प्रत्यवनानि प्रत्यगपवर्गाणि। अनुप्रहरणमग्नौ प्रकरणात् [1]'विस्रस्याद्भिस्संस्पृश्ये'ति कल्पान्तरात् ॥ १७ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्ता-
वनाकुलायां प्रथमः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यद्यपि 'सर्पिराज्यं प्रतीयात्' (आप. प. १-२५) इति परिभाषासिद्धं विलापनं, तथापि विलीनमप्याज्यं होमार्थेऽग्नौ कर्मार्थं पुनर्विलापयेत्। ततोऽग्नेः पश्चात् स्थापितायां पवित्रान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यां तदाज्यमानयेत्। 'आज्यं विलाप्य' इति प्रकृतेऽपि पुनराज्यग्रहणमाज्यस्यैव निर्वापादयः न पुनः 'दध्न एवाञ्जलिना जुहोति' (आप. गृ. २२-१०) इत्यत्र[2] पशुप्रभवस्य होमद्रव्यत्वेऽपि[3] यदीयतदीयन्यायाद्दध्नो भवेयुरित्येवमर्थम्।

केचित्—अतन्त्रकेऽपि कर्मण्याज्यं निर्वापादिभिस्संस्कार्यमित्येवमर्थमिति। अग्निमित्यग्नेरेव पश्चात् न ब्राह्मणस्येति। केचित्तु—अन्यस्मिन्नग्नौ विलापनं, होमार्थाग्नेरेव पश्चान्निर्वाप इत्येवमर्थमिति ॥

---

१. विस्रस्य पवित्रे अद्भिस्संस्पृश्याग्नावनुप्रहरतीति (बौ. गृ. १-६-११) बौधायनः।
२. ङ. ज.-पशुप्रभवहोमद्रव्यत्वेपि ग. छ. पशुप्रभवहोमद्रव्यत्वे समानेऽपि
३. ख. यदि तदीयन्यायाद्दध्नो निर्वापादयो न भवेयुः।

अथाङ्गारानुदीचो निरूह्य निर्वर्त्य, तेष्वङ्गारेषु आज्यमधिश्रित्य, ज्वलता तृणेनावद्युत्य अधोगामिन्या दीप्त्या द्योतयित्वा, द्वे दर्भाग्रे अनियतायामे तृणाद्यन्तर्धाय छित्वाऽद्भिस्संस्पृश्य ते युगपदाज्ये प्रक्षिपेत् 'द्वे' इत्यधिकशब्दात्, आचाराच्च। अथोल्मुकमादायाज्यं प्रदक्षिणं त्रिः पर्यग्नि कृत्वा समन्ततो अग्निमावर्त्य तदुदगवतारयेत्। अत्र निरूहणोद्वासनयोरुदगपवर्गस्य 'तथाऽपवर्गः' (आप. गृ. १-६) इति सिद्धस्य पुनर्विधानमेतयोर्नित्यमुदगेवापवर्गः, न तु दैवे विकल्पेनापि प्रागपवर्गः, नापि पित्र्ये दक्षिणतोऽपवर्ग इति नियमार्थम्। तथैव पित्र्येष्वेतयोर्मध्यस्थं पर्यग्निकरणमपि[1] सन्दंशन्यायाद्दैववत्प्रदक्षिणमेव। इत्थमेव शिष्टाचारः। ततोऽङ्गारान् पूर्वं निरूढान् प्रत्यूह्य पुनरायतनस्थाग्निना संयोज्य। अत्राज्यसंस्कारकाणां अङ्गाराणां प्रत्यूहनविधानात् 'अपवृत्ते कर्मणि' (आप परि. ४-२३) इति न लौकिकत्वम्। अवद्योतनपर्यग्निकरणाग्न्योस्तु यदा आयतनस्थादुपादानं तदा तयोरग्न्योरपवृत्तकर्मत्वेन लौकिकत्वात् त्यागः। यदा तु निरूढात् तदा तस्मिन्नेव क्षेपः। अथ पूर्ववदुदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां पुनराहारं त्रिरुत्पूय पुनराहृत्याहृत्य त्रिरुत्पूय। अत्र पुरस्तादारभ्य पश्चान्नीत्वा पुरस्तात् परिसमाप्तिः। केचित्—आङो बलाद्विपरीतमाहुः॥

ततस्ते पवित्रे अनुप्रहृत्य आचारानुकूलं प्रहृत्य, यदि ग्रन्थिस्स्यात् तदा विस्रस्याद्भिस्संस्पृश्य प्रागग्रे अग्नौ प्रहरेदित्यर्थः॥ *२२॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने प्रथमः खण्डः॥

---

१. एकोद्देशेन विधीयमानयोरङ्गयोर्मध्ये विहितत्वं सन्देशः।

* अस्मिन् खण्डे हरदत्तमते सूत्राणां संख्या सप्तदश (१७), सुदर्शनमते च द्वाविंशतिः (२२) इति बोध्यम्।

अथ द्वितीयः खण्डः

येन जुहोति तदग्नौ प्रतितप्य दर्भैः संमृज्य पुनः प्रतितप्य प्रोक्ष्य निधाय दर्भानद्भिस्संस्पृस्याग्नौ प्रहरति ॥ १ ॥

अनु०—जिस(पात्र दर्वी या अञ्जलि)से हवन करे उसको अग्नि पर सेंके. कुश से उसका संमार्जन करे' फिर उसे तपावे, जल से पोंछकर रखे। कुशों को जल से स्पर्श कराकर अग्नि में डाल देना चाहिए।

टि०—दर्शपूर्णमास में भी प्रतितपन होता है अतएव यहाँ प्रतितपन आहवनीय अग्नि में होना चाहिए या गार्हपत्य अग्नि में। इसी का निर्णय करने के लिए 'अग्नौ' शब्द का इस सूत्र में प्रयोग किया गया है। पाकयज्ञ में होम की क्रिया दर्वी से की जाती है। आज्यहोम में एक ही दर्वी होती है, स्थालीपाक में दो दर्वी होती है—एक होम के लिए, दूसरा अवदान के लिए। दोनों ही दर्वी का सम्मार्जन और प्रतितपन किया जाता है। यदि पलाश के पत्ते से होम किया जा रहा हो, जैसा कि "मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेन" ख. २१ सू. ४ में निर्दिष्ट है तो उसी पलाश के पत्ते का प्रतितपन होता है, अञ्जलि से हवन किया जा रहा हो तो अञ्जलि का ही प्रतितपन होगा ॥ १ ॥

अनाकुला

संमार्जनं स्रुग्वत्। प्रतितपनं न्यग्भूतस्य तपनम्। अग्निग्रहणमनर्थकम्, अन्यत्र प्रतितपनस्यासम्भवात्। तत्क्रियते दर्शपूर्णमासयोस्सम्मार्जने ये धर्मास्तेषामिह प्राप्त्यर्थमाहवनीये गार्हपत्ये वा चोदितं यत्प्रतितपनं तदस्मिन्नग्नौ भवतीति। अग्निमात्रं भिद्यते। अन्यत् समानं "स्रवमग्रे (आप. श्रौ. २-४-४) रित्यादि। अग्नौ प्रहरतीति पुनरग्निग्रहणं स्रुक्संमार्जनधर्मा इह प्रवर्तन्त इति। पाकयज्ञेषु च दर्व्या होमः, कल्पान्तरे दृष्टत्वाद्दर्शनाच्च। यदयं समावर्तने दर्व्यामादायाज्येनाभ्यानयन्नित्यन्यपरे वाक्ये दर्वीं प्राप्तां दर्शयति। यच्चायं सकृदुपहत्येति उपघातं स्थालीपाकाद्दर्शयति तदपि नादर्व्यामुपपद्यते। तत्राज्यहोमेष्वेका दर्वी। स्थालीपाकेषु द्वे होमार्थं चावदानार्थं च। उभयोरपि सम्मार्जनम्। अवदानस्य होमार्थत्वात् यथाग्निहोत्रे स्रुवस्य। तत्र दर्वीमग्नौ प्रतितप्येति वक्तव्यम्। 'येन जुहोतीति किमुच्यते? "मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेने" त्यत्रापि यथा स्यात्, आग्निहोत्रे आग्निहोत्रिके च तन्त्रे यथा स्यादिति। यद्येवमञ्जलेरपि प्रसङ्गः। विवाहमधुपर्कयज्ञादिषु ज्ञापकात् सिद्धम्। यदयमौपकार्यं पार्वणवदिति यत्नं करोति तत् ज्ञापयति—अञ्जलिहोमा अधर्मग्राहकाः यावदुक्तधर्माण इति। तेन सादनादि त्रयमञ्जलेर्न भवन्ति ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

येन पात्रेण दर्व्या स्रुवेणाञ्जलिना वा जुहोति तदग्नौ प्रतितप्येत्यादि व्यक्तार्थम्। दर्व्याश्च होमपात्रत्वं 'दर्व्यामाधायाज्येनाभ्यानायन्' (आप. गृ. २-९) इत्यन्यपरे वाक्ये सिद्धवद्दर्शनात्, आचाराच्च। बोधायनेन तु[1] 'निरृतिगृहीता वै दर्वी' इति दर्वीनिन्दा स्रुवविधानार्था, न तु दर्व्या निषेधार्था। अतो दर्वीस्रुवयोर्विकल्पः। तत्र केवलाज्यहोमेषु एकैव दर्वी स्रुवो वा, उपस्तरणाद्यभावात् चर्वादिहोमेषु तु द्वे दर्व्यौ स्रुवौ वा उपस्तरणाद्यर्थं होमार्थं च। उपस्तरणाद्यर्थस्यापि संस्कारः, [2]उपस्तरणादिप्रदानान्तस्य होमपदार्थत्वात्, श्रौते स्रुवस्यापि संस्कारदर्शनात्, आचाराच्च। दर्व्यादीनां त्रयाणां तन्त्रवद्धोमेष्वेव संस्कारः,[3]अतन्त्रकेषु तन्त्रान्तर्गतधर्मानुपपत्तेः। तेन 'अनुगतेऽपि वोत्तरया जुहुयात्' (आप. गृ. ५-२०) 'सर्षपान् फलीकरणमिश्रान्' (आप. गृ. १५-६) इत्यादिषु न दर्व्यादीनां संस्कारः। अत्राग्नौ प्रतितप्याग्नौ प्रहरतीत्यर्थसिद्धाग्निग्रहणमेवंनामायं कृत्स्नविधिरिति ज्ञापयितुम्। तेन 'स्रुवमग्रे' (तै. ब्रा. ३-३-१) इत्याद्यैष्टिकस्रुक्संमार्जनधर्माणामिहानुपपत्तिप्रसङ्ग एव।

केचित्—अग्नौ प्रतितप्याग्नौ प्रहरतीति प्रयोजनान्तरशून्यादग्निग्रहणादैष्टिकस्रुक्सम्मार्गधर्मा इहापि भवन्तीति।

प्रतितपनं त्वस्मिन्नेवाग्नौ। इह च सम्मार्गदर्भाणामग्नावेव प्रहरणम्, न पुनर्वैकल्पिकम्। तथा 'येन जुहोति' (आप. गृ. २२-४) इत्याद्यतन्त्रकेऽपि कर्मणि आग्निहोत्रिके च विधौ होमार्थपात्रस्यापि संस्कारो यथा स्यादित्येवमर्थम्। अञ्जलेस्त्वपूपहोमे अवदानसामर्थ्येन 'पार्वणवत्' (आप. गृ. २२-१) इति यत्नेनाञ्जलिहोमा अपूर्वा यावदुक्तधर्माण इति ज्ञापनान्न संस्कार इति ॥१॥

शम्याः परिध्यर्थे विवाहोपनयनसमावर्तनसीमन्तचौलगोदानप्रायश्चित्तेषु ॥ २ ॥

अनु—परिधि (अग्नि के चारों ओर रखे गये लकड़ी के खण्डों) के रूप में विवाह, उपनयन, समावर्तन, सीमन्त, चौलकर्म, गोदान और प्रायश्चित्त के प्रारंभ में शमी (किलियाँ) रखी जाती हैं।

---

१ बौ. गृ १-३-१४।

२. अवदानादिप्रदानान्तस्य एकपदार्थत्वस्थापनात् तेनैव न्यायेनत्रापि तथात्वादित्यर्थः

३. ख. ग. छ. अतन्त्रकेषु न।

टि०—परिधियों के स्थान पर जुआठ की कीलें रखी जाती हैं। विवाहों में हृदयों का संसर्ग कराने के लिए कीलों का ही सर्वत्र प्रयोग होता है। विवाहादि कर्मों (उपनयन, समावर्त्तन, सीमन्तोन्नयन, चौल. गोदान, तथा अद्भुत, उत्पात के निमित्त किये गये प्रायश्चित्तकर्मों में कीलों का प्रयोग होता है। अन्य कर्मों में, पार्वण कर्मों में परिधियों का ही प्रयोग होता है ॥ २ ॥

अनाकुला

अथ परिधीन् परिदधाति। दर्शपूर्णमासवत्सर्वं तूष्णीं तत आघारसमिधौ। कुत एतत्? प्रसिद्धवदभ्यनुज्ञानाच्छम्याः परिध्यर्थ इति 'परिध्यर्थे परिधिकार्ये' इत्यर्थः। शम्याः लोकप्रसिद्धाः युगप्रान्तयोःछिद्रेषु कीलरूपाः काष्ठविशेषाः। तासां सहेध्मेन सन्नहनम्। प्रायश्चित्तं अद्भुतोत्पातप्रायश्चित्तम्। विवाहे च हृदयसंसर्गार्थे सर्वत्र शम्याः। विवाहादिभ्योऽन्यत्र सर्वत्र पार्वणादिषु परिधय एव। चौलग्रहणमनर्थकं सीमन्तातिदेशात् सिद्धम्। ज्ञापकार्थन्तु, एतत् ज्ञापयति-विवाहादिष्विह संकीर्तितेष्वेव शम्याः, न तैरतिदिष्टेषु इति। तेन सीमन्तादतिदिष्टे पुंसवने परिधय एव। पार्वणादिषु च पक्वहोमेषु तथा "एवमत ऊर्ध्व" मिति वैवाहिकेन स्थालीपाकादिति दर्शनात् प्रसङ्गः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

विवाहादिषु कर्मसु परिध्यर्थे परिधीनां कार्ये परिधीनां स्थान इति यावत्, शम्याः युगकीलका भवन्ति। ताश्च पलाशादेनामन्यतमेन क्लृप्ताः परिधिस्थौल्यायामाः, तत्स्थानापन्नत्वात्। युक्तं चैतत्, यस्मादेवंविधविषये वार्तिककारपादैरुक्तम्—

'[1]सम्भवन्तो [2]खलेवाली खादिरी किन्न बाध्यते ॥ इति।

अत्र विवाहशब्देन स्थालीपाकवर्जितः साङ्गो विवाहो गृह्यते। तद्वर्जनकारणं पार्वणेनेत्यत्र वक्ष्यामः। सीमन्ते शम्याविधानादेव [3]तद्विकारे चौले[4] चौलविकारे च गोदाने शम्याप्राप्तावपि तयोर्ग्रहणं सीमन्तविकारेऽपि पुंसवने तासां निवृत्त्यर्थम्। प्रायश्चित्तं च 'अगारस्थूणाविरोहणे' (आप. गृ. २३-९) इत्यादिना विहितम्। अत्र च पलाशकार्ष्मर्य' (आप. श्रौ० १-५-८) इत्यादिसूत्रोक्तगुणयुक्तांस्त्रीन् परिधीन् संस्पृष्टान्। 'परिधीन् परिदधाति' (तै. ब्रा. ३-३-७) इत्यादि विधानात् तूष्णीं परिदध्यादिति सूत्रकारस्याभिप्रायः, 'शम्याः परिध्यर्थे' इति सिद्धवत्परिधीनङ्गीकृत्य तत्स्थाने शम्याविधानात्, आचाराच्च ॥ २ ॥

---

१. परिध्यर्थे शम्याः कार्या इत्यर्थः।

२. खले बलीवर्दबन्धनार्थं निखाता स्थूणा खलेवाली।

३ ख. ग. तद्विकारान्तरे। ४. ख. ग. छ. चौलविकारान्तरे।

अग्निं परिषिञ्चत्यदितेऽनुमन्यस्वेति दक्षिणतः प्राचीनमनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चादुदीचीनं सरस्वतेऽनुमन्यस्वेत्युत्तरतः प्राचीनं देव सवितः प्रसुवेति समन्तम् ॥ ३ ॥

अनु०—फिर यजमान अग्नि के चारों ओर जल छिड़कता है। दक्षिण की ओर पश्चिम से पूरब को 'अदितेऽनुमन्यस्व' मन्त्र से छिड़के, पश्चिम की ओर दक्षिण से उत्तर को 'अनुमतेऽनुमन्यस्व' मन्त्र से छिड़के. उत्तर दिशा में पश्चिम से पूरब को 'सरस्वतेऽनुमन्यस्व' से और उसके सभी ओर 'देव सवितः प्रसुव' मन्त्र से जल छिड़के।

टि०—केवल अग्नि के ही चारों ओर जल द्वारा सेचन किया जायगा, परिधि या कीलों का नहीं ॥ ३ ॥

अनाकुला

परिषेचनमुदकेन पर्युक्षणम्। अग्निग्रहणं परिध्यधिकाराद्बहिः परिधिर्मा भूदिति। प्राचीनमुदीचीनमित्युच्यते प्रागुदग्वा (ग्चा) यतं परिषेचनकर्म यथा स्यादिति। तथापवर्गस्तु परिभाषासिद्ध एव। 'देव सवितः प्रसुवे' ति एतावान् मन्त्रः, कल्पान्तरेषु भूयस्सु तथा दर्शनात्। बोधायनीये च विस्पष्टमेतत् 'अन्वमंस्थाः प्रासावीरिति मन्त्रान्तान् सन्नमयति' (बौ. गृ १-४-७) इति। 'छन्दोगानामेव त्वयं मन्त्रादिः। समन्तं सम इत्यर्थः। तत्र पुरस्तादुपक्रम्य प्रदक्षिणं सर्वत्र प्रतिमन्त्रमुदकदानम् ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निमेवोदकेन परिषिञ्चति न परिध्याद्यङ्गमपि। तद्विधिमाह-अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना। प्राचीनं प्रागायतम्। उदीचीनमुदगायतम्। समन्तं सर्वतः। अत्र 'देव सवितः प्रसुव' इत्येतावानेव मन्त्रः, नर्चं[2] आदिप्रदेशः। तथा नोत्तरे परिषेचने 'प्रासावी' रिति प्रसुवपदस्योहः। वैश्वदेवकाण्डे एकाग्निविधावेवमेवाम्नातानां 'अदितेऽनुमन्यस्व' इत्यादीनामष्टानां यजुषां पूर्वोत्तरपरिषेचनस्थेष्वष्टसु व्यापारेषु[3] श्रुतिस्थानाभ्यां विनियोगात्, वाजपेयप्रकरणस्थाया ऋचः स्वतोऽत्रापि विनियोगायोग्यत्वात्, आदिप्रदेशे समुदायलक्षणापत्तेः, यजुःप्राये मन्त्राष्टके ऋचोऽप्रतीतत्वात्, ऊहपक्षे आर्षपाठबाध-

---

१. 'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः, केतपूः केतं नः पुनातु, वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु' इति सम्पूर्णो मन्त्रः।

२. आदिरिति। आदिप्रदिष्टा मन्त्राः (आप. प. २-३) इत्यनेन सूत्रेण मन्त्रस्यादिग्रहणेन कृत्स्नो मन्त्रो वेदितव्यः इति नियमितम्, स न्यायो नात्र प्रवर्तत इति भावः

३. निरपेक्षो रवः श्रुतिः। स्थानं क्रमः पाठसादेश्यानुष्ठानसादेश्यरूपः।

प्रसङ्गात्, 'तस्मादृचं नोहेत्' इति बह्वृचश्रुतिविप्रतिषिद्धस्य ग्रहणप्रसङ्गात्, अस्मदीयानामाचाराच्च। विस्पष्टं चैतत् बोधायनानां, अन्वमंस्थाः प्रासावीरिति मन्त्रान्तान् सन्नमयति' (बौ. गृ. १-४-३७) इति। एवं चोत्तरपरिषेचने 'अन्वमंस्थाः प्रासावीः' इति पूर्वमन्त्रेभ्यो विशेषमात्रस्य पाठः, न पुनरूहः यथाग्नौ 'एतेनैव त्रैष्टुभेन छन्दसाऽहरिष्टकामुपदधे' इति। सन्नामशब्दश्चात्र गौणः। अत एवैते मन्त्राः वैश्वदेवकाण्डमुपाकृत्य प्रागुत्सर्जनादध्येतव्याः, ब्रह्मयज्ञपारायणयोश्च ॥ ३ ॥

पैतृकेषु समन्तमेव तूष्णीम् ॥ ४ ॥

अनु०—पितरों के लिए किए जाने वाले कर्म में जल केवल चारों ओर छिड़का जाता है और वह भी चुपचाप (बिना मन्त्रोच्चारण के) ॥ ४ ॥

अनाकुला

अक्रियमाण एवकारे समन्तपरिषेचने मन्त्रप्रतिषेधार्थमेतत् स्यात्। एवकारस्तु दक्षिणतः प्राचीनमित्यादेः त्रयस्य निवृत्तिः ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पैतृकेषु कर्मसु समन्तमेव परिषिञ्चति, 'न दक्षिणतः प्राचीनम्' इत्यादि। तच्च तूष्णीम् ॥ ४ ॥

इध्ममाधायाघारावाघारयति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् ॥ ५ ॥

अनु०—अग्नि पर इन्धन (इध्मसमुदाय) रखकर आघार नाम के दो होम उसी प्रकार से करे जैसा कि दर्शपूर्णमासयज्ञ में किया जाता है और उसे मौन होकर करे (बिना मन्त्र के)।

टि०—पन्द्रह लकड़ी के ईंधनों का एक साथ ही आधान किया जाता है। आघार के विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि पहला आघार स्रुवा से ही किया जाय। कुछ आचार्य दोनों आघारों को दर्वी से करने का विधान करते हैं। दोनों आघार बैठे-बैठे ही किये जाते हैं। आघार नाम के दो होम किये जाते हैं। ये हवन दीर्घधारा से किये जाते हैं, जैसा कि दर्शपूर्णमास में किया जाता है। इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में कहा गया है 'उत्तरं परिधिसन्धिमन्ववहृत्य दक्षिणाप्राञ्चं ऋजुं सन्ततं ज्योतिष्मत्याघारमाघारयन् सर्वाणीध्मकाष्ठानि संस्पर्शयति' (२-१२-७) ये दोनों आघार प्रजापति देवता के लिए माने जाते हैं, क्योंकि तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा गया है 'यत्तूष्णीं तत्प्राजापत्यम्' (२-१-५) किन्तु इन दोनों आघारों के देवता दर्शपूर्णमास की तरह प्रजापति और इन्द्र भी माने जाते हैं ॥ ५ ॥

अनाकुला

इध्म इति समुदायस्योपदेशात् पञ्चदशदारुमिध्मं सकृदेवादधाति। 'अभिघार्ये'ति[1] कल्पान्तरं दर्शपूर्णमासवदित्युत्तरं परिधिसन्धिमन्ववहृत्य दक्षिणं परिधिसन्धिमन्ववहृत्येत्येवमादिना विधाने तूष्णीमिति मन्त्रोच्चारणप्रतिषेधः। तेन "प्रजापतिं मनसा ध्यायन्नि" त्येतदपि न भवति। मनसा मन्त्रोच्चारणं तत्र विधीयत इति कृत्वा काम्यानामाघारकल्पनामिहाप्रवृत्तिः प्रकृतिविषयत्वात्तेषाम्। केचित् स्रुवेण पूर्वमाघारमिच्छन्ति। अन्ये पुनः उभावपि दर्व्यैव वेदोपभृतोरभावात् उपयमनमपि न भवति। आसीन एव चेतरमप्याघारं जुहोति। न चाभिप्राणिति। अथ प्रमाणमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥५॥

तात्पर्यदर्शनम्

इध्ममग्नावादधाति। स च खादिरः पालाशो वा पञ्चदशसङ्ख्याकोऽर्थलक्षणस्थौल्यायामः, इध्मनामधेयात्, [2]श्रौते दर्शनाच्च। युगपच्चाधानम्, 'इध्मम्' इत्येकवचनेन समुदायस्य विवक्षितत्वात्। तच्च तूष्णीम्, मन्त्रस्याविधानात्।

अन्ये—'तूष्णीम्' इत्यारभ्येदमेकं सूत्रं कृत्वा, हिरण्यकेशिनां यो मन्त्रः 'अयं त इध्मः' इति सः 'अनुषक्तमन्यतो ग्राह्यम्' इति न्यायेन नोपसंहर्तव्य इति व्याचक्षते। तेषां पैतृकेषु समन्तपरिषेचनं समन्त्रकं स्यात्।

केचित्—गृह्यान्तरात्, इध्मोऽभिघार्याधेय इति।

आघारौ आघारनामकौ होमौ द्वौ। आघारयति दीर्घधारया जुहोति, दर्शपूर्णमासवत्। 'उत्तरं परिधिसन्धिमन्ववहृत्य ... दक्षिणाप्राञ्चं ऋजुं सन्ततं ज्योतिष्मत्याघारमाघारयन् सर्वाणीध्मकाष्ठानि संस्पर्शयति' (आप.श्रौ. २-१२-७) 'दक्षिणं परिधिसन्धिमन्ववहृत्य' (आप. श्रौ. २-१३-११) 'प्राञ्चमुदञ्चम्' (आप. श्रौ. २-१४-१.) इत्यादि 'ऋजू प्राञ्चौ होतव्यौ तिर्यञ्चौ वा व्यतिषक्तावव्यतिषक्तौ वा' (आप. श्रौ. २-१२-८) इति वैकल्पिकास्त्रय आघारपक्षा एव दर्शपूर्णमासाभ्यां तुल्यं कर्तव्याः; न पुनर्द्वितीयाघारस्य 'पूर्वार्धे मध्ये पश्चार्धे वा जुहुयात्' (आप. श्रौ. २-१४-८) इत्यनाघारपक्षोऽपि। इमौ च द्वावप्यासीनो दर्व्या तूष्णीमाघारयति, [3]दर्वीहोमानामपूर्वत्वेनैष्टिकाघारधर्माणां मन्त्राणां चाप्राप्तेः। तूष्णीमिति 'तूष्णीं पञ्चाव्याहुत्या' (आप. गृ. २२-४) इतिवत् स्वाहाकारस्यापि निवृत्त्यर्थम्। अत उभयोरप्याघारयोः प्रजापतिर्देवता

---

१. अथेध्ममादाय स्रुवेणाज्यं गृहीत्वाभिघार्याग्नावभ्यादधाति (जै.गृ.सू. १-३) इति।

२. खादिरं पालाशं वैकविंशतिदारुमिध्मं करोति (आप. श्रौ. १-५-६) इति श्रौ.सू.

३. दर्वीहोमानामपूर्वमष्टमाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयाधिकरणे सिद्धान्तितम्।

'यत्तूष्णीं तत्प्राजापत्यम्' (तै. ब्रा. २-१-४) इति श्रुतेः। कथं पुनरिमावजुहोतिचोदनौ दर्वीहोमौ? उच्यते-यद्यपि जुहोतीत्येवं न चोदनाऽस्ति, तथाप्याघारयतीति दीर्घधारागुणकजुहोतिचोदनार्थत्वात्, याज्ञिकप्रसिद्धेश्च दर्वीहोमावेव। किञ्च 'अथाज्यभागौ जुहोति' (आप. गृ. २-६) इत्याज्यभागौ स्पष्टमेव दर्वीहोमौ; तत्साहचर्यादाघारावपि तथा। यथा[1] अंशोरनारभ्याधीतस्य विनोयोगसन्निधेरभावेऽप्यदाभ्यसाहचर्यात्सोमनियोगसम्बन्धः।

[2]एवं वा व्याख्यानम्-आघारावाघारयति। पुरस्तादुदग्वोपक्रमः' (आप. गृ. १-५) इत्येतस्मात्परत्वेन 'प्रबलां तथापवर्गः' (आप. गृ. १-६) इति गार्ह्यपरिभाषामनुसृत्य प्रागपवर्गाभ्यामुदगपवर्गाभ्यां वा दीर्घधाराभ्यां जुहोति, न तु कोणदिगपवर्गाभ्याम्। नाप्यैष्टिकाघारधर्मा मन्त्राश्च, अपूर्वत्वादेव। देवते तु दर्शपूर्णमासवत् प्रथमस्य प्रजापतिः,द्वितीयस्येन्द्र[3]इत्यर्थः तूष्णीमिति पूर्ववदेव।

अन्ये तु आघाराविति नामधेयं[4] मासमग्निहोत्रं जुहोति' इतिवत् ऐष्टिकाघारधर्मातिदेशकम्। अत्र स्रुवेण ध्रुवाया आज्यमादाय आसीनोऽन्यमाघारमाघारयन् (आप. श्रौ. २-१२-७) 'जुह्वेहीति जुहूमादत्ते' (आप० श्रौ० २-१३-२) इत्यादिषु आघारधर्मेषु तन्मन्त्रेषु च प्राप्तेषु 'आघारावाघारयति' इति परिसङ्ख्यार्थम्। आघारयतीति दोर्धधाराधर्मकावेव होमौ कुर्यात्, नान्यधर्मकाविति।'तूष्णी' मिति तु धर्मावान्तरभेदानां मन्त्राणां निवृत्त्यर्थम्। दर्शपूर्णमासवदिति त्वनर्थकमेवेत्याहुः।

तन्न; दर्वीहोमयोरपूर्वयोः विशेषतश्चाङ्गभूतयोः धर्मातिदेशानपेक्षत्वात्, स्वतश्च नाम्नो धर्मलक्षणाया अयुक्तत्वात्, आघारयतीत्यत्र च सति गत्यन्तरे परिसङ्ख्यया अन्याय्यत्वात्, आघारव्यतिरिक्तधर्मपरिसङ्ख्याने चातिदेशवैफल्यात्, परिसङ्ख्यायाश्च मन्त्रपरिसङ्ख्यानेऽपि सामर्थ्यात् तूष्णींपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः 'दर्शपूर्णमासव' दिति पदं व्यर्थमिति स्वेनैवोक्तत्वात्, 'आघारावाघारयती' ति च पदयोरतिदेशपरिसङ्ख्यार्थत्वे होमविधायकशब्दाभावात्, तद्भावाय च परिसङ्ख्यात्यागे सर्वेषामाघारधर्माणां शिष्टाचारविरुद्धानुष्ठानापातात्, आज्य-

---

१. अंशोरिति। अयमर्थः अनारभ्य श्रूयते-अंशुं गृह्णाति, अदाभ्यं गृह्णाति इति। अंश्वदाभ्यनामकौ ग्रहौ। तत्रांशुग्रहस्य विनियोजकं वाक्यं नास्ति. तथापि तद्विशिष्टादाभ्यग्रहेण सह पाठादंशोरपि ज्योतिष्टोमाङ्गत्वमिति।

२. क. छ. ज. एवं व्याख्यामून ङ —एवं व्याख्यातम्। ३. ज. इत्येवमर्थम्।

४. कुण्डपायिनामयनाख्यसत्रविशेषान्तर्गतकर्मविशेषविधायके।

५. ज. इत्येवमर्थम। वाक्ये श्रूयमाणमग्निहोत्रंविपदं यथा नैत्यमिकाग्निहोत्रस्य धर्मातिदेशकं तद्वत् आघारपदमपि इष्टयङ्गभूत घारसम्बन्धिधर्मातिदेशकमित्यर्थः।

भागादीनामपीत्थमतिदेशो अभ्युपेये तत्राप्यैष्टिकाज्यभागादिधर्माणां सर्वेषामनुष्ठानप्रसङ्गाच्च। तस्मात् पूर्व एव व्याख्याने [1]सूष्ठु।

यतोऽपूर्वावेवाघारौ, यतश्च 'समिदभावश्च अग्निहोत्रवर्जम्' (आप० प. ३-८-९) इति परिभाषा, अत एव आघारसमिधोर्निवृत्तिः।

अन्ये कुर्वन्ति। तस्मिन् पक्षे[2] परिधिनिधानानन्तरम्; श्रौते तथा दृष्टत्वात्। अनूयाजसमित् अनुयाजाभावादेव निवृत्ता। तेनेध्मसन्नहनं परिधिभिस्सहाष्टादशधा, विंशतिधा, वा न पुनरेकविंशतिधा ॥ ५ ॥

अथाज्यभागौ जुहोत्यग्नये स्वाहेत्युत्तरार्धपूर्वार्धे सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धपूर्वार्धे समं पूर्वेण ॥ ६ ॥

अनु०—तब आज्यभाग नाम के दो होम करता है, अग्नि के उत्तरार्ध के पूर्वार्ध भाग में 'अग्नये स्वाहा' कहते हुए तथा अग्नि के दक्षिणार्ध के पूर्वार्ध भाग में 'सोमाय स्वाहा' कहते हुए पहले के समान ही आज्यभाग के दो हवन करता है ॥ ६ ॥

अनाकुला

अग्नेरुत्तरभाग उत्तरार्धः, पूर्वभागः पूर्वार्धः, तयोरन्तरालं उत्तरार्धपूर्वार्धः। सममिति देशतः। समं तौ होतव्यौ न विषमावित्यर्थः। उपदेशादाघारानन्तर्ये सिद्धे अथेति वचनं सम्बोधनार्थम्। किं सिद्धं भवति? आघारयोराज्यभागयोश्च साधर्म्यं सिद्धं भवति। तेन ज्योतिष्मत्यग्नौ होमः। आघारयोः प्रसिद्धो धर्मः। तस्याज्यभागयोरपि प्रवृत्तिः।

तथा आज्यभागयोः प्रसिद्धो धर्मः आसीनहोमोऽप्युच्छ्वासाभावश्च। तस्याघारयोरपि प्रवृत्तिः। तेन यदुक्तमुत्तरस्मिन्नप्याघारे स्थानाभिप्राणने न भवत इति तदुपपन्नं भवति। आज्यभागाविति होमयोस्संज्ञा। प्रयोजनमग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्त इत्येवमादयः ॥६॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ आघारानन्तरं अर्थकृत्यमकृत्वाऽऽज्यभागनामकावपूर्वौ होमौ जुहोति। तत्र प्रथममग्नये स्वाहेति मन्त्रेणाग्नेरुत्तरार्धपूर्वार्धे, प्रागुदीच्यामित्यर्थः। द्वितीयं सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धपूर्वार्धे, दक्षिणपूर्वस्यामित्यर्थः। समं पूर्वेण आघारसम्भेदमवधिं कृत्वाऽक्ष्णया रज्ज्वा यावत्यन्तरे पूर्वो हुतः तावत्यन्तर एवोत्तरं जुहोति, न पुनस्सन्निकृष्टं वा ॥ ६ ॥

*यथोपदेशं प्रधानाहुतीर्हुत्वा जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृतः प्राजापत्यां

---

१. घ. ज. सुष्ठूक्तम्. २. क. घ. ङ. ज.—परिधानानन्तरम्.

* हरदत्तमते 'वपजुहोति' इत्यन्तमेव सूत्रम्। यअस्येत्यारभ्य सूत्रान्तरम्। क्वचित् पुस्तके यदस्योति स्वाहेत्यन्तं नास्त्येव।

व्याहृतीर्विहृताः सौविष्टकृतीमित्युपजुहोति—'यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्त्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु स्वाहेति ॥ ७ ॥

अनु०—विहित नियम के अनुसार (उस कर्म की) प्रधान आहुतियों का हवन करके, निम्नलिखित आहुतियां भी करे, जया (चित्तञ्च चित्तिश्च–तै० सं ३·४·४) अभ्यातानाः ("अग्निर्भूतानां–तै० सं० ३-४-५) राष्ट्रभृतः (ऋताषाडृतधामा"–तै० सं० ३-४·७) प्रजापति के लिए, एक-एक करके व्याहृतियों के लिए, और स्विष्टकृत् अग्नि के लिए इस मन्त्र से आहुति करे 'यदस्य' आदि अर्थात् मैंने इस यज्ञकर्म में जो कुछ अधिककर दिया है ।, अथवा जो कुछ बहुत कम किया है, उन सबको अग्नि स्विष्टकृत् जो विद्वान् ज्ञाता है, सम्यक् रूप से हुत और भलीभाँति अर्पित बनावे ।

टि०—जिस-जिस कर्म में जो प्रधान आहुतियाँ होती हैं वे की जाती हैं । 'चित्तञ्च चित्तिश्च' आदि (तै० संहिता ३·४·४) तेरह जया आहुतियाँ होती हैं । 'अग्निर्भूतानामधिपतिस्समावत्वस्मिन्' (तै० संहिता ३·४·५) आदि अठारह अभ्यातानाः आहुतियाँ होती हैं । "ऋताषाट् आदि (तै० संहिता ३. ४. ७) आदि बाईस राष्ट्रभृत आहुतियाँ होती हैं । 'प्रजापते न त्वदेतान्य' आदि प्रजापति की आहुतियाँ होती हैं । ' 'भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा' व्याहृतियों द्वारा आहुतियाँ होती हैं । सौविष्टकृती 'यदस्य' आदि द्वारा स्विष्टकृत् देवता के लिए होती हैं ॥ ७ ॥

अनाकुला

यथोपदेशमिति । यस्मिन् यस्मिन् कर्मणि याः प्रधानाहुतय इत्युपदिश्यन्ते, यथा "अन्वारब्धायामुत्तरा आहुती" (आप.गृ.१–२.) रिति तास्ता इत्यर्थः । जयाः "चित्तञ्च चित्तिश्च" (तै.सं.३–४–४.) इत्येवमादयः । अभ्यातानाः "अग्निर्भूतानां (तै.सं.३–४–५.) इत्यादयः । राष्ट्रभृतः "ऋताषाडृतधामे" (तै.सं.३–४–७) त्यादयः । "प्रजापते न त्वदेतानी' त्येषा प्राजापत्या । व्याहृतयः प्रसिद्धाः । विहृतवचनं समस्तनिवृत्त्यर्थम् । एतेषामनुपदेशः सिद्धत्वात् । सौविष्टकृत्यप्रसिद्धत्वात्पठिता ।

नन्वेषापि सूत्रे पठिता—"यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वान्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्त्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु स्वाहे" ति सर्वप्रायश्चित्तेषु (आप.श्रौ.३-१२-१.) एवं तर्हि एतत् ज्ञापयति पाकयज्ञविधिरयं अन्येषामपि केषाञ्चित् साधारण इति । दृश्यते च कालगिरेयाणामनेन प्रवृत्तिः विवाहादिषु "कर्मसु" ये होमाश्चोदिताः तेष्वेतस्य प्राप्त्यर्थं तेषां कालोपदेशार्थमिदम् । जयादीनां पुरस्तादाज्यभागयोश्चोपरिष्टात् । प्रधानाहुतय इति

नार्थः। एतदर्थेनानेन तत्रैवोभयोरप्युपदिष्टत्वात्। 'अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्त उत्तराहुतोर्हुत्वा' इति "स्थालीपाकाज्जुहोति" इत्यतिदेशात् तत्र प्राप्तिः। पार्वणे तु यथा, तथा आग्नेयस्थालीपाकविधौ वक्ष्यामः।

अथ येषु 'आज्यभागान्त' इति वा 'जयादि प्रतिपद्यत' इति वा वचनं नास्ति यथा पण्यफलीकरणहोमे तत्र प्राप्त्यर्थमिदमुच्यते। विवाहादिषु तत्र विधानमनर्थकम्, आज्यभागान्ते जयादि प्रतिपद्यत इति वचनात्[1] पण्यहोमादयोऽपूर्वा यावदुक्तधर्माणः। इदं तर्हि प्रयोजनं कल्पान्तरोक्तानि नित्यानि, नैमित्तिकानि, काम्यानि वा यद्यस्मदादिभिरनुष्ठीयन्ते तदा तेष्वप्येतस्य तन्त्रस्य प्रवृत्तिर्यथा स्यादिति। नन्वेतदपि पार्वणातिदेशदर्शनात् सिद्धमाचाराद्यानि गृह्यन्त इति; सत्यं पक्वहोमेषु सिद्धम्, न त्वाज्यहोमेषु 'कूष्माण्डैर्घृतमि' त्यादिषु, तस्यापक्वविषयत्वात्। विवाहादिषु तन्त्रविधाननियमार्थं यस्मिन् गृहमेधचोदितास्तेष्वत्राग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्त इति जयादि प्रतिपद्यत इति वा वचनम्, तत्रैव तन्त्रप्रवृत्तिः–इति। तेन पण्यहोमादयो यावदुक्तधर्माण इति सिद्धम्। प्रधानाहुतिग्रहणं जयाद्याज्यभागान्तस्य च तत्र प्रसिद्ध्यर्थम्। उपजुहोतीति उपशब्द आनन्तर्यार्थः। तेन प्रधानाहुत्यनन्तरमुपहोमाः। तेनेशानयज्ञे परिषेचनान्ते बलिहरणं भवति। श्राद्धे वानुपदेशनं स्थालीपाके च बर्हिरनुप्रहरणं सौविष्टकृतीमित्युच्यते स्विष्टकृद्देवनेति ज्ञापनार्थम्। तेनाज्यहोमस्विष्टकृत् पक्वहोमेषु[2] भवति॥ ७॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथोपदेशं येन येन हविरादिना विवाहादिषु प्रधानाहुतय उपदिष्टास्तेन तेन विधानेन ता हुत्वा, जयाः "चित्तं च स्वाहे" (तै. सं. ३-४-४) ति त्रयोदश, "अग्निर्भूतानामधिपतिस्समावत्वस्मिन्नि"ति (तै. सं. ३-४-५) सानुषङ्गा अभ्याताना अष्टादश। "ऋताषाडि"ति (तै. सं. ३-४-७) राष्ट्रभृतो द्वाविंशतिः, तत्र ऋताषाडित्यनुद्रुत्य 'तस्मै स्वाहे, त्यन्तेन प्रथमाहुतिं जुहोति, ताभ्यस्स्वाहा' इत्येतावतैवोत्तराम्। एवमुत्तरे पञ्च पर्यायाः। तत्र 'नाम स इदं ब्रह्म' इत्यनुषङ्गः। 'ताभ्यः स्वाहा' इति च। 'भुवनस्य पते… स्वस्ति स्वाहा' इति त्रयोदशी। 'परमेष्ठी' त्यादयः पूर्ववच्चत्वारः पर्यायाः। 'स नो भुवनस्य पते… यच्छ स्वाहा' इति द्वाविंशी। 'प्रजापते न त्वदेतानि' इति ऋक्प्राजापत्या। 'प्राजापत्ययर्चा वल्मीकवपायामवनयेत्' (तै. ब्रा. ३-७-२) इति श्रुतेः। सूत्रकारेण 'प्रजापते न त्वदेतानी' ति प्राजापत्ययर्चा वल्मीकव–

---

१. सिध्यर्थे यदस्य गृहे पण्यं स्यात् तत उत्तरया जुहुयात् (आप. गृ. २३-५) इति यो विहितो होमस्स पण्यहोम॥ २. अन्यो भवति।

पायामवनीय' (आप. श्रौ. ९-२-४) इति व्याख्यातत्वात्। व्याहृतीः विहृताः; 'भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा सुवः स्वाहा' इति। सौविष्टकृतो 'यदस्य कर्मणः' इति ऋक्। अत्र चास्याः स्विष्टकृद्देवताकत्वं लिङ्गादेव सुगमम्। देवताज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमपि "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदेवताब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुमृच्छति" इत्यादिश्रुतेः;

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

इति स्मृतेश्च सिद्धम्। अतो यत्रार्षेयादिज्ञानानां नैवंविधः पुनर्विधिः, तत्र तानि पाक्षिकाणीति गम्यते। एवमेता जयादिका अष्टपञ्चाशदाहुतीः प्रधानहोमानन्तरमुपजुहोति। यत्रापि सर्पबल्यादौ पार्वणातिदिष्टः स्विष्टकृत्; तत्रापि प्रधानाहुत्यनन्तरमेवैताः। ततः स्विष्टकृत्; क्त्वाप्रत्ययत्वात्, उपोपसर्गाच्च।

केचित्—स्विष्टकृतोऽनन्तरं जयादयः 'अग्निः स्विष्टकृद्द्वितीयः (आप. गृ. ७-७) इति स्विष्टकृतः प्रधानतुल्यधर्मत्वज्ञापनादिति।

ननु–यद्यत्रैव सर्वप्रधानहोमानन्तरं साधारण्येन जयादय उपदिष्टाः किमर्थं तत्र तत्र 'जयादि प्रतिपद्यते' इति वचनम्? उच्यते–यत्रैतद्वचनं नास्ति पार्वणादौ न तत्र जयादय इत्येवमर्थम्। एवं तर्ह्यत्र साधारणविधानमेवानर्थकम्। न; केवलं जयादिविध्यर्थत्वात्। अन्यथा विवाहादावेतेष्वन्वारम्भोऽपि स्यात्[1]। किञ्च अस्मिन्नसति तत्र-तत्र 'जयाभ्यातानानि' त्यादिमन्त्रसन्नाम. इत्यन्तो गुरुर्ग्रन्थः पुनः पुनः पठितव्यस्स्यात्। तस्मा[2]दन्वारम्भादिनिवृत्त्यर्थं ग्रन्थलाघवार्थं चेदं साधारणविधानम्।

केचित्—यत्राज्यभागान्तं पुरस्तात्तन्त्रम्, तत्र सर्वत्र जयाद्युत्तरतन्त्रम्। एतयोर्मध्ये 'यथोपदेशं प्रधानाहुतीः' इत्यविशेषेण प्रधानहोमानां विधानात्। आग्नेयेऽपि च स्थालीपाके जयादिर्विद्यत एव, 'सिद्धमुत्तरम्' (आप. गृ. ७-१४) इति पदद्वयसूत्रेण जयाद्युत्तरतन्त्रोपदेशात्, मासिश्राद्धे च 'पार्वणेन' (आप. गृ. २२-१) इत्यतिदेशात्। आज्यहोमेषु जयाद्यनन्तरं श्रौतवत् तूष्णीं परिधीनग्नौ प्रहृत्य तान् दर्वीसंस्रावेणाभिजुहोति; परिधितत्संस्काराणां श्रौतवदभ्यनुज्ञानस्योक्तत्वात्, कृतकार्याणां प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात्, आचाराच्च। शम्याश्चेत्, अस्मिन् काले अपोह्याः; 'अथ शम्या अपोह्य' (बौ. गृ. १-४-३७) इति बोधायनवचनात्, आचाराच्च॥ ७॥

---

१. ज-ष्वेतेष्वन्वारम्भो न स्यात्। २. ख. ग–अन्वारम्भनिवृत्त्यर्थम्।

[1]पूर्ववत् परिषेचनमन्वमँस्थाः प्रासावीरिति मन्त्रसन्नामः ॥ ८ ॥

अनु०—अग्नि के चारों ओर जल का परिषेचन पहले (ऊपर सूत्र ३) की तरह ही किया जायगा, मन्त्रों को इस प्रकार परिवर्त्तित कर दिया जाता है कि 'अदितेऽन्वमंस्थाः" अदिति ने अनुग्रह प्रदान किया, इत्यादि, तथा 'देवः सवितः प्रसुव' के स्थान पर "देवः सवितः प्रासावीः" सविता ने प्रेरणा प्रदान की ॥ ८ ॥

टि०—सूत्र संख्या ३ में अदितेऽनुमन्यस्व आदि का प्रयोग मन्त्र में किया जाता है, यहाँ तीनों मन्त्रों में अनुमन्यस्व; के स्थान पर "अन्वमंस्थाः" शब्द रखकर पाठ किया जाता है। 'प्रसुव' के स्थान पर 'प्रासावीः' कर दिया जाता है। श्रौत कर्म को तरह बिना मन्त्र के ही प्रणीता को छोड़ा जाता है ॥ ८ ॥

अनाकुला

पूर्ववदिति। पैतृकेषु समन्तमेव तूष्णीम्। अन्यत्र मन्त्रवन्ति चत्वारि परिषेचनानि

सन्नमनं सन्नामः, ऊह इत्यर्थः। 'अनुमन्यस्वे' त्यस्या 'न्वमंस्था' इति सन्नामः। 'प्रसुवे' त्यस्य 'प्रासावीरि'ति। प्राक् परिषेचनात् तूष्णीं परिधीनां प्रहरणम्। पुरस्तादुपहोमानामेकविंशत्या समिधोऽभ्याधानम्। बर्हिरनुप्रहरणमाज्यहोमेषु नास्ति, लेपयोरित्यस्य पक्वहोमविषयत्वात्। परिषेचनान्ते प्रणीताविमोकः। ब्रह्मा च कर्मान्ते यथेतं प्रतिनिष्क्रामति। मन्त्रसन्नाम इति मन्त्रग्रहणं मन्त्राणामयमूहविधिर्यथा स्यात्, अन्यथाऽग्नेरपि सन्नामस्सम्भाव्येत। सन्नामशब्दस्यान्यत्रापि दर्शनात्, यथा—सन्नमयत्यनुमार्ष्टि वेति ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निपरिषेचनं पूर्ववत्। अयं तु विशेषः, अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिषु त्रिषु अनुमन्यस्वेत्यस्य स्थाने 'अन्वमंस्थाः' इति, देवसवितरित्यत्र 'प्रसुव' इत्यस्य स्थाने 'प्रासावीः' इति। अत्र श्रौतवत् प्रणीता विमुञ्चति तूष्णीम्; कृतकार्याणामासां प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात्, 'प्रणीताभ्यो दिशोऽभ्युपनीय' (बौ. गृ. १-४-३८) इति बोधायनवचनात्, आचाराच्च। ब्राह्मणश्च यथाशक्ति दानमानादिना सत्कृतो गच्छेत्।

अत्रेयं स्थितिः—'अग्निमिध्वेत्यादि मन्त्रसन्नाम' इत्यन्तः प्राच्योदीच्याङ्गसमुदायः सर्वगार्ह्यप्रधानहोमानां साधारणः, 'यथोपदेशं प्रधानाहुतीर्हुत्वा'

---

१ हरदत्तमते 'परिषेचन' मित्यन्तमेकं सूत्रम्। ततोऽपरम्।

२. दिशो ह्युन्नीय।

इति प्राच्योदीच्यपदार्थापेक्षया[1] होमानां विशेषणं प्राधान्याभिधानात्। एवञ्चाहोमेषु नामकरणादिषु तन्त्रस्याप्रसङ्ग एव।

नन्वेवं 'अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते' इति किमर्थस्तत्र तत्र पुनरुपदेशः? उच्यते—यत्र केवलाज्यहविष्षूपनयनादिषु अस्योपदेशः, तत्रैवेदं तन्त्रम्। यत्र पुनः 'अपिवोत्तरया जुहुयात्' (आप. गृ. ५-२०) 'काममन्युभ्यां वा जुहुयात्' (आप. ध. १-२६-१३) इत्यादिषु नोपदेशः नैव तत्रेदं तन्त्रमिति नियमार्थः। कुत एतत्? केवलाज्यहविष्वेव प्रयोजनान्तरमन्तरेणास्य तन्त्रस्योपदेशात्। उपाकरणसमापनादीनां तु तत्र तन्त्रोपदेशाभावेऽपि 'कूष्माण्डैर्जुहुयाद्[2] घृतम्' इत्यादेरिव तन्त्रार्थित्वावगमात् अनेन साधारणविधानेनैव तन्त्रम्। तन्त्रार्थित्वावगमस्तु[3] गृह्यान्तरेषु तन्त्रवतामेवोपदेशात्। आपस्तम्बदर्शनानुगतोपदेशात्, अविगीतशिष्टाचाराच्च।

यद्येवमाज्यौषधहविष्केऽपि विवाहे किमर्थस्तन्त्रोपदेशः? उच्यते—लाजाहोमानां कृत्स्नविधानेन तन्त्रानपेक्षत्वात् उपनयनादिवदाज्यहोमार्थ एव तन्त्रोपदेशः। तथा 'तस्मिन्नुपविशत उत्तरो वरः' (आप. गृ. ४-९) इत्यस्यानन्तरमेवाग्नेरुपसमाधानादि, न तु 'यथास्थानमुपविश्य' (आप. गृ. ५-१) इत्यस्यानन्तरमिति क्रमार्थश्च। तथा केवलौषधहविषि स्थालीपाकेऽपि क्रमाथ एव। यद्यपि श्रौते दर्शनात् पात्रप्रोक्षणानन्तरमवघातादि युक्तम्, तथाप्येतद्वचनबलात् तन्त्रात् पुरस्तादेवेति। ऐशानेऽपि स्थालीपाके स्थण्डिलकल्पनान्ते तन्त्रम्, न तु पार्वणवद्गृह एव प्रतिष्ठिताभिघारणानन्तरमिति क्रमार्थ एव।

केचित्—कल्पान्तरविहितेषु अपार्वणातिदेशेषु आज्यहोमेषु तन्त्रार्थिषु 'कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम्' इत्यादिष्वस्य तन्त्रस्य प्राप्त्यर्थं यथोपदेशमिति सामान्यविधानम्। अत्रत्येषु तु विवाहादिषु येष्वेव पुनर्विधानं तत्रैव, नान्यत्र पण्यहोमादिष्विति नियमार्थं तत्र-तत्र तन्त्रविधानम्। पित्र्येषु तु 'एकैकशः पितृसंयुक्तानि' (आप. गृ. १-१८.) इत्यादिविशेषविधानात् तन्त्रसिद्धिरिति ॥ ८ ॥

एवं सर्वगार्ह्यहोमानां साधारणं स्मार्तं विधिमुक्त्वा, इदानीं पाकयज्ञेषु वैकल्पिकं श्रौतं विधिमाह—

लौकिकानां पाकयज्ञशब्दः ॥ ९ ॥

---

१. ङ—होमानामविशेषेण। २. ट—योऽपृतः। ३. ट—'कृत्स्नविधानाभावात्' इत्यधिकमस्ति। ४. ज.—पाणि।

अनु०—लौकिक जीवन से सम्बद्ध (औपासन, होम आदि) कर्मों के लिए 'पाकयज्ञ' शब्द का व्यवहार किया जाता है ॥ ९ ॥

टि०—हरदत्त मिश्र ने लोक का अर्थ शिष्ट किया है। सुदर्शनाचार्य के अनुसार वेदों के द्वारा वेदों के अर्थों को प्रकाशित करनेवाले, तीनों विद्याओं से सम्पन्न वृद्ध शिष्ट ब्राह्मणों को लोक कहते हैं। पाकयज्ञ का प्रयोग विवाह आदि कर्मों के लिए किया जाता है। 'पाकगुणको यज्ञः पाकयज्ञः'। 'पाकेन पक्वेन चरुणा साध्यो यज्ञ' ॥ ९ ॥

अनाकुला

लोके भवा लौकिकाः लोकस्मृतिलक्षणा इत्यर्थः। लोकशब्देन शिष्टा उच्यन्ते। पाकयज्ञ इति विवाहादीनां संज्ञा विधीयते। पाकशब्दोऽल्पवचनः, यथा—क्षिप्रं यजेत पाको देव (आप. गृ. २०-१५) इति। पाकगुणको यज्ञः पाकयज्ञ इति निर्वचने आज्यहोमेषु संज्ञा न स्यात्। तत्संज्ञाप्रयोजनं "यज्ञं व्याख्यास्यामः" (आप. प. १-१) इत्यत्र एतेषामन्तर्भावः। "निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजते" त्यत्र च धर्मप्राप्तिः ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

लोकयन्ति वेदैर्वेदार्थानिति लोकाः त्रैविद्यवृद्धाः शिष्टाः द्विजन्मानः। तैर्लोकैराचर्यन्ते यानि कर्माणि तानि लौकिकानि, तेषां मध्ये सप्तानां औपासनहोमादीनां पाकयज्ञशब्दः संज्ञात्वेन प्रसिद्धः, न तु श्रौतानां विवाहादीनां च, तत्र लोकानामप्रयोगात्। यदि लोकप्रयोगादेवैषां पाकयज्ञनामता प्रसिद्धैव, तर्हि 'पाकयज्ञेषु ब्राह्मणावेक्षो विधिः' इत्येतावताऽलम्, किमर्थं 'लौकिकानां पाकयज्ञशब्दः' इति ? । उच्यते-पाकेन पक्वेन चरुणा साध्यो यज्ञः पाकयज्ञः इत्येवं व्युत्पन्नसंज्ञानुवादात् नान्तरीयकावगतश्चरुरेवाग्निहोत्रिकविधौ हविः, न पुनर्विध्यन्तरवदाज्यादिकमपीति नियमज्ञापनार्थम्। बौधायनेन तु अत्राज्यं हविरुपदिष्टम्। न त्वाग्निहोत्रिकं हविरिह भवति, अग्निहोत्रधर्मप्रापकप्रमाणाभावात्। 'द्विर्जुहोति' (आप. गृ. २-११) इत्येवमादयः पुनः पञ्च पदार्थाः वचनबलाद्भवन्ति। देवतास्तु तत्तन्मन्त्रप्रतिपाद्या एव ॥ ९ ॥

[1]तत्र ब्राह्मणावेक्षो विधिः ॥ १० ॥

द्विर्जुहोति, द्विर्निमार्ष्टि, द्विः प्राश्नात्युत्सृप्याचामति निर्लेढीति ॥ ११ ॥

---

१. हरदत्तेन सूत्रद्वयमपीदमेकसूत्रतया परिगणितम्।

अनु० – पाकयज्ञों के लिए ब्राह्मणों पर आधारित विधि का पालन किया जाता है।

उक्त सन्दर्भ में ही कहा गया है कि वह दो बार हवन करता है, दो बार (अपने हाथों का) मार्जन करता है, दो बार अङ्गुलि का प्राशन करता है, अलग जाकर (स्रुक् से) आचमन करता है और स्रुक् को चाटता है॥ १०–११॥

टि० —हरदत्त मिश्र ने इस बात का निर्देश किया है कि जहाँ पूर्व सूत्र के अनुसार कोई विधि लागू होती है वहां ब्राह्मण ग्रन्थ पर आधारित नियम का ही, विशेषतः अग्निहोत्र कर्म में, अनुसरण किया जाता है।

प्रधान आहुतियो, स्विष्टकृत् प्राशन और भक्षण के लिए पर्याप्त चरु दर्वी में भरकर अग्नि के पश्चिम ओर दर्भों पर रखे। उसमें से निकालकर तत्तत् मन्त्र से सभी प्रधान आहुतियों का क्रमशः हवन करे। दर्वी से लेप लेकर, उसे दर्भ में लपेटकर शेष से स्विष्टकृत् के लिए हवन करे, दाहिने कन्धे पर जनेउ धारण करके दक्षिण ओर पृथ्वी पर गिराकर जल छूकर यज्ञोपवीति होकर दर्वी के लेप को अंगुली से निकालकर प्राशन करे, शुद्धि के लिए आचमन करे, फिर इसी प्रकार करे। शेष सम्पूर्ण हवि का भक्षण करके उसे चाटकर उसे कुशों से तथा जल से धोवे। तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १. ४. ५, तथा शतपथ ब्राह्मण २. ३. १. १८–२१ में इसी यज्ञक्रिया का वर्णन किया गया है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अग्निहोत्र यज्ञ में यजमान हाथ से स्रुक को पोछकर हाथ को बर्हिः से या पृथ्वी पर पोछना है। इसी का विधान आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ६. १०, ११., ११.४ में तथा कात्यायन-श्रौतसूत्र ६.१४.२० में भी किया गया है॥ १०–११॥

अनाकुला

तत्र तेषु पाकयज्ञेष्वपरो विधिर्ब्राह्मणावेक्ष इत्याचक्षते। ब्राह्मणमात्मनि प्रमाणत्वेनावेक्षत इति ब्राह्मणावेक्षः ब्राह्मणदृष्ट इत्यर्थः। विधिः प्रयोगः, यः प्रागुक्त आघारवान् दर्शपूर्णमासप्रकृतिः। [1]अयं त्वग्निहोत्रप्रकृतिः ब्राह्मणावेक्षः। उभयोर्विकल्पस्तत्रेत्युच्यते–येषु पाकयज्ञेषु आघारवतस्तन्त्रस्य प्रवृत्तिः तत्रैवास्य विकल्पेन प्राप्तिरिति दर्शनार्थम्। तेन पण्यहोमादिषु अस्य विधे[2]-रप्रवृत्तिः।

तत्र 'द्विर्जुहोती' त्यनेन अग्निहोत्राहुत्योरुभयोर्धर्मः पाकयज्ञेषु प्रधानाहुतिं स्विष्टकृतं चाधिकृत्य विहितो वेदितव्यः। 'द्विर्निमार्ष्टी'ति चाग्निहोत्रवल्लेपनि-मार्जनम्। 'द्विः प्राश्नाती' त्यङ्गुलिप्राशनम्। 'उत्सृप्याचामती'ति च यत्तत्र तृतीयं प्राशनं बर्हिषोपयम्योदङ्ङावृत्योत्सृप्याचामतीति तच्चोदितम्। निर्ले-

---

१. अयं त्वप्रकृतिः। २. विधेर्न प्रवृत्तिः।

ढोति यत्तत्र 'द्विः स्रुचं निर्लेह्य, इति च तच्चोदितम्। यावता च विधानेन होमादि सिद्धिस्तावदमन्त्रवदग्निहोत्रादेव प्रत्येतव्यम्। तद्यथा-स्रुवेणोन्नयनम्, पालाशीसमिदाहुतिधारणार्था, चतुर्गृहीतं पञ्चगृहीतं इति। तत्र प्रयोगः- अग्निमिध्वा परिसमूह्य, परिस्तीर्य, पर्युक्ष्य, आज्यहोमेष्वाज्यं संस्कृत्य, पक्वहोमेषु स्थालीपाकं स्रुक्स्रुवं संमृज्य यावत्प्रधानाहुति चतुर्गृहीतानि पञ्चगृहीतानि वा समवद्यति। यत्रोभयं हविस्तत्र तस्योभयस्य, यथामासि श्राद्धे। ततः पश्चादग्नेर्बर्हिष्युपसाद्य पालाशीं समिधमाधाय सर्वानेव मन्त्रान् समनुद्रुत्य सकृदेव प्रधानाहुतीर्हुत्वा। प्रातरग्निहोत्रवल्लेपमपमृज्य बर्हिषि निमार्ष्टि यद्यहनि कर्म। अथ रात्रौ सायमग्निहोत्रवत्। ततस्सौविष्टकृतीं द्वितीयामाहुतिं उत्तराहुतिवज्जुहोति-अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति स्थालीपाकेषु। 'यदस्य कर्मण' इत्याज्यहोमेषु। ईशानयज्ञे तु कर्म तत्र चोदिनेन मन्त्रेण। ततः पूर्ववल्लेपनमवमृज्य प्राचीनावीती दक्षिणतो भूमौ निमार्ष्टि। ततः स्रुचं सादयित्वा अङ्गुलिप्राशनादिनिर्लेपनान्तमग्निहोत्रवत्। ततो दर्भैः स्रुक्प्रक्षालनम्, ततः परिसमूहनपर्युक्षणे। एतदाग्निहोत्रिकं नाम तन्त्रं सर्वपाकयज्ञेषु आघारवता तन्त्रेण सह विकल्प्यते ॥ ०-१ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तत्र तेषु पाकयज्ञेषु मध्ये पार्वणादिषु पञ्चसु ब्राह्मणावेक्षो विधिर्भवति। यो विधिः प्रत्यक्षमेव ब्राह्मणमवेक्षते, नाग्निमिद्ध्वेत्यादिवल्लोकाचारानुमेयम्, सोऽप्येषु विकल्पेन भवतीत्यर्थः। नानयोर्विध्योर्मिथः संसर्गः। नापि स्मार्तस्यानेन बाधः। प्रत्यक्षब्राह्मणस्यापि स्मृत्यनुवादे [1]कल्पसूत्राधिकरणन्यायेन स्मृतितुल्यप्रमाणत्वात्। अत एव 'सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (तै० सं० ५-३-१२) इति श्रुत्या 'यजेत वाश्वमेधेन' (मनु. ११-७५) इति [2]मनुस्मृत्यनुवादेन च अश्वमेधद्वादशवार्षिकयोर्विकल्पः। बौधायनीये च व्यक्तोऽयमर्थः। तत्रोदाहरति—

आघारं प्रकृतिं प्राह दर्वीहोमस्य बादरिः।

अग्निहोत्रं तथाऽऽत्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम् ॥ इति (बौ. गृ. १-४-४४)

'तां न मिथः संसादयेदनादेशात्' (बौ. गृ. १-५-१) इति। होममन्त्रादयस्तु विध्यन्तरीया अर्थादाचाराच्चेहापि भवन्ति। यद्यस्यापि स्मृतितुल्यमेव

---

१. पू. मी. १-३-९ बौधायनीयापस्तम्बीयादीनां कल्पसूत्राणां यत्र प्रामाण्यं विचारितं तत् कल्पसूत्राधिकरणम्। कल्पसूत्रेषु प्रत्यक्षवेदपठितानि ब्राह्मणवाक्यानि बहून्युपलभ्यन्ते न तु तेषां वेदवत् स्वत एव प्रामाण्यम्। किन्तु मन्वादिस्मृतिवदेव मूलश्रुतिकल्पकत्वेनैव। तद्वदेवात्रापीत्यर्थः। २. ट. ठ. मनुस्मृत्यनुवादेन च।

प्रामाण्यं, किमर्थं 'ब्राह्मणावेक्षः' इति ? । उक्तोत्तरमेवैतत् । आग्निहोत्रिकविधौ श्रेषे 'यदि यजुष्ट' (ऐ ब्रा. २५-३४.) इति श्रौतं प्रायश्चित्तम् । न तु स्मार्तनाशे 'यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा' (ऐ. ब्रा. २५-३४) इति ।

सर्वे प्रधानहोमाः प्रधानहोमत्वसामान्यादेको होम इत्यभिप्रेत्य स्विष्टकृदपेक्षया श्रुतिः द्विर्जुहोतीत्याह, न पुनर्द्विरेव जुहोतीति । 'सप्तदश प्राजापत्यान्' (तै. ब्रा. १-३-४) इति वदिह[1] सम्प्रतिपन्नदेवतैकत्वाभावात् ।

केचित् यावन्तः प्रधानहोमास्तावन्ति चतुर्गृहीतानि स्रुचि सहावदाय होममन्त्रान् सर्वाननुद्रुत्य सकृदेव जुह्वति । द्विर्निमार्ष्टीत्यादि व्यक्तार्थम् ।

प्रयोगस्तु—न परिस्तरणदर्वीसंस्कारो ऽस्तरणादीनि, अत्रानुपदेशात् । चरुपाकस्त्वर्थाद्विद्यत एव । तेन चरुणा प्रधानाहुतिस्विष्टकृत्प्राशनभक्षणेभ्यः पर्याप्तेन दर्वीं पूरयित्वाऽपरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वाऽऽदाय तत्तन्मन्त्रैः सर्वाः प्रधानाहुतीः क्रमेण हुत्वा दर्व्यास्ततो लेपमादाय दर्भैर्निमृज्य शेषात्स्विष्टकृते हुत्वा प्राचीनावीती पुनर्लेपमादाय दक्षिणतो भूम्यां निमृज्याप उपस्पृश्य यज्ञोपवीती दर्व्या लेपं[2] मङ्गुल्याऽऽदाय प्राश्य शुद्ध्यर्थमाचम्य पुनरप्येवं कृत्वा उदङ्ङावृत्योत्सृप्य दर्व्यां हविश्शेषं सर्वं भक्षयित्वा तां निर्लेह्याचम्य तां दर्भैरद्भिः प्रक्षालयेदिति ।

ननु—वैश्वदेवौपासनहोमयोः कस्मान्नायं विधिः ? उच्यते । तत्र 'उभयतः परिषेचनम्' (आप. गृ. ७-२२.) इति एककार्ययोः द्वयोरपि विध्योः परिसङ्ख्यानात् अत एव बर्हिर्लेपप्रतिपत्त्योरभावाच्च ॥

केचित्तु—पाकयज्ञ इत्यत्र पाकशब्दस्याल्पवाचकत्वात् विवाहादयोऽपि सोमाद्यपेक्षया पाकयज्ञा इति तेष्वप्ययं विधिरिति । तन्न; तेषां मनुष्यसंस्कारार्थत्वेन अप्राधान्यात् प्रधानवाचियज्ञशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेः ॥ १०-११ ॥

एकाग्निविधिकाण्डे विवाहमन्त्राणां पूर्वमाम्नानात् विवाहमेव पूर्वं व्याख्यास्यन् तस्योदगयनादिनियमापवादेन कालमाह—

[3]सर्वंऋतवो विवाहस्य शैशिरौ मासौ परिहास्योत्तमं च नैदाघम् ॥ १२ ॥

---

१. सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वं एकदेवताकत्वम् ।

२. ट. ठ. अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामादाय ।

३. सर्वंर्तवः इति हरदत्तपाठः ठ—पुस्तकपाठश्च ।

अनु०—शिशिर ऋतु के दो महीनों (माघ और फाल्गुन) तथा ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम मास (आषाढ) को छोड़कर सभी ऋतुएं विवाह के लिए उपयुक्त होती हैं ॥ १२ ॥

अनाकुला

अथ विवाहविधिः प्रागुपनयनात् । शिशिरं परिहाप्येति वक्तव्ये शैशिरौ मासावित्युच्यते 'उत्तमञ्च नैदाघमि' त्यत्र मासप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा दिवसोऽपि प्रतीयेत । सर्वर्तुविधानं उदगयनापवादः । पूर्वपक्षादयस्तु परिभाषाप्राप्ताः विवाहेऽवस्थिता एव यथोपनयने वसन्तादिविधान इति केचित् ।

अन्ये तु पूर्वपक्षादेरप्यपवादं मन्यन्ते । तेषामपरपक्षे, रात्रौ च न निषिध्यते विवाहः ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सर्वे षडृतवः प्रत्येकं मासद्वयरूपाः विवाहस्य कालाः । द्वादशापि मासाः सापरपक्षादिकाः कार्त्स्न्येन काला इत्यर्थः । ऋतव इत्यनेन लक्षणया मासा एव विधित्सिताः; नर्तव इति कुतोऽवगम्यते ? उच्यते—शैशिरौ मासाविति मासपर्युदासात् । अन्यथा विधिपर्युदासयोरेकविषयत्वात् लघुत्वाच्च शिशिरं परिहाप्येति ब्रूयात् । प्रयोजनं तु विवाहस्य पूर्वपक्षादिनियमाभावः । यत्र पुनरुपनयनादावेवंविधहेत्वभावादृतोरेव विधित्सा, तत्र द्रव्यवदानद्वारा पुरोडाशस्य यागसाधनत्ववत् सामान्यविध्यवरुद्धपूर्वपक्षादिद्वारेणापि ऋतोः कर्मसाधनत्वसिद्धेः पूर्वपक्षादिर्नियत एव । शिशिरस्यर्तोः यौ द्वौ मासौ माघफाल्गुनौ, निदाघस्य ग्रीष्मस्य यश्चोत्तमोन्त्य आषाढः, तानेतांस्त्रीन् मासान् परिहाप्य वर्जयित्वा । अत्रोत्तममिति तमप्प्रत्ययात् यस्सौरतोऽन्त्यो नैदाघः, यश्चाधिकमासतो द्वितीय आषाढः तावपि पर्युदस्तौ ॥ १२ ॥

सर्वाणि पुण्योक्तानि नक्षत्राणि ॥ १३ ॥

अनु०—जिन नक्षत्रों को (ज्यौतिष में) शुभ नक्षत्र बताया गया है (तथा जिन मुहूर्तों को शुभ बताया गया है) वे सभी विवाह कर्म के लिए उपयुक्त होते हैं ।

अनाकुला

सर्वर्तुविधानस्य सर्वापवादत्वात् पुण्याहविधानार्थमिदम् । तथा च रात्र्यपरपक्षयोः विवाहप्रतिषेधः । एवमप्युक्तग्रहणमनर्थकं तत् क्रियते मुहूर्तपरिग्रहार्थम्-यानि पुण्यानि नक्षत्राणि यानि पुण्योक्तानि मुहूर्तानि तानि सर्वाणि विवाहस्य यथा स्युरिति । तत्र नक्षत्राणि ज्योतिश्शास्त्रादवगन्तव्यानि प्रातस्सङ्गवो मध्यन्दिनोऽपराह्णस्सायमित्येते मुहूर्ताः ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यानि ज्यौतिषे पुण्योक्तानि शुभफलप्रदत्वेनोक्तानि नक्षत्राणि। नक्षत्रग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्तिथ्यादीन्यपि। तत्र पुण्योक्तानि सर्वाण्यत्रोपसंहर्तव्यानि ॥ १३ ॥

तथा मङ्गलानि ॥ १४ ॥

अनु०—(शङ्खदुन्दुभिवीणावादन, कुलस्त्रीगीत आदि) सभी मांगलिक कर्म विवाह के अवसर पर करने योग्य होते हैं ॥ १४ ॥

टि०—यहाँ सभी मांगलिक कर्मों का निर्देश किया गया है, स्नान, शुद्धवस्त्र गन्धों का लेप, माला, नापितकर्म, शंख, दुन्दुभि, वीणा, तूण आदि बाजा, कुलस्त्रियों के गीत, सुन्दर रंग बिरंगे वस्त्र, छत्र धारण, ध्वजा आदि ॥ १४ ॥

अनाकुला

"ब्राह्मणान् भोजयित्वाशिषो वाचयित्वे"त्येवमादीनि स्वशास्त्रप्रसिद्धानि। मङ्गलानि स्नातोऽहतवासा गन्धानुलिप्तः, स्रग्वी भुक्तवानित्येवमादीनि नापितकर्माङ्कुरार्पणादीनि लोकप्रसिद्धानि। तान्येतानि सर्वाणि प्रत्येतव्यानि ॥

तात्पर्यदर्शनम्

[1]शङ्खदुन्दुभिवीणातूणववादित्रसम्प्रवादनानि कुलस्त्रीगीतानि केशश्मश्रादिप्रकल्पनाहतधौताच्छिद्रविचित्रवासोधारणगन्धानुलेपनसुगन्धस्रग्धारणापदातिगमनच्छत्रध्वजादीनि शिष्टाचारप्रसिद्धानि मंगलानि विवाहे उपसंहर्तव्यानि।

आवृतश्चास्त्रीभ्यः प्रतीयेरन् ॥ १५ ॥

अनु०—मन्त्ररहित क्रियाएं (लोकाचार, जो उस ग्राम, जनपद या कुल में प्रचलित हों) स्त्रियों से पूछकर (स्त्री-पुरुष के अनुरूप) करनी चाहिए ॥ १५ ॥

टि०—मन्त्ररहित क्रिया को आवृत् कहते हैं। विवाह के समय अनेक स्थानीय कर्म स्त्रियों के अनुसार किये जाते हैं। उन कर्मों को स्त्रियों से पूछकर जनपद, कुल आदि की परम्परा के अनुसार करना चाहिए ॥ १५ ॥

अनाकुला

मन्त्ररहिताः क्रियाः आवृत इत्युच्यन्ते। यस्मिन् जनपदे ग्रामे कुले वा या आवृतः प्रसिद्धाः तास्तथैव व्यवस्थिताः यथा प्रतीयेरन् न सर्वत्रैवमर्थम् ॥१५॥

---

१. ख. ग.—शङ्खतूर्यवीणापरतूणव।

तात्पर्यदर्शनम्

आवृतः क्रियाः वैवाहिक्यः अविशेषात् समन्त्रका अमन्त्रकाश्च । तास्सर्वा आस्त्रीभ्यः सर्ववर्णेभ्यस्सकाशादवगम्य प्रतीयेरन् कुर्वीरन् विवोढारः । तत्र समन्त्रकाः ग्रहपूजाङ्कुरारोपणप्रतिसरबन्धाद्या आचारसिद्धाः । अमन्त्रकाः [1]नाकबलियक्षबलीन्द्राणीपूजादयः । ताश्च यथाजनपदं यथावर्णं यथाकुलं यथास्त्रीपुंसं व्यवस्थिता एव । न तु सर्वास्सर्वत्र समुच्चिताः ॥ १५ ॥

[2]इन्वकाभिः प्रसृज्यन्ते ते वराः प्रतिनन्दिताः ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वितीयः खण्डः ।

अनु० — जो वर इन्वका (अर्थात् मृगशिरस्) नक्षत्र में विवाह करने के लिए कन्या के यहाँ जाते हैं, उनका स्वागत (बेटिहा पक्ष के लोग) बड़े हर्ष के साथ करते हैं ॥ १६ ॥

टि० — वस्तुतः यह सूत्र नहीं है, अपितु गाथा की एक पंक्ति है । हरदत्त मिश्र ने अपनी व्याख्या में स्पष्टतः इसे सूत्रकार की रचना नहीं माना है ॥ १६ ॥

अनाकुला

नक्षत्रप्रशंसार्था गाथा विवाहप्रकरणे वरप्रसङ्गार्थमुदाहृता । यदि वराः कन्याया वरयितारः कन्यावरणार्थं इन्वकाभिः प्रसृज्यन्ते ॥ १६ ॥

ते वरास्तैर्दुहितृमद्भिः प्रतिनन्दिताः सिद्धार्था भवन्ति । तस्माद्वरप्रसङ्गे प्रशस्तमिन्वका नाम नक्षत्रम् । 'इन्वकाशब्दो मृगशिरसी'ति स्वयमेव व्याख्यास्यति । तस्मात् ज्ञायते स्मृत्यन्तरप्रसिद्धा लौकिक्यैवेयं गाथा, न सूत्रकारस्य कृतिरिति ॥ १७[3] ॥

इति श्रीमद्धरदत्तप्रणीतायां गृह्यवृत्तावनाकुलायां द्वितीयः खण्डः ।

तात्पर्यदर्शनम्

इन्वकाभिः मृगशिरसि 'नक्षत्रे च लुपि' (पा. २-३-४५) इति सप्तम्यर्थे तृतीया । ये वराः वरयितारो मृगशिरसि प्रसृज्यन्ते कन्यावरणार्थं प्रेष्यन्ते, ते दुहितृमद्भिः प्रतिनन्दिताः प्रकर्षेण पूजिताः, सिद्धार्था भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने द्वितीयः खण्डः ।

---

१. क.—नागवल्ली. २. सूत्रद्वयमपीदमेकं सूत्रं हरदत्तस्य ।

३. खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते (१७) सप्तदश सूत्राणि, सुदर्शनमते च (१६) षोडशेति बोध्यम् ॥

अथ तृतीयः खण्डः

मघाभिर्गावो गृह्यन्ते ॥ १ ॥

अनु०—मघा नक्षत्र में गौएँ ग्रहण की जाती हैं (कन्या का अभिभावक दो गाएं मघा नक्षत्र में ग्रहण करता है ॥ १ ॥

टि०--आर्ष विवाह में कन्या के पिता को दो गायें दी जाती हैं। आपस्तम्ब-धर्म सूत्र में स्पष्ट निर्देश है "आर्षे दुहितृमने मिथुनौ गावौ देयौ" (२.११.१८) इन गायों को कन्या पक्ष वाले पिता आदि मघा नक्षत्र में ग्रहण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि आर्ष विवाह मघा नक्षत्र में ही होना चाहिए ॥ १ ॥

अनाकुला

यदि मघाभिः गावः क्रयादिना गृह्यन्ते, ताश्च गावः प्रतिनन्दिता भवन्ति। तस्मात् गोपरिग्रहे मघाः प्रशस्ताः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'आर्षे दुहितृमते मिथुनौ गावौ देयौ' (आप. ध. २-११-१८) इति वचनादार्षे विवाहे वरैर्दीयमाना गावो दुहितृमद्भिर्मघासु गृह्यन्ते। एतदुक्तं भवति-आर्षं विवाहं मघास्वेव कुर्यात्, न[१] ब्राह्मादिवत् नक्षत्रान्तरेऽपोति ॥ १ ॥

फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते ॥ २ ॥

अनु०—फल्गुनी नक्षत्रों में (सेना युद्ध कालीन व्यूह डाली जाती है) वधू अपने घर से ले जायी जाती है ॥ २ ॥

अनाकुला

यदि फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते सेना युद्धकाले सा च प्रतिनन्दिता भवति। तस्मात् सेनाव्यूहे प्रशस्ते फल्गुन्यौ। अविशेषात् पूर्वे, उत्तरे च। सर्वत्र "नक्षत्रे च लुपी" (पा. सू. २-३-४५) त्यधिकरणे तृतीया ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्र च वधूः फल्गुन्योरेव व्यूह्यते नीयते स्वगृहात्, न तु 'तां ततः' (आप. गृ. ५-१३) इति वचनात् ब्राह्मादिवत्तदानीमेव ॥

कश्चित्—'इन्वकाभि'रित्यादि 'फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते' इत्यन्तमुत्तरत्रेन्वका-शब्दस्य व्याख्यानात् शाखान्तरीया गाथेति कल्पयन्तः, मघासु गवां क्रयादिना

---

१. ट ब्राह्मादिविवाहमिव।

स्वीकारः, सेनायाश्च युद्धे व्यूहः, अविशेषात् पूर्वयोरुत्तरयोर्वा फल्गुन्योरिति प्रकृतानुपयोगितया व्याचक्षते ॥ २ ॥

यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति तां निष्ट्यायां दद्यात् प्रियैव भवति [1]नेव तु पुनरागच्छतीति ब्राह्मणावेक्षो विधिः ॥ ३ ॥

अनु०—यदि ऐसी इच्छा हो कि पुत्री अपने पति की प्रिया होवे तो उसे निष्ठा (स्वाति) नक्षत्र में प्रदान करना चाहिए, और तब वह निश्चित रूप से अपने पति को प्यारी होती है। और फिर (रोग, दरिद्रता आदि से पीड़ित होकर पिता के घर वापस नहीं आती।) यह क्रिया ब्राह्मण के ऊपर आधारित है ॥ ३ ॥

टि०—निष्ठा नक्षत्र का यह प्रभाव माना गया है कि निष्ठा नक्षत्र में प्रदत्त कन्या अपने पति के घर सुखी रहती है, रोग, दरिद्रता आदि कष्ट से पीड़ित होकर पिता के घर नहीं आती। कुछ आचार्य इस नक्षत्र के विवाह को निन्दास्पद मानते हैं, जैसा कि हरदत्त मिश्र ने अपनी व्याख्या में निर्देश किया है। तैत्तिरीयब्राह्मण १.५.२.३ में इसी का संकेत है ॥ ३ ॥

अनाकुला

यां दुहितरं पिता प्रियां कामयेत भर्तुरियं प्रिया स्यादिति तां निष्ठ्यां नक्षत्रे दद्यात्। एवं दत्ता सा भवत्येव तस्य प्रिया। अयं चापरोऽस्य नक्षत्रस्य गुणः सा पितृगृहात् पुनरर्थिनी नागच्छति।[2] पतिगृह एव तस्यास्सर्वे कामास्सम्पद्यन्ते।

अन्ये तु निन्दामिमां मन्यन्ते। ब्राह्मणावेक्षो विधिरिति वचनात्, अन्येऽपि स्मृत्यपेक्षा नक्षत्रविधयो भवन्ति। अन्यथा पुंसवने तिष्यवत् विवाहे इदमेव नक्षत्रं स्यात् ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इयं भर्तुः प्रिया स्यादिति यां दुहितरं पिता कामयेत तां निष्ठ्यायां स्वातौ वराय दद्यात्। सा तस्य प्रियैव भवति। नेव तु नैव च रोगदारिद्र्यादिना पीड्यमाना अर्थिनी पुनः पितृगृहमागच्छति; स्वगृह एव तस्यास्सर्वे अर्थास्सम्पद्यन्त इति ब्राह्मणावेक्षो विधिः। अत्रापि पूर्ववत् स्मार्तपुण्योक्तनक्षत्रैर्विकल्पः ॥ ३ ॥

[3]इन्वकाशब्दो मृगशिरसि ॥ ४ ॥ निष्ठ्याशब्दस्स्वातौ ॥ ५ ॥

---

१. ग्र. नैव, २. [ट-]वरस्य गृहे। ३. सूत्रद्वयमप्येकमेकं सूत्रं हरदत्तस्य,

अनु०—इन्वका शब्द से मृगशिरस् नक्षत्र का अभिप्राय है।
निष्ठया का अर्थ है स्वाति नक्षत्र में ॥ ४–५ ॥

अनकुला

छन्दसि प्रयुक्तत्वादेतयोरर्थकथनम् ॥ ४ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एते सूत्रे व्यक्तार्थे ॥ ४.५ ॥

विवाहे गौः ॥ ६ ॥

अनु०—विवाह के स्थान पर (कन्या वाले को) एक गौ आलब्धव्य होती है।

अनाकुला

विवाहस्थाने गौरालब्धव्या दुहितृमता ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

विवाहस्थाने गौस्सन्निधाप्या ॥ ६ ॥

गृहेषु गौः ॥ ७ ॥

अनु०—घर में भी एक गौ (कन्यावाले द्वारा) आलब्धव्य होती है ॥ ७ ॥

अनाकुला

गृहेषु च गौरालब्धव्या तेनैव दुहितृमता। तयोर्विनियोगः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तथा गृहेषु शालायां अन्या गौस्सन्निधाप्या ॥ ७ ॥

किमर्थमित्यत आह—

तया वरमतिथिवदर्हयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—पहली गौ द्वारा वर की पूजा उसी प्रकार (मधुपर्क से) पूजा करनी चाहिए, जैसे अतिथि की पूजा की जाती है ॥ ८ ॥

टि०—शांख्यायनगृह्यसूत्र १.१२.१० में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम गौ द्वारा कन्या का पिता वर की अगवानी करे ॥ ८ ॥

अनाकुला

या विवाहे गौः तया वरमतिथिवत् पूजयेत्। अतिथिवदिति वचनात् मधुपर्केण च। "गोमधुपर्कार्हो वेदाध्याय" (आप. ध २-८-५) इति वचनात् ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तया विवाहस्थाने सन्निधापितया गवा, न त्वनन्तरोक्तया, वरमतिथिवत् अतिथिं यथा तथा अर्हयेत् पूजयेत्। तया हविरुत्पत्तिद्वारेणोत्सर्गद्वारेण

ना'ङ्गभूतया युक्तेन मधुपर्केण वरमवेदाध्यायिनमपि पूजयेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

योऽस्यापचितस्तमितरया ॥ ९ ॥

अनु०—दूसरी गौ द्वारा उस वर के पूज्य (पिता या आचार्य) की भी (मधुपर्क से) पूजा करनी चाहिए ॥ ९ ॥

टि०—मधुपर्क के अधिकारी व्यक्ति हैं–आचार्य, ऋत्विज, श्वशुर, राजा, वर और वर का पूज्य 'आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञे वरायापचिताय च"। वर के साथ आये (उसके पिता आदि) पूज्य जन से तात्पर्य है विवाह में वर के लिए और उसके साथ आये हुए के लिए अग्नि से अलग-अलग अन्नसंस्कार होता है। ओल्डेन बर्ग ने 'अपचिताय' से, भाष्यकारों का निर्देश कर वर का ही अर्थ लिया है किन्तु 'अनाकुला' तथा 'तात्पर्यदर्शन' दोनों में ही 'अपचिताय' से वर के पूज्य 'तेन सहागत आचार्यः' अथवा 'पित्राचार्यत्वादिना संबन्धी' अर्थ किया गया है जो समीचीन है ॥ ९ ॥

अनाकुला

योऽस्य वरस्यापचितः पूज्यः तेन सहागत आचार्यस्तमितरया गृहेषु या गौरालभ्यते तया। किमित्यपेक्षायां अतिथिनदर्हयेदित्येव। विवाहे वराय तत्सहायेभ्यश्चान्यस्मिन्नग्नौ पृथगन्नसंस्कारो भवति। वपाहोमश्च तत्रैव। अपचिताय तत्सहायेभ्यश्च गृहेषु पृथगन्नसंस्कारः। गोश्च वपाश्रपणं होमश्चौपासन एवेत्यनुष्ठानप्रकारः ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

योऽस्य वरस्य पित्राचार्यत्वादिना सम्बन्धो, लोके चापचितो[2] विद्याभिजनादिसम्पत्त्या। यद्वा वरस्यापचितः पूज्यः। तमितरया गृहेषु सन्निधापितया[3] अतिथिवदर्हयेदिति सम्बन्धः। एतन्मधुपर्कद्वयमपि विवाहाङ्गम्, प्रकरणात्। दातृपुरुषार्थत्वे तु 'आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञे वरायापचिताय च'[4] इति ब्रूयात्। प्रत्युत 'अतिथिः पितरो विवाहश्च' (आ. गृ. ३-१०) इति विवाहसम्बन्धमेवाह।

ननु–वरं चापचितं चातिथिवदर्हयेदिति वक्तव्ये 'विवाहे गौः' इत्यादि किमर्थम्? उच्यते–उभयोः पूजयोर्भिन्नदशात्वेन भिन्नतन्त्रत्वज्ञापनार्थम्; इतरथा सम्भवतां तन्त्रता स्यात्। 'सर्वेभ्यो वैका[5] मविभवत्वात्' इति कल्पान्तरे सर्वेभ्यः ऋत्विग्भ्यो विकल्पेन गवैकत्वदर्शनादिहापि वरापचितयोर्विकल्पेन प्रसक्तं गवैकत्वं माभूदिति प्रतिषेधार्थं च ॥ ९ ॥

---

१. ट ठ–विवाहाङ्गभूतया। २. ख–विद्याभिजनसम्पत्त्या।

३. ट. पूर्ववत् मधुपर्काङ्गभूतायेत्यधिकम्। ४. ख. ग.—चशब्दो नास्ति।

५. क. थ.–वका गां विमवत्वात् ज–वैकामविभावित्वात्।

एतावद्गोरालम्भस्थानमतिथिः पितरो विवाहश्च॥ १० ॥

अनु०—अतिथि के आगमन, पितरों के लिए किए जाने वाले अष्टकाकर्म तथा विवाह इन्हीं (तीन अवसरों) पर गौ का आलम्भन करना चाहिए, (अन्यपाकयज्ञों में नहीं) ॥ १० ॥

टि०—गौ का आलम्भन दूसरे पाकयज्ञों में नहीं होता। दूसरे कल्पों में ईशानादि यज्ञों में भी गाय के आलम्भन का विधान है, किन्तु आपस्तम्ब ने इसका निषेध किया है। अतिथि से वेद के अध्येता आगन्तुक से है और पितरः से अष्टकादिकर्मों से। जैसा कि ओल्डेनबर्ग ने निर्देश किया है यह सूत्र श्लोक का आधा भाग है ॥ १० ॥

अनाकुला

एतेष्वेव त्रिषु स्थानेषु गोरालम्भो नान्यत्र पाकयज्ञेषु। अतिथिशब्देनातिथ्यकर्म व्यपदिश्यते "यत्रास्मा अपचितिं कुर्वन्ती" (आप. गृ. २२-३) त्येवमादि। पितृशब्देनाष्टकाकर्म "श्वोभूते दर्भेण गाम्" (आप. गृ. २२-३) इत्यादि। विवाहशब्देनानन्तरोक्तस्य ग्रहणम्। कल्पान्तरेष्वीशानयज्ञादावपि गोरालम्भ आम्नातः, तत्प्रतिषेधार्थो नियमः। एवं ब्रुवता कल्पान्तरे दृष्टा अन्ये विशेषा अभ्यनुज्ञाता भवन्ति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अतिथिः वेदाध्याय्यागतः पितरः अष्टकाकर्म, विवाहश्चेति, यदेतत्त्रयं एतावत् गवालम्भाङ्गकर्मनिमित्तम्। एतदुक्तं भवति-यथाऽतिथिः पितरश्च [1]गवालम्भाङ्गकर्मनिमित्तभूता एवं विवाहोऽप्यस्मादेव वचनाद्विशेषणान्तरनिरपेक्ष इति। यद्येतत्सूत्रमेवं न व्याख्यायेत तदा 'गौरिति गां प्राह' (आप. गृ. १३-१५) 'श्वोभूते दर्भेण गामुपाकरोति' (आप. गृ. २२-३) 'विवाहे गौः' (आप. गृ. ३-६) इत्येतैरेव सिद्धत्वात् व्यर्थमेव स्यात्; तेन अवेदाध्यायिभ्यामपि वरापचिताभ्यां धर्मोक्तगोरहितो मधुपर्को देयः। वेदाध्यायिभ्यां तु तत्सहित इति ॥

केचित्—एतत्त्रयमेवास्माकं गोरालम्भस्थानम्, न पुनरन्येषामिव विकल्पेनापीशानबलिश्शूलगवापरनामा एवं वदन्नस्माकमपि कल्पान्तरोक्तानपि विशेषान् विकल्पेनानुजानातीति ॥ १० ॥

अथ विवाहे वर्जनीयाः कन्या आह—

सुप्तां रुदन्तीं निष्क्रान्तां वरणे परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

---

१. ठ. गवालम्भाङ्गकर्मणि।

अनु०—जो कन्या (वर के वरणार्थ आने पर) सोती है, रोती है या घर से निकल जाती है, उनका वरण कदापि नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥

टि०—जब वर कन्या का वरण करने जावे तब यदि कन्या सोती हो, रोती हो या घर से निकल कर भागती हो तो उसका एक दम परित्याग कर देना चाहिए। 'परि' शब्द का प्रयोग इसी बात को ध्वनित करता है कि नितान्त प्रतिषेध होना चाहिये। हरदत्त मिश्र ने यह सुझाया कि यदि वर के मन और नेत्र उस पर आकृष्ट हों [देखिए आगे सूत्र २१] तो वह कन्या में इन दुर्गुणों और अशुभ लक्षणों के होते हुए भी वरण कर सकता है ॥ ११ ॥

अनाकुला

वरेषु वरणार्थं प्राप्तेषु या कन्या स्वपिति रोदिति निष्क्रामति वा गृहात्, तस्या वरणं न कर्त्तव्यम्। अशुभलिङ्गान्येतानीति। परिशब्दोऽत्यन्तप्रतिषेधार्थः मनश्चक्षुषोर्निबन्धे सत्यपीति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

या वरेषु वरणार्थं प्राप्तेषु स्वपिति, या रोदिति, या वा गृहान्निष्क्रामति, ता एता वरणे परिवर्जयेत् अत्यन्तं वर्जयेत्, ऋद्धौ ज्योतिषादिभिर्ज्ञातायामपि; यतस्स्वापादीनामत्रानृद्धिलिङ्गत्वं[1] प्रबलत्वं च विवक्षितम् ॥ ११ ॥

दत्तां गुप्तां द्योतामृषभां शरभां विनतां विकटां मुण्डां मण्डूषिकां साङ्कारिकां रातां पालीं मित्रां स्वनुजां वर्षकारीं च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अनु०—जो कन्या दूसरे वर की वाग्दत्ता हो, (सम्बन्धियों द्वारा) प्रयत्नपूर्वक रक्षित हो, द्योता (विषमदृष्टि, या पीले नेत्रों वाली), ऋषभा (बैल की तरह चलने वाली या शरीर वाली), शरभा (=फीकी कान्तिवाली, नीले रोओं वाली या कुरूपा) हो, झुके हुए शरीर वाली (कुबड़ी) हो, विकट जांघों वाली, गंजे शिर वाली, मेढक की तरह त्वचा वाली या अल्पकाया, सांकारिका (दूसरे कुल से उत्पन्न या जिसके गर्भस्थ होने पर माता ने अपने पति का अस्थिसंचयन किया हो), राता (= अधिक भोगविलास में रमण करने वाली, खेल कूद मनोरञ्जन में अधिक रुचि लेने वाली अथवा ऋतुस्नाता), बछड़ों और खेत की रखवाली करती हो, (= चरवाही या खेत रखाने का काम करती हो), अनेक सखियों और मित्रों वाली हो, जिसकी छोटी बहन अधिक सुन्दर हो, जिसकी अवस्था वर से बहुत समीप हो (उसी वर्ष में जन्मी हो) उसका वरण नहीं करना चाहिए ॥ १२ ॥

टि०—गुप्ता का अर्थ है ऐसी कन्या जो चारित्रिक दोष की शंका से कञ्चुकी आदि द्वारा सुरक्षित रखी गयी हो। शरभा का अर्थ हरदत्त मिश्र ने 'अतिदर्शनीया'

---

१. ख. ग-एतयोरेव कोशयोः प्रबलत्वं चेति दृश्यते।

किया है और उसके वर्जन का कारण उसके प्रति जारों के और जारों के प्रति उसके आकर्षण की सम्भावना मानी है। किन्तु सुदर्शनाचार्य ने भिन्न अर्थ किया है—'शीर्णदीप्तिः, सर्वनीललोम्नी वा अरूपा वा निष्प्रभा वा।' किन्तु उन्हें भी 'अतिदर्शनीया' अर्थ से परिचय है। 'स्वनुजा' का अर्थ जिसकी छोटी बहन अधिक सुन्दर हो इसके वर्जन का औचित्य सुदर्शनाचार्य ने अपनी व्याख्या में यह कह कर दिया है कि 'शोभनायामनुजायां कदाचित् प्रमादस्स्यात्।' कहीं अधिक सुन्दर छोटी बहन की ओर आकर्षित होने की सम्भावना न रहे।

ओल्डेनबर्ग ने इस सूत्र के ऊपर अपनी टिप्पणी में यह उचित ही निर्देश किया है कि इस सूत्र की व्याख्याएं अस्पष्ट हैं और कई शब्दों का अर्थ अटकलबाजी से लगाया गया है। व्याख्याओं में एक ही शब्द का तीन चार वैकल्पिक अर्थ दिया गया है जिससे यह स्पष्ट है कि भाष्यकारको निश्चय नहीं है कि किस दुर्लक्षण से अभिप्राय है॥ १२॥

अनाकुला

दत्ता वाचान्यस्मै दत्ता। गुप्ता प्रयत्नेन रक्ष्यमाणा। दुश्शीला वा सा भवति अशुभलक्षणा वा। द्योता विषमदृष्टिः। ऋषभा ऋषभशीला। शरभा अतिदर्शनीया। जारास्तां कामयेरन् सा च तान्। विनता विनतगात्रा, कुब्जा वा। विकटा विस्तीर्णजङ्घा। मुण्डा अपनीतकेशा। मण्डूषिका मन्डूकत्वक् अश्लक्ष्णेत्यर्थः। वामनेत्यन्ये। सांकारिका कुलान्तरे जाता[1] कुलान्तरस्यापत्यत्वं गता वा, यस्यां वा, गर्भस्थायां माता अस्थिसञ्चितवती। राता रतिशीला[2]। पाली वत्सादीनां[3] पालयित्री। मित्रा मित्रवती बहुमित्रेत्यर्थः। स्वयं वा मित्रभूता। स्वनुजा यस्या अनुजा शोभना स्वयंदर्शनीया सा स्वनुजा[4], वरजननादूर्ध्वमल्पीयसि काले जाता तस्मिन्नेव संवत्सरे जातेत्यन्ये। वर्षकारी वर्षणाधिका वर्षकारी स्वेदनशीला इत्यन्ये। वर्जयेदित्युच्यते वरणे परिवर्जयेदित्यस्यानुवर्तनं माभूदिति। तेन येषु वरणं नास्ति ब्राह्मादिषु विवाहेषु तेष्वप्यासां प्रतिषेधः।[5] किञ्च तदनुवृत्तावत्यन्तप्रतिषेधप्रसङ्गः॥ ११॥

तात्पर्यदर्शनम्।

दत्ताद्याः पञ्चदश कन्या वर्जयेत्। दत्ता अन्यस्मै वाचा प्रतिश्रुता, उदकपूर्वं वा प्रतिपादिता। गुप्ता अदर्शनार्थं कञ्चुकादिभिरावृता, प्रयत्न-संरक्ष्यमाणा वा दौश्शील्यादिशङ्कया। द्योता पिङ्गाक्षी, बभ्रुकेशी वा, विषमदृष्टिर्वा। ऋषभा

१. ढ- पुस्तके तस्मिन्नेव वत्सरे जातेत्यन्ये इत्यधिकमस्ति, कुलान्तरेत्यादिसञ्चितवतीत्यन्तं नास्ति। २. ढ-पुस्तके 'क्रीडाप्रियेत्यर्थः' इत्यधिकम्।

३. ढ-गवादीनां रक्षां करोति। ४. ढ-पुस्तके दन्द्विस्सह जातेति केचित् इत्यधिकम्। ५. तदुक्तौ।

प्रधाना, ऋषभस्येव शरीरं गतिः शीलं वा यस्यास्सा, ककुद्वास्ति यस्यास्सा। शरभा शीर्णदीप्तिः, [1]सर्वनीललोम्नी वा, अरूपा वा, [2]निष्प्रभा वा। केचित्-दर्शनीया यतस्सा जारकाम्या।

विनता कुब्जा। विकटा विकटजङ्घा, विस्तीर्णजङ्घा वा। मुण्डा अपनीतकेशा, अजातकेशा वा। मण्डूषिका अल्पकाया, अरुणदती वा [3] मण्डूकत्वग्वा। अपरे-वामनाङ्गा, दग्धाङ्गा वा।

साङ्कारिका गर्भस्थायां यस्यां सत्यां माता भर्तुरस्थिसञ्चयनकारिका, कुलान्तरस्य दुहितृत्वं गता वा। राता रमणशीला कन्दुकादिक्रीडाप्रियेत्यर्थः, ऋतुस्नाता वा। केचित्-रतिशीला विषयोपभोगशीलेत्यर्थः।

पाली वत्सक्षेत्रादिपालिका। मित्रा बहुमित्रा, सखी वा। स्वनुजा शोभनाऽनुजा यस्यास्सा, न तु शोभनोऽनुजो यस्याः, शोभनायामनुजायां कदाचित् प्रमादस्स्यादिति। केचित्-वरजन्मसंवत्सर एव पश्चाज्जातेति।

वर्षकारी वराद्वर्षेणाधिका। याऽत्यन्तं [4]स्रवति सा वा। परिवर्जयेदित्यनुषङ्गे सत्यपि वर्जयेदिति पुनर्वचनं ब्राह्मादिषु सर्वेषु विवाहेष्वासां प्रतिषेधार्थम्; असति गत्यन्तरे ऋद्धावपि परीक्षितायां दत्तेतरासामनिषेधार्थं वा॥ १२॥

[5]नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाश्च गर्हिताः॥ १३॥

सर्वाश्च रेफलकारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत्॥ १४॥

अनु०—जिन कन्याओं का नाम नक्षत्र, नदी या वृक्ष का नाम हो वे गर्हित होती हैं जिन कन्याओं के नाम के उपधा में (अन्त्य वर्ण से पूर्व) रेफ या लकार हो वे गर्हित होती हैं और उनका वरण नहीं करना चाहिए॥ १३-१४॥

टि०—तेरहवें सूत्र के साथ पढ़ने पर ये सूत्र बहुत कुछ एक श्लोक की तरह दिखाई पडते हैं। १४॥

अनाकुला

नक्षत्रं नाम यासां ता तथा नक्षत्रनामाः, नदीनामाः वृक्षनामाश्च रोहिणी गङ्गा करञ्जेत्यादयः। ताश्च विवाहे गर्हिताः। तथा सर्वाश्च रेफलकारोपान्त्यः रेफलकारोपधाः एवंभूतं नाम इत्यर्थः। करा काला [6]सुवेलेत्यादयः। ता वरणे परिवर्जयेत् वरणमप्यासां न कर्तव्यमित्यर्थः॥ १२॥

---

१. ट. ठ.-सर्वगात्रेषु नीललोम्नी। २. ख. ग.-(निष्प्रभावा इति नास्ति)।

३. ख. ग—मण्डकत्वग्ववन्निष्प्रभा वा।

४. ङ-स्रवन्ती। ५. सूत्रद्वयमपीदमेकं हरदत्तस्य। ६. ट-सुशीला।

तात्पर्यदर्शनम् ।

नक्षत्रस्य नामेव नाम यासां ता नक्षत्रनामाः । एकस्य नामशब्दस्य लोपः, उष्ट्रमुखादिवत् । एवमुत्तरयोरपि विग्रहः । रोहिणी चित्रेत्येवमादयो नक्षत्रनामाः । गङ्गेत्यादयो नदीनामाः । शिंशुपेत्याद्या वृक्षनामाः । गर्हिताः वर्जनीयाः ॥ १३ ॥

रेफो वा लकारो वा यासां [1]नाम्न उपान्त उपधेत्यर्थः, यथा गौरी शालीत्यादि । शेषं व्यक्तम् । अत्र चकारेण गर्हिता इत्यनुकर्षणात् आसां वर्जनीयत्वे सिद्धे 'सर्वा वरणे परिवर्जयेत्' इति व्यर्थम् । न; [2]सुग्रहार्थत्वात् ।

अथ वा या एता रेफलकारोपान्ता गौरी शालीत्याद्याः, याश्च प्रकारान्तरेणापि स्मृत्यन्तरोक्ता रेफलकारोपान्ताः, यथा सगोत्रा समानप्रवरा पुंश्चलीति तास्सर्वा वरेण परिवर्जयेदिति ज्ञापनार्थम् । इदं त्विह वक्तव्यम्-असत्यपि गत्यन्तरे व्यक्तेऽप्यृद्धिलिङ्गे सगोत्रादीनां [3]सर्वथा निषेध एव । गौर्यादीनां तु न तथा गुप्तादीनामिवेति ॥

केचित्-नक्षत्रनामेत्यादिकेयं शास्त्रान्तरगीता गाथा, तस्याः पादपूरणानि 'सर्वा वरणे परिवर्जयेदि'ति पदानीति परिकल्पयन्तो, यस्मान्नक्षत्रादिनामा रेफलकारोपान्ताश्च गर्हिताः तस्मात्तास्सर्वा वरणे परिवर्जयेदिति व्याचक्षते ॥ १४ ॥

[4]शक्तिविषये द्रव्याणि प्रतिच्छन्नान्युपनिधाय ब्रूयादुपस्पृशेति ॥१५॥

नानाबीजानि संसृष्टानि वेद्याः पाँसून् क्षेत्राल्लोष्टँ शकृच्छ्मशानलोष्टमिति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि सामर्थ्य के अनुसार संभव हो सके तो (आगे बताये जाने वाले) पदार्थों को छिपाकर कन्या के सामने रखे, और उससे कहे कि इन वस्तुओं में किसी एक को स्पर्श करो ये पदार्थ निम्नलिखित होते हैं । एक साथ मिले हुए (व्रीहि यव, आदि) अनेक प्रकार के बीज, वेदी से ली गई मिट्टी, खेत से लिया गया मिट्टी का ढेला, गाय का गोबर, तथा श्मशान से लाया गया मिट्टी का ढेला ॥१५-१६॥

टि०— यह क्रिया तभी की जाती है जब कन्या के बन्धु बान्धव सहमत हों, अन्यथा नहीं करना चाहिए । इसका संकेत हरदत्त मिश्र ने अपनी व्याख्या में किया है । सुदर्शनाचार्य भी इस ऋद्धिपरीक्षा को वैकल्पिक माना है विवाह का अनिवार्य अंग नहीं ॥ १६ ॥

---

१. ठ-नामसु । २. सुग्रहणार्थत्वात् । ३. ठ-त्रयाणामित्यधिकम् ।
४. सूत्रद्वयमप्येकीकरोति हरदत्तः ।

अनाकुला

'लक्षणसम्पन्नामुपयच्छेते'ति वक्ष्यति। तत्र लक्षणानामज्ञातत्वात् तत्परीक्षणोपाय [1]उपदिश्यते। नचायं नित्यो विधिः, 'शक्तिविषय' इति वचनात्। शक्तिस्सामर्थ्यं यदि सम्भवः। यदि वधूज्ञातयोऽनुमन्येरन् तदा कर्तव्यं नान्यथेत्यर्थः। तत् कथं कर्तव्यम्? उच्यते-द्रव्याणि पञ्च वक्ष्यमाणानि मृत्पिण्डेषु प्रतिच्छन्नानि कृत्वा उपनिधाय कन्यासमीपे निधाय तां ब्रूयाद्वरः—एषां पिण्डानां एकमुपस्पृशेति। कानि पुनस्तानि द्रव्याणि? नानाबीजानि संसृष्टानि व्रीहियवादीनि। वेद्याः पांसूनाहृतान्, सस्यसम्पन्नात् क्षेत्रादाहृतं लोष्टं, शकृत् गोमयं, श्मशानादाहृतं लोष्टमित्येतानि। बीजानां द्रव्यत्वाव्यभिचारेऽपि द्रव्याणीत्युच्यते-शास्त्रान्तरे दृष्टानामन्येषामपि द्रव्याणामिह विकल्पेन प्राप्त्यर्थं तद्यथा— [2]अविदासिनो ह्रदात् सर्वसम्पन्ना देवनात् कितवी इरिणादधन्येति (आश्व. गृ. १-५-६.)॥ १३॥

तात्पर्यदर्शनम्।

शक्तिस्सामर्थ्यम्। विषयोऽवकाशः। अस्यामृद्धिपरीक्षायां वर [3]तत्पक्षिणां सामर्थ्यस्यावकाशे सम्भवति, यदि कन्या च तदीयाश्चेमां परीक्षामभ्युपगच्छेयुरित्यर्थः। यत एवात्र शक्तिविषय इत्याह, अत एवैषा ऋद्धिपरीक्षा ज्योतिषादिभिर्वैकल्पिकी, न तु नित्यवद्विवाहाङ्गम्। द्रव्याणि वक्ष्यमाणानि मृत्पिण्डेषु च प्रतिच्छन्नान्येकस्मिन् भाजने निधाय [4]कन्यां समीपे च कृत्वा, तां ब्रूयादेषां पिण्डानामेकमुपस्पृशेति॥ १५॥

कानि तानीत्यत आह—

नानाबीजानि व्रीहियवादिबीजानि। संसृष्टानि एकस्मिन् पिण्डे क्षिप्तानि। वेद्याः सौमिक्याः आहृतान् पांसून्। क्षेत्रात् सस्यसम्पन्नादाहृतं लोष्टम्। अवशिष्टे प्रसिद्धे॥ १६॥

[5]पूर्वेषामुपस्पर्शने यथालिङ्गमृद्धिः॥१७॥ उत्तमं परिचक्षते॥१८॥

अनु०—यदि वह अन्तिम से पहले वालों में से किसी का स्पर्श करती है तो उस पदार्थ से संबद्ध धन द्वारा समृद्धि का शकुन होता है, अन्तिम का स्पर्श करने पर वह गर्हित होता है॥ १७-१८॥

टि०—बीजों का स्पर्श करने पर प्रजा की समृद्धि का फल सूचित होता है, वेदि की मिट्टी पर हाथ रखने पर यज्ञों द्वारा समृद्धि की सूचना मिलती है, खेत की मिट्टी

---

१. ट-उच्यते। २. अविदासिनः अशोष्यात्। इरिणात् ऊषरात्।

३. ठ तत्पक्षीयाणां। ४. कन्यां समीपे च युगपत् कृत्वा।

५. सूत्रद्वयमिदं एकं हरदत्तस्य।

पर हाथ रखे तो धन-धान्य की वृद्धि होती है, गोबर पर हाथ रखने पर पशुओं से वृद्धि होती है और श्मशान की मिट्टी मृत्यु का सूचक तो है ही।

इस क्रिया का विधान इस बात का संकेत देता है कि वैवाहिक संबन्धों में इस प्रकार के शकुनों का कितना ध्यान रखा जाता था और भावी मंगल और समृद्धि तथा विनाश का सूचक अनेक शकुनो अपशकुनो को मान लिया गया ॥ १८ ॥

अनाकुला

तत्र बीजस्पर्शने प्रजाभिस्समृद्धिः। वेदिपुरीषे यज्ञैः, क्षेत्रलोष्टे धनधान्यैः, गोमये पशुभिः, श्मशानलोष्टे मरणमिति यथालिङ्गार्थः। उत्तममन्त्यं द्रव्यं परिचक्षते गर्हन्ते वर्जयन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

पूर्वेषां चतुर्णामुपस्पर्शने [1]यथालिङ्गमृद्धिः। नानाबीजानामुपस्पर्शने प्रजानां समृद्धिः। वेद्याः पांसूनां यज्ञानां, क्षेत्राल्लोष्टस्य सस्यानां, शकृतश्च पशूनामिति ऋद्धिनिश्चयाद्विवाहकर्तव्यतानिश्चय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उत्तमं श्मशानलोष्टं परिचक्षते गर्हन्ते शिष्टाः, जायापत्योरन्यतरस्य वा [2]मरणलिङ्गत्वादिति ॥ १८ ॥

ग्राह्यामाह—

बन्धुशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत ॥ १९ ॥

अनु०—उत्तम कुलवाली, उत्तम आचरण वाली, स्त्रियोचित गुणों से युक्त, स्वस्थ कन्या का उद्वाह करे ॥ १९ ॥

अनाकुला

उक्ता वर्जनीयाः कन्याः। अथ ग्राह्या उच्यन्ते। बन्धुशब्देन कुलमुच्यते यदुक्तमाश्वलायनेन। 'कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात्' (आश्व. गृ. १-५-१०.) इति। शीलसम्पन्ना आर्यशीला। लक्षणसम्पन्ना स्त्रीलक्षणैरुपेता रोगरहिता क्षयापस्मारादिरहिता ॥ ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

अत्र सम्पन्नामिति प्रत्येकं सम्बध्यते। बन्धुसम्पन्नां प्रशस्ताभिजनाम्। शीलसम्पन्नामास्तिक्यादिगुणान्विताम्। लक्षणसम्पन्नां गूढगुल्फत्वादिस्त्रीलक्षणयुक्ताम्। अरोगां क्षयापस्मारकुष्ठाद्यचिकित्स्यरोगरहिताम्। उपयच्छेत् उद्वहेत् ॥ १९ ॥

अथ वरगुणानाह—

बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वरसम्पत् ॥ २० ॥

---

१. यथायोग्य। २. क-मरणलिङ्गादिति।

अनु०—उत्तम कुल, उत्तम आचरण शुभ लक्षण, अध्ययनसम्पन्नता और स्वास्थ्य ये वरके गुण हैं ॥ २० ॥

अनाकुला

श्रुतवान् श्रुताध्ययनसम्पन्नः । वरसम्पत् वरगुणाः । एवंगुणाय कन्यका देयेत्यर्थः ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम् ।

बन्धुशीललक्षणसम्पन्न इति पूर्ववद्व्याख्यानम्। श्रुतवान् श्रुताध्ययनसम्पन्नः अविदुषश्चोदितकर्मानाधिकारात्, धर्मार्थत्वाच्च विवाहस्य। अरोग इति पूर्ववत्, तस्याप्यसमर्थत्वेनानधिकारात्। [1]एवंभूता वरसम्पत्। एवङ्गुणाय वराय कन्या देयेत्यर्थः ॥ २० ॥

अथर्द्धिनिश्चये एकीयं मतमाह—

यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके ॥२१॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने तृतीयः खण्डः ॥

समाप्तश्च प्रथमः पटलः ॥

अनु०—जिस कन्या से मन और नेत्रों की तृप्ति होती हो उससे निश्चय ही सुख की प्राप्ति होती है अतः एव वर को अन्य बातों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, ऐसा कुछ लोगों का मत है ॥ २१ ॥

टि०—कन्या में दोष भी हों, वह किसी वाग्दत्ता भी हो, तो भी यदि वर के नेत्र और मन कन्या पर रीझते हों तो वह विवाह कर सकता है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। यदि कन्या सभी गुणों से युक्त हो और फिर भी वर को न भावे तो वह उसका वरण न करे। इस सूत्र से पिछली वर्जन आदि के विधान करने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता, क्योंकि जिन दुर्गुणों का संकेत किया गया है वे शारीरिक एवं चारित्रिक दोष इतने स्पष्ट हैं कि उनके आधार पर वरण का वर्जन करना हो तो किया जा सकता है और न करना हो तो यह सूत्र छूट देता ही है। ज्योतिष आदि द्वारा ज्ञात गुण भी कन्या के आदर के कारण नहीं हो सकते यदि वर उसे पसन्द नहीं करता। किन्तु वाग्दत्ता का निषेध किया ही गया है ॥२१॥

अनाकुला

यस्यां कन्यायां वरस्य मनसश्चक्षुषश्च निबन्धः तृप्तिरुत्पद्यते तस्यामृद्धिर्भवति नेतरत् न दत्तादिगुणदोषाद्यनुदर्शनमादरणीयमित्येके शिष्टा ब्रुवते। अत्र पक्षे

---

१. क ज-इत्येवं।

तात्पर्यदर्शनम् ।

सर्वगुणसम्पन्नायामपि यस्यां मनश्चक्षुषी न निबध्येते सा वर्जनीया । शास्त्रनिषिद्धास्तत्रापि पक्षे वर्ज्या एव, यथा—सवर्णा सगोत्रेति ॥ १७ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

इति श्रीमद्धरदत्तप्रणीतायां गृह्यवृत्तावनाकुलायां
प्रथमः पटलस्समाप्तः ॥

यस्यां कन्यायां वरस्य मनश्चक्षुषोर्निबन्धः नितरां बन्धनं, यस्यामासक्त्यतिशयेन मनश्चक्षुषी निबद्धे इव तिष्ठत इत्यर्थः । तस्यां जायायां सत्यां धर्मादीनां समृद्धिः, नेतरत् गुण 'दोषानुदर्शनमाद्रियेतेत्येके ब्रुवते । एतदुक्तं भवति-अत्र मनश्चक्षुषोर्निबन्ध एवादरे कारणम्, न तु ज्योतिषादिना ज्ञाता गुणाः । तथा तदभाव एव परिवर्जने कारणम्, न स्वापादयो दोषा इति । उभयोरपि मतयोर्दत्तादीनां निषेधमाद्रियेतैव; 'सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायाम्' (आ. ध. २-१३-१.) [2]'असमानार्षगोत्रजाम्' [3]'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वम्' इत्यादिवचनजातात् ॥ २१ ॥

इत्थं सुदर्शनार्येण गृह्यतात्पर्य[4]दर्शनम् ।
प्रथमे पटलेऽकारि यथाभाष्यं यथामति ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने तृतीयः खण्डः ॥
समाप्तश्च प्रथमः पटलः

---

१. क ज.–दोषानुरागदर्शन । २. ३. याज्ञ. स्मृ १. ५३ ।
४. ख ग ङ ज.—सूत्रतात्पर्यदर्शनम्, क. निर्णयम् ।
खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या (१७) सप्तदश, सुदर्शनमते (२१) एकविंशतिः ॥

अथ द्वितीयः पटलः

चतुर्थः खण्डः

सुहृदस्समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात् ॥ १ ॥

अनु०—तब वेदाध्ययन से सम्पन्न, बन्धुओं को एक साथ कन्या के वरण के लिए भेजे ॥ १ ॥

टि०—सुहृद से यहाँ मन्त्र के ज्ञाता से तात्पर्य है "श्रुताध्ययनसम्पन्नान्" और इस प्रकार वरण करने वाले ब्राह्मण ही होते हैं। क्षत्रिय और वैश्यों के विवाह भी ब्राह्मण ही वरण करने जाते हैं। सुहृद् अपने विशेष घनिष्ठ मित्र भी वरण करने जा सकते हैं ॥ १ ॥

अनाकुला

अथ कन्यावरणविधिः। इन्वकाभिः प्रसृज्यन्त इत्युक्तम्। तस्मिन्नन्यस्मिन् वा पुण्यनक्षत्रे ब्राह्मणान् भोजयित्वाशिषो वाचयित्वा, सुहृदः बन्धून् समवेतान् सङ्गतान् मन्त्रवतः श्रुताध्ययनसम्पन्नान् वरान् कन्यवरयितॄन् प्रहिणुयात् प्रस्थापयेत्-यूयममुष्मात् कुलात् मह्यं कन्यां वृणीध्वमिति। यद्यप्येवंविधे कार्ये सुहृदामेव सम्भावना तथापि सुहृद इत्युच्यते मन्त्रवतामसम्भवे सुहृत्वमात्रपरिग्रहार्थम्। मन्त्रवत इति ब्राह्मणानामेव ग्रहणम्। तेन क्षत्रियवैश्ययोरपि ब्राह्मणा एव वराः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पूर्वत्र 'इन्वकाभिः प्रसृज्यन्ते' (आप. गृ. २-१६.) इति विवाहोपयोगिनो वरप्रेषणस्य कालोऽभिहितः[1]। इदानीं तस्य विधिमाह—

सुहृदः आत्मनो मित्राणि। समवेतान् आत्मानं प्रत्येककार्यान्। मन्त्रवतः मन्त्रब्राह्मणवतः, 'शुचीन् मन्त्रवतः' (आप. ध. २-१५-११.) इतिवन्मन्त्रग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। वरान् वरयितॄन्। वरः प्रहिणुयात् प्रेषयेत्। एते युग्मा ब्राह्मणाश्चेति केचित् ॥ १ ॥

तानादितो द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत ॥ २ ॥

अनु०— जब वे प्रस्थान कर रहे हों तो 'प्रसुग्मन्ता' आदि दो मन्त्रों का पाठ करे ॥ २ ॥

---

१. ख ग—विहितः।

टि०—वरण करने वाले कन्या के यहाँ जाकर कहेंगे "एवं गोत्रायामुष्मै सहत्व-कर्मभ्यो युष्मदीयां कन्यां वृणीमहे'। कन्या पक्ष के लोग कहेंगेः 'शोभनं तथा दास्याम'। ब्राह्मविवाह और दैवविवाह में वरण नहीं होता, दूसरे कल्प में इसका विधान किया गया है। आसुर और आर्ष विवाहों में ही वरप्रेषण होता है जिसमें धन की लेन-देन का प्रश्न होता है॥ २॥

अनाकुला

'गच्छतस्तान् वराननन्तरमाम्नातस्य मन्त्रसमाम्नायस्यादितो द्वाभ्यां ऋग्भ्यां 'प्रसुग्मन्ते'त्येताभ्यां अभिमन्त्रयेत। [1]अभिलक्ष्य मन्त्रोच्चारणमभिमन्त्र-णम्। ततस्ते कन्याकुलं गत्वा-एवंगोत्रायामुष्मै सहत्वकर्मभ्यो युष्मदीयां कन्यां वृणीमह-इति ब्रूयुः। ततस्ते प्रतिब्रूयुः-शोभनं तथा दास्याम-इति। तत्र ब्राह्मे विवाहे दैवे चार्थलोपात् वरणलोपः कल्पान्तरदर्शनाच्च-नात्र वरान् प्रहिणुया-दिति। तथा गान्धर्वराक्षसयोश्च॥ ७॥

तात्पर्यदर्शनम्

तान् प्रस्थितान्। मन्त्रसमाम्नायस्यादितः 'प्रसुग्मन्ता' इति द्वाभ्यां ऋग्भ्यां अभिमन्त्रयेत। अभिमन्त्रणं आभिमुख्येन मन्त्रस्योच्चारणम्। [3]अनु-मन्त्रणमप्येवम् 'अनुमन्त्रयितव्यद्रव्यगतचित्तेनेति तु भेदः॥ अथ सूत्रस्यापूर्ण-त्वात् क्रम उच्यते—

कृतप्राणायामो 'वरान् प्रेषयिष्ये' इति सङ्कल्प्य, 'प्रसुग्मन्ते' ति द्वाभ्यां वरानभिमन्त्र्य, 'यूयममुष्मात् कुलात् मह्यं कन्यां वृणीध्वम्' इति प्रेषयेत्। ततस्ते दुहितृमतो गृहं गत्वा, कन्यां दत्तसगोत्रत्वादिदोषरहितां बन्ध्वादिगुण-सम्पन्नां च यत्नतोऽवधार्य, दुहितृमन्तं पित्रादिकं 'गौतमगोत्राय विष्णुशर्मणे वराय भवदीयां कन्यां प्रजासहत्वकर्मभ्यो वृणीमहे' इति ब्रूयुः। ततस्स पित्रादिः 'दास्यामी' ति प्रतिब्रूयात्। ततस्ते प्रत्येय, 'सिद्धार्था वय' मिति वरायावेदयेयुः। एतच्च वरप्रेषणाद्यासुरार्षयोरेव, नान्येषु, अर्थलोपात्।

अथ यस्मिन्नहनि विवाहः, ततः पूर्वमेव पञ्चमे तृतीये वाहनि यथाशिष्टा-चारमङ्कुरारोपणं कुर्यात्। तथा श्वो विवाह इत्यद्य विवाह इति च। 'तथा मङ्गलानि' 'आवृतश्चास्त्रीभ्यः प्रतीयेरन्, (आप. गृ. २-१४, १५.) इत्युक्तानि कर्माणि वरो वधूश्च यथाकालं यथायोग्यं कुरुतः। केचित्—पूर्वद्युर्नान्दीश्राद्धं कल्पान्तरादिति।

---

१. क-ख-ग-गतान्। २. क-ग-घ-अभिवीक्ष्य।

३. मन्त्रमुच्चरयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत्। शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम्॥ इत्यनुमन्त्रणलक्षणम्।

ततः पित्रादिर्वधूकुलं प्राप्ताय वराय कन्यामुदकपूर्वं दद्यात्-इमां वत्सगोत्रजां [1]लक्ष्मीदायीं गौतमगोत्राय विष्णुशर्मणे तुभ्यं प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयामीति। गान्धर्वराक्षसयोस्तु न प्रतिपादनम्, दातृव्यापारा [2]नपेक्षत्वात्। ततस्तां वरः प्रतिगृह्य विवाहस्थाने 'यत्र क्वचाग्निम्' (आप. ध. २-१-१३.) इत्यादिविधिनाऽग्निं प्रतिष्ठाप्य, तत्रैव यस्यां शालायां कन्याऽऽस्ते तां गत्वा मधुपर्कं प्रतिगृह्णाति यथार्हं यथाविधि। एवमेव वरापचितोऽपि ॥ २ ॥
अनन्तरं वरः किं कुर्यादित्यत्राह—

स्वयं दृष्ट्वा तृतीयां जपेत् ॥ ३ ॥

अनु०—जब वर (कन्या के घर विवाह के समय) कन्या को स्वयं देखे तब तीसरे मन्त्र का पाठ करे ('अभ्रातृघ्नीम्' आदि का) ॥ ३ ॥

टि०—जब विवाह निश्चित हो जाय तब नान्दीश्राद्ध करके दूसरे दिन ब्राह्मणों को भोजन कराये, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराये और तब वर वधू के घर को प्रस्थान करे। 'अभ्रातृघ्नीम्' आदि मन्त्र का जप स्वयं वर करेगा, वरण करनेवाले नहीं ॥ ३ ॥

अनाकुला

ततो विवाहे निश्चिते पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धं कृत्वा परेद्युर्ब्राह्मणान् भोजयित्वाशिषो वाचयित्वा वरो वधूकुलं गच्छति। तस्मै कूर्चदानादि भोजनान्तं मधुपर्कं दत्वा कन्यां प्रतिपादयति-'तुभ्यमिमां प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयामी'ति। ततस्तां वरः स्वयं दृष्ट्वा तृतीयामृचं जपेत् 'अभ्रातृघ्नीमि'त्येताम्। स्वयमित्यनुच्यमाने वरं दृष्ट्वेत्यर्थः स्यात् प्रकृतत्वात्। स्वयं ग्रहणात्तु कन्यां दृष्ट्वेत्यर्थो भवति। तत्र ब्राह्मो विवाह उदकपूर्वं प्रतिपादनम्। गान्धर्वराक्षसयोस्तु नैव प्रतिपादनम् ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वरः स्वयं कन्यां दृष्ट्वा 'अभ्रातृघ्नीम्' इति तृतीयां ऋचं जपेत्। दृष्ट्वैव [3]चक्षुषी उपसंहरति। जपश्च सर्वत्र चातुस्वर्येण; न तु करणमन्त्रादिवदेकश्रुत्या। 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' (पा. सू. १-२-३३.) 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु' (पा. सू. १-२-३४.) इति वचनात्। अत्र च स्वयमिति विशेषणं वरयितॄणां प्रकृतानामयं जपो मा भूदिति। केचित्— स्वयं वधूमेव दृष्ट्वा जपेत्; न तु वरानीति। स्वयं दृष्ट्वेत्यादि च सर्वविवाहानामविकृतम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ्या समीक्षेत ॥ ४ ॥

---

१. ख ग ङ ज—लक्ष्मीं. घ—लक्ष्मीनाम्नी. थ—लक्ष्मीदायां।
२. ठ निरपेक्षत्वात्। ३. ख. ग. ङ.—चक्षुः।

अनु०—चौथे मन्त्र ('अघोरचक्षुः' आदि) का पाठ करते हुए (वधू के नेत्रों पर दृष्टिपात करते हुए) वधू को देखे ॥ ४ ॥

अनाकुला

अवयवश ईक्षणं समीक्षणम् । अघोरचक्षुरित्येषा चतुर्थी ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'अघोरचक्षुः' इत्यनया समीक्षेत । वध्वा दृष्टौ स्वदृष्टिं निपातयति, 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधी'ति मन्त्रलिङ्गात् । केचित्-समीक्षेत अवयवशो निरीक्षेतेति ।

अत्र वरो वधूश्च दर्भेष्वासीनौ दर्भान् धारयमाणौ कृतप्राणायामौ सङ्कल्पयेते-आवाभ्यां कर्माणि कर्तव्यानि, प्रजाश्चोत्पादयितव्याः-इति ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठेनोपमध्यमया चाङ्गुल्या दर्भꣳसंगृह्योत्तरेण यजुषा तस्या भ्रुवोरन्तरꣳसंमृज्य प्रतीचीनं निरस्येत् ॥ ५ ॥

अनु०—अंगूठे तथा मध्यमा के निकट की अनमिका अंगुली से कुश को पकड़कर अगले यजुस्मन्त्र 'इदमहं या त्वयि' आदि का पाठ करते हुए दोनों भौंहों के बीच के स्थान पर मार्जन करे और उस कुश को पश्चिम की ओर फेंक दे ॥ ५ ॥

अनाकुला

मध्यमासमीपे वर्तत इत्युपमध्यमा तयाङ्गुल्या अनामिकये[1] त्यर्थः । भ्रुवोरन्तरं मध्यमुत्तरेण यजुषा 'इदमहमि'त्यनेन । संमार्जनमन्त्रोऽयं न निरसनमन्त्रः । प्रतीचीनं प्रत्यग्गतम् । उपर्युपरि शिरो निरस्येत् । तत उदकोपस्पर्शनं अङ्गुष्ठसाहचर्यादुपमध्यमयेति विशेषणादेव सिद्धे अङ्गुल्येति विशेष्यनिर्देशो विस्पष्टार्थम् । यजुषेति विशेषणं उत्तरेणेति दिग्वाचिताशङ्का मा भूदिति ॥ ५ ॥

उपमध्यमा उपकनिष्ठिका, न तु प्रदेशिनी, तस्या विस्रंसिकेति व्यपदेशात् । उत्तरेण यजुषा 'इदमहं या त्वयि' इत्यनेन । शेषं व्यक्तम् । दर्भं निरस्याप उपस्पृशेत् ॥ ५ ॥

प्राप्ते निमित्त उत्तरां जपेत् ॥ ६ ॥

अनु०—यदि (वधू या उसके किसी संबन्धी के रोने से) निमित्त हो जाय तो आगे वाले मन्त्र 'जीवाँ रुदन्ती' आदि का पाठ करे ॥ ६ ॥

अनाकुला

वध्वा स्वबन्धूनां च रोदनं निमित्तं जीवा रुदन्तीति लिङ्गात् । उत्तरामृचं 'जीवा रुदन्तो' त्येताम्, सर्वत्र समावेशनान्ते विवाहकर्मण्यस्मिन्निमित्तेऽयं जपो भवति । निमित्तावृत्तौ मन्त्र आवर्तते ॥ ६ ॥

---

१. क. ग. येत्युपदेशः ।

तात्पर्यदर्शनम्

'जीवां रुदन्ती'ति मन्त्रलिङ्गानुरूपे निमित्ते प्राप्ते मात्रादिभिः कन्यकया वा अन्योन्यवियोगचिन्तया रोदने कृते इमामृच जपेत् ॥ ६ ॥

युग्मान् समवेतान् मन्त्रवत उत्तरयाद्भ्युचः प्रहिणुयात् ॥ ७ ॥

अनु०—(वधूस्नापनार्थ जल लाने के लिए) समान संख्या वाले व्यक्तियों को, जो वहाँ एकत्र हों, अगले 'व्युक्षत्क्रूरम्' आदि का पाठ करते हुए जल के लिये भेजे ॥७॥

टि०—पाँच मन्त्रों से स्नान कराने की विधि बतायी गई है। प्रत्येक मन्त्र के साथ स्नान की आवृत्ति की जाती है। चूँकी स्नान अयुग्म बार होता है, अतः जल के घड़े भी अयुग्म होने चाहिए, किन्तु ऐसी बात नहीं है, अतः इस प्रकार की भ्रान्ति को दूर करने के लिए सूत्र में स्पष्ट कहा गया है 'युग्मान्'। यदि चार घड़े हों तो चौथे घड़े के जल द्वारा स्नापन कराते समय चौथे-पाँचवें मन्त्रों का पाठ होता है। यदि आठ हों तो पाँच कलशों से मन्त्र सहित स्नान कराके तीन कलशों से बिना मन्त्र के स्नान की विधि हरदत्तमिश्र ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट की है ॥ ७॥

अनाकुला

वधूस्नापनार्थानामपामाहरणं उत्तरयर्चा 'व्युक्षत्क्रूर'मि 'त्येतया। मन्त्रवतः श्रुतवतः प्रहिणुयात् प्रस्थापयेत्। 'तथा मङ्गलानी' त्येव सिद्धे युग्मवचनं पञ्चभिर्मन्त्रैः स्नापनं वक्ष्यति, तत्र प्रतिमन्त्रं स्नापनावृत्तिः। तत्र च स्नापनस्यायुग्मत्वात् तदर्थानामुदकुम्भानामप्ययुग्मत्वं स्यात्। एवमाहर्तृणां ब्राह्मणानामपि। अतो युग्मानित्युच्यते। तेन प्रतिमन्त्रं कुम्भभेदः प्रतिकुम्भं ब्राह्मणभेदश्च सिद्धो भवति। तत्र यदि चत्वारः कुम्भाः चतुर्थेन कुम्भेन चतुर्थपञ्चमाभ्यां मन्त्राभ्यामभिषेकः। यदा त्वष्टौ तदा प्रतिमन्त्रं पञ्चभिस्तूष्णीमितरैः। समवेतवचनमुदकाहरणे सह प्रवृत्त्यर्थम्। मन्त्रवत इति ब्राह्मणानां ग्रहणम्, "आस्यै ब्राह्मणा" इति मन्त्रे दर्शनात् ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

युग्मान् समसङ्ख्याकान्। समवेतान्मन्त्रवत इति पूर्ववत्। उत्तरया 'व्युक्षत्क्रूरम्' इत्येतया[1] प्रैषत्वादुच्चैः प्रयुक्तयाऽद्भ्यः प्रहिणुयात् वधूस्नापनार्था अप आहर्तुं प्रेषयेत्। एते च ब्राह्मणा एव, 'आस्यै ब्राह्मणा' इति मन्त्रलिङ्गात्। ते च ब्राह्मणा यास्वप्सु पुरुषः[2] स्नानादिषु पूर्वं न मृताः ताभ्यस्तृणावकाद्यपनोद्याप आनयन्ति; 'अघोरघ्नीः' इति मन्त्रलिङ्गात् ॥ ७ ॥

उत्तरेण यजुषा तस्याश्शिरसि दर्भेण्वं निधाय तस्मिन्नुत्तरया दक्षिणं युगच्छिद्रं प्रतिष्ठाप्य छिद्रे सुवर्णमुत्तरयान्तर्धायोत्तराभिः

---

१. ख. इत्यनया। २. ठ. स्नानादिना।

पञ्चभिस्स्नापयित्वोत्तरयाऽहतेन वाससाऽऽच्छाद्योत्तरया योक्त्रेण सन्नह्यति ॥ ८ ॥

अनु०—अगले यजुस् मन्त्र 'अर्यम्णो अग्नि' (१. १. ८) का पाठ करते हुए वधू के सिर पर कुश से निर्मित मण्डल रखे, उस दर्भमण्डल के उत्तर में एक जुए का दक्षिण छिद्र अगले मन्त्र 'खेनस्' आदि से स्थापित करे, अगले मन्त्र 'शंते हिरण्य' आदि का पाठ करते हुए उस युगच्छिद्र में सोने का टुकड़ा और अगले पाँच मन्त्रों 'हिरण्यवर्णा' आदि द्वारा कन्या को इस प्रकार स्नान करावे कि जल उस युगच्छिद्र से सोने के टुकड़े से होता हुआ गिरे और अगले मन्त्र 'परित्वा गिर्वणो गिर' से वस्त्र द्वारा आच्छादित करे और अगले मन्त्र 'आशासान्' से चारों ओर से योक्त्र लपेटे ॥ ८ ॥

अनाकुला

ततस्तैरप्स्वाहृतासु तस्या वध्वाश्शिरसि दर्भेण्वं दर्भैः परिकल्पितं मण्डलं उत्तरेण यजुषा 'अर्यम्णो अग्निमि'त्यनेन निधाय तस्मिन्निण्वे उत्तरया 'खेनस' इत्यनया दक्षिणं युगच्छिद्रं दक्षिणस्या युगधुरो बाह्यच्छिद्रं प्रतिष्ठाप्य तस्मिन् छिद्रे सुवर्णमुत्तरयर्चा 'शं ते हिरण्यमि'त्येतयान्तर्धाय ताभिरद्भिस्ता-मुत्तराभिः पञ्चभिः 'हिरण्यवर्णा' इत्येताभिः प्रतिमन्त्रं स्नापयति। कथं पुन-श्छिद्रस्यान्तर्धानेन स्नापनं संभवति ? तथान्तर्धानं कुरुते यथोदकमवस्र-वति। ततस्तामुत्तरयर्चा 'परि त्वा गिर्वणो गिर' इत्येतयाऽहतेन वाससाऽऽ-च्छादयति। स्वयमेव मन्त्रमुक्त्वा परिधापयति आच्छाद्याचमय्य उत्तरयर्चा 'आशासाने'त्येतया योक्त्रेण सन्नह्यति। 'ऊर्ध्वज्ञुमासीनां' (आप. श्रौ. २-५-२.) इत्यादिदार्शपौर्णमासिको विशेष[1] इहेष्यते ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

दर्भेण्वं, दर्भैः परिकल्पितमिण्वं[2] निगलाकृतिं परिमण्डलाकारमित्यर्थः। तदुत्तरेण यजुषा 'अर्यम्णो अग्नि' इत्यनेन वध्वाश्शिरसि निधाय तस्मिन्नि-ण्वे[3] वर उत्तरया 'खेऽनस' इत्येतया दक्षिणं युगछिद्रं, युगस्य दक्षिणं छिद्रं दक्षिणस्या धुरो बाह्यछिद्रं प्रतिष्ठाप्य, छिद्रे सुवर्णमुत्तरया 'शं ते हिरण्यम्' इत्येतयान्तर्धाय, उत्तराभिः 'हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावकाः[4] प्रचक्रमुर्हित्वा' इत्यादिभिः पञ्चभिः ऋग्भिः स्नापयति। एतच्च पञ्चानामन्ते सकृदेव,[5]

---

१. ख. इहोच्यते। २. ज—निगलाकृतिः परिमण्डलाकार इत्यर्थः।

३. ख. ग. ङ. ज—वर इति नास्ति। ४. ख. ग.—प्रचक्रमुर्हित्वा इति नास्ति।

५. एकमन्त्राणि कर्माणि (आ० प० १-४७) इत्युक्तं पूर्वं, तस्यायमपवादः-क्वचित् विधौ सति बहुमन्त्रकमपि भवेत् यथा चतुर्भिरभ्रिमादत्त इति।

'वचनादेकं कर्म बहुमन्त्रम्' (आप. प. १-४७) इत्युक्तत्वात्। एवं सर्वत्र एवंविधेष्वन्नप्राशनादिषु।

केचित्-पञ्चभिरिति वचनात् प्रतिमन्त्रमिति। तन्न;[1] तिसृभ्योऽवशिष्ट-योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थत्वादस्य। इतरथा क्रियाभ्यावृत्तिवाचक[2]प्रत्ययाश्रुतेः गुणार्थं प्रधानस्नानाभ्यावृत्तिकल्पनापत्तिः, प्रयुक्तिगौरवं च।

उत्तरया 'परित्वा गिर्वणो गिरः' इत्येतया। अहतेन अनिवसितेन वाससा परिधाप्य, द्विराचम्य, उत्तरया 'आशासाना सौमनसम्' इत्येतया योक्त्रेण सन्नह्यति। कृत्स्नविधानं चेदम्। केचित्-ऐष्टिकसन्नहनविधिप्रदर्शनार्थ-मिति ॥ ८ ॥

अथैनामुत्तरया दक्षिणे हस्ते गृहीत्वाऽग्निमभ्यानीयापरेणाग्निमुदगग्रं कटमास्तीर्य तस्मिन्नुपविशत उत्तरो वरः ॥ ९ ॥

अनु०—इसके बाद अगले मन्त्र 'यत्र क्वचाग्नि' आदि का पाठ करते हुए, वधू के दाहिने हाथ को पकड़कर (श्रोत्रियागार से निकालकर) अगले मन्त्र 'पूषा त्वेत' आदि द्वारा अग्नि के समीप ले आवे अग्नि के पश्चिम में इस प्रकार चटाई बिछावे कि उसको अग्रभाग उत्तर की ओर हो, उस चटाई पर वे दोनों एक साथ बैठे, उत्तर की ओर वर बैठे (और दक्षिण की ओर वधू बैठे) ॥ ९ ॥

टि०—यह अग्नि या तो मथ के उत्पन्न की जाती है अथवा श्रोत्रिय के घर से लाई जाती है ॥ ९ ॥

अनाकुला

अथ सन्नहनानन्तरं 'यत्र क्वचाग्निमि'त्यादिकल्पेनाग्निं प्रसाधयति। मथित्वा श्रोत्रियागाराद्वाहृत्य ततो वधूमग्निमभ्यानयति। उत्तरयर्चा 'पूषा त्वेत' इत्येतया। आनयनमन्त्रोऽयम्। हस्तग्रहणं तु तूष्णीमेव। उदगग्रवचनं दक्षिणाग्निनिवृत्त्यर्थम् ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथशब्द उक्तार्थः-अर्थकृत्यप्रतिषेधार्थ इति। एनां वधूं[3] दक्षिणे हस्ते गृहीत्वा, उत्तरया 'पूषा त्वेतो नयतु' इत्येतया अग्निमभ्यानीयाग्न्यभिमुख-मानयति; नयत्विति मन्त्रलिङ्गात्। व्यवहितेऽपि नयने विनियोगात् अपरेणा-ग्निम् अग्नेरदूरेण पश्चादुदगग्रं[4] कटमास्तीर्य, तस्मिन् कटे युगपदुपविशतः' यथोत्तरो वरो दक्षिणा वधूः ॥ ९ ॥

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽथैनामादितो द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत १०

---

१. ज तिसृभ्य इत्यारभ्य इतरथा इत्यन्तम् नास्ति। २. ठ. शब्दाश्रुतेः।
३. ङ तूष्णीं दक्षिणे। ४. ङ न तु प्रागग्रं इत्यधिकम्।

अनु०—अग्नि के ऊपर ईंधन रखने से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म हो जाने के बाद वह उस पर 'सोमः प्रथम:' आदि अनुवाक के आरम्भ के दो मन्त्र पढ़े ॥ १० ॥

टि०—बोधायनगृह्यसूत्र में इस सन्दर्भ 'अथास्या उपोत्थाय हृदयदेशम्' सूत्र है और आश्वलायन ने पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुए ही पश्चिम मुख करके बैठी हुई कन्या के अभिमन्त्रण का विधान है 'तिष्ठन् प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्या आसीनायाः' (१. ७. २)॥ १० ।

अनाकुला

अथैवमुपविश्याग्नेरुपसमाधानादि कर्म प्रतिपद्यते। अग्निमिध्वा प्रागग्रैरित्यादि आज्यभागान्ते कर्मणि कृते अथानन्तरमुपोत्थाय एनामासीनां वधूं तृतीयस्यानुवाकस्यादितो द्वाभ्यामृग्भ्यां 'सोमः प्रथम' इत्येताभ्यामभिमन्त्रयेत। अग्नेरुपसमाधानादि वचनं तन्त्रप्राप्त्यर्थम्। आज्यभागान्तग्रहणमभिमन्त्रणादेरुत्तरस्य कर्मणः कालोपदेशार्थम्। अथशब्दोऽवस्थान्तरप्रदर्शनार्थः। आज्यभागान्तमासीनः कृत्वा अथोत्थायाभिमन्त्रणादि प्रतिपद्यत इति। तथा च बोधायनः-अथास्या उपोत्थाय हृदयदेशं' (बौ. गृ. १-४-१) इति। आश्वलायनश्च-'तिष्ठन् प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्या आसीनाया' (आश्व. १-७-३.) इति। एनामित्युच्यते अग्नेरभिमन्त्रणं मा शङ्कीति। उत्तराभ्यामिति वक्तव्ये आदितो द्वाभ्यां इत्युच्यते मन्त्रसमाम्नाये अनुवाकव्यवस्थाप्रदर्शनार्थम्। तेन 'शेषं समावेशने जपेदि'त्यादावनुवाकशेषस्य ग्रहणम् ॥१०॥

तात्पर्यदर्शनम्

अयं तन्त्रोपदेशः क्रमार्थ इत्युक्तमेव। यदि तु लाजाहोमास्तन्त्रशून्या आगन्तुकाः, तदा स क्रमतन्त्रविधानार्थः। अथेति पूर्ववत्। केचित्—कल्पान्तरसिद्धोपोत्थानानन्तर्यप्रदर्शनार्थमिति।

एनां वधूं वरः आदित अनुवाकस्य 'सोमः प्रथमः' इत्यस्य 'सोमः प्रथमः' इति द्वाभ्यां ऋग्भ्यामभिमन्त्रयेत ॥ १० ॥

अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणमुत्तानꣳहस्तं गृह्णीयात् ॥ ११ ॥

अनु०—फिर वधू के दाहिने हाथ को, जिसकी हथेली ऊपर की ओर हो, अपने दाहिने हाथ से हथेली नीचे की ओर करके ग्रहण करे ॥ ११ ॥

टि०—इस संस्कार को पाणिग्रहण संस्कार कहते हैं। दाहिने हाथ के ग्रहण का ही नियम है। जब कर्म एक हाथ से होनेवाला हो तो वहां दाहिने हाथ से ही तात्पर्य होता है ॥ ११ ॥

अनाकुला

अथ तथैवावस्थितः अस्यै अस्याः तथैवासीनाया दक्षिणमुत्तानं हस्तं गृह्णीयात्। दक्षिणेन नीचा न्यग्भूतेन। इदं पाणिग्रहणं नाम कर्म। दक्षिणेनेति न वक्तव्यम्। एकपाणिसाध्येषु कर्मसु दक्षिणस्यैव प्रसिद्धत्वात्। अथाप्रसिद्धः, अन्यत्रानियमः प्राप्नोति। यथात्रैव पुरस्तादुपनयने च। एवं तर्हि नात्र दक्षिणहस्तो विधीयते। किं तर्हि? न्यक्ताविधानार्थमनूद्यते-योऽयं दक्षिणो हस्तः सर्वकर्मसु प्रसिद्धः, तेन नीचा पाणिग्रहणमिह कर्तव्यमिति। अस्मादेव चानुवादात् सर्वत्र दक्षिणपाणिरिति सिद्धम्॥ ११॥

तात्पर्यदर्शनम्

अनेन नित्यविधिना 'सोऽभीवाङ्गुष्ठम्' इत्येतावन्मात्रस्य व्यवहितस्यापि सम्बन्धः। इतरथा स इति न ब्रूयात्। अस्यै अस्या वध्वाः; षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। उत्तानं दक्षिणं हस्तं वरस्त्वेन नीचा न्यग्भूतेन दक्षिणहस्तेन। अभीवाङ्गुष्ठं अभिरुपर्यर्थः। इवेत्यवधारकः। उपर्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयात्॥ ११॥

अथ काम्यं विधिद्वयमाह—

[1]यदि कामयेत स्त्रीरेव जनयेयमित्यङ्गुलीरेव गृह्णीयात्॥१२॥

अनु०—यदि यह अभिलाषा हो कि केवल पुत्रियाँ ही उत्पन्न हों तो केवल वधू की अङ्गुलियों को ही ग्रहण करे (अंगूठे और हथेली को नहीं)॥ १२॥

अनाकुला

अङ्गुलीरेव नाङ्गुष्ठम्, नापि पाणितलम्। पूर्वोक्तस्यैवायं कामसंयुक्तो विशेषविधिः। तेनेहापि दक्षिणेन नीचा हस्तेनेत्येवमादयो विशेषा भवन्ति॥ १२॥

तात्पर्यदर्शनम्

अङ्गुलीरेव नाङ्गुष्ठम्। शेषं नित्यवत्॥ १२॥

[2]यदि कामयेत पुंस एव जनयेयमित्यङ्गुष्ठमेव सोऽभीवाङ्गुष्ठमभीव लोमानि गृह्णाति॥ १३॥

अनु०—यदि केवल पुत्रों की उत्पत्ति की अभिलाषा करे तो केवल अंगूठे को ग्रहण करे और अंगूठे के सभी रोम ऊपर की ओर रहें। (हाथ पर उगे हुए रोमों का भी कुछ स्पर्श हो)॥ १३॥

---

१. इदमग्रिमं च सूत्रमेकं सूत्रं ख. पुस्तके।

२. ग-पुस्तके हरदत्तमते च 'अङ्गुष्ठमेव' इत्यन्तमेकं सूत्रम्। ततोऽपरम्।

अनाकुला

गृह्णीयादित्यनुवर्तते ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अभीव लोमानि, यथा वरस्याङ्गुष्ठलोमानि सर्वाण्येवोपरि भवन्ति तथा गृह्णाति। शेषं नित्यवदेव। अतो वध्वङ्गुष्ठमप्युत्तानम् ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तस्य नित्यस्य काम्ययोश्च मन्त्रानाह—

'गृभ्णामि तं, इत्येताभिश्चतसृभिः ॥ १४ ॥

अनु०—'गृभ्णामि ते' इत्यादि चार मन्त्रों से हाथ या अंगूठे को ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अनाकुला

यः पाणिग्रहणे कामं नेच्छति, स पाणिमभीवाङ्गुष्ठमभीव लोमानि गृह्णीयादित्येव। अभिशब्द उपरिभावे। इव शब्दः ईषदर्थे। यथा लोमानि हस्तजातानि ईषदभिस्पृष्टानि भवन्ति। अङ्गुष्ठञ्च तथा गृह्णीयादित्यर्थः। "लोमान्ते हस्तं साङ्गुष्ठमुभयकामः" (आश्व. गृ. १-७-५) इत्याश्वलायनः ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

'गृह्णातीति सम्बन्धः। सर्वासामन्त एव ॥ १४ ॥

अथैनामुत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदा प्राचीमुदीचीं वा दिशमभि प्रक्रमय 'त्येकमिष' इति ॥ १५ ॥

अनु०—तब वधू को अग्नि के उत्तर में दाहिना पैर आगे बढ़ाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर चलावे 'एकमिष' आदि मन्त्रों का पाठ करता रहे ॥ १५ ॥

टि०—वधू को जो बैठी हुई होती है, उठाकर अग्नि के उत्तर पूर्व या उत्तर को सात पद चलाता है। 'स्वयं ही पैरों को पकड़कर मन्त्रों का पाठकर रखे'—हरदत्त मिश्र। 'अत्र स्वयमेव पादं गृहीत्वा मन्त्रांश्चोक्त्वा निधापयति' ॥ १५ ॥

अनाकुला

अथेदानीमेनां वधूमुत्थाप्योत्तरेणाग्निं यो देशस्तस्मात् प्रक्रम्य प्राचीं वा दिशमभि उदीचीं वा दक्षिणेन पदा सप्त पदानि प्रक्रामयति 'एकमिष' एत्येतैर्मन्त्रैः। प्राग्गतान्युदग्गतानि वा पदानि निधापयतीत्यर्थः। अत्र स्वयमेव पादं गृहीत्वा मन्त्रांश्चोक्त्वा निधापयति। संभाराक्रमणवत्। दक्षिणेन पदेति मन्त्राणां दक्षिणसम्बन्धार्थं पूर्वप्रवृत्त्यर्थं च, तस्मात्तूष्णीमितरस्य पश्चादनुप्रवृत्तिः।

---

१. ठ-गृह्णीयादिति।

इह 'सोमाय जनिविदे स्वाहे'त्येतैः प्रतिमन्त्रमित्यत्र एतैः प्रतिमन्त्रमिति न वक्तव्यम्। यथाचैतत्तथा तत्रैव वक्ष्यामः। तस्मात्तयोरिहापकर्षेण संबन्धः। 'एकमिष' इत्येतैः प्रतिमन्त्रमिति। इतरथा प्रतिपदं मन्त्रसम्बन्धो न सिध्यति। पदानाञ्च सप्तसंख्यानियमो 'यथोत्तराभिस्तिसृभिः प्रदक्षिणमि'त्यत्र तिसृणामन्ते परिक्रमणारम्भः तद्वदिहापि स्यात्। 'विष्णुस्त्वान्वे'त्विति सर्वत्रा[1]नुषजन् जपति प्रथमोत्तमयोः पठितत्वात्॥ १५॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथाग्नेरदूरेणोत्तरत आरभ्यैनां दक्षिणेन पदा पादेन प्राचीमुदीचीं वा दिशमभि प्रागायतान्युदगायतानि वा सप्त पदानि प्रक्रमयति; 'एकमिषे' इत्यादिभिस्सप्तभिः 'विष्णुस्त्वान्वेतु' इत्यनुषक्तैः प्रतिमन्त्रम्॥ १५॥

सखेति सप्तमे पदे जपति॥ १६॥

अनु०—सातवाँ पद रखते समय 'सखा सप्तपदा, आदि मन्त्र का जप करे॥१६॥

अनाकुला

उक्तं सप्तपदानि प्रतिमन्त्रं प्रक्रमयतीति। तत्र सप्तमपदे निहिते पादमुपसंगृह्यैव 'सखा सप्तपदे' त्यारभ्य जपति होममन्त्रेभ्यः प्राक् ये मन्त्राः तानित्यर्थः। तत्र कल्पान्तरे दृश्यते 'सप्तमं पदमुपसंगृह्ये'ति॥ १६॥

(प्राग्घोमादित्युच्यते जपपरिमाणार्थम्॥ १७[2]॥)

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तौ चतुर्थः खण्डः।

तात्पर्यदर्शनम्।

स वरस्सप्तमे पदे निहिते 'सखा सप्तपदा' इत्यादि 'सूनृते' इत्यन्तं जपति, चातुस्वर्येणैव॥ १६[2]॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने चतुर्थः खण्डः।

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने चतुर्थः खण्डः।

---

१. अनुषज्य।

२. खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या (१७) सप्तदश। सुदर्शनमते तु (१६) षोडश।

अथ पञ्चमः खण्डः

'प्राग्घोमात् प्रदक्षिणमग्निं कृत्वा यथास्थानमुपविश्यान्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्जुहोति 'सोमाय जनिविदे स्वाहे'त्येतैः प्रतिमन्त्रम् ॥ १ ॥

अनु०—होम करने से पूर्व ही (वधू के साथ) अग्नि की (अग्नि को दाहिने हाथ की ओर रखते हुए) प्रदक्षिणा करें; फिर पहले की तरह ही यथास्थान बैठे, वधू उसे पकड़े रहे और वह 'सोमाय जनिविदे स्वाहा' आदि मन्त्रों से प्रत्येक मन्त्र के साथ एक आहुति प्रदान करे ॥ १ ॥

टि०—परिक्रमा दाहिने हाथ को पकड़कर ही की जायगी और उसके बाद वर वधू पहले की तरह ही बैठेंगे, अर्थात् वर उत्तर की ओर बैठेगा। हवन के प्रथम चार मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' का उच्चारण किया जायगा फिर बारह ऋचाओं का पाठ करके उनके अन्त में 'स्वाहा' कहा जायगा। प्रथम चार मन्त्र यजुस् मन्त्र हैं और बाद के बारह मन्त्र ऋचाएँ हैं। सोम आदि देवता होते हैं। जनिवित्व आदि उनके विशेषण होते हैं ॥ १ ॥

अनाकुला

समाप्य जपमथाग्निं प्रदक्षिणं करोति, तया सह प्रदक्षिणं परिक्रामतीत्यर्थः। सर्वत्र दक्षिणे हस्ते गृहित्वा परिक्रमाणम्। ततो यथास्थानमुपविशतः। यस्य यत् स्थानमुपदिष्टं 'उत्तरो वर' इति तस्मिन्नित्यर्थः। उपविश्य वध्वामन्वारब्धायां अन्वारब्धवत्यां उत्तराष्षोडश प्रधानाहुतीर्जुहोति। 'सोमाय जनिविदे स्वाहे'त्येतैः प्रतिमन्त्रम्। दर्वीहोमत्वादेवोपवेशने सिद्धे उपविश्येत्युच्यते नियमार्थं—उत्तरा एव षोडशोपविश्य जुहोति, अन्याः [२]स्थित्वैवेति। तेन लाजा तिष्ठता होतव्याः। तथा च कल्पान्तरेषु बहुषु दृश्यते—बोधायनानां बह्वृचानां छन्दोगानां वाजसनेयिनामाथर्वणिकानाञ्च। उपहोमेषु तु यथाप्राप्तमासनमेव भवति। एतच्च वक्ष्यामः। अन्ये त्वासीनयोरेव होममिच्छन्ति।

'सोमाय जनिविद' इति मन्त्रनिर्देशो होममन्त्राणामादिप्रत्ययनार्थः' तेन प्रागेव तस्मात् जपमन्त्राः। तदुक्तं पुरस्तात् प्राग्घोमादिति। उत्तरा आहुती-

---

१. हरदत्तमते—'प्राग्घोमात्' इत्येकं सूत्रम्। 'प्रदक्षिणमि'त्यारभ्य 'प्रतिमन्त्रमि'त्यन्तमपरम्। सुदर्शनमतेऽपि 'ख' पुस्तके 'कृत्वे' त्यन्तमेकं सूत्रं ततोऽपरम्।
२–अतिष्ठतेति।

रित्येव प्रतिमन्त्रं होमस्सिद्धो यथान्येषु होमेषु। एतैः प्रतिमन्त्रमित्येतत्तु पुरस्तादपकृष्यत इत्युक्तम्। तत्रादितश्चत्वारो मन्त्राः स्वाहाकारान्ताः पठिताः। ततो द्वादशर्चः, तास्वन्ते स्वाहाकारः जुहोतिचोदनः स्वाहाकारप्रदान इति ॥ १-२॥

तात्पर्यदर्शनम्।

सखेति जपित्वा, प्राग्घोमात् होमात्प्राक् अग्निप्रदक्षिणमेव वध्वा सह कुर्यान्नान्यदर्थकृत्यमावश्यकमपि; 'प्राग्घोमाद्'त्यधिकग्रहणात्। ततो यथास्थानं 'उत्तरो वरः' इत्युक्तस्थानानतिक्रमेण, न त्वनियमेन, उपविश्य वध्वामन्वारब्धायामुत्तराः उत्तरमन्त्रकरणिका आहुतीर्होमान् जुहोति। के पुनस्त उत्तरा मन्त्राः? कथं च जुहोति? इत्यत आह—'सोमाय जनिविदे' इत्यादयष्षोडश मन्त्राः। तेषामादितश्चत्वारि यजूंषि, 'प्रेतो मुञ्चाति' इत्यादयो द्वादशर्चः। एतैः प्रतिमन्त्रं प्रतिस्वाहाकारं जुहोति, न पुनः 'यज्ञं स्वाहा, वाचि स्वाहा, वातेधास्स्वाहा' (तै. सं. १-१-१२.) इतिवत् 'अवदीक्षामदास्थ स्वाहा' (एका. १-४-४.) इत्येतेनैव स्वाहाकारेण होमः। [1]पूर्वेषामहोमार्थता च। जुहोतिशब्दार्थश्च [2]'तद्धितेन, चतुर्थ्या, मन्त्रलिङ्गादिना वा प्रतिपन्नाश्चोदिता देवताश्चोदितेनैव चतुर्थ्यन्तशब्देनोद्दिश्य यजमानेन त्यक्तस्य हविषश्चोदिताधारे प्रक्षेपः। इह च मन्त्रलिङ्गात् सोमादयो देवताः। ताश्च न जनिवित्त्वादिविशेषणविशिष्टाः। होमविध्यनुपपत्त्या हि मन्त्रप्रतिपन्नानां देवतात्वं कल्प्यम्, सा च देवतामात्रकल्पनया शाम्यति। न पुनर्निर्बीजां गुर्वीं विशिष्ट [3]कल्पनां प्रयुक्तिगौरवापादिकामयुक्तामपेक्षते। न च ग्राहकमन्त्राम्नानयोरनुपपत्त्या विशिष्टानां देवतात्वकल्पना। विशेषणानां 'मूर्धा दिवः ककुत्' इत्यादिवत् स्तुत्या देवताधिष्ठानान्वयेऽपि तयोश्चरितार्थत्वात्। हविश्चाज्यम् 'जुहोतीति चोद्यमाने सर्पिराज्यं प्रतीयात्' (आप. प. १-२५.) इति परिभाषावचनात्। विवाहादेरयज्ञत्वेऽपि यज्ञेष्वधिकरिष्यमाणपुरुषदेहयोग्यतापादकत्वेन तत्र यज्ञधर्मा युक्ता एव। अन्यथा आधान-पवमानेष्ट्यादिष्वयज्ञेषु 'यज्ञोपवीती प्रदक्षिणम्' (आप. प. २-१५.) इत्यादयो न प्राप्नुयुः। होमाधारस्तूपसमाहितोऽग्निस्थित एव ॥ १ ॥

अथैनामुत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदाऽश्मानमास्थापयत्यातिष्ठेति ॥ २ ॥

---

१. क. ज—पूर्वेषां होमार्थता।

२. 'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥ (तं वा. २–२–१) 'इति वार्तिकेन तद्धितादेर्देवताबोधकत्वनिरूपणादित्याशयः।

३. ज—कल्पनाप्रयुक्तगौरवा।

अनु०—इसके बाद अग्नि के उत्तर में एक प्रस्तर खण्ड के ऊपर कन्या के पैर को 'आतिष्ठ' आदि मन्त्र का पाठ करते हुए रखवावे ॥ २ ॥

अनाकुला

पदप्रक्रमणं पदा स्थापनम् अश्मा दृषत्पुत्रः । स च प्रागेव पात्रैस्सह प्रतिष्ठापितो भवति ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

व्यक्तार्थम् ॥ २ ॥

अथास्या अञ्जलावुपस्तीर्य द्विर्लाजानोप्याभिघारयति ॥ ३ ॥

तस्यास्सोदर्यो लाजानावपतीत्येके ॥ ४ ॥

अनु०—उसकी अंजलि में आज्य फैलाकर दो बार लाजा डाले और फिर उसके ऊपर आज्य बिखेरे ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि वधू का सहोदर भाई ही उसकी अञ्जलि में लाजा डाले ॥ ३-४ ॥

टि०—अनाकुला के अनुसार इस सूत्र में 'अथ' शब्द स्थान के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया गया है। अवदान प्रभृति कर्म उठकर किये जाते हैं। लाजा का संस्कार लौकिक होता है ॥ ४ ॥

अनाकुला

अथशब्दः स्थानसम्बन्धार्थः। अथोत्थित एवास्याश्चोत्थिताया एवेति। तेनावदानप्रभृत्युत्थानमेव भवति। तत्र दार्शपौर्णमासिकोऽवदानकल्पः प्रदर्शितः, न कल्पान्तरम्। तदिहापि प्रत्यभिघारणं पञ्चावत्तञ्च पञ्चावत्तिनां भवति। लाजानां च लौकिकः संस्कारः। पात्रैश्च सह सादनप्रोक्षणे भवतः। अञ्जलेस्तु न सादनादि भवतीत्युक्तम् ॥ ३-४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एते अपि सूत्रे व्यक्तार्थे। आचाराल्लाजानां त्रिरावापो जमदग्नीनाम्। लाजहोमाश्चापूर्वाः; 'अस्या अञ्जलावुपस्तीर्य' इत्यादि कृत्स्नविधानात्[1] पार्वणातिदेशाभावात् [2]पाकयज्ञधर्माग्निमुखप्रत्यभिघारणस्विष्टकृल्लेपाञ्जनानामप्राप्तिरेव ॥

केचित्—कृत्स्नविधानादेव साधारणतन्त्रस्य प्राप्त्यभावात् लाजकिंशुकहोमेषु तन्त्रमध्यस्थं, येन जुहोतीत्याद्यञ्जलिसंस्कारमपि नेच्छन्ति ॥ ३ ४ ॥

---

१. क—अतः पार्वणातिदेशाभावात्।

२. क—अतस्तन्त्राभावात्पाकयज्ञधर्माञ्जलिसंस्काराग्निमुख।

जुहोतीयं नारीति ॥ ५ ॥

अनु०—वर ही 'इयं नारी' ऋचा के पाठ के साथ लाजा होम करे ॥ ५ ॥

टि०—चूँकी वधू औपासन अग्नि के आधान में सहयोगिनी होती है, दोनों ही एक ही साथ यज्ञोपकार विवाह के स्वामी होते हैं। अतः वर का सभी कर्म वधू के साथ ही करने चाहिए। किन्तु स्त्री अप्रधान ही होता है। 'यथास्थान' से सूचित किया गया है कि वर पहले की तरह उत्तर ओर रहेगा ॥ ५ ॥

अनाकुला

वरस्यैव जुहोतिक्रिया। पात्रस्थानीयो वध्वञ्जलिः॥ ५॥

तात्पर्यदर्शनम्

वर एव 'इयं नारी' इत्यनया ऋचाऽभिन्नेन वध्वञ्जलिना दैवतीर्थेन लाजान् जुहोति। न पार्श्वेन; उपदेशातिदेशयोरभावात्।

केचित्—'प्रदक्षिणमग्निं कृत्वा यथास्थानमुपविश्य' इत्येष विधिरुत्तरतो वरोऽभ्यन्तरतो वधूरित्येवंरूपयथास्थाननियमार्थो न युज्यते। कुतः? यतो विवाहे वधूप्राधान्येन तस्या अभ्यन्तरीभावो न्यायसिद्धः। वधूप्राधान्यं च स्त्रीणां अपुनर्विवाहादेव, वेदितव्यमिति। एतच्च 'तस्मिन्नुपविशत उत्तरो वरः (आप. गृ. ४-९.) इत्यत्र सूत्रे व्याख्यातम्। अतो यथास्थानानुवादेन परिभाषासिद्धोपवेशननियमार्थ एवाय विधिः। उत्तरा[1]ष्षोडशैवाहुतीरुपविश्य जुहोति, न लाजहोमानपि। ते त्वस्मादेव नियमात् बहुतरगृह्यान्तरानुरोधाच्च अविगीतास्मदीयाचारमुल्लङ्घ्यापि तिष्ठतैव होतव्या इति।

तन्न; यत औपासनोत्पादनद्वारा, देहसंस्कारोत्पादनद्वारा च जायापत्युभयसाध्ययज्ञोपकारके विवाहे तयोस्सममेव स्वामित्वलक्षणं प्राधान्यम्। [2]अपि च चोदितसर्वकर्मसु पतिप्रयोगे 'यस्त्वया, धर्मः कर्तव्यस्सोऽनया वध्वा सहेति' पत्न्यास्सहत्ववचनात् प्रत्युत अप्राधान्यमेव स्त्रीणाम्। अपुनर्विवाहस्त्वासामप्राधान्येऽपि 'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (तै. सं. ६-६-४.) इति निषेधबलादेवोपपद्यते। तस्मात् न्यायतोऽभ्यन्तरीभावस्यानियमे विपर्यये वा प्राप्ते, उपवेशनानुवादेन यथास्थानमुत्तर एव वर इत्येतन्नियमार्थ एवायं विधिः। तेन लाजहोमा अप्यासीनेनैव होतव्याः। तस्य 'आसीनो दर्वीहोमान् जुहोति'

---

१. थ—षोडशैवाज्याहुतीः।

२. क—अपिचेत्यादि उपपद्यत इत्यन्तस्य स्थाने अयं पाठः—प्रत्युत यस्त्वया धर्मश्चरितव्यस्सोऽनया सहेति चोदितसर्वकर्मसु पतिप्रयोग एव तया सहत्ववचनात् अप्राधान्यमेव तस्याः। यतश्चोभयथापि 'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' इति निषेधादेव स्त्रीणामपुनर्विवाहः।

(आप. प. ३-१०)' इति सर्वदर्वीहोमानामविशेषेणास्माकं चोदितत्वात्, स्वसूत्रोक्तविषये बहुतराणामपि गृह्यान्तराणामनुपसंहार्यत्वाच्च ॥ ५ ॥

उत्तराभिस्तिसृभिः प्रदक्षिणमग्निं कृत्वाऽश्मानमास्थापयति यथा पुरस्तात् ॥ ६ ॥

अनु०—आगे के तीन मन्त्रों 'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्' आदि से अग्नि की प्रदक्षिणा करके पहले की तरह ही अश्मारोहण करावे ॥ ६ ॥

अनाकुला

उत्तराभिस्तिसृभिः 'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्नि'त्यादिभिः अग्निं प्रदक्षिणं करोति । तां हस्ते गृहीत्वा तिसृणामन्ते परिक्रमणारम्भः 'वचनादेकं कर्म बहुमन्त्रमि'ति । 'उत्तराभिरि'ति बहुवचनेनैव त्रित्वपरिग्रहसिद्धेः तिसृभिरिति वचनं तिसृभिरेकमेव परिक्रमणं यथा स्यात् प्रतिमन्त्रं क्रियाभ्यावृत्तिर्मा भूदिति ॥७॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तराभिः 'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्' इत्यादिभिस्तिसृभिः प्रदक्षिणमग्निं कृत्वा । यथा पुरस्तात् तथा आतिष्ठेम(य)मित्यनया ॥ ६ ॥

होमश्चोत्तरया ॥ ७ ॥

अनु०—अगले मन्त्र के साथ 'अर्यमणं नु देव' आदि से होम करे ॥ ७ ॥

अनाकुला

यथा पुरस्तादिति वर्तते । उत्तरया 'अर्यमणं नु देवमि'त्येतया ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

लाजहोमश्चोत्तरया 'अर्यमणं नु देवम्' इत्येतया ॥ ७ ॥

[२]पुनः परिक्रमणम् ॥ ८ ॥ आस्थापनम् ॥ ९ ॥

अनु०—पुनः अग्नि की परिक्रमा करे । पुनः अश्मारोहण करावे ॥ ८-९ ॥

अनाकुला

पुनरपि परिक्रमणमग्नेः कर्तव्यं आस्थापनञ्चाश्मनः । पुनश्शब्दः क्रियाभ्यावृत्तिद्योतनार्थः । तेनोत्तराभिस्तिसृभिरित्यादिर्भवति ॥ ८-९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निप्रदक्षिणम् ॥ ८ ॥ [३]आत्मनः ॥ ९ ॥

---

१. बहुवचनेनेति । कपिञ्जलाधिकरणन्यायेनेति शेषः । एतच्चोपनयनप्रकरणे निरूपयिष्यामः ।

२. पुनः परिक्रमणमास्थापनम् इत्येकं सूत्रं हरदत्तमते । ३. घ—अश्मनः ।

होमश्चोत्तरया ॥ १० ॥

अनु०—अगले 'त्वमर्यमा' मन्त्र से होम करे ॥ १० ॥

अनाकुला

उत्तरया 'त्वमर्यमे' त्येतया ऋचा ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'त्वयमर्यमा भवसि' इत्येतया ॥ १० ॥

पुन. परिक्रमणम् ॥ ११ ॥

अनु०—पुनः अग्नि की परिक्रमा करे ॥ ११ ॥

अनकुला

पुनःशब्दः पूर्ववत् ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'होमश्चोत्तरया' इत्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु 'यथा पुरस्तात्' इत्यनुषङ्गः । कार्यः कार्यमिति च यथालिङ्गं वाक्यशेष. ॥ ११ ॥

जयादि प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

अनु०—इसके उपरान्त जया आदि आहुतियाँ दी जाती हैं ॥ १२ ॥

अनाकुला

पूर्वमग्नेरुपसमाधानादिवचनेन तन्त्रप्राप्तिर्दर्शिता । इदं तु वचनं कालोपदेशार्थं परिक्रमणादूर्ध्वं जयादयो यथा स्युरिति । इतरथा जयादीनुपजुहोतीति वचनाल्लाजहोमानन्तरमुपहोमः स्यात्, ततस्तृतीयं परिक्रमणम् ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एतदुक्ताभिप्रायम्-यत्र वचनं तत्रैव जयादयो, नान्यत्र; अन्वारम्भश्चैषु नास्तीति ॥ १२ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वोत्तराभ्यां योक्त्रं विमुच्य, तां ततः प्र वा वाहयेत् प्र वा हारयेत् ॥ १३ ॥

अनु०—अग्नि के चारों ओर परिषेचन तक की क्रिया करके, आगे के दो मन्त्रों 'प्र वा मुञ्चामि' आदि से बँधे हुए योक्त्र को खोले और तब उसे वहाँ से रथ आदि पर चढ़ाकर ले जावे या पालकी आदि पर ढोवा कर ले जाय ॥ १३ ॥

टि०—प्रणीताविमोक के अन्त में योक्त्र छोड़ा जायगा । प्रस्थान के समय योक्त्र विमोक नहीं होना चाहिए । इस विषय में अनाकुला में कहा गया है:—'परिषेचान्तग्रहणं तदनन्तरमेव योक्त्रविमोको यथा स्यात् प्रस्थानकाले मा भूदिति ।' विमोक दो मन्त्रों से किया जायगा 'तत इति वचनं योक्त्रविमोकस्य प्रस्थानकालनियमो मा भूत्

यथोपपद्यते श्वो वा सद्यो वा तदा प्रतिष्ठितेत्येवमर्थम् ।' प्र वा हारयेत् का अर्थ यह है कि रथ द्वारा अश्व या बैलों द्वारा अथवा पालकी पर चढ़ाकर मनुष्यो से ढोवाकर ले जाए। 'वा' शब्द का अर्थ है कि दोनों विधियाँ हो सकती हैं। 'विमुच्य' के विषय में सुदर्शनाचार्य ने विशेष टिप्पणी की है कि 'क्त्वा' प्रत्यय से यहां अनिवार्यतः क्रिया की पूर्वकालता नहीं सूचित होती है 'कदाचित्केवलक्रियाविधानमेव सिद्धवदनुवदति' जैसे 'वेदं कृत्वाऽग्नीन् परिस्तीर्य' में वेदकरण का परिस्तरण से पूर्व होना नहीं निर्दिष्ट है ॥ १३ ॥

अनाकुला

परिषेचनान्त[1]ग्रहणं तन्त्रशेषोपलक्षणम् । तेन प्रणीताविमोकस्याप्यन्ते योक्त्रविमोकः । जयादि प्रतिपद्यत इत्येव सिद्धे परिषेचान्तग्रहणं तदनन्तरमेव योक्त्रविमोको यथा स्यात् प्रस्थानकाले मा भूदिति । उत्तराभ्यां 'प्र त्वा मुञ्चामी' त्येताभ्याम्; वचनादेकं कर्म बहुमन्त्रमिति । द्विमन्त्रो विमोकः । तत इति वचनं योक्त्रविमोकस्य प्रस्थानकालनियमो मा भूत् यथोपपद्यते श्वो वा सद्यो वा तदा प्रतिष्ठेतेत्येवमर्थम् । प्रवाहणं रथादिभिर्नयनम्, प्रहारणं मनुष्यवाह्येन शिबिकादिना नयनम् । उभयत्र वाशब्दः उभयोरपि पक्षयोस्तुल्यत्वज्ञापनार्थः । अन्यथा रथानयनस्येह प्रत्यक्षकल्पोपदेशादनुपदिष्टकल्पं मनुष्ययानमाग्निहोत्रिककल्पवत् सूचितं विज्ञायेत । अत उभयत्र वाशब्दः, तेन मनुष्यनयनेऽप्यारोहतोमुत्तराभिरुत्तरया शंत उत्तराभिरित्येवमादयो मन्त्राः सिद्धा भवन्ति ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

परिषेचनान्तं कृत्वा, सामर्थ्यात्तन्त्रशेषं समाप्येत्यर्थः । तेन शम्यापोहनप्रणीताविमो[2]कब्रह्मणोद्वासनान्यपि करोति । उत्तराभ्यां 'प्र त्वा मुञ्चामि' इति द्वाभ्यां ऋग्भ्याम् । योक्त्रं विमुञ्चति । ततः अनन्तरं तां वधूं हस्तिनमश्वं वा प्रवाहयेत । शिबिकामान्दोलिकां रथं, मनुष्यं वा [3]प्रवा हारयेत् । उभयत्र 'व्यवहिताश्च' (पा. सू. १-४-२८) इति वाशब्दव्यवधानम् । वाशब्दद्वयं तु तुल्याविमौ विधी, नान्यतरोऽनुकल्प इति ज्ञापयितुम् ।

अत्र 'विमुच्ये' ति क्त्वाप्रत्यये सत्यपि 'तत्' इति यदाह तज्ज्ञापयति, नावश्यं क्त्वाप्रत्यययुक्तं वचनं पूर्वकालताम्, समानकर्तृकतां वा विदधाति । कदाचित्केवलक्रियाविधानमेव सिद्धवदनुवदति, यथा 'वेदं कृत्वाऽग्नीन् परिस्तीर्य' (आप. श्रौ. ११-२-१५.) इति । अत्र हि न वेदकरणस्य परिस्तरणपूर्वकालता; [4]वेदपरिवासनविधानाग्न्यगारसमूहनायतनोपलेपनानामपि मध्ये

---

१. ब्रह्मोद्वासनान्यपि । २. ख—प्रहारयेत् ३. वेदाग्रनिधाना. ४—वेदाग्रच्छेदना.

कर्तव्यत्वात्। तथात्रापि 'परिषेचनान्तं कृत्वोत्तराभ्यां योक्त्रं विमुच्य' इति प्रणीताप्रमोक्षणादेर्मध्ये कर्तव्यत्वात्। तथा दधिधर्मे 'एतस्मिन् काले श्रौतं हविरिति प्रत्युक्त्वा तमादायाहवनीयं गत्वा' (आप. श्रौ. १३-३-४.) इति। तत्रापि प्रतिप्रस्थाता दधिघर्मसंस्कर्ता, होमकर्ताऽध्वर्युः ततस्समानकर्तृत्वाभावः। तथैवान्यत्राप्यश्वमेधे दक्षिणापल्लाव्याहं च त्वं च वृत्रहन्निति ब्रह्मा यजमानस्य हस्तं गृह्णाति' (आप. श्रौ.) इति। तथैवात्र 'स्मृतं च म इत्येतद्वाचयित्वा गुरवे वरं दत्त्वोदायुषेत्युत्थाप्य' (आप. गृ. ११-१७) इति ॥१३॥

समोप्यैतमग्निमनुहरन्ति ॥ १४ ॥

अनु०—उस वैवाहिक अग्नि को उखा में रखकर आगे जाने वाले नव दम्पति के पीछे (वरपक्ष के आदमी) ले जावें ॥ १४ ॥

टि०—'अनु' शब्द के व्यवहार से इस बात का संकेत है कि अग्नि उनके आगे-आगे नहीं ले जाई जायगी, बल्कि जब वे आगे-आगे जा रहे तो पीछे से कोई व्यक्ति अग्नि लेकर जावे ॥ १४ ॥

अनाकुला

एतं वैवाहिकमग्निमुखायां समोप्य दम्पत्योर्गच्छतोरनु पृष्ठतः हरन्ति तदीया पुरुषाः। समोप्यवचनं श्रौतेष्वग्निषु दृष्टस्य समारोपणस्य प्रतिषेधार्थम्। एवं प्रतिषेधं कुर्वन्नेतद्दर्शयति—'अनुगतो मन्थ्य' इत्यत्र श्रौतवद्वक्षाणेभ्यो मन्थनमिति। अनुशब्दः पुरस्तान्नयनप्रतिषेधार्थः ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एतं विवाहाग्निं समोप्योखायामनुहरन्ति 'अव्यवायेन[1] वध्वाः पश्चान्नयन्ति परिकर्मिणः। एतमितिग्रहणं विवाहाग्नेरौपासनाख्यस्य [2]संस्कारशब्दाभिव्यङ्ग्यस्य प्रयाणेऽपि नित्यं प्रत्यक्षनयनार्थम्। अगृह्यमाणे त्वेतमित्यस्मिन् अदृष्टार्थं सर्वार्थस्य लौकिकाग्नेरनुहरणं स्यात्। औपासनस्य च गृह्यान्तरेण प्रयाणे विहितं समारोपणं स्यात् ॥ १४ ॥

[3]नित्यः ॥ १५ ॥ धार्यः ॥ १६ ॥

अनु०—अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखे ॥ १५-१६ ॥

टि०—यह अग्नि पाणिग्रहण के समय से लेकर जीवन भर तक रखी जाती है हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र के अनुसार पाणिग्रहण के समय से स्थापित अग्नि में ही सभी गार्ह्य कर्म किए जाते हैं: 'पाणिग्रहणादिरग्निस्तमौपासनमित्याचक्षते, तस्मिन् गार्ह्याणि कर्माणि' (२६.१.२.) ॥ १६ ॥

---

१. ठ. अव्यवधानेन। २. औपासनाख्यसंस्कार। ३. सूत्रद्वयमिदमेकं सूत्रं हरदत्तस्य।

अनाकुला

एष वैवाहिकोऽग्निर्नित्यः शाश्वतिको धार्यः पत्नीसम्बन्धानां कर्मणामर्थाय ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पाणिग्रहणादारभ्य सर्वाचारलक्षणकर्मार्थमयमग्निर्नित्यः, यावज्जीवं नोत्सृज्यते; 'पाणिग्रहणादिरग्निस्तमौपासनमित्याचक्षते, तस्मिन् गार्ह्याणि कर्माणि' (हि. गृ. २६-१, २.) इति हिरण्यकेशिवचनात्। अतः साङ्गे विवाहे समाप्तेऽपि 'अपवृत्ते कर्मणि लौकिकस्सम्पद्यत' (आप. प. ४-२३.) इति न भवति ॥ १५ ॥

नित्य इति सिद्धे धार्य इत्यारम्भात् प्रयाणेऽप्यस्य समिध्यात्मन्यरण्योर्वा समारोपणं गृह्यान्तरविहितं विकल्पेनापि न स्यात्। यथा 'जुह्वा, स्रुवेण वा सर्वप्रायश्चित्तानि जुहोति' (आप. श्रौ. २-११-१.) इत्यत्र 'अध्वर्युं कर्तारम्' (आप. प. १-२६.) इति वचनात् अध्वर्युरेव कर्ता, 'न तु 'जुहोति जपतीति प्रायश्चित्ते ब्रह्माणम्' (आश्व. श्रौ. १-१-१६) इत्याश्वलायनसूत्रविहितो ब्रह्मा विकल्पेनापि। एवं च 'समोप्यैतमग्निमनुहरन्ति' (आप. गृ. ५-१३.) इति सर्वस्य धर्मोऽयं, न वैवाहिकप्रयाणस्यैव। यथा [2]'समोप्यैतावग्नी अन्वारोप्य' इत्याग्निकप्रयाणेऽस्य विहितो धर्मस्सर्वार्थः।

एवंविधेषु यद्यपि याज्ञिका विकल्प नेच्छन्ति, तथापि विकल्पोऽस्तीत्यत्र ज्ञापकं भवति। 'सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिस्सम्बन्धः' 'दायेनाव्यतिक्रमश्चोभयोः' 'पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः' (आप. ध. २-१३-१,-२३.) इत्यसवर्णदारसंग्रहण प्रतिषिध्य स्वयमेवाह सूत्रकारः—स त्रयाणां वर्णानाम्' (आप. प १-२.) इति। त्रयाणामित्येतस्य पदस्यार्थो भाष्यकारेण व्याख्यातः—'तिस्रो हि तस्य भार्यास्स्मृत्यन्तरवचनादप्रतिषिद्धाः, तस्य कथं सह ताभिरधिकारस्स्यादित्येवमर्था त्रिसङ्ख्या' इति। एतत्सूत्रभाष्याभ्यामसवर्णदारसंग्रहस्स्मृत्यन्तरविहितो न सर्वथैव निषिद्ध इति गम्यते। तच्चान्येष्वप्येवंविधेषु विकल्पस्य ज्ञापकमेव ॥ १६ ॥

अस्यौपासनस्यो[3]द्वातस्योत्पत्तिमाह—

अनुगतो मन्थ्यः ॥ १७ ॥

अनु०—यदि अग्नि बुझ जाय तो दो अरणियों से मन्थन करके नवीन अग्नि उत्पन्न करे ॥ १७ ॥

१. ख. ग. ङ--नान्येषां कर्तृत्वम्। इत्यधिकः पाठः २ ङ--समोप्यैतरावग्नी
३. ङ—उद्वासितस्य।

अनाकुला

अनुगतः उद्वातः मन्थ्यः मन्थनेनोत्पाद्यः। अस्मिन् पक्षे विवाहेऽप्यस्य योनिरेषैव। धारणं चारण्योर्विवाहप्रभृति भवति। तत्र विवाहे अरणीभ्यां मन्थनम्, अनुगते स्वेभ्य एवावक्षाणेभ्य इत्युक्तम्। तदभावे भस्मना अरणी संस्पृश्य मन्थनम् ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यद्ययमग्निरनुगतः निर्वाणस्स्यात् तदा मन्थ्यः तेभ्य एवावक्षाणेभ्योऽधि मन्थितव्यः। यदि तानि न स्युरसमर्थानि वा, तदास्या अरणी संस्पृश्य मन्थितव्यः ॥ १७ ॥

श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहार्यः ॥ १८ ॥

अनु० —अथवा श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर से अग्नि ले आवे ॥ १८ ॥

टि०—यदि अरणियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न की जाती है और उस अग्नि के द्वारा वैवाहिक कर्म होता है तब वह मन्थ्य कहलाता है यदि अग्नि श्रोत्रिय के घर से लाई गयी हो तब वह आहार्य विवाह होता है। अग्नि यदि नष्ट हो जाय तो इसी प्रकार (मन्थन द्वारा या श्रोत्रिय के घर से लाकर) पुनराधान किया जाय। 'अनुगत' से तात्पर्य यह कि नष्ट या अपहृत होने पर ॥ १८ ॥

अनाकुला

श्रुतवृत्ताध्ययनसम्पन्नो ब्राह्मणः श्रोत्रियः, तस्य गृहे यः पचनाग्निः तस्माद्वाहार्यः। अस्मिन् पक्षे विवाहेऽप्यस्य योनिरेषैव ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथवाऽधीतवेदस्य गृहादाहार्यः। अयं च व्यवस्थितो विकल्पः। यदि मथितेऽग्नौ विवाहस्तदा मन्थ्यः। यद्याहृतेऽग्नौ तदाहार्यः। नष्टेऽपहृते वाग्नावियमेवोत्पत्तिः। अनुगत इत्यस्य नष्टापहृतयोः प्रदर्शनार्थत्वात् ॥ १८ ॥

प्रायश्चित्तमाह—

[1]उपवासश्चान्यतरस्य भार्याया पत्युर्वा ॥ १९ ॥

अनु०—ऐसी स्थिति में उन दोनों में कोई पत्नी या पति उपवास भी करे ॥१९॥

टि०—अग्नि के बुझ जाने या चुरा लिये जाने पर पति पत्नी दोनों ही अथवा उनमें कोई एक उपवास करे। उपवास का तात्पर्य है कि दोनों समय दिन तथा सायं भोजन न करें। उसके बाद अग्नि का आधान करे और सर्वप्रायश्चित्तहोम करे। हर-

१. 'अनुगते' इत्यन्तं सूत्रं हरदत्तमते।

दत्तमिश्र ने इस बात का संकेत किया है कि इस अग्नि का नित्यसंबन्ध भार्या के साथ ही होता है, इसलिए यह निर्देश भार्या के लिए ही दिया गया है। इस अग्नि का भार्या के साथ ही विशिष्ट नित्यसम्बन्ध है इसका प्रमाण यही है कि सपत्नीबाधन आदि में पत्नी का साथ पति नहीं देता और पत्नी अकेले ही अग्निविषयक कर्म करती है। किन्तु उपवास के विषय में सुदर्शनाचार्य ने अपनी व्याख्या में किसी एक समय के—दिन के या रात्रि के—उपवास का निर्देश किया है। यदि भोजन के पूर्व अग्नि बुझी हो तो मन्थन करके, सर्वप्रायश्चित्त होम करके शेष समय में उपवास करे। यदि भोजनोपरान्त अग्नि की अनुगति हुई हो तो उस समय के बाद शेष समय में तथा अगले भोजनकाल में उपवास रखे। कुछ आचार्य पति और पत्नी दोनों के लिए उपवास का विधान मानते हैं, इसमें विकल्प नहीं स्वीकारते। अन्य लोग 'अन्यतरस्य' से पति या पत्नी में कोई एक भी उपवास कर सकता है ऐसा विकल्प मानते हैं। तात्पर्यदर्शनकार सुदर्शनाचार्य ने 'अन्यतरस्य' का अर्थ 'अन्यतरस्य कालस्य अह्नो वा रात्रेर्वा सम्बन्धी उपवासः' किया है।

इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं से स्पष्ट है कि सूत्रों की दुरूह शैली से अर्थ के विषय में कितनी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं॥ १६ ॥

अनाकुला

अत्र व्यवहितकल्पनया पदानां सम्बन्धः। अग्नावनुगते भार्यायाः पत्युश्च उभयोरुपवासो भवति, तयोरन्यतरस्य वेति। चशब्द उभयोरुपवाससमुच्चयार्थः। भार्यायाः पत्युश्चेति। वाशब्दोऽन्यतरस्य विकल्पार्थः। तयोरन्यतरस्य वेति। उपवासः उभयोरपि कालयोरभोजनं, प्रसिद्धेः, अनुगमनानन्तरमेव चाग्निप्रकल्पनं सर्वप्रायश्चित्तहोमश्च।

नन्वनुगतो मन्थ्य इति प्रकृतं तत्किमनुगत इति निमित्तनिर्देशेन ? उच्यते-दम्पत्योः प्रस्थानमिह प्रकृतम्। तां ततः प्र वा वाहयेदिति। प्रासङ्गिकस्त्वग्निधर्मः। ततश्चोपवासविधिरपि प्रस्थानशेष एव विज्ञायेत। तथा च 'त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या ब्रह्मचर्यमि'त्यादीनां प्रासङ्गिकेन संबन्धो न भवति। किन्तु[1] प्राकरणिकेनैव। अनुगते उभयोरुपवासोऽन्यतरस्य वेत्येव सिद्धे भार्यायाः पत्युश्चेति पृथङ्निर्देशः कथमस्याग्नेरत्यन्तं भार्यासंबन्धः प्रतिज्ञापितस्स्यादिति। अत एव भार्यायाः पूर्वनिर्देशः, तेन यस्मिन् कर्मणि भार्यायास्सहत्वं नास्ति यथोपाकरणसमापनयोस्तस्यैतस्मिन्नग्नावप्रवृत्तिः। सपत्नीबाधनादौ च पत्युस्सहत्वाभावेऽपि भार्यासम्बन्धादेवास्मिन्नग्नौ प्रवृत्तिः॥ १८ ॥

१—प्रकरणेनैव।

तात्पर्यदर्शनम्

अन्यतरस्य कालस्य अह्नो वा रात्रेर्वा सम्बन्धी उपवासः अनशनं भार्यायाः, पत्युर्वा भवति। चकारोऽग्न्युत्पत्तिप्रायश्चित्तयोस्समुच्चयार्थः। यद्यहनि, रात्रौ वा प्राग्भोजनादनुगतिस्तदा मथित्वाऽऽहृत्य वा 'यत्र क्वचे'ति विधिनोपसमाधाय 'यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा' इति सर्वप्रायश्चित्तं हुत्वा कालशेषमुपवसेत्। यदि भोजनादूर्ध्वं तदा तत्कालशेषमागामिकालं च। सर्वथा तु विज्ञातमात्र एवानुगमने उत्पादनादि कार्यम्, निमित्तानन्तरं नैमित्तिकस्यावश्यकर्तव्यत्वात्।

अन्ये तु—भार्यापत्योरुभयोरप्युपवासो न विकल्पः, स्वामित्वाविशेषात्, 'पर्वसु चोभयोरुपवासः' (आप. ध. २-१-४.) इति स्मार्ते समुच्चयस्य दृष्टत्वाच्च। वाशब्दस्तु चार्थ इति। तेषामुपवासश्चान्यतरस्येत्येतावदेवालं सूत्रम्। अर्थादेव स्वामिनोरुभयोरप्युपवासो भविष्यति।

केचित्—'उपवासश्चान्यतरस्य भार्यायाः पत्युर्वानुगते' इति सूत्रं छित्वा व्यवहितान्वयकल्पनया व्याचक्षते—अनुगतेऽग्नौ भार्यायाः पत्युश्चोपवासोऽन्यतरस्य वेति। अत्र प्रकृतेऽपि पुनरनुगत इति ग्रहणमधिकयत्नमन्तरेणैवंविधानां प्रासङ्गिकार्थता न स्यात्, किन्तु परमप्रकृतार्थतैवेति ज्ञापयितुमिति ॥ १९ ॥

अनुगतेऽपि वोत्तरया जुहुयान्नोपवसेत् ॥ २० ॥

अनु०—अथवा उस अग्नि के बुझ जाने पर भी अगले मन्त्र 'अयाश्चाग्ने' आदि से हवन करे और उपवास न करे ॥ २० ॥

टि०—इस सूत्र द्वारा एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत किया गया है। इसमें उपवास का प्रतिषेध करके उसके बदले 'अयाश्चाग्ने' मन्त्र द्वारा एक आहुति की व्यवस्था की गयी है। जानबूझकर अग्नि का उत्सर्ग कर देने पर या बारह दिन से अधिक समय तक विच्छेद हो जाने पर जो प्रायश्चित्त किया जाता है उसे दूसरी स्मृति में स्पष्ट किया गया है ॥ २० ॥

अनाकुला

उत्तरयर्चा 'अयाश्चाग्ने' इत्येतया जुहुयात् आहुतिमेकाम्। इयमाहुतिस्तन्त्रवति न भवति। परिस्तरणाज्यसंस्कारदर्वीसंमार्जनानि भवन्ति। अपि वेति वचनादेव वैकल्पिकत्वे सिद्धे उपवासप्रतिषेध इयमाहुतिरुपवासस्यैव प्रत्याम्नाया यथा स्यादिति। तेनेहापि सर्वप्रायश्चित्तहोमस्य समुच्चयो भवति तदिदं प्रायश्चित्तमप्यपहरणादिनाग्निनाशेऽपि द्रष्टव्यम्। अस्यैवाग्नेबुद्धिपूर्वोत्सर्गे द्वादशाहादूर्ध्वं विच्छेदे च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्। तत्राप्यग्निसंस्कार एतावानेव ॥ १९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अपि वा अग्नावनुगते उत्तरया 'अयाश्चाग्ने' इत्येतयाऽऽज्यं जुहुयान्नोपवसेत्। अनुगत इति पुनर्वचनान्नष्टापहृतयोर्नायं विकल्पः, किन्तूपवास एव। अपि वेत्यनेनैव उपवासपक्षे व्यावृत्ते, नोपवसेदित्यारम्भादुपवासमात्रेणैवायं विकल्पः[1] प्रायश्चित्तं त्वत्राप्यस्त्येव ॥ २० ॥

उत्तरा रथस्योत्तम्भनी ॥ २१ ॥

अनु०—अगले मन्त्र 'सत्येनोत्तभिता' आदि से वर रथ को उठावे ॥ २१ ॥

अनाकुला

अथ दम्पत्योः प्रस्थाने विशेषधर्मा उपदिश्यन्ते। उत्तरा 'सत्येनोत्तभिते' त्येषा। रथस्योत्तंभनी अनयार्चा रथस्योत्तंभनं कर्तव्यमित्यर्थः। केन? वरेण, अधिकृतत्वात् ॥ २१ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरा 'सत्येनोत्तभिता' इत्येषा रथस्योत्तम्भनी उत्तम्भने करणमन्त्रः॥२१॥

[2]वाहावुत्तराभ्यां युनक्ति दक्षिणमग्रे ॥ २२ ॥

अनु०—अगले दो मन्त्रों 'युञ्जन्ति ब्रध्नं' आदि तथा 'योगे-योगे' आदि से बैलों या घोड़ों को रथ में जोड़े और उनमें भी दाहिने वाले को पहले जोते ॥ २२ ॥

टि०—हरदत्तमिश्र ने 'युञ्जन्ति' आदि मन्त्र से दाहिने और 'योगे-योगे' आदि मन्त्र से बायें बैल को जुताने का निर्देश किया है किन्तु सुदर्शनाचार्य के अनुसार इन दोनों ही मन्त्रों से दाहिने बैल या अश्व को जोतकर फिर इन्हीं दोनों मन्त्रों से बायें बैल या अश्व को जोता जायगा। दोनों मन्त्रों का एक साथ उल्लेख होने से यह 'एकमन्त्राणि कर्माणि' का अपवाद है ॥ २२ ॥

अनाकुला

वाभ्यामूह्यते रथः तौ वाहौ अश्वावनड्वाहौ वा। उत्तराभ्यां 'युञ्जन्ति ब्रध्नं, योगे योगे' इत्येताभ्यां युनक्ति युगधुरोराबध्नाति। युञ्जतीति दक्षिणं योगे-योगे इत्युत्तरम्। केचिदुभाभ्यामेकैकस्य योगमिच्छन्ति।

अर्थात् पश्चात् सव्यम्। प्रत्यङ्मुखत्वे च न सिध्यति वचनम्। अन्यत्र तथापवर्ग इत्येव सिद्धम् ॥ २२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तराभ्यां 'युञ्जन्ति ब्रध्नं' 'योगे योगे' इति द्वाभ्यां अश्वावनड्वाहौ वा[3] युगधुरोराबध्नाति। तयोश्च दक्षिणं वाहं पूर्वं युनक्ति। द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकं,

---

१. ख. ग. ङ.—सर्वप्रायश्चित्तम्।

२. सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते। 'युनक्ति' इत्यन्तं प्रथमसूत्रम्। ३. ङ—युगधुरोरब।

नैकैकया। 'अत्र च उत्तराभ्यामिति द्वन्द्वापवादेनैकशेषेण समभिव्याहृतयोजनक्रियापेक्षयेतरेतरयोगाभिहितयोर्द्वयोरपि मन्त्रयोस्सहितयोर्विनियोगात्[2] 'एकमन्त्राणि कर्माणि' (आप. प. १-४-१) इत्यस्यापवादः। नन्वेवं द्वितीयस्य मन्त्रस्यादृष्टार्थता स्यात्? सत्यम्। तथापि, द्वाभ्यामेकैकमिति परमाप्तभाष्यकारवचनादेकैकवाहयोजने सहितमन्त्रद्वयाचारः कृत्स्नदेशकालकर्तृव्याप्त इत्यनुमीयते ॥ २२ ॥

आरोहतीमुत्तराभिरभिमन्त्रयते ॥ २३ ॥

अनु०—जब वधू रथ पर चढ़ रही हो तो उस पर अगला मन्त्र 'सुकिंशुकम्' आदि पढ़े ॥ २३ ॥

टि०—'उत्तराभिः' से बहुवचन का निर्देश होने से सामान्यतः तीन मन्त्रों का अर्थ लिया जा सकता है, किन्तु तीन मन्त्रों का नियम न होने से चार मन्त्रों का ही ग्रहण होगा। इससे यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि इन चार मन्त्रों से रथ को ले जाने वाले बैल या घोड़े अथवा पालकी ले जाने वाले पुरुषों का अभिमन्त्रण होगा, परन्तु अभिमन्त्रण चढ़ती हुई वधू का होगा ॥ २३ ॥

अनाकुला

अथ तं रथं युक्तमारोहति वधूः। तामारोहतीमारोहन्तीं उत्तराभिः 'सुकिंशुकमि' त्येवमादिभिः अभिमन्त्रयते। इह बहुवचननिर्देशात् त्रिप्रभृति अनियमप्रसङ्गे मन्त्रलिङ्गाच्चतसृभिरिति नियमः। याने तूत्तंभनादि सर्वं भवति। अश्वपुरुषादिषु च अभिमन्त्रणादयः दम्पतीधर्मा भवन्तीत्युक्तम्। 'सुचक्रमि'ति मन्त्रलिङ्गात रथ एव मन्त्रा इत्येके। वधूप्रतिपादनपरत्वात् मन्त्रस्य रथलिङ्गत्वमर्थवाद इत्यन्ये ॥ २३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

रथमारोहतीमारोहन्तीं वधूम्। नुमभावश्छान्दसः। 'सुकिंशुकम्' इत्यादिभिश्चतसृभिरभिमन्त्रयते। रथमेवारोहन्तीं नाश्वादिम्; सुचक्रमिति लिङ्गविरोधात्। 'उदुत्तरम्' इति वा तिसृभिरश्वादिकमारोहन्तीमभिमन्त्रयते ॥२३॥

[3]सूत्रे वर्त्मनोर्व्यवस्तृणात्युत्तरया नीलं दक्षिणस्यां

लोहितमुत्तरस्याम् ॥ २४ ॥

---

१. क. घ—'यद्येकैकया तदोत्तराभ्यामिति द्विवचनमविवक्षितार्थं स्यात्' इत्यधिकः पाठः।

२. एकस्य कर्मण एक एव मन्त्र इत्युत्सर्ग इति सूत्रार्थः।

३. सूत्रत्रयमिदं हरदत्तमते। उत्तरया, दक्षिणस्यां, उत्तरस्यां इति यथाक्रमं सूत्रान्तानि।

अनु०—पहियों की परिधि में दो सूत (तिरछा) बाँधे; दाहिने पहिए में नीले रंग का और बायें पहिए में लाल रंग का सूत बांधे, 'नीललोहिते भवतः' आदि का पाठ करते हुए ॥ २४ ॥

टि०—भाष्यकारों ने 'वर्त्मनोः' के स्थान पर 'वर्तिन्योः' पाठ अधिक ठीक बताया है, क्योंकि 'दक्षिणस्यां' 'उत्तरस्यां' में स्त्रीलिंग का निर्देश है। व्यवस्तृणाति' में 'वि' का अर्थ तिरछा से किया जाता है। दोनों सूत्रों को एक साथ लेकर 'नील-लोहित' आदि मन्त्र का केवल एक बार पाठ किया जायगा और फिर दोनों पहियों की वर्त्मनी में अलग-अलग बांध दिया जायगा ॥ २४ ॥

अनाकुला

द्वे सूत्रे नीललोहिते रथस्य वर्त्मनोरुभयोः। भविष्यन्निर्देशोऽयं ययोर्वर्तिष्येते रथचक्रे तयोर्वर्त्मनोः। वर्तिन्योरिति युक्तं पठितुम्। तथा च दक्षिणस्यामुत्तरस्यामित्युत्तरत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽवकल्पते। व्यवस्तृणाति विशब्दस्तिर्यगर्थे, तिर्यगवस्तृणाति। उत्तरया 'नीललोहित' इत्येतया। तयोस्सूत्रयोः यन्नीलं दक्षिणस्यां वर्त्मन्यां व्यवस्तृणाति।

उत्तरस्यामिति सव्यस्य चक्रस्य वर्त्मन्यामित्यर्थः। सूत्रे युगपत् गृहीत्वा सकृदेव मन्त्रमुक्त्वा व्यवस्तृणाति। सत्यपि देशभेदे मन्त्रलिङ्गात्।

अपर आह—देशभेदात् मन्त्राभ्यामावृत्तिरिति। अभियानं तु सान्नाय्यकुम्भीवत् द्रष्टव्यम्—अप्रस्रसाय यज्ञस्योऽखे उपदधाम्यहमिति। सूत्रव्यवस्तरणमश्वादिषु नास्ति रथसंबन्धात् ॥ २४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

वर्त्मनोः वर्तन्योरित्यर्थपाठः। नीलं दक्षिणस्यामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्। रथस्य भाविन्योर्वर्तन्योः 'नीललोहिते भवतः' इत्येतया द्वे सूत्रे व्यवस्तृणाति तिर्यक्स्तृणाति। एतच्च युगपत्, नीललोहिते भवत इति द्विवचनलिङ्गात्। तयोश्च सूत्रयोर्दक्षिणस्यां वर्तन्यां नीलं व्यवस्तृणाति, उत्तरस्यां च लोहितम् ॥ २४ ॥

ते उत्तराभिरभियाति ॥ २५ ॥

अनु०—आगे के तीन मन्त्रों 'ये वध्वश्चन्द्रम्' आदि का पाठ करते हुए उन फैले हुए सूतों के ऊपर चले ॥ २५ ॥

टि०—मन्त्रों का उच्चारण अश्व आदि के गमन के लिये भी किया जा सकता है ऐसा कुछ लोगों का विचार है, किन्तु कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। यहाँ तीन मन्त्रों से तात्पर्य है, तीनों मन्त्रों का पाठ करने के बाद जाने का कार्य आरम्भ होता है ॥ २५ ॥

अनाकुला

ते सूत्रे अभियाति उपरियाति। उत्तराभिस्तिसृभिः ऋग्भिः ये वध्वश्च-न्द्रमित्येताभिः, तत्र रथेन गच्छन्नुपरियाति। मन्त्रास्त्वश्वादिगमनेऽपि वक्त-व्याः, गमनार्थत्वात्तेषाम्, नेत्यन्ये। मन्त्रलिङ्गात् त्रित्वनियमः। त्रयाणामन्ते गमनारम्भः॥ २५॥

तात्पर्यदर्शनम्

'ये वध्वश्चन्द्रम्' इति तिसृभिर्व्यवस्तीर्णे सूत्रे अभियाति उपरि गच्छति॥ २५॥

तीर्थस्थाणुचतुष्पथव्यतिक्रमे चोत्तरां जपेत्॥ २६॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने पञ्चमः खण्डः

अनु०—जब कभी वे किसी स्नान स्थान, खम्भे, चौराहे से होकर गुजरें तो वह आगे वाले मन्त्र 'ता मन्दसाना' आदि का जप करे॥ २६॥

टि०—पार करके जाने या कहीं से होकर गुजरने के अर्थ में 'अतिक्रम' (शब्द होता है, यहां 'व्यतिक्रम') में 'वि' शब्द का निरर्थक प्रयोग हुआ है॥ २६॥

अनाकुला

अतीत्य गमनमतिक्रमः अतिक्रम एव व्यतिक्रमः, विशब्दोऽनर्थकः, यथो-पाय एवाभ्युपाय इति। उत्तरामृचं जपेद्वरः 'तामन्दसाने'त्येताम्। निमित्तावृत्तौ जपस्यावृत्तिः। चशब्दः प्रत्येकं जपसम्बन्धार्थः। इतरथा त्रयाणामतिक्रमस-न्निपाते जपः कार्यस्स्यात्, मन्त्रलिङ्गात्। न च मन्त्रे तीर्थादयस्स्तूयन्ते। किं त-र्ह्यश्विनौ, तेनैकातिक्रमणे इतरयोः श्रवणं व्यर्थं स्यादिति न चोदनीयं, तत्प-दोद्धारो वा शङ्कनीयः॥ २६॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामनाकुलायां पञ्चमः खण्डः॥

तात्पर्यदर्शनम्

तीर्थं पुण्यनद्यादि। स्थाणुर्गवां[2] कण्डूयनार्थं निखातः। चतुष्पथः प्रसिद्धः। एतेषां व्यतिक्रमे 'ता मन्दसाना' इत्येतां जपेत्। तीर्थादीनां चान्यतमव्यति-क्रमेऽपि कृत्स्नाया एव जपः, त्वितरपदरहितायाः यतो लिङ्गाच्छ्रुतिर्बलीयसी,[3] 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इतिवत्।

---

१. खण्डेऽस्मिन् सूत्रेषु संख्याद्वयमधिकमनाकुलायाम्।

२. क. ज.—गवादि।

३. 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते' इत्ययं मन्त्रो लिङ्गात् इन्द्रप्रकाशनसमर्थोऽपि नेन्द्रोपस्थाने विनियुज्यते, किन्तु ततः प्रबलया 'कदाचन स्तरीरसीत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति श्रुत्या गार्हपत्यप-

नन्वत्राचाराच्छ्रुतिरनुमेयेति न तया लिङ्गबाधो युक्तः। मैवम्, लिङ्गस्यात्र श्रुति[1] विहितशेषिविषयसापेक्षत्वात्। तत्र ह्यनुमेयश्रुतेर्दौर्बल्यं यत्रास्याः प्रत्यक्षश्रुत्यैव विरोधः। अतोऽनुमेयापि श्रुतिस्सापेक्षलिङ्गबाधिकैव। वृत्तिभेदस्तु तीर्थादिशब्दानां तत्तद्व्यतिक्रमे मन्त्रप्रयोगभेदादुपपद्यते। अतस्तीर्थव्यतिक्रमेऽपि स्थाणुपथशब्दौ [2]दुर्मतिस्थानसामान्यात्तीर्थमेवाभिवदतः। एवं स्थाणुमितरौ। चतुष्पथमपीतरौ। यथेध्मसम्भरणमन्त्रे उपवेषमेक्षणधृष्टिशब्दा अग्निसंस्पर्शिकाष्ठमयत्वसामान्यात् इध्मदारूण्येवाभिवदन्ति। यथा वा जातकर्मण्युत्तराभ्यामभिमन्त्रणं, मूर्धन्यवघ्राणं, दक्षिणे कर्णे जापः, (आप. गृ. १५-१.) इत्यभिमन्त्रणावघ्राणजपानां जातसंस्कारक्रियासामान्यादभिजिघ्रामीत्यभिवदनम्। किञ्चात्राश्विनोः प्राधान्येन स्तूयमानत्वात्तत्सकाशात्तीर्थादिव्यतिक्रमोत्थदोषोपहतेः प्रार्थ्यमानत्वादविकृताया एव जपः। अपि च पदान्तरोद्धारे जगतीत्वभङ्गप्रसङ्गः। न्यायतस्तु जपमन्त्रो नार्थपरः। अतो नात्र तीर्थादयोऽश्विनौ वा तात्पर्येणाभिधीयन्ते। तस्मात् सूपपादः कृत्स्नाया एव जपः। एष एव न्यायो नदीनां धन्वनां च व्यतिक्रमे॥ २६॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने पञ्चमः खण्डः

स्थाने विनियुक्तत्वात् इन्द्रपदघटिताया ऋचस्तत्रः तत्रैवोच्चारणं यथा तद्वत् 'तीर्थस्थाणुमि'त्यनेन सूत्रेण समग्राया एवर्चः तत्तदतिक्रमे निमित्ते नैमित्तिकतया विधानात् तीर्थादिप्रकाशनरूपं लिङ्गं बाधित्वापि सर्वत्रापि कर्तव्य इत्यर्थः।

१. ग—श्रुतिविहितप्रत्यक्ष। २. ख—व्यतिक्रमस्थान।

अथ षष्ठः खण्डः

नावमुत्तरयानुमन्त्रयते ॥ १ ॥

अनु०—यदि मार्ग में नाव से (नदी आदि पार कर) जाना हो तो अगले मन्त्र 'अयं नो मह्याः पारं स्वस्ति' आदि से अनुमन्त्रण करके नाव पर चढ़ना चाहिए ॥१॥

अनाकुला

अथ यदि पथि नावा तार्या नदी, वापी वा स्यात्, तत्र नावमुत्तरयर्चा'अयं नो मह्याः पारं स्वस्ती'त्येतयानुमन्त्रयते अनुमन्त्रयेतेत्यर्थः। पृष्ठतः स्थित्वा अनुवीक्ष्य मन्त्रोच्चारणमनुमन्त्रणम्। कृतेऽनुमन्त्रणे वरो वधूश्च तामारोहतः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि पथि नदी नावा तरितव्या स्यात्, तदा वरः 'अयं नो मह्याः पारम्' इत्येतया नावमनुमन्त्रयते। ततस्तामुभावग्निना सहारोहतः ॥ १ ॥

न च नाव्यांस्तरती वधूः पश्येत् ॥ २ ॥

अनु०—पत्नी नदी पार करते समय नाव चलाने वालों को न देखे ॥ २ ॥

टि०—नाव ले जाने वालों को नाव्याः (नावि भवाः) कहते हैं। वधू के लिए ही यह नियम है किन्तु जप का कर्म वर के लिए विहित है। यहाँ वर और वधू के एक साथ नाव से जाने का निर्देश है ॥ २ ॥

अनाकुला

ये नावं नयन्ति (ते) नावि भवा नाव्याः कैवर्ताः तान् तरतो तरन्ती तरणकाल इत्यर्थः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादेव सिद्धे वधूग्रहणं दर्शनप्रतिषेधो वध्वा एव यथा स्यादिति। तेन 'तीर्त्वोत्तरां जपेदि'ति वरस्यैव भवति। चशब्दो वध्वा वरस्य च सहतरणप्रदर्शनार्थः। सहोभौ तरतः। वध्वास्त्वयं चापरो विशेष इति। केचित् नावा तार्या 'आपो नाव्या' इति व्याचक्षते। तेषां पुंल्लिङ्गनिर्देशोऽनुपपन्नः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

नाव्यान् नौनेतॄन् कैवर्तान्। तरतीति छान्दसं रूपम्। तरन्ती तरणकाले। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (पा. सू. ३-२-१२६)' इति शत्रादेशः। वधूर्न पश्येत्। चकारात् वध्वास्तरणदर्शनप्रतिषेधश्च, वरस्य केवलं सह तरणमिति ज्ञापयति ॥ २ ॥

तीर्त्वोत्तरा जपेत् ॥ ३ ॥

अनु०— नदी को पार कर लेने पर वह (पति) अगले मन्त्र 'अस्य पार' आदि का जप करे ॥ ३ ॥

अनाकुला

तीर्त्वा पारं प्राप्य उत्तरामृचं 'अस्य पार' इत्येतां जपेद्वरः । यदि नदी न भवति तदा 'या ओषधय' इत्येतामपि जपेत् । 'नदीनां धन्वनाञ्च व्यतिक्रमे' इति वक्ष्यति ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम् ।

पारं प्राप्य 'अस्य पारे' इत्येतां वर एव जपेत् ॥ ३ ॥

'श्मशानाधिव्यतिक्रमे भाण्डे, रथे वा रिष्टेऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं करोति ॥ ४ ॥

अनु०—यदि उन्हें किसी श्मशानभूमि से होकर जाना पड़े या उनके साथ का कोई पात्र या रथ १ टूट जाय, तो अग्नि के उपसमाधान (अग्नि पर समिध् रखने की) क्रिया से लेकर आज्य भाग की आहुतियों तक का कर्म करे; पत्नी पति को पकड़े रहे और पति अगले मन्त्र 'यद्दतेचत्' आदि से हवन करे। हवन करने के बाद जया आदि आहुतियाँ करे तथा परिषेचन (अग्नि के चारो ओर जल के छिड़कने) तक के सभी कर्म करे ॥ ४ ॥

टि०—रथ की तरह अन्य वाहन आदि के टूटने अथवा इसी प्रकार के अन्य दुर्निमित्त होने पर भी होम कर्म किया जाता है। 'अधि' शब्द से यह ध्वनि है कि श्मशानभूमि के ऊपर होकर जाने पर ही उक्त होम किये जायेंगे तीर्थों आदि के समीप से होकर जाने पर भी वक्ष्यमाण हवन कर्म किया जायगा। सात मन्त्र हैं अतः सात आहुति की जायगी। वधू के भूषण आदि नष्ट या खो जाने पर भी अग्नि के उपसमाधान से लेकर परिषेचन तक के कर्म किये जायेंगे ॥ ४ ॥

अनाकुला

श्मशानभूमेरध्युपरि व्यतिक्रमे, भाण्डे भाजनादौ, रथे वा रिष्टे नष्टे रथ इति प्रदर्शनमन्येषु चैवंप्रकारेषु दुर्निमित्तेषु वक्ष्यमाणहोमः कार्यः। तत्राग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। अधिशब्दप्रयोगाच्छ्मशानभूमेरुपरि गमन एवैतत् भवति। तीर्थादीनां तु समीपेनातिक्रमेऽपि भवति।

---

१. ट—'श्मशानादित्य' । हरदत्तमते सूत्रत्रयमिदम् । 'समाधानादी'त्यन्तमेकम् । 'प्रतिपद्यते' इत्यन्तमपरम् । शिष्टमन्यत् ॥

उत्तरा आहुतीर्जुहोति । 'यद्दतेचि दि'त्याद्यास्सप्त उत्तरमन्त्रैरेतैराहुतीर्जुहोतीत्यर्थः । मन्त्रलिङ्गात् सप्तनियमः । हुत्वा जयादितन्त्रशेषं प्रतिपद्यते । सकृत् पात्रप्रयोगः । शम्याः परिध्यर्थे अग्नेरुपसमाधानादिवचनं तन्त्रप्राप्त्यर्थं, आज्यभागान्तवचनमन्वारम्भकालोपदेशार्थम् । 'जयादि प्रतिपद्यत' इत्येतच्चान्वारम्भनिवृत्त्यर्थम् । तथा जयादि यथासिद्धं प्रतिपद्यत इति ।

यदिदमग्नेरुपसमाधानादि परिषेचनान्तं कर्म तदनन्तरं नैमित्तिकमुक्तं, तत् करोति । सकृदेव, न पुनः पुनरित्यर्थः । अनन्तरोक्तानां निमित्तानां देशकालभेदेनावृत्तावपि सकृदेवान्तेऽयं होमो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

श्मशानाधिव्यतिक्रमे श्मशानभूमेरुपरि व्यतिक्रमे,भाण्डे वधूभूषणादौ, रथे वा रिष्टे नष्टे, अग्नेरुपसमाधानादि परिषेचनान्तं करोति । केवलाज्यहविष्षु न वचनाभावे तन्त्रमित्युक्तमेव । आज्यभागान्त इति त्वन्वारम्भकालविध्यर्थम् । उत्तराः 'यद्दते चिदभिश्रिषः' इति सप्तकरणिका आहुतीः । शेषं व्यक्तम् ॥ ४ ॥

क्षीरिणामन्येषां वा लक्ष्मण्यानां वृक्षाणां नदीनां धन्वनां च व्यतिक्रम उत्तरे यथालिङ्गं जपेत् ॥ ५ ॥

अनु०—(न्यग्रोध आदि) दूधवाले वृक्षों के, अथवा अन्य लक्षणभूत वृक्षों के समीप से जाने पर अथवा नदी और मरुस्थल (निर्जल अरण्य) को पार करते समय जिस प्रकार की जो वस्तु हो उसके अनुरूप अगले दो मन्त्रों का जप करे ॥५॥

टि० – नदी चाहे जल वाली हो या सूखी हुई, मन्त्र के जप का विधान है। यथालिङ्गं से तात्पर्य यह है कि वृक्षादि को देखने पर 'ये गन्धर्वा' आदि का, नदी के समीप से गुजरने या पार करने पर 'या ओषधय'आदि का और मरुस्थल या बियावान 'से गुजरने पर 'यानि धन्वानि' का जप किया जायगा । 'तात्पर्यदर्शन' के अनुसार धन्वानः' से ऐसे दीर्घ अरण्यों का अभिप्राय है जिनमें ग्राम्य पशु नहीं रहते ॥५॥

अनाकुला

क्षीरिणां न्यग्रोधादीनामलक्ष्यण्यानाम्, अन्येषामपि लक्ष्मण्यानां लक्षणयुक्तानां प्रसिद्धानां सीमावृक्षाणामित्यर्थः । लक्ष्मण्यानामित्यपि पाठे अयमेवार्थः । नदीनां सोदकानाम्, अनुदकानाञ्च । धन्वनां निर्जलानामरण्यानाञ्च व्यतिक्रमे उत्तरे ऋचौ यथालिङ्गं[1] यस्य लिङ्गं यस्यां दृश्यते, तद्व्यतिक्रमे तां जपेत् । तत्र वृक्षातिक्रमे 'ये गन्धर्वा' इति, नद्यतिक्रमे 'या ओषधय' इति,

---

१. यल्लिङ्ग ।

धन्वातिक्रमे 'यानि धन्वानी'ति। यथालिङ्गवचनमुभयत्रोभे मा भूदिति। नद्यतिक्रमेऽपि कृत्स्ना भवति। तथा धन्वातिक्रमेऽपि ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

क्षीरिणः क्षीरवन्तः प्लक्षन्यग्रोधादयः लक्ष्म चिह्नं तत्र भवाः लक्ष्मण्याः दुर्गा[1] तिन्त्रिणिका सोमाकदम्बा[2] इत्येवमादयः। नद्यः प्रसिद्धाः धन्वानो दीर्घारण्यानि येषु ग्राम्याः पशवो न निवसन्ति। एतेषां च व्यतिक्रमे उत्तरे यथालिङ्गं जपेत्। 'ये गन्धर्वाः' इति वृक्षाणां व्यतिक्रमे, 'या ओषधयः' इति नदीनां धन्वनाम्। यथालिङ्गमिति वचनं जातकर्मवन्मा भूदिति। क्षीरिणामित्यादि बहुत्वमविवक्षितम्, निमित्तगतत्वात्,[3] हविरुभयत्ववत् ॥ ५ ॥

गृहानुत्तरया सङ्काशयति ॥ ६ ॥

अनु०—अगले मन्त्र 'सङ्काशयामि' आदि का पाठ करते हुए वधू को अपना घर दिखावे ॥ ६ ॥

टि०—वधू के साथ घर पहुँचकर पति सभी वस्तुओं को घर में रखवाकार घरों का भली प्रकार निरीक्षण कराये मन्त्र को भी इस अर्थ में जिस किसी तरह जोड़ना पड़ेगा। तात्पर्यदर्शनकार की व्याख्या विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'ज्ञातिधनसंयुक्तान् वधूं सङ्काशयामि' इति ऋचा दर्शयति ॥ ६ ॥

अनाकुला

अथ स्वं गृहं प्राप्य रथादवरोप्य यद्धनं तस्या बहुत्वेनागतं तच्च गृहान् प्रपाद्य,ततस्तया तान् गृहान् सङ्काशयति सम्यगीक्षयति उत्तरयर्चा'सङ्काशयामो' त्येतया। मन्त्रश्चास्मिन्नर्थे यथाकथञ्चित् योजनीयः। शङ्काशयामि दर्शयामि वहतुं वध्वाः पितृकुलादानीतं धनं ब्रह्मणा मैत्रेण अघोरेण चक्षुषा न केवलमघोरेण, किं तर्हि मैत्रेण गृहैर्मदीयैस्साधं गृहं च मदीयमित्यर्थः। अस्यां पर्या-

---

१ ख-दुर्गाणी। २. ङ ज—कदम्ब। झ. दुर्गादितिन्त्रिणीका।

३ दर्शपूर्णमासीयप्रायश्चित्तप्रकरणे "यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" इत्यनेन हविर्नाशे निमित्ते नैमित्तिकतया शरावपञ्चकपक्वौदनद्रव्यका काचिदिष्टिर्विहिता। तत्र सायंप्रातःकालिकस्यैकैकस्यापि हविषो नाशे प्रायश्चित्तमिदम्? अथवा उभयकालिकहविर्नाश एवेति सन्देहे हविर्नाशस्य निमित्तत्वेनोद्देश्यत्वात् तद्विशेषणस्योभयत्वस्य ग्रहैकत्ववदविवक्षितत्वात् एकैकहविर्नाशेऽपि प्रायश्चित्तमिदं भवत्येवेति पूर्वमीमांसायां षष्ठचतुर्थषष्ठे सिद्धान्तितम्। तद्वत् अत्रापि क्षीर्यादिव्यतिक्रमस्य निमित्तत्वेन तद्गतबहुत्वस्याप्यविवक्षणात् एकैकव्यतिक्रमेऽपि मन्त्रजपो भवेदेवेत्यर्थः।

णद्धं विश्वरूपाख्यं यदाभरणं तत् पतिभ्यः, एकस्मिन् बहुवचनम्। पत्यै मह्यं स्योनं सुखम्। सविता करोत्विति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वरः स्वगृहान् ज्ञातिधनसंयुक्तान् वधूं 'सङ्काशयामि' इति ऋचा सङ्काशयति दर्शयति। ननु-यद्यपि समित्युपसर्गः 'समवदाय दोहाभ्यां' (आप. श्रौ. २-२०-३.) इत्यादौ सहार्थे दृष्टः, तथापि गृहाणां ज्ञातिधनसहितत्वमेवात्राभिप्रेतमिति कुतो निश्चीयते? उच्यते-'सङ्काशयामि वहतुम्' इति मन्त्रलिङ्गानुसारात्। मन्त्रार्थश्च भाष्योक्तः ॥ ६ ॥

'वाहावुत्तराभ्यां विमुञ्चति दक्षिणमग्रे ॥ ७ ॥

अनु०—अगले दो मन्त्रों "आवामगन्" आदि तथा "अयं नो देवस्सविते" आदि से बैलों या रथ खीचने वाले दोनों पशुओं को खोले और पहले दाहिनो ओर के पशु को खोले ॥ ७ ॥

अनाकुला

उत्तराभ्यां आवामगन् "अयं नो देवस्सविते' त्येताभ्याम्। योगवदेकैकेन मन्त्रेण विमोकः ॥ ७ ॥

अर्थात् सव्यं पश्चात् ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'आवामगन्' इति द्वाभ्यामेकैकं वाहं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

लोहितं चर्मानडुहं प्राचीनग्रीवमुत्तरलोम मध्येऽगारस्योत्तरयाऽऽस्तीर्य गृहान् प्रपादयन्नुत्तरां वाचयति दक्षिणेन पदा ॥ ८ ॥

अनु०—जिस घर में दम्पती को निवास करना हो उसके बीच में अगले मन्त्र 'शर्म वर्म' इत्यादि का पाठ करते हुए लाल बैल का चमड़ा इस प्रकार बिछावे कि गर्दन वाला हिस्सा पूर्व की ओर हो और रोएँ ऊपर की ओर हों, वह उससे अगले मन्त्र का 'गृहानि' आदि का पाठ कराते हुए घर में प्रवेश कराता है और दाहिना पैर पहले घर में रखवाता है ॥ ८ ॥

टि०—अश्वों या बैलों को खोलकर पति पहले स्वयं घर में प्रवेश करे। जिस घर में दम्पती को निवास करना हो उसके बीच में चर्म बिछावे और फिर वधू को घर में प्रवेश करावे ॥ ८ ॥

अनाकुला

विमुच्य वाहौ वरः पूर्वं गृहं स्वयं प्रविश्य, यत्र दम्पत्योर्वासः तत्रागारस्य

१. सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते। विमुञ्चतीत्यन्तं प्रथमसूत्रम्।

मध्ये चर्मास्तृणाति उत्तरयर्चा 'शर्म वर्मे' त्येतया तच्चानडुहं भवति लोहितञ्च वर्णेन। प्राचीनमुत्तरलोमेत्यास्तरणे प्रकारः। आस्तीर्य ततो दक्षिणेन पदा गृहान् प्रपादयति। वधूं प्रवेशयति। प्रपादयंस्तामुत्तरामृचं वाचयति 'गृहानि' त्येताम्। 'गृहानि' ति प्रकृते पुनर्गृहानित्युच्यते—इतरथा अगारस्यापि प्रकृतत्वात् प्रवेशने मन्त्रः शंक्येत। इदमेव ज्ञापकमन्तरागारमध्ये चर्मास्तरणमिति। प्रपादयन् वाचयतीति वचनान्मन्त्रकर्मणोरादिसंयोगः। न मन्त्रान्ते प्रदानम् ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततो वरः पूर्वं स्वगृहान् प्रविश्य 'शर्म वर्म' इत्येतया यथासूत्रं चर्मास्तीर्य, ततो वधूं दक्षिणेन पदा गृहान् प्रपादयन् प्रवेशयन् 'गृहान् भद्रान्' इत्येतां वाचयति ॥ ८ ॥

न च देहलीमभि[1] तिष्ठति ॥ ९ ॥

अनु०—घर में प्रवेश करते समय देहली के ऊपर न खड़ा होवे ॥ ९ ॥

टि०—दरवाजे के नीचे की लकड़ी को देहली कहते हैं अथवा उसके बाद की वेदिका को। उसे पार करते समय वर और वधू दोनों में से कोई उस पर पैर न रखे। घर में प्रवेश करके तत्काल भोजन करे, फिर जिस घर में चर्म बिछाया गया हो उसके उत्तर पूर्व में विवाहाग्नि की स्थापना करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

देहली नाम[2] द्वाराधस्ताद्दारु। पर्यन्तवेदिकेत्यपरे। तां प्रपादनकाले स्वयं सा च नातिक्रामेदित्यर्थः तयोः प्रपन्नयोरग्निमनुप्रपादयति।

प्रपद्य गृहान् अथ तत्कालमशनमश्नीयात् ततो यस्मिन्नगारे चर्मास्तरणं तस्योत्तरपूर्वदेशे विवाहाग्निं प्रतिष्ठाप्याग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। सकृत् पात्राणि शम्याः परिध्यर्थे ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

सा च प्रविशन्ती देहलीं नाभितिष्ठति[3] केचित्—चकाराद्वरोऽपि इति ॥९॥

[4]उत्तरपूर्वे देशेऽगारस्याग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वोत्तरया चर्मण्युपविशत उत्तरो वरः ॥ १० ॥

---

१. ख. ग—देहलीमधि. २ द्वारेऽधस्तात्। ३ ख. ग—नाधितिष्ठति।
४. हरदत्तमते सूत्रत्रयमिदम्। प्रथमं 'समाधानादी' त्यन्तम्। द्वितीयं 'प्रतिपद्यते' इत्यन्तम्। वर इत्यन्तं तृतीयम्॥

अनु०—घर के उत्तर-पूर्व भाग में अग्नि के उपसमाधान (अग्नि पर समिध् रखने की) क्रिया से लेकर आज्य भाग की आहुति तक के कर्म करे; वधू से संयुक्त होकर (वधू द्वारा पकड़े जाते हुए) अगले मन्त्रों "आगन् गोष्ठम्" आदि से आहुति करे; तब जया आदि आहुतियाँ करे, अग्नि के चारो ओर परिषेचन तक की क्रियाएँ करके अगले मन्त्र 'इह गावः प्रजायध्वम्' आदि से चमड़े पर बैठे; वर उत्तर दिशा को बैठे ॥१०॥

अनाकुला

उत्तरास्त्रयोदशप्रधानाहुतीः 'आगन्गोष्ठमि'त्याद्याः लिङ्गविरोधे सत्यपि वर एव जुहोति, विधेर्बलीयस्त्वात्। भवति लिङ्गस्त्वाविवक्षितम्। देवतास्मरणार्थत्वात् मन्त्राणाम्। उत्तरो वर इत्ययं विशेषः सर्वेषु होमेषु भवतीत्युक्तम्। उत्तरपूर्वदेशेऽगारस्येति विधिरग्नेस्सर्वत्र वेदितव्यः।

उत्तरयर्चा 'इह गावः प्रजायध्वमि'त्येतया। तदुपविशतः परिषेचनान्तवचनमानन्तर्यार्थं परिषेचनानन्तरमेवोपवेशनं कर्तव्यं नान्यदिति। तेन भोजनं प्रागेवेति सिद्धम्। तत्रोपवेशने मन्त्र उभयोरपि भवति। इहाग्निसम्बन्धाभावात् उत्तरो वर इत्युक्तम्। प्राङ्मुखौ चोपविशतः॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

उत्तराः 'आगन् गोष्ठम्' इत्यादित्रयोदशाहुतीः। उत्तरया 'इह गावः प्रजायध्वम्' इत्येतया। पूर्वमास्तीर्णे चर्मण्युपविशतः। पूर्ववदुत्तर एव वरः ॥१०॥

अथास्याः पुंस्वोर्जीवपुत्रायाः पुत्रमङ्क उत्तरयोपवेश्य तस्मै फलान्युत्तरेण यजुषा प्रदायोत्तरे जपित्वा वाचं[1] यच्छत आ नक्षत्रेभ्यः ॥ ११ ॥

अनु०—तब अगले मन्त्र "सोमेन" इत्यादि से उसकी गोदी में किसी ऐसी स्त्री के पुत्र को बैठावे जिस स्त्री से केवल पुत्र उत्पन्न हुए हों और सभी पुत्र जीवित हों; अगले यजुस् मन्त्र "प्रस्वस्थः प्रेयः" आदि से उस बालक को फल प्रदान करे। तब वह और उसकी पत्नी नक्षत्रों का उदय होने तक (उसी चर्म पर बैठे हुए) मौन रहे ॥ ११ ॥

टि०—तीन वर्णों में किसी भी वर्ण की स्त्री का पुत्र हो सकता है। वे दोनों उसी चर्म पर नक्षत्रों के उदय तक बैठे रहेंगे और कुमार फल आदि प्राप्त कर अपने घर जायेगा। इस कर्म से स्पष्ट है कि विवाह का प्रमुख लक्ष्य पुत्र की प्राप्ति किस प्रकार विवाह के समय से ही प्रधानता प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

---

१. क—यच्छत्यानक्षत्रेभ्यः।

अनाकुला

या पुमांसमेव सूते न स्त्रियं सा 'पुंसूः' तस्याः पुंस्वः पुंस्वो जीवपुत्राया इति पाठः न रेफः पाठ्यः, पठ्यमानो वा छान्दसो द्रष्टव्यः। जीवा एव पुत्रा यस्या न मृताः, तस्याः जीवपुत्रायाः जीवत्पत्या इति च द्रष्टव्यम्। तथा मङ्गलानीति। एवं भूतायास्त्रैवर्णिकस्त्रियाः पुत्रमुत्तरयर्चा 'सोमेनादित्या' इत्येतया अस्या वध्वा अङ्क उपवेश्य तस्मै कुमाराय फलान्युत्तरेण यजुषा 'प्रस्वस्थः, प्रेयमि'त्यनेन प्रदाय तत उत्तरे ऋचौ 'इह प्रियं'[१] 'सुमंगलीः, इत्येते जपित्वा, तत उभौ तस्मिन्नेव चर्मण्यासीनौ वाचं यच्छतः। आ नक्षत्रेभ्यः नक्षत्राणामोदयादित्यर्थः। कुमारश्च फलानि गृहीत्वा यथार्थं गच्छति ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

पुंस्वोः पुंस्वाः इत्यर्थपाठः। या पुंस एव सूते न स्त्रीरपि, या च सत एव, न तु वन्ध्या सती क्रयादिना पुत्रवती. सा पुंसूः। जीवन्त एव पुत्राः पुमांसो यस्यास्सा जीवपुत्रा, न पुनः 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' (पा. १-२-६८.) इत्येकशेषवचनाद्यस्या दुहितरोऽपि जीवन्ति, पुत्रश्चैको जीवति, सापीह जीवपुत्रा विवक्षिता; पुंस्वोरिति विशेषणानुपपत्तेः। एवं भूतायाः पुत्रं 'सोमेनादित्याः' इत्येतया वध्वा अङ्क उपवेश्य 'प्र स्वस्थः' इति यजुषा पुत्राय फलानि कदल्यादीनि प्रदाय 'इह प्रियं प्रजया' इति ऋचौ जपित्वा, उभौ वाचं यच्छतः। आ नक्षत्रेभ्यः नक्षत्राणामोदयात् ॥ ११ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राची(न?)मुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य उत्तराभ्यां यथालिङ्गं ध्रुवमरुन्धतीं च दर्शयति ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने षष्ठः खण्डः ॥

अनु०—नक्षत्रों के निकलने पर घर से पूर्व या उत्तर दिशा की ओर निकले और आगे को दो मन्त्रों 'सप्तर्षयः' आदि से मन्त्र के अर्थ में उद्दिष्ट लिङ्ग के अनुसार ध्रुव और अरुन्धती नक्षत्रों को दिखावे ॥ १२ ॥

टि०—इसका एक विकल्प यह भी हो सकता है कि आगे दो मन्त्रों से अरुन्धती को दिखावे अथवा मन्त्र के लिङ्गनिर्देश के अनुसार अरुन्धती को दिखावे। पहले मन्त्र से ध्रुव को दिखलावे और दूसरे मन्त्र से अरुन्धती को। 'यथालिङ्ग' से यहां यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि जातकर्म की तरह दो-दो मन्त्रों से क्रमशः ध्रुव और अरुन्धती को दिखावे। कुछ के अनुसार या तो सप्तर्षियों, कृत्तिका, अरुन्धती सब को प्रथम मन्त्र से दिखलावे, अथवा केवल, अरुन्धती को दूसरे मन्त्र से दिखलावे ॥१२॥

अनाकुला

उदितेषु नक्षत्रेष्विति वचनात्ततः प्राक् तस्मिन्नेव चर्मणि वाग्यतयोरासनं पश्चादुपनिष्क्रमणम्। उदितेष्वित्येव सिद्धे नक्षत्रग्रहणं विस्पष्टार्थम्। उत्तराभ्यां 'ध्रुवक्षितिः' 'सप्तर्षयः' इत्येताभ्याम्। उभयत्र मन्त्रेण दर्शनं वध्वाः कर्म, वरस्तु पश्यन् ध्रुवमिति निर्दिश्य पूर्वां वाचयति पश्चादरुन्धतीमित्युत्तराम्। ततो वाग्विसर्गः। मन्त्रलिङ्गादेव यथालिङ्गदर्शने सिद्धे यथालिङ्गवचनं विकल्पार्थम्। उत्तराभ्यां ध्रुवमरुन्धतीञ्च दर्शयति यथालिङ्गं वेति। तेनोत्तरस्यामृचि सर्वेषां सप्तर्षीणां कृत्तिकादीनामरुन्धत्याश्च सहदर्शनं वध्वाः कर्मपक्षे भवति, केवलमरुन्धत्या एव वा॥ १२[1]॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामनाकुलायां गृह्यवृत्तौ षष्ठः खण्डः।
द्वितीयः पटलश्च समाप्तः।

तात्पर्यदर्शनम्।

उत्तराभ्यां 'ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिः' इत्येताभ्यां यथालिङ्गं पूर्वया ध्रुवमुत्तरयाऽरुन्धतीं च दर्शयति वधूम्। यथालिङ्गमिति च जातकर्मवद्द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकं मा भूदिति।

केचित्—यथालिङ्गमित्यत्र नास्ति, [2]प्रयोक्तॄणां प्रमादात् प्रदेशान्तरदृष्टमिह सञ्चरितपठितमिति[3]॥

अपरे-उत्तराभ्यां यथाक्रमं ध्रुवमरुन्धतीं च दर्शयति; यथालिङ्गं वा इति [4]मित्वा सूत्रं साध्याहारं व्याचक्षते। 'सप्त ऋषयः प्रथमाम्'इत्येतया सप्त ऋषीन् कृत्तिकां अरुन्धतीं च सह दर्शयति। अरुन्धतीमेव वेति विकल्पार्थं यथालिङ्गवचनमिति॥ १२॥

द्वितीये पटले सिद्धं यथाभाष्यं यथामति।
कृतं सुदर्शनार्येण गृह्यतात्पर्यदर्शनम्॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने षष्ठः खण्डः।
॥ द्वितीयः पटलश्च समाप्तः॥

---

१. खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या सप्तदश (१७)। सुदर्शनमते तु द्वादश (१२)।
२. ख. ग. ङ. ज-अध्येतॄणाम्।
३ ज-संचरितपाठ इति।
४ ज—भ्रान्त्वा मित्वा।

अथ तृतीयः पटलः

सप्तमः खण्डः

अथैनामाग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयति ॥ १ ॥

अनु०—तब वह पत्नी द्वारा अग्निदेवता के लिए एक स्थालीपाक का यज्ञ करे ॥ १ ॥

टि०—'अथ' शब्द से यह तात्पर्य है कि उसी रात को स्थालीपाक कर्म होता है। यह कर्म वधू का होता है, वर केवल ऋत्विज का कर्म करता है। इस कारण इस कर्म में व्रीहि आदि दक्षिणा वधू का ही धन होता है। सुदर्शनाचार्य ने 'एनां याजयेत' का यह अर्थ लिया है कि पत्नी संयुक्त होती है 'अन्वारब्धायाम्'···'पत्न्यामन्वारब्धायां···जुहोति।' उन्होंने इस मत का भी निर्देश किया है कि इस स्थालीपाक यज्ञ का कर्त्ता वर के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति भी हो सकता है। किन्तु यह कर्म विवाह कर्म का अंगमात्र है अतः प्रधान कर्म का कर्ता वर ही इसका कर्ता होगा। सुदर्शनाचार्य इस तर्क का विरोध करते हैं कि यह कर्म पत्नी का ही मुख्यतः होगा ॥ १ ॥

अनाकुला

अथेति वचनादेतस्यामेव रात्र्यां स्थालीपाको भवति। स्थाल्यां पच्यत इति स्थालीपाकः। तस्य देवताविधानं—आग्नेयेनेति। ननु—विधास्यते "अग्निर्देवता स्वाहाकारप्रदान" इति, सत्यम्, अपरमपि तत्र भवति—अग्निस्स्विष्टकृत् द्वितीय इति। ततश्च स एव यदि देवताविधिः स्यात् द्विदैवत्यमिदं हविः स्यात्। ततश्च निर्वपणकाले ताभ्यामुभाभ्यां सङ्कल्पः क्रियेत। यद्यपि वस्तुतो गुणभूतः स्विष्टकृद्यागः तथापि प्रधानवत् तत्र चोद्यते—'अग्निस्स्विष्टकृद्द्वितीय' इति। ततश्च तस्मा अपि सङ्कल्पः क्रियेत। तस्मात् केवलोऽयमाग्नेयस्थालीपाक इति (वक्तव्यम्। एवमाग्नेयस्यैव प्रदानस्य[1]) यद्यप्रत्तदैवतमित्येतत् प्रायश्चित्तं भवति। स्विष्टकृतस्तु प्रत्तदैवतमित्येतदेव। 'एनां याजयती'ति वचनात् सहत्वमुभयोरस्मिन् कर्मणि नास्ति। वध्वा एवेदं कर्म, वरस्य त्वार्त्विज्यमेव। तेन यदिदं स्थालीपाकपरिवेषणं, व्रीह्यादिदक्षिणा च तत् वधूधनस्यैव भवति। यत्रेदमुच्यते 'पत्नी हि पारीणह्यस्येशे' इति (तै. सं. ६-१-६) ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ननु—'अथ पत्न्यवहन्ति' 'श्रपयित्वा' इत्येतावदेव वक्तव्यम्, यत उत्तरत्र 'अग्निर्देवता' (आप. गृ. ७-५.) इति विधानादाग्नेयत्वं सिद्धम्, स्थालीपा-

---

१. ( ) एतच्चिह्नान्तर्गतग्रन्थस्थाने ग पुस्तके 'सङ्कल्प आग्नेयस्यैव यागस्य' इति पाठो दृश्यते।

केनेति तु अपयित्वेति विधानात्, एनां याजयतीति चान्वारब्धायामिति विधानात्; अतः किमर्थमिदमधिकमारभ्यते 'अथैनामाग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयति' इति ?

उच्यते-सूत्रं तावदृषिप्रणीतं नानर्थकं भवितुमर्हति। तेन लोके व्युत्पत्तिसिद्धाध्याहारादिभिरपि यस्सूत्रस्यार्थस्सम्पाद्यते, सोऽपि वेदार्थोनुष्ठेय [1]उच्यते-ध्रुवमरुन्धतीं च दर्शयित्वा अनन्तरं यत्राग्नेयेन स्थालीपाकेन यागं करोति, तत्रैवैनां पत्नीं याजयति पत्न्यामन्वारब्धायां जुहोति, न पर्वसु पार्वणविकारेषु च। एवमतिदेशविशेषार्थतया सूत्रमर्थवदेव।

अन्ये—याजयतीति वचनात् वरादन्योऽप्यस्य स्थालीपाकयागस्य कर्तेति। तन्न; प्रकरणेनास्य विवाहाङ्गत्वात् 'सहाङ्गं प्रधानम्' (आप. प० २-३९) इति साङ्गस्य प्रधानस्यैककर्तृकत्वात्।

केचित्—उत्तरत्र न केवलमग्निर्देवतेति विधिः' 'अग्निस्स्विष्टकृत् द्वितीयः' इत्यपि। तेन द्विदैवत्योऽयं स्थालीपाको मा भूत, किन्त्वेकदैवत्य एवेत्येवमर्थमाग्नेयेनेति विधानम्। तेनाग्नेय एव सङ्कल्पितस्य व्रीह्यादेरर्थाक्षिप्तो लौकिको निर्वापः कार्यः। 'एनां याजयति' इति तु नास्मिन् कर्मण्युभयोरधिकारः, किन्तु वध्वा एव। वरस्तु ऋत्विक्स्थानीयः। तेन होमादौ द्रव्यत्यागस्चोधनादेवेति। तन्न; वध्वेकाधिकारे हि प्रकरणावगतविवाहाङ्गत्वबाधः, अधिकारसाध्यभेदेन शास्त्रतदर्थयोर्भेदात्। आचारसिद्धवरकर्तृकत्वबाधापत्तिश्च; अन्यार्त्विज्येऽप्यविरोधात्॥ १॥

पत्न्यवहन्ति॥ २॥

अनु०—(धान या जौ) इस प्रयोजन के लिए पत्नी ही कूट-छाँट कर तैयार करे॥ २॥

अनाकुला

अरुन्धतीदर्शनानन्तरमगारं प्रविश्य व्रीहीन्, यवान् वा नवानग्नये संकल्पितान् निर्वपति यावद्धोमाय, ब्राह्मणभोजनाय च पर्याप्तं मन्यते। प्रोक्षणञ्च तूष्णीं संस्कृताभिरद्भिः। ततस्तान् पत्न्यवहन्ति। 'एना पत्या' इत्यादिवत् सावहन्तीति सर्वनाम्ना निर्देशे कर्तव्ये पत्नीग्रहणं पत्नीकर्मेदं यथा विज्ञायेत। इतरथा याजमानं विज्ञायेत। वधूरिह यजमानेति कृत्वा पार्वणादिषु पत्युरवहननं प्राप्नोति॥ २॥

---

१. क--स उच्यते;। १.

तात्पर्यदर्शनम्

स्थालीपाकार्थं व्रीह्यादिकम्। 'साऽवहन्ति' इति वक्तव्ये 'पत्न्यवहन्ति' इत्यधिकाक्षरात् पत्न्यवघातमेव कुर्यात्, न तु[1] श्रपणादिकमपि। तदादिकं वर एव।

केचित्—पत्नीत्यारम्भादवहननं पत्नीकर्मैव, न तु यजमानकर्म। यजमानकर्मत्वे हि सहाधिकारे पार्वणादौ पत्युरवहननं स्यात्, तस्य तत्र यजमानत्वात्। अत एव पार्वणादौ नान्वारम्भः; पत्न्यवहन्तीतिवत् पत्न्यामन्वारब्धायामित्यवचनादिति। मैवम्; वध्वेकाधिकारस्यैव निरस्तत्वात्॥ २॥

श्रपयित्वाऽभिघार्य प्राचीनमुदीचीनं वोद्वास्य प्रतिष्ठितमभिघार्याग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायां स्थालीपाकाज्जुहोति ॥३॥

अनु०—स्थालीपाक पकाकर, उस पर आज्य का परिषेचन करके उसे अग्नि पर से अग्नि से पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखे और फिर उसे अग्नि के समीप वहाँ रख कर पुनः आज्य से अभिघारण करे। इसके बाद अग्नि के उपसादन से आरम्भ कर आज्यभाग आहुतियों तक की क्रियाएँ करे पत्नी उसे पकड़े रहे और वह स्थालीपाक से लेकर हवन करे॥ ३॥

टि०—श्रपण का कर्म वर का ही होता है। अभिघारण की क्रिया असंस्कृत आज्य से की जायगी। यहाँ भी पात्र का प्रयोग एक ही बार किया जायगा। परिधियों के स्थान पर शमियों का प्रयोग होगा, होम आज्य से ही किया जायगा, ब्राह्मणों के लिए पकाये गये भोजन में से नहीं। जहाँ दो प्रकार की हवि का प्रसंग होता है, वहाँ सूत्रकार किसी विशेषण शब्द का व्यवहार करते हैं जैसे स्थालीपाकात्, अन्नात् अपूपात्, आज्यात् आदि। जहाँ विशेषण नहीं होता, वहाँ एक ही हवि का होम करना सिद्ध होता है॥ ३॥

अनाकुला

ततस्तानवहतांस्त्रिष्फलीकृतान् प्रक्षाल्य श्रपयति वरः। अग्नेरुपसमाधानादिवचनं तन्त्रविधानार्थं, कालविधानार्थं च प्रतिष्ठिताभिघारणान्ते कथं तन्त्रं प्रतिपद्येत, न प्रागिति। तेनाभिघारणमसंस्कृतेनाज्येन भवति। अत्रापि सकृदेव पात्रप्रयोगः। तथा शम्याः विवाहेहृत्वादस्य। नेत्यन्ये।

आज्यभागान्तवचनं अन्वारम्भकालोपदेशार्थम्। स्थालीपाकादित्यनर्थकम्, तस्य होमार्थत्वात्। न च वाच्यं ब्राह्मणभोजनार्थं स्थालीपाको, होम-

१. ख. ग. ङ. श्रपणमपि०।

२ हरदत्तमते सूत्रद्वयमिदम्। समाधानादी' त्यन्तमेकम्। शिष्टमन्यत्।

स्त्वाज्यादेव प्राप्नोतीति । यागविधानात्, देवताविधानाच्च । एवं तर्हि शलीयमाचार्यस्य–यत्रोभयं हविर्भवत्याज्य[1]ञ्चौषधयश्च तत्र प्रधानाहुतिविशेषणं करोति स्थालीपाकादन्नादपूपादाज्याहुतिरिति । तेन यत्र विशेषणं नास्ति तत्रैकमेव हविरिति सिद्धं भवति । तेनाग्रयणे आज्यस्याभावः । ततश्च सकृदुपघातपक्ष एव तत्र भवति, आज्याभावेनोपस्तरणाभिघारणयोरसम्भवात् । विवाहे च 'यथा स्थानमुपविश्ये' त्यत्र आज्याहुतिरिति विशेषणाभावादाज्यमेव तत्र धर्मवद्धविः, लाजास्त्वधर्मका इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उद्वास्य सौकर्यादपरेणाग्निं प्रतिष्ठाप्य । प्रतिष्ठितमभिघारयति । ओषधिहविष्केऽप्यत्र तन्त्रविधानं क्रमार्थमित्युक्तमेव । 'आज्यभागान्तेऽन्वारब्धायाम्' । उपस्तरणप्रभृत्यन्वारम्भः प्रधानहोमान्तम् ॥ ३ ॥

सकृदुपस्तरणाभिघारणे द्विरवदानम् ॥ ४ ॥

अनु०—आज्य का नीचे बिखेरना (उपस्तरण) तथा ऊपर बिखेरना (अभिघारण) केवल एक बार किया जाता है । चरु के दो भाग करके ग्रहण किए जाते हैं ॥ ४ ॥

टि०—हवि का अभिघारण लाजा की तरह होगा । होम की दर्वी, स्रुव या किसी दूसरी दर्वी से भी एक बार उपस्तरण किया जाता है । चरु का दो बार अवदान किया जाता है । फिर स्विष्टकृत् के लिए चरु का अभिघारण किया जाता है ॥ ४ ॥

अनाकुला

अनेन पौरोडाशिकोऽवदानकल्प इह प्रदर्शितो विज्ञेय. । 'तस्मादङ्गुष्ठपर्वमात्रमि' (आप. श्रौ. २-१८-९.) त्याद्यपि भवति । पञ्चावत्तञ्च पञ्चावत्तिनाम् । प्रत्यभिघारणं च हविषः लाजावदानवत् । उपस्तीर्य, द्विरवदाय, द्विरभिघारयतीति वक्तव्ये सकृद्वचनमुपस्तरणाभिघारणयोश्चतुरवत्तसंपादनार्थतां ज्ञापयितुम् । तेन चतुरवत्ताभावे उपस्तरणाभिघारणयोरप्यभावः । यथा 'सकृदुपहत्य जुहुयात्' (आप. गृ. ७-७.) 'दध्न एवाञ्जलिने (आप. गृ. २२-१०)' । त्यादौ ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

होमदर्व्या स्रुवेण दर्व्यन्तरेण वा सकृदुपस्तरणं कार्यम् । ततश्चरोर्द्विरवदानम् । त्रिर्जमदग्नीनाम् , सकृच्चाभिघारणम् । ततः स्विष्टकृदर्थं चरोः प्रत्यभिघारणम् । अस्यैष्टिकावदानविधिप्रदर्शनार्थत्वादाचाराच्च ॥ ४ ॥

देवतामाह—

[2]अग्निर्देवता स्वाहाकारप्रदानः ॥ ५ ॥

---

१. ग. आज्यमौषधञ्च । २. हरदत्तमते "स्वाहाकारप्रदान" इति सूत्रान्तरम् ।

अनु०—प्रथम आहुति का देवता अग्नि होता है और यह आहुति स्वाहा शब्द के साथ की जाती है ॥ ५ ॥

टि०—स्थालीपाक का होम किया जायगा। 'स्वाहा' का प्रयोग होने से देवतावाची शब्द चतुर्थ्यन्त होंगे—अग्नये स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ ५ ॥

अनाकुला

प्रधानद्वित्वादुत्तरविवक्षया सिद्धानुवादोऽयम्। अग्निरेव देवता पूर्वस्य होमस्य येयमाग्नेयेनेति विहिता। उत्तरस्यान्या विधीयत इति।

स्वाहाकारेण प्रदानं प्रक्षेपो यस्मिन् सः स्वाहाकारप्रदानः। स्थालीपाकस्य होमः। अविशेषात् पूर्वश्चोत्तरश्च। तत्र स्वाहाकारसंयोगाद्देवताशब्दश्चतुर्थ्यन्तो भवति—'अग्नये स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति। 'जुहोतिचोदनः स्वाहाकारप्रदानः (आप. प. ३-४.)' इत्येव सिद्धे वचनमिदं कल्पान्तरेषु केषुचित् मन्त्रेण प्रदानञ्चोदितम् "अमुष्मै स्वाहेति जुहुयात्, ऋचा वा तद्देवतये"ति 'पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहुयादि'ति च तत्प्रतिषेधार्थम्। एवमपि 'स्थालीपाकाज्जुहोत्यग्नये स्वाहेत्येव वक्तव्यं' स्विष्टकृति च स्विष्टकृते स्वाहेति। इदं तु वचनं पार्वणातिदिष्टेषु यथोपदेशं देवता इत्यत्र मन्त्रप्रतिषेधार्थम्। तेन पौर्णमास्यां पौर्णमासी (आप. गृ. ७-२८)' इत्येवमादिषु यत्र स्थालीपाकस्य देवतैव चोद्यते, तत्र देवताशब्देनैव होमः, न तद्दैवत्येन मन्त्रेणेति सिद्धम् ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निर्देवतेति विहिताग्निविशेषणार्थमयं परिभाषोक्तानुवादः। कथं विशेष्यते? इति चेत्, सोऽग्निस्स्वाहाकारप्रदानश्चेद्देवता, स्वाहाकारयोग्यया चतुर्थ्या विभक्त्या युक्तश्चेदित्यर्थः।

नन्व'न्वारब्धायामग्नये जुहोति'इति वक्तव्ये किमर्थमधिकाक्षरं 'अग्निर्देवता स्वाहाकारप्रदानः' इत्युपदिश्यते? उच्यते-शब्दो देवता, नार्थः, अर्थोऽपि यागे चोदितचतुर्थ्यन्तस्त्ववाचकशब्देनैवोपकरोति, अर्थस्योद्देष्टुमशक्यत्वात्; उपकारान्तरस्य च दुर्निरूपत्वादिति मीमांसकमतमिह नाभिमतम्' अर्थ एव देवतेति स्वमतज्ञापनार्थम्। कथमिति चेत्? कर्मणि प्रयोगानर्हस्य प्रथमान्तस्याग्निशब्दस्य प्रयोगात्। नन्वर्थस्य देवतात्वे सत्यप्युपकारश्शब्देनैवेति नानुष्ठाने विशेषः। मैवम्; न केवलं चतुर्थ्यन्तशब्दोच्चारणमेवानुष्ठेयम्, किन्त्वर्थस्य ध्यानमपीति। अत्र तुज्ञापकं 'आग्नेया इति तु स्थितिः (निरु. ८-३-७.)' इत्यादि निरुक्तकारवचनम्।

केचित्—कल्पान्तरेषु 'अमुष्मै स्वाहेति जुहुयात् ऋचा वा तद्दैवत्यया'

इति विकल्पः चोदितः। स माभूदस्माकम्। पार्वणेषु तद्विकारेषु च 'अमुष्मै स्वाहा' इत्येव जुहुयादित्येवमर्थमिति ॥ ५ ॥

अपि वा सकृदुपहत्य जुहुयात् ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा स्थालीपाक से एक बार अंश ग्रहण करके दर्वी से हवन करे ॥६॥

टि०—जिस दर्वी से होम किया गया है फिर उसी से आहुति की जायगी। उपस्तरण तथा अभिघारण नहीं होता। उपहत्य या उपघात के पारिभाषिक अर्थ के विषयमें गोभिल गृह्य १.८. २ भी द्रष्टव्य है ॥ ६ ॥

अनाकुला

यथा दर्व्या होमस्तयैव सकृदुपहत्य जुहुयात्। अत्र पक्षे उपस्तरणाभिघारणयोरप्यभाव इति सिद्धम्। केचित् कुर्वन्ति। जुहुयादिति वचनं स्विष्टकृत्यपि प्राप्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथवा दर्व्या सकृत् स्थालीपाकाद्गृहीत्वा जुहुयात्; न तु पूर्ववच्चतुरवत्तं पञ्चावत्तं वा[1] अपूर्वत्वाद्दर्वीहोमानाम् ॥ ६ ॥

अग्निस्स्विष्टकृद्द्वितीयः ॥ ७ ॥

अनु०—अग्नि स्विष्टकृत् दूसरा देवता होता है ॥ ७ ॥

टि० – अग्नि स्विष्टकृत् के लिए भी प्रधान आहुतियाँ की जायगीं और फिर एक बार निकाल कर हवन किया जायगा, जैसा कि अग्नि के लिए किया गया था। यह दूसरा होम भी अवशिष्ट स्थालीपाक से किया जायगा ॥ ७ ॥

अनाकुला

अग्निः स्विष्टकृद्द्वितीयो भवति देवतात्वेन। द्वितीयवचनं पूर्वेण तुल्यधर्मत्वज्ञापनार्थम्। तेन 'यथोपदेशं प्रधानाहुती'रित्यादौ स्विष्टकृतोऽपि ग्रहणं भवति। तथा 'सकृदुपहत्य जुहुयात्' 'स्वाहाकारप्रदान' इत्येतयोश्च प्रवृत्तिः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

देवतेति शेषः। स्थालीपाकशेषात् द्वितीयो होमः कर्तव्यः। तस्मिन् अग्निस्विष्टकृद्देवतेत्यर्थः। अर्थसिद्धेऽपि द्वितीये 'द्वितीय' इति ग्रहणे प्रयोजनं 'सदसस्पतिर्द्वितीयः' (आप० गृ० ८-२.) इत्यत्र वक्ष्यते।

---

१ दर्वीहोमानां न प्रकृतित्वम्। किन्तु अपूर्वास्ते। न प्रकृतिपूर्वा इत्यर्थः। अतो न तेष्वन्यतो धर्मप्राप्तिरिति पूर्वमीमांसायामष्टमाध्याये चतुर्थपादे सिद्धान्तितम्। अतश्च चतुरवत्तपञ्चावत्तयोरन्यत्र विहितयोरैष्टिकधर्मयोरतिदेशतो नात्र प्राप्तिरिति भावः।

केचित्—पूर्वहोमेन तुल्यधर्मत्वज्ञापनम्। तथा च सति 'यथोपदेशं प्रधानाहुतीः' इत्यत्र स्विष्टकृतमपि हुत्वा जयादीत्येवमादि भवेदिति ॥ ७ ॥

अस्य त्ववदानविधिमाह—

सकृदुपस्तरणावदाने द्विरभिघारणम् ॥ ८ ॥

अनु०—स्विष्टकृत् आहुति में परिस्तरण तथा अवदान का ग्रहण केवल एक बार होता है आज्य का अभिघारण दो बार किया जाता है ॥ ८ ॥

अनाकुला

अत्रापि पौरोडाशिकस्विष्टकृतोऽवदानकल्पः प्रदर्शितो विज्ञेयः। 'तेन द्विः पञ्चावत्तिनः उत्तरमुत्तरं ज्यायांसम्, न हविःप्रत्यभिघारयती' (आप. श्रौ. २-२१-३,४,५.) ति विशेषा इहापि द्रष्टव्याः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सकृदुपस्तरणमवदानं च द्विरभिघारणं च कार्यम्। जमदग्नीनां तु द्विरवदानम्। अवदानं[1] दैवताज्ज्यायः। नापि हविःप्रत्यभिघारणम्; ऐष्टिकसौविष्टकृतावदानविधिप्रदर्शनार्थत्वात्, आचाराच्च ॥ ८ ॥

मध्यात् पूर्वस्यावदानम् ॥ ९ ॥

अनु०—प्रथम देवता के लिए अवदान स्थालीपाक के बीच से निकाला जाता है ॥ ९ ॥

अनाकुला

पूर्वस्य प्रधानहोमस्येत्यर्थः। उपघातपक्षार्थं वचनम्। चतुरवत्तपक्षे तु पौरोडाशिकत्वात् सिद्धम्, ननु तत्रापि "पूर्वार्धाद्द्वितीयं पश्चार्धात् तृतीयमि"त्येतयोर्दर्शविशेषयोः प्रतिषेधार्थं स्यात्। यद्येवं उत्तरार्धादुत्तरस्येति स्विष्टकृति नारब्धव्यम्, विशेषाभावात्। तस्मात् चतुरवत्तपक्षे पौरोडाशिक एव विधिः। इदं तु वचनमुपघातपक्षार्थम् ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

हविषो मध्यात् पूर्वस्य दैवतस्यावदानं कार्यम्। उपघातपक्षार्थ एवायमारम्भः। चतुरवत्तपक्षे त्वैष्टिकविधिप्रदर्शनबलान्मध्यादङ्गुष्ठपर्वमात्रावदानम्। 'तिरश्चीनमवद्यति पूर्वार्धाद्द्वितीयमनूचीनं चतुरवत्तिनः, पश्चार्धात्तृतीयं पञ्चावत्तिनः' (आप. श्रौ. २-१८-९.) इत्यवदानस्थानसिद्धेः। एतेनोपघातपक्षे चतुरवत्तधर्म उपस्तरणादिर्न प्रवर्तते इति दर्शयति ॥ ९ ॥

---

१. 'दैवतसौविष्टकृतैडानामुत्तरोत्तरं ज्यायः' इति वाक्येन दैवावदानापेक्षया सौविष्टकृतावदाने ज्यायस्त्वस्य विधिचोदितत्वादिति भावः।

मध्ये होमः ॥ १० ॥

अनु०—इसका अग्नि के बीच में हवन किया जाता है ॥ १० ॥

अनाकुला

आघारसम्भेदो मध्यम्। अत्रापि पौरोडाशिक एव होमदेशो दर्शितो विज्ञेयः। तेनाहुतीनामनेकत्वे 'पूर्वां पूर्वां संहितामि (आप. श्रौ. २-१९-९.)' त्येवमादयो विशेषा इहापि भवन्ति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

होमः प्रक्षेपः। दैवतस्य अग्नेर्मध्ये आघारसम्भेदे। प्रधानाहुतिबहुत्वे 'पूर्वां-पूर्वां संहिताम्' (आप. श्रौ. २-१९-९.) इति च भवति। अयं तूभयपक्षार्थः ॥ १० ॥

उत्तरार्धादुत्तरस्य ॥ ११ ॥

अनु०—दूसरे देवता के लिए अवदान स्थालीपाक के उत्तरी भाग से ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

अनाकुला

अयमप्युपघातपक्षार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरार्धाद्धविष उत्तरस्य स्विष्टकृत अवदानं कार्यम्। अयमपि पूर्ववदुपघातपक्षार्थ एव ॥ ११ ॥

उत्तरार्धपूर्वार्धे होमः ॥ १२ ॥

अनु०—इसका अग्नि के उत्तरी भाग में भी पूर्व की ओर हवन किया जाता है ॥ १२ ॥

अनाकुला

अत्रापि पौरोडाशिकस्य स्विष्टकृतो धर्मो विज्ञेयः। तेन 'असंसक्तामितराभिः (आप. श्रौ. २-२१-६.)' इति विशेष इहापि भवति। होमग्रहणे आश्रियमाणे उत्तरार्धपूर्वार्धे इत्यस्य लेपयोः प्रस्तरवदित्युत्तरेणापि सम्बन्धस्सम्भाव्येत् ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

तस्य स्विष्टकृतो होमोऽग्नेरुत्तरार्धपूर्वार्धे। अस्यापि प्रदर्शनार्थत्वात् 'असंसक्तामितराभिराहुतिभिः' (आप. श्रौ. २-२१-६.) इत्यपि भवति ॥ १२ ॥

होमोपस्तरणाद्यर्थदर्वीद्वयलेपयोः पात्रप्रयोगार्थं संस्तीर्णस्य च बर्हिषः[१] प्रतिपत्तिमाह—

लेपयोः प्रस्तरवत् तूष्णीं बर्हि[२] रङ्क्त्वाग्नौ प्रहरति ॥ १३ ॥

अनु०—(श्रौत कर्मों में) जिस प्रकार नाम के बर्हिस् के विषय में बताया गया है उसी विधि से बर्हिस् के एक भाग को बिना मन्त्र पाठ के स्थालीपाक एवं आज्य के अवशिष्ट अंशों में लपेटकर उस बर्हिस् को अग्नि में डालना चाहिए ॥ १३ ॥

टि०—हवि और आज्य के लेप को बाहर निकाल कर बर्हि से अग्नि में चुप चाप उसी प्रकार प्रहार करे जिस प्रकार प्रस्तर नाम की बर्हि से किया जाता है। 'प्रस्तरवत्' का निर्देश होने से तीनों स्थानों पर अञ्जन भी होता है। 'लेपयोः' के द्विवचन से आज्य और औषध के लेप से अभिप्राय है, दो आघार से नहीं ॥ १३ ॥

अनाकुला

यस्मिन् बर्हिषि प्रतिष्ठितं हविराज्यं च तस्मात् किञ्चिदुपादाय तद्बर्हिरन्नस्य, चाज्यस्य च यौ लेपौ तयोः प्रस्तरवत्तूष्णीमङ्क्त्वा प्रस्तरवदेव तूष्णीमग्नौ प्रहरति। अत एव प्रतिपत्तिविधानादपरेणाग्निं बर्हिषः स्तरणं भवति। हविषश्च तत्रासादनम्। कल्पान्तरे च स्पष्टमेतत्। शृतानि हवींष्यभिघार्य उदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्येति। केचिदग्निपरिस्तरणादञ्जनं मन्यन्ते। प्रस्तरवदिति वचनात् त्रिषु स्थानेष्वञ्जनं भवति। तत्र चतुरवत्तपक्षे यया होमः तस्यामग्रस्य, ययोपस्तरणाभिघारणे तस्यां मध्यस्य' आज्यस्थाल्यां मूलस्य चाञ्जनं भवति। उपघातपक्षे तूपस्तरणाभिघारणार्थाया दर्व्या अभावादाज्यस्थाल्यां मध्यस्य मूलस्य चरुस्थाल्याम्। उक्तस्य तृणमपादायेत्येतदपि भवति। तथा यया होमस्तस्यां प्रतिष्ठापनं च आग्नीध्रकर्म च स्वयमेव करोति ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

लेपयोः दर्वीद्वयलग्नयोः पात्रासादनार्थं संस्तीर्णं बर्हिः प्रस्तरवत्तूष्णी[३]मङ्क्त्वा तद्वदेवाग्नौ प्रहरति। इदमपि प्रदर्शनार्थम्। तेनाञ्जनादिसंस्रावान्तं श्रौतवत्तूष्णीं करोति। ननु—प्रस्तरवदितीहानुपपन्नम्। बर्हिषोऽग्रमध्यमूलानां द्वयोर्दर्व्योः प्रस्तरवदञ्जनासम्भवात्। उच्यते–होमदर्व्यामग्रमनक्ति, इतरस्यां मध्यमूले; 'अन्ताल्लोपो विवृद्धिर्वा' (आप० प० ४–१३) इति वचनात्। एवं त्रिर्द्विर्वा। 'अथापरम्' इति पक्षे सकृदेवोपस्तरणाद्यर्थायां मूलं, होमार्थायां मध्याग्रे।

---

१. उपयुक्तस्याकीर्णकरस्य विहितदेशे प्रक्षेपः प्रतिपत्तिः।

२. ट. अक्त्वा। ३. ट–अक्त्वा

अन्ये तु आज्यस्थालीं ध्रुवास्थाने पक्षत्रयेऽपि कुर्वन्ति, अञ्जनस्योपयुक्त-पात्रलेपप्रतिपत्त्यर्थत्वात्[1] 'इडान्तं वाऽऽहवनीये, शंय्वन्तं गार्हपत्ये' (आप. श्रौ. ३-१४-६.) इति पक्षे 'आज्यस्थाल्यां मूलम्' (आप. श्रौ. ३-१४-७.) इति[2] दर्शनाच्च। इह तु पक्षे लेपयोरिति द्विवचनमाज्यौषधलेपाभिप्रायम्' न तु पूर्ववदाधारद्वित्वाभिप्रायम्।

केचित्—कल्पान्तरादपरेणाग्निं यस्मिन् बर्हिषि हविराज्यं च प्रतिष्ठितं तस्माद्वा, परिस्तरणाद्वा किञ्चि,[3] दुपादायाञ्जनमिति। तन्न; कल्पान्तरोक्तबर्हिः-प्रतिष्ठापनोपसंहारस्य पाक्षिकत्वेन नित्यवदञ्जनानुपपत्तेः॥ १३॥

अत्र वचनाभावात् जयादिनिवृत्तौ सत्यां तद्बद्धक्रममपि परिषेचनं न निवर्तते, अनयङ्गत्वादित्याह—

[4]सिद्धमुत्तरं परिषेचनम्॥ १४॥

अनु०—अग्नि के चारों ओर दूसरी बार जल को अभिषेचन करने की विधि यहाँ भी लागू होती है॥ १४॥

टि०—जयादि आहुतियाँ यहाँ भी की जायगी। कुछ लोग इस प्रसंग में प्रधान होम के बाद उपहोम मानते हैं, कुछ लोग नहीं मानते है। कुछ लोग 'सिद्धमुत्तरम्' को एक वाक्य मानते हैं और जयादि का विधान करते हैं। परिषेचन के बाद भी ब्राह्मण-भोजन मानते हैं। सुदर्शनाचार्य ऐसा नहीं मानते। वे जयादि भी नहीं मानते॥१४॥

अनाकुला

उत्तरं तन्त्रं जयादि यथासिद्धमत्रापि कर्तव्यमित्यर्थः। कथं च सिद्धम्? उपजुहोतीतिवचनात्। प्रधानहोमानन्तरं तेनोपहोमानामुपरिष्टाद्बर्हिषोऽनुप्रह-

---

१. अथ वा इडापर्यन्तमेवाहवनीयदेशे संस्थापयेत्। न तु सूक्तवाकशंयुवाकावपि तत्र कुर्यात्। तौ तु गार्हपत्यदेश एव कुर्यादिति सूत्रार्थः। 'तच्छंयोरावृणीमहे' इति शंयुवाकः प्रस्तरप्रहरणकाले होत्रा पठनीयः। 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' (तै. ब्रा. ३-५-१०.) इत्ययमनुवाकस्सूक्तवाकः।

२. अयं भावः—दर्शपूर्णमासयोस्सन्तीडासूक्तवाकशंयुवाकसंज्ञकहोतृनिगदसंयुक्ताः त्रयः कर्मविशेषाः। तत्र पुरोडाशादिहविरिडाऽऽहवनीये, आज्येडा गार्हपत्य इति उभय-त्रापीडा तावन्नियता। सूक्तवाकशंयुवाकौ तु "इडान्तमि"ति पूर्वोक्तसूत्रेणाहवनीयदेशे गार्हपत्यदेशे वा कर्तव्यतया विकल्पितौ। एवञ्च यदि सूक्तवाकशंयुवाकौ गार्हपत्यदेशेऽनुष्ठीयेते तदा वेदेस्तृणमेकमपादाय प्रस्तरस्थाने तदग्रं जुह्वामञ्ज्यात्, उपभृति, स्रुवे वा मध्यमञ्ज्यात्, आज्यस्थाल्यां मूलमिति श्रौते दृश्यते। अतश्चास्मिन् पक्षे ध्रुवास्थाने श्रौते आज्यस्थाल्या एवाञ्जनाधारत्वदर्शनात् अत्रापि स्मार्ते आज्यस्थाल्यामेव मूलाञ्जनं कर्तव्यमिति तेषामाशय इति॥ ३. ट—आदाय। ४, सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते।

रणं भवति। अन्यथा प्रधानहोमानन्तरमुपदेशादुपहोमानां पुरस्तादनुप्रहरणं स्यात्।

अत्र कृत्वेत्यध्याहर्तव्यम्। परिषेचनं कृत्वा परिषेचनान्तं कृत्वेत्यर्थः। किमर्थमिदम्? परिषेचनान्ते ब्राह्मणभोजनाद्येव कर्म प्रतिपाद्येत नान्यदित्येव-मर्थम्। अन्ये तु सिद्धमुत्तरं परिषेचनमित्ये[1] कमेव योगं पठन्तो व्याचक्षते। तेनेह स्थालीपाके प्रधानहोमानन्तरं तन्त्रशेषस्य प्राप्तस्य परिषेचनमेव सिद्ध-मन्यदसिद्धमिति। तेनोपहोमानामिह लोपश्चोद्यत इति। तेषा 'मुत्तरमि'ति व्यर्थम्॥ १४॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्पष्टमेतत्। ततः प्रणीताविमोकोऽपि।

केचित्—सिद्धमुत्तरमिति पदद्वयमेकं वाक्यम्। सिद्धमविकृतम्। उत्तरं तन्त्रशेषं जयादि। एतच्चेहोत्कृष्य पठितमपि 'यथोपदेशं प्रधानाहुतीर्हुत्वा जयाभ्यातानान्' (आप. गृ. २-७.) इति श्रौतक्रमस्य बलीयस्त्वात् प्रधान-तुल्यधर्मकस्विष्टकृतोऽनन्तरमेव यथा 'परिषेचनम्' इत्यप्यानन्तर्यविध्यर्थम्। परिषेचनान्तं कृत्वा ब्राह्मणभोजनमेवेति। तन्न; सिद्धमुत्तरं परिषेचनमिति प्रतीताभ्यर्हितसामानाधिकरण्यान्वयबाधेन महादोषवाक्यभेदकल्पनापेक्ष-त्वात्। तथा वचनाभावादिह जयाद्येव नास्ति, दूरे क्रमबलाबलकथा। तथा 'परिषेचनम्' इत्यस्यापि सिद्धमुत्तरमित्येतदन्वयनिराकाङ्क्षत्वात् कृत्वेत्यध्या-हारो निर्बीजः। आनन्तर्यं तु पाठप्राप्तं न विधेयमेव। तस्माद्वरं यथोक्तशङ्का-निवृत्त्यर्थमेवेदं सूत्रमिति॥ १५॥

तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजयेत्॥ १५॥

अनु०—उस यज्ञ के अन्न से बचे हुए भाग को घृत के साथ किसी ब्राह्मण को खाने के लिए प्रदान करे॥ १५॥

टि०—व्याख्याकारों ने शेष हवि में प्रभूत घी मिला कर दक्षिण की ओर दर्भों पर बैठाये गये ब्राह्मण को भोजन कराने का निर्देश किया है। इसलिए चरु इतनी मात्रा में बनाना चाहिए जिससे होम भी हो सके और ब्राह्मण को भोजन भी कराया जा सके॥ १५॥

अनाकुला

सर्पिष्मतेति वचनमतिशयार्थमभिघारणेन प्रागपि सर्पिष्मत्वात्। लौकिकेन सर्पिषा प्रभूतेनोपसिच्येत्यर्थः। यो दक्षिणत आस्ते स इह ब्राह्मणः तं भोजयेत् वधूवरौ वा॥ १५॥

---

१. ग. एकयोगमेव.

तात्पर्यदर्शनम्

तेन हविश्शेषेण । सर्पिष्मता प्रभूतलौकिकाज्योपसिक्तेन । ब्राह्मणं दक्षिणतो दर्भेषु निषादितं भोजयेत्; तस्येह प्रकृतत्वात् । इह तु सर्पिष्मतेति मतुबतिशयार्थः । भोजयेदिति बलाच्च होमब्राह्मणभोजनायालं चरुः कार्यः ॥ १५ ॥

योऽस्यापचितस्तस्मा ऋषभं ददाति ॥ १६ ॥

अनु०—जो उसका पूज्य ब्राह्मण या आचार्य हो उसे एक बैल का दान (स्थालीपाक की दक्षिणा के रूप में) दे ॥ १६ ॥

टि०—विवाहाङ्ग मधुपर्क में वर के पूज्य जन का ही निर्देश है, यह इस सूत्र से स्पष्ट हो जाता है । (खण्ड २, सूत्र ९) । यह दक्षिणा वधू देती है । 'एनां याजयति' आदि निर्देश से वधू ही यजमान है । यह दक्षिणा आचार्य को दी जाती है, क्योंकि धर्मशास्त्र का वचन है:—'न पिता याजयेत् पुत्रं न पुत्र पितृयाजनम्' । यह दक्षिणा वधू अपने साथ लाये गये धन में से देती है । यह दान वर को नहीं दिया जाता ॥ १६ ॥

अनाकुला

अस्य वरस्य योऽपचितः पूज्यः आचार्यः, तस्मै ऋषभं स्थालीपाकस्य दक्षिणां ददाति वधूः । स्वकुलादानीयर्त्विजे वराय दातव्या सती दक्षिणा जायापत्योः अन्योन्यदानप्रतिग्रहाभावात् तदाचार्याय चोद्यते । तेनासौ परिक्रीतो भवति । दृश्यते चायं न्यायो धर्मशास्त्रे—"न पिता याजयेत् पुत्रं, न पुत्रः पितृयाजनम्" इत्याद्युक्त्वा ऽऽचार्याय दक्षिणां दद्युरिति ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

नन्विदं सूत्रमयुक्तमिव प्रतिभाति । 'योऽस्यापचितस्तमितरया' (आप. गृ. ३-९.) इतिवद्वरादन्यस्य दानकर्तृत्वप्रतीतेः, इह चान्यस्याभावात् । यद्यपि पत्नी विद्यते, तथापि तस्या भर्तुरपि प्रवासे सहाधिकारेषु कर्मसु[1] मध्यगधनत्यागे ऽनुमतिद्वारेणैव कर्तृत्वाभ्युपगमात् । अथात्र 'एनां याजयति' इति वचनाद्वधूर्यजमाना । सा स्त्रीधनाद्वरस्यापचिताय ददाति । तेन च ऋत्विग्भूतो वर आनतो भवति । न च वरायैव दानम्, जायापत्योरन्योन्यदानाद्यभावादित्युच्यते, नैवं तत्; वध्वेकाधिकारे ह्यस्योभयतो विवाहाङ्गसंदृष्टत्वेन प्रतिपन्नविवाहाङ्गत्वबाधः । अधिकारसाध्यभेदेन शास्त्रतदर्थयोर्भेदात् । अथ उभयाधिकारविवाहसिध्यर्थमेव वधूरनेन प्रधानकर्मणापि यागेन संस्क्रियते, तर्हि वध्वेकाधिकारमित्युक्तिमात्रमिति वृथा स्त्रीधनव्ययः । तस्मात् सूत्रं यथोपपन्नं स्यात् तथा व्याख्येयम् ।

१. क. थ. अध्वेक.

अत्रोच्यते—एवं तर्ह्यध्याहारेण वा विपरिणामेन वा व्याख्यायते। योऽस्यात्मनोऽपचितः पूज्यः तस्मा ऋषभं ददाति। यद्वा योऽस्य स्थालीपाकयागस्य कर्तुरपचितस्तस्मा एतद्यागकर्ता ऋषभं ददाति, न तु स्थालीपाकयागान्तराणां कर्ता; तेषामपूर्वत्वात्। अथवा-अस्येति षष्ठ्या अयमिति विपरिणामः। योऽयं लोके विद्याभिजनादिसम्पत्त्या अपचितः तस्मा अयमेतत्स्थालीपाककर्ता ऋषभं ददाति। सर्वथा त्वेतद्विकृतिष्वपि स्थालीपाककर्ता ऋषभं ददाति। सर्वथा त्वेतद्विकृतिष्वपि स्थालीपाकान्तरेषु ऋषभदानं नास्त्येव॥ १६॥

एवमत ऊर्ध्वं दक्षिणावर्जमुपोषिताभ्यां पर्वसु कार्यः॥ १७॥

अनु०—इसी प्रकार आगे भी उपवास करने के बाद ये स्थालीपाक की उपर्युक्त दक्षिणा दिये बिना ही पर्वों पर (अर्थात् पौर्णमासी और अमावस्या तिथियों को) स्थालीपाक यज्ञ करें॥ १७॥

टि०—इस स्थालीपाक के बाद भी पर्वों पर पौर्णमासी, अमावस्या को इसी प्रकार दोनों ही उपवास करके आग्नेय स्थालीपाक का यज्ञ करें। आगे के स्थालीपाकयज्ञों में पति और पत्नी दोनों ही अधिकारी होंगे। पर्वों पर किये जाने वाले स्थालीपाक यज्ञ में वे बातें नहीं होंगी जो विवाहकालीन स्थालीपाकमें विशेष रूप से होती है, जैसे शमियों का प्रयोग आदि, पत्नी का पति के साथ अन्वारम्भ भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि दोनो ही यजमान होते हैं यदि यज्ञ कराने वाला कोई तीसरा व्यक्ति हो तो वे अन्वारब्ध होंगे। किन्तु कुछ आचार्य इस स्थिति में भी अन्वारम्भ विहित नहीं करते। पार्वण स्थालीपाक पौर्णमासी और अमावस्या दोनों ही पर्वों पर किया जाता है, जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है "अथ पार्वणस्थालीपाकः। तस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामुपवासः। इध्माबर्हिषोश्च सन्नहन।"॥ १७॥

अनाकुला

अतः स्थालीपाकादूर्ध्वं दक्षिणां वर्जयित्वा उपोषिताभ्यां 'पर्वसु चोभयोरुपवास (आप. ध. २-१-४)' इत्यनेन प्रकारेण कृतोपवासाभ्यां गृहमेधिभ्यां पर्वसु पौर्णमासीषु, चामावास्यासु च एवमेवाग्नेयस्थालीपाककल्पेन स्थालीपाकः कार्यः। कल्पातिदेशोऽयम्-पर्वसु स्थालीपाकः कार्यः, तस्य च 'आग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयती' त्येवमादिः तस्मा ऋषभं ददाती' त्येवमन्तः कल्प इत्यर्थः। अत्रोपोषिताभ्यामि'ति द्विवचननिर्देशादुभावप्यधिकारिणौ, तत्र तु पत्न्येव। दक्षिणा चेह नास्तीत्येतावान् विशेषः। तत्र पार्वणे विवाहनिमित्ता विशेषाः सकृत्पात्राणि शम्या इत्यादयो न कर्तव्याः। अन्वारम्भोऽपि न कर्तव्यः, यजमानकर्मत्वात्। अत्र चोभयोर्यजमानत्वात्। अस्तु तर्ह्यन्यो याजयिता, अन्वारम्भश्चोभयोः। तदपि न, ज्ञापकात्। यदयं हृदयसंसर्गान्वारम्भं विदधाति तत् ज्ञापयति न पार्वणादिष्वन्वारम्भो भवतीति। अन्यथा पार्वणाति-

देशादेवान्वारम्भः सिद्धस्स्यात् । 'पाणिग्रहणादधि गृहमेधिनोर्व्रतम्' इत्यादौ साङ्गं विवाहकर्म विवक्षितम् । तेन संवेशनान्ते विवाहकर्मणि निष्ठिते पञ्च-महायज्ञादीनां गृहस्थधर्माणां प्रवृत्तिः । पार्वणस्थत्वस्य प्रागपि संवेशनात् स्यात् । पाकादूर्ध्वं पर्वप्राप्तौ प्रवृत्तिर्भवति । तदर्थमाह— अत ऊर्ध्वमिति । तस्य च पौर्णमास्यामुपक्रमो नामावास्यायाम् । श्रौतयोस्तथा दर्शनात् । तत्स्थानापन्न-त्वाच्चानयोः । छन्दोगाश्चामनन्ति— अमावास्या चेत् पूर्वमापद्यते पौर्णमासेने-ष्ट्वाथ तत् कुर्यात् । 'अकृत्वा पौर्णमासीमाकाङ्क्षेदित्येके' (खा. गृ. २-१-२.) इति । 'पर्वसु चोभयोरुपवास' इत्येव सिद्धे उपोषिताभ्यामिति वचनमस्मिन् कर्मणि उभयोरप्यधिकारप्रदर्शनार्थम् । एवमप्युभाभ्यामित्येव वक्तव्यं नोपोषिता-भ्यामिति । तस्मात् पर्वसु चोभयोरुपवास इति प्राप्तमुपवासं प्रकृत्यंशेनानूद्य द्विवचनेन द्वयोरधिकारः प्रदर्श्यते–उपोषिताभ्यामिति । तेन यजनीयेऽहन्येव स्थालीपाकस्सिद्धो भवति । पञ्चदश्यां पूर्वेद्युः कर्म । तथा चाश्वलायनः–'अथ पार्वणस्थालीपाकः । तस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामुपवासः । 'इध्माबर्हिषोश्च सन्नहन' (आश्व. गृ. १-१०-१,२,३) मि'ति । उभाभ्यां पर्वसु कार्य इत्युच्यमाने पर्वस्वेव स्थालीपाकस्स्यात्, उपवासश्च, निर्देशतुल्यत्वात् ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अतः स्थालीपाकादूर्ध्वं उपोषिताभ्यां पर्वसु चोभयोरुपवासः' (आप. ध. २–१–४.) इत्यादिविधिना कृतोपवासाभ्यां जायापतिभ्यां पर्वसु पौर्णमासोष्व-मावास्यासु च द्वितीयासु दक्षिणावर्जं ऋषभदानवर्जं एवमेवंप्रकार एतत्स्थाली-पाकसदृशो होमः कर्तव्य इति विधिः । धर्मशास्त्रे तु 'श्वोभूते स्थालीपाकः' (आप. ध. २–१–१०.) इत्युपवासादिधर्मसम्बन्धार्थोऽनुवादः । सादृश्यं चात्र द्रव्यदेवतादिसमस्तधर्मनिबन्धनम । यथा ''एतस्यैव रेवतीषु' (ताण्ड्य.

---

१. एतस्यैवेति 'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः' तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत' इत्यनेन त्रिवृत्स्तोमयुक्तं अग्निष्टोमसंस्थाकं अग्निष्टुन्नामकमेकं सोमयागं ब्रह्मवर्चसरूपफलोद्देशेन विधाय ततः 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टो-मसाम कृत्वा पशुकामो यजेत' इति श्रुते वाक्ये पूर्ववाक्यविहितकर्मापेक्षया कर्मान्तरमेव विधीयते— रेवत्यधिकरणकवारवन्तीयसाममसाध्याग्निष्टोमस्तोत्रविशिष्टेन यागेन पशुं भाव-येदिति । तत्र 'एतस्ये' त्येतच्छब्दः पूर्वयागीयधर्मलक्षकस्सन् धर्मापेक्षायां तत्रस्थान् द्रव्यदेवतादीन् सर्वानपि धर्मानतिदिशतीत्युक्तं पूर्वमीमांसायां द्वितीयाध्यायतृतीयपादे द्वादशाधिकरणे । एवं कुण्डपायिनामयनाख्ये सत्रविशेषे "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्नि-होत्रं जुहोति' इति वाक्येन उपसत्कामर्वेऽ्यनन्तरकालमासविशिष्टकर्मान्तरमेव विधीयते ।

ब्रा. १७-८-१.) इति, यथा वा 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति। तत्र तु 'एतस्य' 'अग्निहोत्रम्' इति पदाभ्यां, इह तु एवंपदेनेति भेदः। ननु—दर्वीहोमेष्वतिदेशो नास्ति, अपूर्वत्वात्तेषाम्। सत्यम्, नास्ति [1]चोदनालिङ्गात्, वचनात्त्वतिदेशः केन वार्यते ?

केचित्—नायं धर्मातिदेशः, सौर्यादिष्विव हविर्दैवतस्यानुपदेशात्। अतः कल्पातिदेश एव; 'श्वोभूतेऽन्वष्टका, तस्या मासिश्राद्धेन कल्पो व्याख्यातः' इतिवदिति। नैतत्। हविर्दैवतस्यानुपदेशेऽपि मासमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिषु धर्मातिदेशस्य दृष्टत्वात्।

अपरे तु—[2]एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् (जै. सू. ४-३-५.) इति न्यायेन प्रकृतस्यैव स्थालीपाकस्य 'एवं पर्वसु कार्यः' इत्यधिकारान्तरसम्बन्धविधिरिति। एतदपि न; एवं सति 'एष कार्यं' इति सूत्रं स्यात्, 'नत्वेवं कार्यं' इति। किञ्च पर्वस्वन्वारम्भोऽपि स्यात्; यतस्समस्तधर्मकस्यैव प्रकृतकर्मणोऽधिकारान्तरविध्युपगमः। धर्मातिदेशे तु तथा नान्वारम्भस्तथोक्तमेव 'अथैनामाग्नेयेन' इति सूत्रमतिदेशविशेषार्थमिति वदता भाष्यकारेण।

अत्र च 'अत ऊर्ध्वम्' इति वचनं विवाहमध्येऽपि पर्वारम्भार्थम्। यद्यप्यत ऊर्ध्वमित्यविशेषवचनं, तथापि पौर्णमास्यामेवारम्भः। कालैक्येन प्रयोजनैक्यात् स्थानापत्त्या चास्य दर्शपूर्णमासानुकारित्वात् तयोः पौर्णमास्यामेवारम्भदर्शनात्। व्यक्तं चैतच्छन्दोगानाम्। 'अमावास्या चेत् पूर्वमापद्येत पौर्णमासेनेष्ट्वाथ तत्कुर्यात्, अकुर्वन् पौर्णमासीमाकाङ्क्षेदित्येक' इति। तस्मात् स्थालीपाकानन्तरं पौर्णमासी चेत् पूर्वमागच्छेत्, तदा विवाहमध्येऽपि पर्वारम्भः। मासिश्राद्धस्य

तस्य चाङ्गापेक्षायां तत्रत्यमग्निहोत्रपदं प्रसिद्धाग्निहोत्रधर्मलक्षकं सत् तत्रत्यान् धर्मानतिदिशतीत्युक्तं तत्रैव तृतीयपादे एकादशाधिकरणे। एवञ्च तत्र 'एतस्ये' तिपदं 'अग्निहोत्रपद' च तत्तद्धर्मसम्बन्धार्थोऽनुवादः, एवमिहापि 'एवंम'तिपदं उपवासादिपार्वणधर्मसम्बन्धार्थमनुवाद इत्यर्थः।

१ अन्यधर्माणामन्यत्र प्रापको व्यापारोऽतिदेशः। स त्रिविधः—प्रत्यक्षवचनातिदेशः, नामातिदेशः, चोदनालिङ्गातिदेशश्चेति। तत्र चोदनालिङ्गातिदेशे परं प्रकृतिगतसादृश्यादिकं दृष्ट्वा 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्येति'वाक्यं कल्पनीयमस्माभिः। तत्रैव च परमापूर्वत्वादिकं प्रतिबन्धकम्। प्रत्यक्षवचनानामातिदेशयोस्तु प्रत्यक्षविधिसिद्धत्वात् न केनापि प्रतिबद्धुं शक्यत इति॥

२. एकस्य कर्मणः उभयत्वे फलद्वयार्थत्वे संयोगस्य संयुज्यते तादर्थ्येन बोध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या संयोगो वाक्यं तस्य पृथक्त्वं नानात्वमित्यर्थः।

त्वारम्भश्चतुर्थीहोमान्ते अपरपक्षे; शिष्टाचारात्, बोधायनवचनात्, कर्ममध्ये कर्मान्तरारम्भस्यायुक्तत्वाच्च । तथा वैश्वदेवस्यापि 'तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमधश्शय्या' (आप. ध. २-३-१३) इत्यादिव्रतं सपत्नीकश्चरित्वा प्रशस्तेऽहन्यारम्भः ॥ १७ ॥

'पूर्णपात्रस्तु दक्षिणेत्येके ॥ १८ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि पर्वों पर स्थालीपाक की दक्षिणा के रूप में (अन्न से-सौ मुट्ठी अन्न से) पूर्ण पात्र प्रदान करे ॥ १८ ॥

टि०—पात्र या कलश में सौ मुट्ठी अनाज भरा होता है। तात्पर्यदर्शनकार के अनुसार एक सौ अट्ठाइस मुट्ठी अनाज से भरा पात्र पूर्णपात्र कहलाता है। यह पात्र ब्रह्मा को दिया जाता है और वृषभ का दान नहीं होता ॥ १८ ॥

अनाकुला

पात्रशब्द उभयलिङ्गः। धान्यमुष्टिशतस्य पूर्णं पात्रं पूर्णपात्रमित्याहुः। दक्षिणा चेयं ब्रह्मणे देया ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

धान्यादेः पूर्णं यत्किंचित् पात्रं पूर्णपात्रम्। यद्वा—

'अष्टमुष्टि भवेत् किञ्चित् किञ्चिच्चत्वारि पुष्कलम्।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं प्रचक्षते ॥'

इति वचनात् धान्यमुष्टीनां अष्टाविंशत्यधिकं शतं पूर्णपात्रम्। पात्रशब्दश्चोभयलिङ्गः। तुशब्दात् पर्वस्वयं विकल्पो, न वृषभदाने ॥ १८ ॥

सायं प्रातरत ऊर्ध्वं हस्तेनैते आहुती तण्डुलैर्यवैर्वा जुहुयात् ॥ १९ ॥

अनु०—उस समय के बाद आगे पति प्रातःकाल एवं सायंकाल अपने हाथ से (चावल या जौ) अन्न की दो आहुतियाँ अग्नि और अग्नि स्विष्टकृत् के लिए दे ॥ १९ ॥

टि०—इस स्थालीपाक के बाद सायंकाल और प्रातःकाल ये दो आहुतियाँ करनी होती हैं। ये आहुतियाँ दर्वी से नहीं की जाती हैं। परिस्तरण तथा परिषेचन के कर्म किए जाते हैं। यहाँ विवाहकालीन स्थालीपाक के बाद से तात्पर्य है, न कि पर्वों के स्थालीपाक के बाद का। प्रति दिन के सायं प्रातः होम में भी दूसरी आहुति स्विष्टकृत् के लिए होती है। ये दोनों आहुतियाँ श्रौत कर्मों के दो अग्निहोत्र होमों के समान ही होते हैं ॥ १९ ॥

---

१. "दक्षिणेत्येक" इति पृथक्सूत्रं हरदत्तमते इति Dr. M winternitz महाशयोऽभिप्रैति, परंतु अनाकुलापुस्तकान्तरेषु एकसूत्रत्वेनैव लिखितम्।

अनाकुला

अस्मात् स्थालीपाकादूर्ध्वं सायञ्च प्रातश्च एते आहुती व्रीहितण्डुलैर्यवैर्वा जुहुयात्। अत ऊर्ध्वमित्यस्य पार्वणवदेव प्रयोजनम्। तेन तस्यामेव रात्रावारम्भः। तस्मादूर्ध्वं दम्पत्योस्सायमशनम्। एते आहुती इत्युच्यते-ये अग्निहोत्राहुती आहिताग्नेस्ते एते इति प्रतिज्ञापनार्थम्। तेन तद्धर्माणामत्र प्रवृत्तिः। यथा 'पालाशी समित् व्यङ्गुले मूलात् समिधं' (आप. श्रौ. ६-१०-४.) इत्येवमादीनां प्रादुष्करणहोमकालयोश्च। तच्चोक्तमाश्वलायनके—'तस्याग्निहोत्रेण प्रादुष्करणहोमकालौ व्याख्यातौ (आश्व. गृ. १-९-५), इत्यादि। हस्तेनेति दर्व्या अपवादः। तन्त्रस्य चानुपदेशादपूर्वत्वम्। परिस्तरणं तु भवत्येव। परिषेचनं त्विहैव विधीयते॥ १९॥

तात्पर्यदर्शनम्

सायं प्रातरित्यग्निहोत्रकालानां चतुर्णामुपलक्षणम्; अग्निहोत्रानुकारित्वादौपासनहोमस्य। अत ऊर्ध्वं स्थालीपाकान्ताद्विवाहादूर्ध्वम्; विवाहस्यैवात्र परमप्रकृतत्वात्, न त्वनन्तरप्रकृतत्वात्पर्वण ऊर्ध्वम्. यतो न प्रासङ्गिकप्रकृतपरामर्शस्स्वरसस्सर्वनाम्नाम्। स्थालीपाकान्तादिति च स्थालीपाकं विधाय, 'अत ऊर्ध्वम्' इति वचनात्। अस्य चारम्भोऽनन्तरं रात्रावेव यदि नव नाड्यो नातीताः। अतीताश्चेदपरेद्युस्सायमेवाग्निहोत्रारम्भवेलायाम्। अत्र हस्तेनेत्यादिना कृत्स्नविधानम्। हस्तेनेति विधानाद्दर्व्यादिनिवृत्तिः। तण्डुलैर्यवैर्वेति विधानात्, पाकस्य। उभयतः परिषेचनमिति परिसङ्ख्यानात् पार्वणधर्माणाम्। वैश्वदेवेऽपीत्थमेव व्याख्यानम्। 'एते' इति विशेषणादत्रापि द्वितीयाहुतिः स्विष्टकृत्स्थानीया अङ्गमित्यर्थः। तेनैतां विस्मृत्य कर्म समाप्तौ नैषा पुनर्होतव्या। किन्तु सर्वप्रायश्चित्तमेव॥ १९॥

स्थालीपाकवद्दैवतम्॥ २०॥

अनु०—देवता स्थालीपाक के समान ही होते हैं॥ २०॥

अनाकुला

देवतैव दैवतम्। अग्नये स्वाहेति पूर्वाहुतिः। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरा॥ २०॥

तात्पर्यदर्शनम्

अयं 'एते आहुती' इति प्राप्तस्यानुवादः पूर्वाहुतेर्विकल्पं विधातुम्; यथा—पात्नीवते 'नानुवषट्करोति। अपि वोपांश्वनुवषट्कुर्यात्' (आप. श्रौ. १३-१४-९, १०.) इति॥ २०॥

'सौरी पूर्वाहुतिः प्रातरित्येके ॥ २१ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि प्रातःकाल की पहली आहुति सूर्य के लिए होनी चाहिए ॥ २१ ॥

अनाकुला

सौरी सूर्यदेवत्या । 'सूर्याय स्वाहे'ति वा पूर्वाहुतिर्भवति । अन्यत् समानम् । तत्र यथाकामी प्रक्रमेत । प्रक्रमात्तु नियम्यते ॥ २१ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सौरी सूर्यदेवत्या 'सूर्याय स्वाहा' इति पूर्वाहुतिः प्रातर्होमे इत्येके ॥२१॥

उभयतः परिषेचनं यथा पुरस्तात् ॥ २२ ॥

अनु०—इन आहुतियों के पहले और बाद में अग्नि के चारों ओर जल से परिषेचन की क्रिया पहले की तरह ही की जाती है ॥ २२ ॥

अनाकुला

अस्य होमस्य परिषेचनं उभयतः पुरस्तादुपरिष्टाच्च कर्तव्यम्, यथा पुरस्ताच्चोदितम्—अग्निं परिषिञ्चति पूर्ववत् परिषेचनमिति ॥ २२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उभयतः एतयोराहुत्योः पुरस्तादुपरिष्टाच्च परिषेचनं यथा पुरस्ताद्विहितं 'अग्निं परिषिञ्चति' (आप. गृ. २-३.) 'पूर्ववत्परिषेचनमन्वमंस्थाः' (आप. गृ. २-८. इति । पाकयज्ञेषु सप्तसु न विप्रतिपत्तिः)। 'सैष मीमांसाऽग्निहोत्र एव सम्पन्ना । अथो आहुः । 'सर्वेषु यज्ञक्रतुष्विति' (तै. ब्रा. २-१०-९) इत्यत्र 'तदिदं सर्वयज्ञेषूपस्पर्शनं भवति' (आप. श्रौ. ४-१-७.) इत्यत्र च सर्वशब्देन प्रकृतपरामर्शिना प्रकृतश्रौतसर्वयज्ञानामेव परामर्शात् । अस्मादेव हेतोः 'द्विर्जुहोति' (आप. गृ. ५-११.) इत्यादिना परिसङ्ख्याय कृत्स्नविधानाच्चाग्निहोत्रिकविधावपि नैव विप्रतिपत्तिः ॥ २२ ॥

पार्वणेनातोऽन्यानि कर्माणि व्याख्यातान्याचाराद्यानि गृह्यन्ते ॥ २३ ॥

अनु०—पार्वण स्थालीपाक से जो अमावास्या तथा पौर्णमासी को किये जाते हैं, आगे अन्य कर्मों की व्याख्या की गई है, जिनका ज्ञान आचार से प्राप्त किया जाता है ।' २३ ॥

---

१. हरदत्तमते 'इत्येके, इति नास्ति इति Dr. M. winternitz महाशयः । अन्यत्र तूपलभ्यते।

अनाकुला

पर्वसु भवः पार्वणः। तेन पार्वणेन स्थालीपाकेनातोऽस्मात्पार्वणादन्यानि कर्माणि व्याख्यातानि यान्याचाराद्गृह्यन्ते ज्ञायन्ते तानि सर्वाणि। अयमपि कल्पातिदेशः। योऽयं पार्वणस्य कल्पः 'एवमत ऊर्ध्वं' इत्यादिः पूर्णपात्रस्तु दक्षिणेत्येक इत्येवमन्तः स एव सर्वेषां पाकयज्ञानां कल्प इत्यर्थः। तत्रोपवासः पार्वणादन्यत्र न भवति। पर्वसंयोगेन प्रकरणान्तरे विधानात्, उपोषिताभ्यामित्यस्य चाविधायकत्वात्। नन्वस्मिन् वैवाहिके धर्मा[१] आम्नाताः पार्वणस्यापि तत एवातिदिष्टाः। ततश्चान्येषामपि तत एवातिदेशः कर्तव्यः। 'दक्षिणावर्जं' 'पूर्णपात्रस्तु दक्षिणेत्येके' इत्यस्य विशेषस्य परिग्रहार्थस्तु पार्वणेनातिदेशः। 'अतोन्यानि' इति वचनं समानजातीयपरिग्रहार्थम्। तेन पक्वगुणेष्वेव स्थालीपाकेषु पशुषु चायमतिदेशो नाज्यगुणकेषु। केचित् तत्रापीच्छन्ति। कर्माणीति वचनात् कर्मणामेव पार्वणव्याख्यातत्वम्। न कालकर्तृधर्माणाम्। तेन निर्ऋतिं पाकयज्ञेन (आप. ध. १-२६), इत्यत्र पत्नीवर्त्यं पर्वनियमश्च न भवति। हृदयसंसर्गादिषूपवासश्च। व्याख्यातानीति वचनात् व्याख्यानमेव पार्वणेनान्येषां कर्मणां, न प्रकृतिविकृतिभावः। तेनानारब्धपार्वणस्यापि कालागमे सर्पबल्यादौ प्रवृत्तिर्भवति। आचाराद्यानि गृह्यन्त इति वचनात् अस्मिन् शास्त्रेऽनुपदिष्टानामपि शास्त्रान्तरदृष्टानां पक्वगुणकानामयमुपदेशो भवति। यथा—काम्यानां स्थाने काम्याश्चरवः 'षडाहुतिश्चरुरि'त्येवमादीनाम्॥ २३॥

तात्पर्यदर्शनम्

पार्वणेन वैवाहिकेन स्थालीपाकेन। अतोऽन्यानि अस्मादन्यानि सर्पबल्यादीनि यान्याचाराद्गृह्यन्ते तानि कर्माणि व्याख्यातानि। तेष्वेतद्धर्मातिदेश इत्यर्थः॥

ननु—कथं पार्वणशब्दवाच्यत्वं वैवाहिकस्थालीपाकस्य? इति चेत्—नित्यस्तावत् 'उपोषिताभ्यां पर्वसु कार्य' (आप. गृ. ७-१७.) इति पर्वसु भवत्वात् पार्वणः। तस्य च पार्वणस्यायं प्रकृतित्वेन सम्बन्धीति 'तस्येदम्' (पा. सू. ४-३-१२०) इति पार्वणशब्दादणप्रत्यये कृते पार्वण इत्येतं रूपं भवति। यद्यपि कर्मान्तराणामप्ययं प्रकृतिः, तथाप्यस्य पार्वणसम्बन्धितया व्यपदेश्यत्वमेव युक्तम्; यतोऽत्र कर्माणि (?) द्रव्यदेवतयोरप्यतिदेशः। कर्मान्तरेषु त्वितरधर्माणामेवेति।

नन्वेवमपि शीघ्रावगतस्य नित्यस्य पार्वणस्य प्रकृतित्वे सम्भवति किमिति विलम्बितावगम्यस्य वैवाहिकस्य प्रकृतित्वमुच्यते? इति चेत्। न; वैवाहिक एव धर्मोपदेशपौष्कल्यात्, इतरत्र तदभावाच्च। प्रसिद्धश्चैष न्यायः—यस्य पुष्कलो

---

१. आख्याताः २. ज—'द्रव्य' इति न.

धर्मोपदेशस्सोऽन्येषां प्रकृतिः; न हि भिक्षुको भिक्षुकान् याचितुमर्हतीति। तस्मा-द्युक्तं वैवाहिकस्यैव प्रकृतित्वम्।

अस्य च वैवाहिकस्य पार्वणशब्दवाच्यत्वं धर्मशास्त्रे व्यक्तमेव। 'पर्वसु चोभयोरुपवासः। औपवस्तमेव कालान्तरे भोजनम्। तृप्तिश्चान्नस्य। यच्चै-नयोः प्रियं स्यात्तदेतस्मिन्नहनि भुञ्जीयाताम्। अधश्च शयीयाताम्। मैथुनवर्जनं च। श्वोभूते स्थालीपाकः। तस्योपचारः पार्वणेन व्याख्यातः' (आप. ध. २-१-४...११.) इति नित्यस्य पार्वणेन व्याख्यानाभिधानात्, पर्वसम्बन्धिनः कर्मान्तरस्यात्रासम्भवात्, नित्यस्य च नित्येनैव व्याख्याने आत्माश्रयदोषात्।

नन्वत्र केचित्—'यच्चैनयोः प्रियं स्यात्तदेतस्मिन्नहनि' इत्येतच्छब्देनैकवच-नान्तेन 'पर्वसु च' इति बहुवचनान्तनिर्दिष्टपर्वाहः परामर्शानुपपत्तेः, 'पाणिग्र-हणादधि गृहमेधिनोर्व्रतम्' (आप. ध. २-१-१.) इति परमप्रकृतं पाणिग्रहण-नक्षत्रं परामृश्यते। तेन प्रतिसंवत्सरं पाणिग्रहणनक्षत्रे प्रियभोजनादि कार्यम्। श्वोभूते च स्थालीपाकः कर्तव्यः। तस्य च कर्मान्तरस्योपचारः पार्वणेन नित्येन व्याख्यात इत्याहुः। तत्कथं धर्मशास्त्रे व्यक्तं वैवाहिकस्य पार्वणशब्दवाच्यत्व-मिति।

तन्न; यतोऽत्र व्रतमेव परमप्रकृतम्, पाणिग्रहणस्य तु तदवधितया कीर्तन-मात्रम्। नक्षत्रं तु गम्यमानमेव। गम्यमानं चैतच्छब्देन परामृष्टुं प्रियभोज-नादिना विशेषयितुं च नार्हम्। तदाहुराचार्याः—

'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम्।

शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत्॥ (तन्त्र. वा. १-१-७.)'

इति। अतश्चात्र 'पर्वसु च' इत्युद्देश्यगतबहुत्वस्याविवक्षितत्वात् श्रुताव्यवहितस्य प्रकृतस्य पर्वाहस्यैव परामर्शो विशेषणं च युक्तम्। अत उपवासादेरिव प्रियभो-जनादेरपि पर्वसम्बन्धात् 'श्वोभूते स्थालीपाकः' इत्युपवासादिधर्मविधानार्थ-मेव। 'उपोषिताभ्यां पर्वसु कार्यः' इति गृह्यविहितस्य स्थालीपाकस्यानुवाद एव, न कर्मान्तरस्य विधिः। अनुवादे च तस्योपचार इति दूरस्थस्य परामर्शो घटते। विधौ त्वस्योपचार इति स्यात्। एवं च यद्यपि 'श्वोभूते स्थालीपाकः' इत्यापाततोऽनुवादस्वरूपः; तथापि यस्येमे विधीयमाना उपवासप्रियभोजना-दयो धर्मास्सम्बन्धिनस्तस्योपचारः पार्वणेन व्याख्यात इति साध्याहारमेवेदं सूत्रं व्याख्येयम्। तस्माद्धर्मशास्त्रेऽपि वैवाहिकस्य पार्वणशब्दव्यपदेश्यस्यैव प्रकृतित्वम्, न नित्यस्येति सिद्धम्।

नन्वेमपि शीघ्रबोधकत्वात् वैवाहिकेनेति वक्तव्ये, किमर्थमस्य विवाहाङ्ग-स्यापि सतो विवाहसम्बन्धं तिरस्कृत्य 'पार्वणेन' इत्याह? उच्यते—इतराङ्गवदस्य

न शम्याः; किन्तु शिष्टाचारसिद्धाः परिधय एवेत्येवमर्थम्। अत्र च अतोऽन्यानीत्याह—एतत्सदृशान्येवौषधप्रधानहवींषि सर्पबल्यादीनि कर्माण्यनेन व्याख्यातानि, न त्वनेन तत्सदृशानि पशुप्रभवप्रधानहवींषि वपाहोमादीनीति वक्तुम्। कुत एतत्? 'तत्र सामान्याद्विकारो गम्येत' (आप. प. ३-४०) इति परिभाषावचनात्।

किञ्च अतोऽन्यानीत्यस्य नञ्समासप्रभेदविग्रहवाक्यत्वात् 'नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थावगतिः' (वै. प. ७४.) इति नञ्समासभेदार्थनिर्णयात्, वाक्यसमासयोर्भिन्नार्थत्वे चासमर्थसमासापत्तेः। औषधानि हवींषि पशुप्रभवानि च कानि, कतिधा च? इति चेत्-पुरोडाशः, ओदनो, यवागूस्तण्डुलाः, पृथुकाः, लाजाः, सक्तवः, पिष्टानि, फलीकरणानि, धानाः, करम्भाः, सुरेत्यौषधानि द्वादशविधानि। पयो, दध्या, ज्य, मामिक्षा, वाजिन, मवदानानि, पशुरस, श्शोणितं, त्वक्, वपेति, पशुप्रभवानि दशविधानि। 'अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते' (आप. गृ. १-१.) इति प्रकृतेऽप्यत्र पुनर्वचनं गृह्यप्रश्नेऽनुक्तानां महाराजस्थालीपाकगणहोमादीनामेतद्विकृतित्वं वक्तुम्।

ननु-यद्यनेनैव सूत्रेण औषधहविष्केषु कर्मसु पार्वणतन्त्रातिदेशः, किमर्थं 'अस्तमिते स्थालीपाकः' 'पार्वणवदाज्यभागान्ते' (आप. गृ. १८-५, ६.) इति सर्पबलौ पुनर्वचनम्? उच्यते-यद्यपि [1]श्रौत आग्रयणे वैश्वदेवादीनां भूयस्त्वेन पौर्णमासतन्त्राशङ्कायां ऐन्द्राग्नस्य मुख्यत्वात् 'मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्' (जै. सू. १२-२-२३) इति सिद्धान्तन्यायेन 'अमावास्यं तन्त्रम' (आप. श्रौ. ६-२९-५.) इति दर्शितम्, तथाप्यत्रान्येषां हविषां बहुत्वेऽप्यौषधस्य मुख्यत्वात् पार्वणतन्त्रतैवेति मुख्यन्यायं मन्दबुद्धिहितार्थं दर्शयितुमेव पुनश्चोक्तं 'पार्वणवदाज्यभागान्ते' इति। तेन मासिश्राद्धे अष्टकाकर्मणि च पार्वणमेव

१. श्रौत इति। अयं भावः—श्रौते आग्रयणे पञ्च हवींषि। तत्र आग्नेयः प्रथमः पुरोडाशः पुराणव्रीहिमयः। इतराणि चत्वारि नवानां व्रीहीणाम्। तत्र ऐन्द्राग्नः पुरोडाशः प्रथमः। वैश्वदेवः पयसि चरुर्द्वितीयः। सौम्यश्श्यामाकश्चरुस्तृतीयः। द्यावापृथिव्य एककपालश्चतुर्थः। तत्रैन्द्राग्नो दर्शविकृतिः। इतरे त्रयः पूर्णमासविकृतयः। तेनात्र पूर्णमासविकृतीनां बहूनां सत्वात् 'विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्' (जै० सू० १२-२-२१) इति न्यायेन पौर्णमासतन्त्रताया एव सर्वत्र प्राप्तौ 'मुख्यं वे'ति न्यायेन ऐन्द्राग्नस्यैव प्रथमश्रुतत्वेन मुख्यत्वात् ऐन्द्राग्नधर्माणामेवानुष्ठानम्। अतश्चात्र दार्शिकधर्मा एवानुष्ठेया इति बोधयितुं "अमावास्यं तन्त्रम्" इत्युक्तमित्यर्थः। मुख्यमेव हविः धर्मानुष्ठानेनानुग्राह्यम्। तस्यैव प्रथमतो विहितत्वात्। यथा-लोके प्राथमिक एवानुगृह्यते तद्वदिति सूत्रार्थः।

तन्त्रम्। यद्यप्यष्टकायां वपाहोमस्य मुख्यस्यापूर्वत्वं, तथाप्यन्येषां कृत्स्नविधानाभावादौषधत्वात् 'स्विष्टकृत्प्रभृति समानमापिण्डविधानात्' (आप. गृ. २२-८.) इति दर्शनाच्च पार्वणमेव तन्त्रम्। अपूपहोमे तु 'पार्वणवत्' (आप. गृ. २२-१.) इति पुनर्वचनमपूपमांसौदनपिष्टान्नहोमानां स्थाने विकल्पेन विहितस्यौषधहविष्कस्यापि दधिहोमस्य पार्वणतन्त्रप्राप्तिं ज्ञापयितुम्, न त्वपूपहोमार्थम्; तस्यौषधहविष्ट्वादेव पार्वणतन्त्रप्राप्तेः। तत्स्थानापन्नेषु च तद्धर्मप्राप्तिर्दृष्टा। यथा[1] 'यस्य हविषे वत्सा अपाकृता धयेयुस्तत्स्थाने वायव्यां यवागूं निर्वपेत्' (आप. श्रौ. ९-१-२३.) इति सान्नाय्यस्थाने विहितायां यवाग्वां सान्नाय्यधर्माः।

केचिद्— नित्यस्य पार्वणस्य यः कल्पस्स एव सर्वेषां यज्ञानां कल्पः। यद्यपि वैवाहिके धर्माम्नानं, तथापि नित्यस्यैव कल्पातिदेशो 'दक्षिणावर्जं' इत्यस्य परिग्रहार्थः। अतोऽन्यानीति वचनादेतत्सदृशानां पक्वगुणानामेव स्थालीपाकानां पशूनां चायं विकल्पो, न त्वाज्यगुणकानाम्। कर्माणीति वचनात् कर्ममात्रस्यैव व्याख्यानं, न तु कर्तृतद्धर्मकालादीनाम्। तेन 'गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत' (आप. ध. १-२६-८.) इत्यत्र पशौ न पत्नीवत्त्वम्, नापि हृदयसंसर्गादिषु[2] पर्वणो नियमः, विशेषतश्चोपवासस्य धर्मशास्त्रे पर्वसम्बन्धेन विधानात्। व्याख्यातानीति वचनादन्येषां नैतद्विकृतित्वम्। तेनानारब्धदार्वणोऽपि तेष्वधिकारी। हृदयसंसर्गादिषु पुनस्तन्त्रविधानं आज्यहोमवन्नियमार्थम्। एतद्गृह्योपदिष्टेषु यत्र वचनं तत्रैव तन्त्रं, नान्यत्र। तेनाग्रयणे तन्त्रलोप इति।

तन्न; यत उपदिष्टधर्मकस्य वैवाहिकस्य धर्मातिदेशेऽपि नैव दोषः। प्रत्युत नित्यस्य कल्पातिदेशे पर्वादीनामप्यतिदेशाद्दोषः। कर्माणीति वचनान्नेति चेत्— न; तस्योद्देश्यसमर्पणोपक्षीणत्वात्। अखण्डग्राहिणश्चोदकस्योच्छृङ्खलत्वात्। दक्षिणाऽभावस्तु प्रयोजनं तस्य 'योऽस्यापचितस्तस्मा ऋषभं ददाति' (आप. गृ. ७-१६.) इति सिद्धम्। तथा सदृशेष्वयमतिदेश इत्युक्तिमात्रम्, असदृशेष्वपि पशुष्वभ्युपगमात्। पक्वत्वात् सादृश्ये द्रव्यत्वादाज्येऽपि स्यात्। न चैवं व्याख्यातशब्दः प्रकृतिविकृतित्वाभावार्थः। 'एतेन वैश्वसृजो व्याख्यातः (आप. श्रौ. १९-१५-१.) इत्यादौ प्रकृतिविकृतित्वस्य दृष्टत्वात्। तथा नैकस्मिन्नाग्रयणे तन्त्रलोपफलार्थं नियमार्थानि बहूनि सूत्राण्यारब्धव्यानि। अविकृतमातिथ्य-

---

१. दर्शपूर्णमासयोरमावास्यायागीयहविस्सम्पादनार्थं स्वमातृभ्य अपाकृता वत्साः दोहनकाले पुनर्मात्रा सङ्गता यदि सर्वमपि पयः पिबेयुः, न हविरर्थमवशेषयेयुः तदानीं सान्नाय्यस्थाने यवागूं पचेदिति सूत्रार्थः। २. ब—पार्वणो।

माग्रयणं चेत्येतावन्मात्रसूत्रादेव स्वाभिमतसिद्धेः । अतस्तानि तन्त्रसूत्राणि यथोक्तप्रयोजनार्थानि । आग्रयणमपि तन्त्रवदेव ॥ २३ ॥

[1]यथोपदेशं देवताः ॥ २४ ॥

अग्निꣳ स्विष्टकृतं चान्तरेण ॥ २५ ॥

अनु०—उन क्रियाओं के देवता प्रत्येक विशिष्ट क्रिया में दिये गए निर्देश के अनुसार बताये गये हैं ॥ २४ ॥

अनु०—उन देवताओं को अग्नि तथा अग्निस्विष्टकृत् के बीच रखकर उनके लिए हवन करना चाहिये ॥ २५ ॥

टि०—सभी पार्वणयज्ञों में अग्नि के लिए पहले होम होना चाहिए, तब अवशिष्ट हवि से स्विष्टकृत् के लिए । इसकी व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है कि सभी पार्वणयज्ञों में जिन देवताओं का उल्लेख है उनके लिए यज्ञ किया जाता है । अग्नि की तरह स्विष्टकृत् भी प्रमुख देवता है । पार्वण यज्ञों में दोनों स्थालीपाकों में प्रथम होम प्रधान होता है । दूसरे देवतओं के लिए अग्नि और अग्निस्विष्टकृत् के होमों के बीच होम किए जायेंगे । कुछ लोग 'यथोपदेशं देवता अग्निं स्विष्टकृतं च' एक सूत्र मानते है । किन्तु सुदर्शनाचार्य इसे एक मानने के पक्ष में नहीं है ॥ २५ ॥

अनाकुला

पार्वणेनातोन्यानीत्ययं कल्पातिदेशः इत्युक्तम् । तेन पार्वणे ये देवते, यश्च स्थालीपाकः, तेषां सर्वेषु कर्मसु प्रवृत्तिः । तत्र तत्रोपदिष्टाभिस्तु देवताभिः पार्वणदेवतयोः बाधे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं वचनं[2] तत्र चोदितानां देवतानां देशविधानार्थञ्च–योऽयमग्निः पार्वणो यश्च स्विष्टकृत्, तावन्तरेण तयोर्मध्ये ता देवता यष्टव्या इति । तत्र पार्वणस्याग्नेः पार्वणमेव हविः, तत्र तत्र विहितानां तत्र तत्र विहितम् । स्विष्टकृतस्तु सर्वो हविश्शेषः, अन्यत्र तथा दर्शनात् । अन्ये तु तत्र विहितादेव हविषः पार्वणदेवतयोरपीज्यामिच्छन्ति ।

अपर आह-नात्र पार्वणदेवते अनूद्येते अग्निश्च स्विष्टकृच्च । किं तर्हि ? आगन्तुके एते अनेनैव वचनेन विधीयेते । तत्र हविषोऽनुपदिष्टत्वात् अग्नेराज्यं हविः । स्विष्टकृतस्तु सर्वो हविश्शेष इति । सर्वथा सर्वेष्वेव पार्वणातिदिष्टेष्वग्निः पूर्वो यष्टव्यः । तथा च श्रौतेषु दृश्यते 'येन यज्ञेनेत्सेंत् कुर्यादेव तत्राग्नेयमि'ति । [3]यथा भाष्यं व्याख्यायते । पार्वणव्याख्यातेषु सर्वेष्वेव कर्मसु यथोपदेशं देवता यजति, अग्निं स्विष्टकृतं च यजति योयमग्निस्स्विष्टकृत् पार्वणे द्वितीयो देवताविशेषः तं च यजति तस्मादेव हविषः । यत्तत्र तत्रोपदिष्टानां

---

१. सूत्रद्वयमप्येकं सूत्रं हरदत्तस्य । २. तन्त्र. ३. यथा भाष्यकारः तथा ।

ह्वविरिति। तत्र यथोपदेशं देवता इत्यनुवादः स्विष्टकृतस्समुच्चयविधानार्थः। असति समुच्चये तेषु तस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्। तत्र तत्रोपदिष्टाभिर्देवताभिर्निवर्तितत्वात्। अग्नेरिव स्विष्टकृतोऽपि प्रधानदेवतावच्चोदितत्वात्—'अग्निस्स्विष्टकृद्द्वितीय इति। अन्तरेण इत्यनेन तु तस्यैव स्विष्टकृतो देशो नियम्यते—प्रधानाहुतीश्चोपहोमांश्चान्तरेणाग्निं स्विष्टकृतं यजतीति। तेन यत्राप्युत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते, 'आज्याहुतीरुत्तराः जयादि प्रतिपद्यत' इति च क्रमपरं वचनं, तत्रापि नित्यमग्निस्स्विष्टकृदस्मिन्नन्तराले यष्टव्यो भवतीति। प्रकरणाच्च प्रधानाहुतीरुपहोमांश्चान्तरेणेत्यर्थोऽपि लभ्यते ॥ २४–२५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्रास्वपदो विग्रहः, अव्ययीभावसमासत्वात्। अध्याहारश्च, साकांक्षत्वात्। यथोपदेशं सर्पबल्यादिषु याश्च यावत्यश्च येन येन प्रकारेण मन्त्रविधानादिनोपदिष्टाः देवतास्ता एव भवन्ति, न पार्वणदेवताः। न तेषु पार्वणं प्रधानं समुच्चेतव्यमित्यर्थः।

ननु—विकृतावुपकारमुखेन तज्जनकानां धर्माणामतिदेशः, प्रधानं चोपकार्यं, नोपकारजनकम्। पार्वणे च स्थालीपाकहोमयोः प्रथमो होमः प्रधानम्। अतस्तस्यातिदेश एव नास्ति। दूरे तत्समुच्चयाशङ्का, यन्निरासायेदं सूत्रं स्यात्। 'षड्भिर्दीक्षयति' (तै. सं. ५–१–९.) इत्यत्र तु प्राकृतीनां[1] दीक्षाहुतीनां अङ्गत्वादतिदेशः, अदृष्टार्थत्वाच्च समुच्चयः, यथोपदिष्टानां प्रकृतिक्लृप्तक्रमबाधभयादन्ते निवेशश्च युक्त एव। सत्यमेवम्; किन्तु गार्ह्यकर्मानुष्ठातॄणां मध्ये ये मन्दबुद्धयोऽङ्गप्रधानयोरतिदेश्यानतिदेश्ययोश्च अनभिज्ञास्ते पार्वणेनेत्यविशेषेणातिदेशप्रतिभासात् 'षड्भिर्दीक्षयति, इत्यादौ दर्शनमात्राच्च प्रधानातिदेशतत्समुच्चयावुपदिष्टप्रधानानामन्ते निवेशं च मन्यन्ते। तन्निरासायेदं सूत्रम् ॥ २४ ॥

अथ वैकृतप्रधानहोमानां स्थानमर्थादग्निमुखसौविष्टकृतयोश्च विदधाति—

'यथोपदेशं देवताः' (आप. गृ. ७–२४.) इत्यनुवर्तते। यथोपदेशं देवताः ये विकृतावुपदिष्टाः प्रधानहोमाः, ते अग्निं स्विष्टकृतं चान्तरेण आग्नेयसौविष्टकृतयोर्होमयोर्मध्ये भवेयुः। अत्र च स्विष्टकृतमितिवदग्निमित्यपि सिद्धानुवादात्, अन्यतश्च प्राप्त्यभावात्, योगविभागेनाग्निमुद्दिश्य जुहुयादित्यन्योऽप्यर्थो विधीयते। विभक्तस्य सूत्रस्य चायं विवक्षितोऽर्थः—सर्वेषु तन्त्रवत्स्वौषधहोमेषु दधिहोमेषु चोपाकरणसमापनयोश्च शिष्टाचाराद् 'अग्नये

---

१. ट, ठ–प्रकृतीनाम्।

स्वाहे' त्याज्येन अग्निमुखाख्यमङ्गहोमं सर्वेभ्योऽपि प्रधानहोमेभ्यः पूर्वं जुहुयादिति ।

नन्वत्र 'स्विष्टकृतमि'ति व्यर्थम्; सर्वत्र स्विष्टकृतश्शेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात् स्वत एवासावन्ते एव भवतीति । नैवम्-विकृतिषु द्विविधाः प्रधानहोमाः—पार्वणविकारा अपूर्वाश्च; तेषामुभयेषामप्यन्त एव स्विष्टकृद्यथा स्यादित्येवमर्थत्वात् । अन्यथा यद्धोमाङ्गं स्विष्टकृत्तदन्त एव स्यात् । तथाग्निमिति चोभयेभ्यः प्रधानाहुतिभ्यः पूर्वमेवाग्निमुखमित्येवमर्थं स्विष्टकृद्वन्नियम इति ।

केचित्—'यथोपदेशं देवता अग्निं स्विष्टकृतं च' इत्येवमन्तमेकं सूत्रम् । तस्यार्थः—'अग्निस्विष्टकृद् द्वितीयः' (आप. गृ. ७-८०) इत्यत्र स्विष्टकृतः प्रधानहोमतुल्यधर्मत्वज्ञापनात् विकृतिषु च पार्वणप्रधानलोपे सति तस्यापि लोपस्स्यात्, स मा भूदित्यनेन सूत्रेण 'यथोपदेशं देवताः' इत्यनूद्य, अग्निं स्विष्टकृतं च कुर्यात् इति तासु तस्य समुच्चयो विधीयते । तथा 'अन्तरेण' इति पदमेकं सूत्रं 'अन्तरा त्वाष्ट्रेण' इत्यादिवत् । प्रकरणाद्वैकृतप्रधानहोमानां जयादीनां च मध्ये सर्वास्वपि विकृतिषु स्विष्टकृन्नित्य एवेत्यर्थः । इतरथा कचित्तस्य लोपः स्यात्, 'स्थालीपाकादुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते' (आप. गृ. ९-४.) इत्यादि परिसङ्ख्येति कृत्वेति ।

तन्न,-विभागे साकाङ्क्षयोर्द्वितीयान्तयोः, 'अग्निं' स्विष्टकृतं, इत्येतयोरन्तरेणेत्यनेन सम्बन्धाकाङ्क्षेण एकवाक्यत्वे सम्भवति वाक्यभेदस्यायुक्तत्वात्, 'अग्निस्विष्टकृद्द्वितीयः' इत्यस्य प्रयोजनान्तरपरत्वाच्च । तथापि यदि स्विष्टकृतः प्रधानतुल्यधर्मकत्वं, तदा तल्लोपेऽपि प्रधानलोपप्रायश्चित्तमेवापद्यते । तथा 'अन्तरेण' इत्यस्य यथोक्तश्रुतसम्बन्ध्यन्वयसम्भवे अप्रकृतगम्यमानान्वयो न युक्तः । व्यर्थं चैतत्; स्वमते स्विष्टकृतस्समुच्चयविधानादेव[1] त्रिदोषायाः परिसङ्ख्याया अपि निरस्तत्वात्, तस्य सर्वत्र नित्यत्वेनालोपसिद्धेः ॥ २५ ॥

अविकृतमातिथ्यम् ॥ २६ ॥

अनु०—अतिथि के लिए (गौ के आलम्भन द्वारा) सत्कार की क्रिया में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आने देना चाहिए ॥ २६ ॥

अनाकुला

या गौरतिथय आलभ्यते 'गौरिति गां प्राहेति' तदातिथ्यं नाम कर्म तदवि-

---

१. परिसङ्ख्यायास्त्रैदोष्यं च—स्वार्थत्याग, परार्थस्वीकारः प्राप्तबाधश्च । यथा पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या इत्यत्र । निरूपितं चैतत् सुस्पष्टमस्माभिरस्मत्कृतसारविवेचिन्यां मीमांसान्यायप्रकाशव्याख्यायामिति तत एवावगन्तव्यम् ।

कृतमपूर्वं[1] पार्वणधर्मास्तद्वपाहोमे न कर्तव्या इत्यर्थः। इदमेव ज्ञापकं न स्थालीपाकेष्वेव सोऽतिदेशः। किं तर्हि? सर्वेषु पक्वगुणेषु पशुष्वपीति। तेनाष्टकायां काम्यपशुषु च शाखान्तरदृष्टेषु पार्वणधर्मासिद्धिः॥ २६॥

तात्पर्यदर्शनम्

अतिथिर्यस्य कर्मणो निमित्तं तदातिथ्यम्, गवालम्भ इत्यर्थः। तदविकृतं[2] यथोपदिष्टमेव स्यात्। नात्र 'अग्निमिद्ध्वा' (आप. गृ. १-१२.) इत्यादि सामान्यमपि तन्त्रम्, पार्वणं तु दूरे; 'कृत्स्नविधानात् यजतेरपूर्वत्वम् (जै. सू. ८-१-५.) इति न्यायात्। 'कृत्स्नविधानं च तस्यै वपां श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेन्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति' (आप. गृ. २२-४.) इति। एतच्च प्रदर्शनार्थम्। तेन वपाहोमानन्तरं [3]किंशुकहोमसर्षपहोमफलीकरणहोमाद्योऽप्यपूर्वा एव; कृत्स्नविधानस्य तुल्यत्वात्॥ २६॥

ननु-'नानग्नौ प्रधानम्' इति याज्ञिकवचनात् वैश्वदेवबलिहरणानि तावदङ्गानि। अग्नौ होमेषु च आग्नेयसौविष्टकृतावन्तरेण ये होमास्त एव प्रधानाः। तौ तु सर्पबल्यादिसामान्यादङ्गमित्याशङ्क्याह—

वैश्वदेवे विश्वे देवाः॥ २७॥

अनु०—वैश्वदेव कर्म के देवता विश्वे देवाः होते हैं। ॥ २७॥

टि०—सभी देवों के लिए संकल्प करके ही गृहस्थ को बलि के लिए अन्न पकाना चाहिए। सभी देवों के लिए अग्नि में जो होम किये जाते हैं उन्हें देवयज्ञ कहते हैं। बलिहरण को भूतयज्ञ कहते हैं। दक्षिणकी ओर पितरों के लिए बलि अर्पण को पितृयज्ञ कहते हैं। पिण्डपितृयज्ञ में पिण्डदान और होम दोनों ही प्रधान होते हैं ऐसा आपस्तम्ब का मत है, किन्तु कात्यायन पितृयज्ञ में पिण्डदान को ही प्रधान मानते हैं और होम को उसका अङ्ग 'जीवत्पितृकस्य होमान्तम्, अनारम्भो वा' (कात्यायनश्रौतसूत्र ४. १. २४ २५)। सर्पों के लिए बलि तथा ईशान के लिए किए जाने वाले कर्म में होम और बलि दोनों प्रधान होते हैं। अवभृथ में अग्नि में किया जाने वाला होम प्रधान होता है। अनेक कर्म ऐसे भी जो अग्नि में नहीं किए जाते किन्तु प्रधान होते

---

१. ग. घ. पार्वणहोमास्तद्वपाहोमेन न कर्तव्याः।

२. अपेक्षितसर्वाङ्गविधिबलादत्र यागस्य नान्यप्रकृतिकत्वम्। न चान्यतोऽतिदेशाद्धर्माणां प्राप्तिरित्यर्थः।

३. किंशुकहोमो विहितस्सर्पबलौ (आप. गृ. १८-६.)। सर्षपहोमो जातकर्मणि (आप. गृ. १५-१०) फलीकरणहोमस्तु ऋणादिव्यवहारे जयेप्सुना कर्तव्यः (आप. गृ. २३-१)।

हैं जैसे श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन। इसी प्रकार अग्नि और स्विष्टकृत् दोनों के ही होम प्रधान होते हैं। वैश्वदेव मन्त्रों में भी 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' आदि का उच्चारण होता है, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों ही प्रधान होते है। कुछ लोग ईशानयज्ञ की तरह इसमें भी सभी देवों को देवता मानते हैं। सुदर्शनाचार्य ने वैश्वदेव को पञ्चमहायज्ञों से पृथक् माना है। "पञ्चमहायज्ञेभ्यो न पृथग्वैश्वदेवमित्यपि न प्रकरणान्तरात् संज्ञाभेदाच्च कर्मभेदावगतेः।" क्योंकि वैश्वदेव के प्रकरण और नाम में अन्तर है॥ २७॥

अनाकुला

'आर्याः प्रयता वैश्वदेव' इति चोदिते वैश्वदेवाख्ये कर्मणि देवतोपदेशोऽयं निर्वापकाले सङ्कल्पार्थम्। यास्तु तत्र देवताः षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं (आप. ध० २-३-१६.) इत्येवमाद्याः, ताः प्रदानकाले देवताः, तेन विश्वेभ्यो देवेभ्य इति सङ्कल्प्य 'गृहस्थेन स्वगृहे पाकः कार्यः। तथा पक्वादेवान्नात् होमा बलयश्च तस्यै तस्यै देवतायै। 'अहरहर्भूतबलिरि'त्येवमाद्याः पञ्चमहायज्ञानामुत्पत्तिविधयः। 'आर्याः प्रयता' इत्यादिकस्तु तेषामेव प्रयोगविधिः। तस्मात् न पृथक् पञ्चमहायज्ञाः कर्तव्याः, तत्रैव वैश्वदेवम् यदग्नौ क्रियते, स देवयज्ञः। यत् बलिहरणं स भूतयज्ञः। यद्दक्षिणतः पितृलिङ्गेनेति स पितृयज्ञः। यदग्नं च देयमित्यादि स मनुष्ययज्ञः। तत्र वैश्वदेवे सोमाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिरिति मन्त्रव्याख्याकारेणोक्तम्। न च षड्भिराद्यैरिति विरोधः, तस्य प्रधानदेवताविषयत्वात्, स्विष्टकृतश्च तान्त्रिकत्वात्।

अथ कस्मादिहैव वैश्वदेवस्य कृत्स्नकल्पो नोपदिश्यते? उच्यते—इहोपदेशे तस्य कल्पस्य सर्वाचरणार्थता न स्यात्, इष्यते च। तस्मात् सर्वाचरणसाधारणेषु सामयाचारिकेषूपदेशः। अथ तं हि देवतोपदेशः तत्रैव कस्मान्न कृतः? इहोपदेशप्रयोजनमस्मिन् गृह्ये तदपि वैश्वदेवं कर्मोपदिष्टं यथा स्यादिति। तेनास्मदीयानां स एव वैश्वदेवकल्पो नान्येषु धर्मशास्त्रेषु चोदितः। यज्ञोपवीतिना प्रदक्षिणमित्यादि परिभाषाप्रवृत्तिश्च भवति॥ २७॥

तात्पर्यदर्शनम्।

वैश्वदेवमिति कर्मनामधेयम्। प्रवृत्तिनिमित्तं च, विश्वे सर्वे देवा अत्रेज्यन्त इति। इह च मन्त्रवर्णसिद्धानां देवतात्वस्याविधेयत्वात्, आग्नेयादयष्षडपि होमाः बलिहरणानि चानग्निदेश्यान्यपि सर्वाण्येव प्रधानानि' न तु किञ्चिदपि शेषापरनामाङ्गम्, इत्येवं सूत्रार्थः।

---

१. ग. घ. गृहस्थस्य गृहे।

अयं भावः-यदि नानग्नौ प्रधानम् , किन्तु शेष एवेति तर्हि तच्छेषलक्षणे तृतीयाध्याये दृश्येत । न तु दृष्टम्, नापि सूत्रकारोक्तं दृश्यते । किन्तु पिण्डपितृयज्ञे तावदापस्तम्बेन होमः, पिण्डदानं चोभयं प्रधानमुक्तम्, पिण्डदानं प्रकृत्य 'यदि जीवत्पिता, न दद्यात्, आहोमात्कृत्वा विरमेत्' (आप. श्रौ. १-९-८) इति । यदि हि पिण्डदानस्याङ्गता, तदा प्रधानभूतहोमानुष्ठाने सति तस्याप्यनुष्ठानं स्यात्, न विरामः । तस्मादत्र प्रधानस्यैव पिण्डदानस्य 'नासोमयाजी सन्नयेत्' (तै. सं. २-५-५.) इत्यादिवदनारम्भलक्षण एव विरामः ।

कात्यायनस्तु—प्रत्युत पक्षे पिण्डदानमेव प्रधानं, होमस्तदङ्गमित्याह 'जीवत्पितृकस्य होमान्तम् , अनारम्भो वा' (का. श्रौ. ४-१-२४, २५) इति ।

तथा सर्पेशानबल्योरपि होमा बलयश्च प्रधानम् । [2]अवभृथे त्वनग्नावेव प्रधानम् । सोमाङ्गत्वेऽप्यस्य प्राधान्यं स्वाङ्गापेक्षया । तथैव राक्षसे गर्दभपशौ अनग्नावेव प्रधानम्; 'अप्स्ववदानैश्चरेयुः' (आप. श्रौ. ९-१५-५) इति वचनात् । वपायास्तूपदेशमतादग्नौ होमः । 'यदि वपा हविरवदानं वा स्कन्देत्' (आप. श्रौ. ९-१८-१५.) इति वपायाः पृथग्ग्रहणात् । एवमनग्नावप्यन्यानि बहूनि प्रधानानि सन्ति, यथा श्राद्धे ब्राह्मणभोजनम् । एवमाग्नेयसौविष्टकृतहोमावपीह प्रधानम्; 'औपासने पचने वा षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन जुहुयात्' (आप. ध. २-३-१६) इति कृत्स्नविधानेन, 'उभयतः परिषेचनम्' (आप. ध. २-३-१७.) इति परिसङ्ख्यया चास्य वैश्वदेवस्यापार्वणविकारत्वात् । सर्पबल्यादिषु तु पार्वणविकारत्वात्तावदङ्गम् ।

किञ्च वैश्वदेवमन्त्रेष्वपि 'अग्नये स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इत्येतयोरप्याम्नानात् प्राधान्यम् ।

ननु-वैश्वदेवमन्त्राणामपि न प्रत्यक्षरसमाम्नायः, स कथमवगम्यते ? उच्यते-'षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रम्' 'अपरेणाग्निं सप्तमाष्टमाभ्याम्' (आप. ध. २-३-१६, २०.) इत्यादिसूत्रैः क्रमेण विनियोगात् क्वचिदाम्नानमस्तीत्यवगम्यते । तच्चाम्नानं प्राग्विवाहमन्त्रेभ्यः, भाष्यकारवचनात् । ततश्च ब्रह्मयज्ञपारायणयोरप्येतेषामेवंक्रमेणाध्ययनं वेदितव्यम् । सर्वप्राधान्ये च प्रयोजनम्-एषामेकतरमप्यकृत्वा प्रयोगे समापितेऽपि तत् प्राग्भोजनात् [3]सप्रायश्चित्तं साङ्गमनुष्ठेयम्; कृते तु भोजने पाकयज्ञलोपप्रायश्चित्तमेवेति ।

---

१. यदि पितृपितामहप्रपितामहेषु मध्ये कश्चित् जीवेत् तदा पूर्वं विहितान् पिण्डान् न दद्यात् । होमान्तमेव कृत्वा कर्म परिसमापयेदिति सूत्रार्थः ।

२. 'अप्स्ववभृथेन चरन्ति' इत्यपामेव तत्र देशत्वेन विधानादिति भावः ।

३. ट—सर्वप्रायश्चित्तम् ।

केचित्—वैश्वदेवे विश्वे देवा देवता विधीयन्ते निर्वापकाले सङ्कल्पार्थम्, ईशानयज्ञवत्। यास्तु धर्मशास्त्रे मन्त्रविनियोगात् कल्पितास्ताः[1] प्रदानकाले देवताः। इह च देवतोपदेशो वैश्वदेवस्य गार्ह्यपरिभाषाप्राप्त्यर्थः। तत्र तस्योपदेशस्तु सर्वचरणार्थः। इदं च वैश्वदेवं न पञ्चमहायज्ञेभ्यः पृथग्भूतम्। 'अहरहर्भूतबलिः' (आप. ध. १-१२-१५.) इत्यादयश्च पञ्चमहायज्ञानामुत्पत्तिविधयः। 'आर्याः प्रयताः वैश्वदेवे' (आप. ध. २-३-१.) इत्यादिस्तु प्रयोगविधिः। तत्र यदग्नौ क्रियते स देवयज्ञः, यत् बलि[2]हरणं स भूतयज्ञः, यद्दक्षिणतः पितृलिङ्गेनेति स पितृयज्ञः, यच्चाग्रदानं स मनुष्ययज्ञः, इति।

तन्न, स्वमते श्रुत्या चोदितान् विश्वान् देवान् वचनं विनाऽपनीय, तेभ्यस्सङ्कल्पितस्य हविषो देवतान्तरेभ्यो मन्त्रवर्णात् कल्पितेभ्यो दातुमयुक्तत्वात्। ईशानबलौ तु भवशर्वादिशब्दानामीशानाभिधानत्वात्, अर्थस्य देवतात्वमिति सूत्रकारमताच्च, युक्तं भवायेत्यादिभिर्मन्त्रैर्दानम्। यत्तु मीढुष्यै जयन्ताय चास्मात् स्थालीपाकाद्दानं तद[3]प्यभ्युदयेष्ट्यादिवत् सवनीयपुरोडाशवच्च 'त्रीनोदनान् कल्पयित्वोत्तरैरुपस्पर्शयित्वोत्तरैर्यथास्वमोदनेभ्यो हुत्वा' (आप. गृ. २०-४,) इति वचनैः स्थालीपाकांशद्वये पूर्वदेवतापनयेन देवतान्तरविधानाद्युक्तम्। पञ्चमहायज्ञेभ्यो न पृथग्वैश्वदेवमित्यपि न;[4] प्रकरणान्तरात् संज्ञाभेदाच्च कर्मभेदावगतेः। न च कर्मभेदे तेषां प्रयोगो दुरुपपाद इति प्रमितभेदापह्नवो युक्तः, यतो भाष्ये वैश्वदेवस्य तेषां च प्रयोगः पृथगेवोपपादितः॥

[5]अथ प्रयोगभाष्यमीषद्भेदं लिख्यते-वैश्वदेवस्य कर्मोच्यते' प्रसङ्गात् पञ्चमहायज्ञानां च। समावेशनजपान्ते विवाहे समाप्ते वैश्वदेवमन्त्रणामुपयोगे यदूव्रतं 'द्वादशाहमधश्शय्या' (आप. ध. २-३-१३.) इत्यादि तत्त्वामित्वा-

---

१. ङ, ञ—प्रधानार्था देवताः। २. ठ—विहरणम्।

३ अस्य च विवरणं "त्रीनेतान्" इति सूत्रटिप्पण्यां करिष्यामः।

४ शब्दान्तरा, भ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण, प्रकरणान्तरा, ख्येषु कर्मभेदबोधकप्रमाणेषु मध्ये प्रकरणान्तरमपि षष्ठं प्रमाणम्। अनुपादेयगुणविशिष्टानुपस्थितिः प्रकरणान्तरमिति तस्य लक्षणम्। देशः कालो निमित्तं च फलं संस्कार्यमेव च। इति मीमांसकाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम्' इत्युक्तानुपादेयपञ्चकान्यतमविशिष्टा या पूर्वकर्मणोऽनुपस्थितिः तदेव प्रकरणान्तरमिति तस्यार्थः। अत्र यद्यपि पूर्वोक्तानुपादेयगुणयोगो नास्ति तथापि धर्मसूत्रोक्तानां पञ्चमहायज्ञानामत्रानुपस्थितत्वात् अनुपस्थितिमात्रमादाय प्रकरणान्तरत्वमुक्तं ग्रन्थकृतेति वेदितव्यम्। अत एवास्वरसात् पक्षान्तरमारब्धं संज्ञाभेदादिति।

५ ख. ग. ङ. ञ—अथ वैश्वदेवस्य प्रयोगो भाष्यमवेक्ष्य षड्विधं विभज्यते।

विशेषात् सपत्नीकश्चरित्वा प्रशस्तेऽहन्यारभ्य 'आर्याः प्रयत.। वैश्वदेवेऽन्नसंस्कर्तारस्युः' इत्यादिविधिना सिद्धेऽन्ने तिष्ठन्नन्नसंस्कर्ता भार्यादिः 'भूतम्' इति स्वामिने प्रब्रूयात् । तत् 'सुभूतं सा विराडन्नं तन्माक्षायि' इति स्वामी प्रतिब्रूयात् । ततो यदि प्रयाणे गृहे वा वैश्वदेवस्य [1]होमस्य स्थानेऽग्निरुपसमाधातव्यः, तत्र धर्मशास्त्रोक्तविधिना उपसमादधाति । एवमन्यत्राप्यौपासनहोमादिषु । अथ गृहमेधिनो यदशनीयमन्नं ततो होमार्थं हविष्यमन्नं पात्रे कल्पयति । अहविष्यं क्षारलवणावरान्नसंसृष्टं द्वितीये । हविष्यमन्नं देवयज्ञार्थं तृतीये । सर्वतस्समवदायाग्रार्थं चतुर्थे । सर्वत एव समवदाय मनुष्ययज्ञार्थं पञ्चमे यदि [2]ब्राह्मणतर्पणं नावकल्पते । 'मनुष्येभ्यो यथाशक्ति दानम्' (आप. ध. १-१२-१५.) इति वचनात् । ततः परिषेचनं कृत्वा प्रथमकल्पितादन्नाद्यथाहुतिमात्रं अङ्गुष्ठपर्वमात्रं 'अग्नये स्वाहे' त्यादिभिः षडाहुतीर्हुत्वा उत्तरं परिषेचनम् । अथ उदीचीनमुष्णं भस्मापोह्य तस्मिन् अहविष्यं स्वाहाकारेण जुहोति; 'यस्याग्नौ न क्रियते यस्यचाग्रं न दीयते न तद्भोक्तव्यम्' (आप. ध. २-१५-११.) इति वचनात् । अथ षडाहुतिहोमशेषमहविष्यहोमशेषेण संसृज्यान्नेन सूपसंसृष्टेन धर्मशास्त्रोक्तेन विधिना रौद्रान्तं बलिं हृत्वा ऽग्रं ब्राह्मणाय दत्वा, ब्राह्मणोक्तत्वा[3]दपार्वण [4]व्याख्यातं सन्निपातीतिकर्तव्यताकं देवयज्ञं कुर्वीत । देवयज्ञेन यक्ष्य[5] इत्यागूर्य, विद्युदसि । औपासने पचने वा कल्पितादन्नात्, तदभावे हविष्यमन्नं व्रीहियवादि, आकाष्ठात्, देवेभ्यस्स्वाहेति हस्तेन जुहुयात्; सन्निपातीतिकर्तव्यतयोरौपासनहोमवैश्वदेवयोर्हस्तेन होमस्य दृष्टत्वात् । मन्त्रवच्चोभयतः परिषेचनम्, तयोर्दृष्टत्वादेव । वृष्टिरसि । वषट्कारहोमेषु विद्युद्वृष्टी इत्युपदेशः ।

अथ प्राचीनावीती पितृयज्ञेन यक्ष्ये इत्युक्त्वा विद्युदसि । शुचौ भूमौ कल्पितादोदनात् हस्तेन अङ्गुष्ठप्रदेशिन्यावन्तरेण पितृभ्यः स्वधास्तु, इति दद्यात् आहुतिमात्रम् । वृष्टिरसि । पित्र्यं[6] बलिहरणविधिनेत्युपदेशः ।

अथ बलिहरणस्य होमतुल्यत्वात् यज्ञोपवीती भूतयज्ञेन यक्ष्य इत्युक्त्वा, विद्युत् । शुचौ भूमावेव हस्तेन 'इदं भूतेभ्योऽस्तु' इति दद्यात् । वृष्टिः । बलिहरणविधिनेत्युपदेशः ।

अथ दानस्य होमतुल्यत्वात् यज्ञोपवीती मनुष्ययज्ञेन यक्ष्य इत्युक्त्वा, विद्युत् । ब्राह्मणतर्पणं, सङ्कल्पितस्य वा दानम् । वृष्टिः । दानमात्रमित्युपदेशः ।

---

१. ट—होमस्येति नास्ति । २. ज—ब्राह्मणं । ३. क. ख—दपार्वणं ।
४. ख—व्याख्यात । ५. आगूरणं सङ्कल्पः ।
६. ख. ग. ज—पितृयज्ञ. घ. ङ—पित्र्य ।

ब्रह्मयज्ञं तु पूर्वमेव कुर्वीत अग्निहोत्रमौपासनं वा हुत्वा; 'उदित आदित्ये' (तै. आ. २-११.) इति वचनात्। तस्य कर्मोच्यते-'ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः' (तै. आ. २-११.) इत्यादि ब्राह्मणोक्तदेशे यथाविध्याचामेत्। अस्मिंस्त्वाचमने विशेषः—'दक्षिणत उपवीय' इत्यारभ्य 'सकृदुपस्पृश्य' (तै. आ. २-११) इत्येवमन्ते विगुणे कृते 'यदि यजुष्ट' इति 'भुवस्स्वाहा' इति होमः प्रायश्चित्तम्। 'दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्य' इत्यारभ्य शेषे विगुणे कृते 'यद्यविज्ञाता' इति प्रायश्चित्तम् ।

अथ क्रम उच्यते—ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्ये इत्युक्त्वा, विद्युत्। आचमनम्। आसनकल्पनादि सावित्रीजपान्तं कृत्वा वेदस्यादित आरभ्य यथाध्यायमध्ययनमध्यायः कृत्स्नस्य वेदस्यासमाप्तेः; 'श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य' (आप. ध. १-९-१.) इति वचनात् येन प्रकारेणाध्यायो येन च क्रमेणा[1]धीयते' विना चाम्नानैः आदिप्रदिष्टानुषङ्गप्रख्या[2]दिभिः, उत्सृजन् उत्सृज्योत्सृज्य, वाचा मनसा च यावत्तरसं यावच्छक्यमधीयीत। परिधानीयां कृत्वा, वृष्टिरसि। एवमहरहः कृतान्तादारभ्य यावत्समाप्तो वेदः सहैकाग्निविधिकाण्डेन। समस्तमधीत्य वैश्वदेवमन्त्रानधीत्य ततः प्रसुग्मन्तेति प्रश्नद्वयमधीयीत। एवं विनियोगदर्शनात्,

'ऐकाग्निको विधिः काण्डं वैश्वदेवमिति स्थितिः, ।

इति वचनाच्च। यद्यनेकशाखाध्यायी यतोऽनेनैव विधिना द्वितीयं पुनरधीयीत ऋग्यजुस्साम्नां क्रमेणाध्ययने यद्यनध्यायस्स्यात्, तदैकां वर्चमेकं व यजुरेकं वा साम कृतांतादेवारभ्याभिव्याहरेत्। यदा ब्राह्मणस्य क्रमेण तदा[3] 'भर्भुवस्सुवस्सत्यं तपश्श्रद्धायां जुहोमी' त्यभिव्याहरेत्। एवं यावज्जीवं ब्रह्मयज्ञं कुर्वीत। मनुष्ययज्ञान्ते 'सर्वान् वैश्वदेवभागिनः कुर्वीत, (आप. ध. २-९-५.) इत्यादिविधानेन सर्वेषु पत्न्यन्तेषु भुक्तवत्सु, पाकपरिवेषणपात्रेभ्यो लेपान् सङ्कृष्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय सम्प्रदानभूताय निनयेत्, 'रुद्राय स्वाहा' इति। नित्यवच्च निनयनम्; प्रतिपत्तिकर्मत्वात्। 'एवं वास्तु शिवं भवति' (आप. ध. २-४-२३.) इत्यर्थवादः। "[4]द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्' (पू. मी. ४-३-१.) इति न्यायात्। फलं वा, सूत्रकारेणोपदिष्टत्वात् [5]य

---

१ ज—येन प्रकारेण वा चि। २ ङ—प्रख्याता। ३ ज—क्रमेत्तदा।

४ द्रव्ये यस्य पर्णमयीत्यादौ, संस्कारे दीक्षितनयनाञ्जनादौ, कर्मणि प्रयाजाद्यारादुपकारके कर्मणि या फलश्रुतिः सोऽर्थवादः, न तु वस्तुतः फलबोधनम्। तेषामन्याङ्गत्वेन स्वातन्त्र्येण फलापेक्षाया अभावादिति सूत्रार्थः।

५ ङ, थ—यथा [इत्यधिकपाठः]

एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च' (आप. ध. २-४.९.) इति। एवमृते [1]महायज्ञेभ्यः सायं रौद्रान्तं कृत्वा वैहायसमाकाशे भूतबलिं कुर्वीत।

[2]अन्य आहुः—'नक्तमेवोत्तमेन' (आप. ध. २-४-८.) इत्येवकारस्य व्यवहितान्वयाद्वैहायसमेव सायमिति॥

इदानीं प्रसङ्गात् सर्पबलेस्तदुत्सर्गस्य च देवतामुपदिशति—

पौर्णमास्यां पौर्णमासी यस्यां क्रियते॥ २८॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने सप्तमः खण्डः।

अनु०—पौर्णमासी को किए जाने वाले कर्म का देवता पौर्णमासी होता है॥ २८॥

टि०—पौर्णमासी को जो कर्म किया जाता है उसका देवता पौर्णमासी होता है। सर्पबलिमें 'श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा' के साथ स्थालीपाक से होम किया जाता है। फिर किंशुक की आहुति, समिध, आज्य की आहुति होती है तथा स्थालीपाक से स्विष्टकृत् के लिए होम होता है॥ २८॥

अनाकुला

"श्रावण्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाक" इत्यादि पौर्णमास्यां यत् कर्म चोदितं तत्र पौर्णमासीदेवता। का सा? यस्यां तत् कर्म क्रियते श्रावण्यैपौर्णमास्यै स्वाहेति। एवं स्थालीपाकाद्धोमः। ततो यथोपदेशं किंशुकानि समिध आज्याहुतयश्च, ततः स्थालीपाकात् स्विष्टकृत्। ततो जयादि। 'यस्यां क्रियत' इत्यनुच्यमाने पौर्णमास्यै स्वाहेत्येव होमः स्यात्॥ ३०*॥

इति हरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां सप्तमः खण्डः समाप्तः।

यस्यां पौर्णमास्यां श्रावण्यां मार्गशीर्ष्यां च निमित्तभूतायां स्थालीपाकः क्रियते, तस्य सैव पौर्णमासी देवता। अयमर्थः सर्पबलौ 'श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा' इति स्थालीपाकस्य होमः। [3]उत्सर्जने तु 'मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहा' इति॥ २८॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने सप्तमः खण्डः॥

---

१. ज—एवमभूत. २ ट—अन्यत्र.

* खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या त्रिंशत् (३०)। सुदर्शनमते तु अष्टाविंशतिः (२८)। ३ ठ—तदुत्सर्जनस्य.

अथ अष्टमः खण्डः

उपाकरणे समापने च ऋषिर्यः प्रज्ञायते ॥ १ ॥

सदसस्पतिर्द्वितीयः ॥ २ ॥

अनु०—वैदिक अध्ययन के आरंभ और समापन के समय संबद्ध (प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय, वैश्वदेव नामके) काण्ड का ऋषि देवता होता है ॥ १ ॥

अनु०—तब सदसस्पति दूसरा देवता होता है ॥ २ ॥

टि०—उपाकरण कर्म दो प्रकार का होता है: काण्डोपाकरण, अध्यायोपाकरण वैदिक अध्ययन के आरंभ में किए जाने वाले कर्म को उपाकरण कहते हैं। उपाकरण की तरह समापन भी दो प्रकार का होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में इस संबन्ध में कहा गया है: "काण्डोपाकरणे चामातृकस्य काण्डसमापने चापितृकस्य' (१. ११. १-२)। अध्याय का उपाकरण श्रावण महीने की पौर्णमासी को किया जाता है (आप. ध. सू. १. ९, १०)। समापन का कर्म तिष्य नक्षत्र की पौर्णमासी को या रोहिणी नक्षत्र की पौर्णमासी को किया जाता है (वही, १. ९. २०)। काण्डानुक्रमणी में जिस ऋषि को काण्ड का ऋषि बताया गया है, वही इस कर्म में देवता होता है तथा सदसस्पति दूसरा देवता होता है ऋषि के लिए हवन करने के बाद सदसस्पति के लिए हवन किया जाता है। काण्ड: प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय और वैश्वदेव होते हैं और प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेवा इनके ऋषि होते हैं। इन काण्डों के विस्तार का वर्णन हरदत्तमिश्र ने अपनी टीका में किया है। तत्तत् काण्ड की समाप्ति पर तत्तत् ऋषि के लिए हवन का विधान है। जयादि आहुतियाँ इस अवसर पर नहीं होती हैं। अध्याय के उपाकरण में सभी काण्डों के ऋषियों के लिए होम होता है और फिर सदसस्पति के लिए। जयादि आहुतियाँ होती भी हैं, नहीं भी होती हैं। इसी प्रकार समापन के समय भी हवन किए जाते हैं। ये सभी ब्रह्मचारी के व्रत हैं। सुदर्शनाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि वेदव्रत चार ही हैं, इस प्रसंग में अन्य गृह्यसूत्रों में सावित्र सम्मित नाम के जो दो वेदव्रत बताये गये हैं, वे मान्य नहीं, कारण सावित्र सम्मित नाम के काण्डों का अभाव है। उपाकरण का प्रयोग इस प्रकार बताया गया है: श्रावण की पौर्णमासी को आचार्य शिष्यों के साथ प्राणायाम करके, नदी में विधिवत् स्नान करे तथा नौ ऋषियों के लिए तर्पण करे। तब अग्नि के उपसमाधान से आरम्भ कर शिष्यों के साथ नौ आज्य आहुति करे। फिर वे सभी कुशों पर बैठ कर, कुश धारण करते हुए वेद के आरम्भिक चार अनुवाकों का पाठ करें। इसी प्रकार

* इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन।

उत्सर्ग भी होता है। जयादि आहुतियाँ भी होती हैं। कुछ लोगों का मत है कि उपाकरण तथा समापन में जो ऋषि होता है उससे दूसरा सदसस्पति होता है॥ १-२॥

अनाकुला

द्विविधमुपाकरणम्—काण्डोपकरणमध्यायोपाकरणञ्चेति। तथा समापनम्। तथा चान्यपरे वाक्ये दर्शनं 'काण्डोपाकरणे चामातृकस्य काण्डसमापने चापितृकस्ये'ति (आप. ध. १-११--१-२.) अध्यायोपाकरणं तु प्रसिद्धं-श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्येति। (आप. ध. १-९-१०)। तथा समापनं तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरमेत्, इति। (आप. ध. १-९-२०) तत्र द्विविधेऽप्युपाकरणे समाने चर्षिर्यः प्रज्ञायते काण्डानुक्रमण्यां काण्डऋषित्वेन स तत्र देवता। [1]तत्र सदसस्पतिर्द्वितीयः। [2]काण्डऋषये हुत्वा सदसस्पतये होतव्यमित्यर्थः। तत्र प्राजापत्यं सौम्यं आग्नेयं वैश्वदेवमिति काण्डानि। प्रजापतिः सोमोऽग्निर्विश्वेदेवा इति काण्डर्षयः। सारस्वतं नाम सङ्कीर्णानि काण्डानि।

यथाह बौधायनः[3]-पौरोडाशिकं याजमानं होतारो हौत्रं पितृमेध इति सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि प्राजापत्यानि। आध्वर्यवं ग्रहाः दाक्षिणानि समिष्टयजूंष्यवभृथयजूंषि वाजपेयश्शुक्रियाणि सवा इति सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि सौम्यानि। अग्न्याधेयं[4] पुनराधेयं अग्निहोत्रमग्न्युपस्थानमग्निचयनं सावित्रनाचिकेतचातुर्होत्रियवैश्वसृजारुणा इति सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणान्याग्नेयानि। राजसूयः पशुबन्धः इष्टयो नक्षत्रेष्टयो दिवश्येनयोऽपाघाः सत्रायणमुपहोमाः सूक्तान्युपानुवाक्यं याज्या अश्वमेधः पुरुषमेधस्सौत्रामण्यच्छिद्राणि पशुहौत्रमुपनिषद इति सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि वैश्वदेवानीति (बौ. गृ. ३-१-२१-२४.) अस्माकञ्च गृह्यमन्त्रप्रश्नद्वयमप्येकाग्निकाण्डं नाम वैश्वदेवकाण्डे द्रष्टव्यम्। तत्र काण्डोपाकरणे तस्य काण्डस्य ऋषिर्यः तस्मै होमः—प्रजापतये काण्डऋषये स्वाहेति। ततस्सदसस्पतिमद्भुतमिति मन्त्रेण क्रमप्राप्तेन सहितमन्त्रस्वाध्यायार्थं विवाहप्रकरणे पठितः। तस्यैव विनियोगप्रदर्शनार्थं इदं सूत्रमस्मिन् प्रदेशे पठितम्। अन्यथोपनयनानन्तरमेव वक्तव्यं स्यात्।

एवं तस्य तस्य समापने तस्मै तस्मै काण्डर्षये होमः। सदसस्पतये द्वितीयः। न जयादयः, प्रापकाभावात्। सूत्रान्तराश्रयणेन केचिज्जुह्वति। तानीमानि चत्वारि वेदव्रतानि यानि प्रतिकाण्डमुपाकरणानि। यानि समापनानि तानि

---

१ तस्य। २ काण्डऋषिभ्यो।

३ सूत्राणामेषां विवरणमस्मत्कृतकाण्डानुक्रमणिकाव्याख्यायां द्रष्टव्यम्।

४ बौधायनगृह्ये मुद्रितपुस्तके पुनराधेयमिति नास्ति।

व्रतविसर्जनानि। अध्यायोपकारणे तु सर्वेषां काण्डर्षीणां होमः ततस्सदसस्पतेः। जयादयश्च भवन्ति वा, न वा। तत्र काण्डोपाकरणसमापनयोरुदगयनादिप्राप्तेरुपनयनानन्तरं तदानीमेव प्राजापत्यं काण्डमुपाकृत्य श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्य प्राजापत्यस्य काण्डस्याध्ययनम्। तैष्यामुत्सर्गः। [1]तत्रैतावता कालेन प्राजापत्यकाण्डस्य समाप्तौ तेनोत्सर्ग'। अथ सौम्यस्योपाकरणम्। अथ यावदध्यायोपाकरणं तावत् प्राजापत्यस्य काण्डस्य धारणाध्ययनं शुक्लपक्षेषु। कृष्णपक्षेष्वङ्गाध्ययनम्। श्रावण्यामुपाकर्म। अथ सौम्यकाण्डस्याध्ययनम्। तैष्यामुत्सर्गः। काण्डसमापनम्। एवमितरयोः। सर्वत्र उत्सर्जनादूर्ध्वं पूर्वगृहीतस्यांशस्य धारणाध्ययनमङ्गाध्ययनञ्च होमः प्रथमः कल्पः। अथ ये सारस्वतं पाठमधीयते तेषामुपनयनानन्तरं तदानीमेव चत्वारि वेदव्रतानि क्रमेण कृत्वा कालेऽध्यायमुपाकृत्य यथापाठमध्ययनं तैष्यामुत्सर्गः। पूर्ववद्धारणाध्ययनमङ्गाध्ययनं च पुनरुपाकरणमित्यादि। आद्यकल्पे तु केचिदुत्सर्जनं न कुर्वते। ओपाकरणादधीत्य पुनरुपाकुर्वते। अन्ये तूत्सृज्य पुनरधीयते। वेदव्रतानि च यदा कदाचित् कुर्वते। तेषां मूलं मृग्यम्। सर्वेष्वपि पक्षेषु शुक्रियाणां पृथगुपाकरणमुत्सर्जनञ्च।

तत्र प्रयोगः—पर्वण्युदगयन इत्यारभ्याज्यभागान्ते सोमाय काण्डर्षये स्वाहेति सदसस्पतिमिति च हुत्वा जयादिपरिषेचनान्ते मदन्तीरुपस्पृश्येत्येवमादि प्रतिपद्यते। एवमेव पूर्ववत् विसृज्येत्यत्रापि प्रयोगः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

[2]अत्र विषयशुद्ध्यर्थमध्यायस्य च प्राजापत्यसौम्याग्नेयवैश्वदेवाख्यानां काण्डानां च तत्तत्काण्डाख्यव्रतानां चोपाकरणसमापनयोश्च स्वरूपमुच्यते—तत्राध्यायस्योपाकरणं, श्रावण्यां पौर्णमास्यां विहितहोमपूर्वक[3]मध्यायानामारम्भः। समापनं च, तस्य तैष्यां पौर्णमास्यामित्यादिषु होमपूर्वकमेवाध्ययनोत्सर्गः। काण्डानामुपाकरणं तु, क्रमप्राप्ते काले होमपूर्वकमेव तत्तत्काण्डानामध्ययनोपक्रमः। समापनं [4]चैषां तत्तत्काण्डाध्ययने समाप्ते होमपूर्वकमेवोत्सर्गः। ये एते काण्डानामुपाकरणसमापने ते एव व्रतानामिति, न भेदेन, अध्ययनाङ्गत्वात् सर्वेषां ब्रह्मचारिव्रतानाम्। सारस्वतपाठाध्ययने तु काण्डानां सङ्कीर्णत्वेन यथाकाण्डमध्ययनासम्भवात्, व्रतान्येवोदगयने काण्डवदेकैकशः उपाकृत्य[5] संवत्सरं चरित्वा विधिवदुत्सृजेत्। चत्वार्येव च वेदव्रतानि, न तु गृह्यान्त-

---

१ पंक्तिरियं क. ख. पुस्तकयोः 'पृथगुपाकरणमि'त्यनन्तरं दृश्यते।

२ ट—अथ.

३ क—मध्ययनारम्भः.

४. ट—च तेषां.।

५. क—संवत्सरं संवत्सरं.।

रोक्ते सावित्रसम्मिताख्ये वेदव्रते, सावित्रसम्मिताख्यकाण्डयोरभावात्। 'चौलोपनयनं. चत्वारि वेदव्रतानि, (गौ. ध. ८-१५) इति गौतमवचानाच्च।

तथा विषयशुध्यर्थमेव प्रयोगभाष्यमल्पभेदमेव लिख्यते। आपस्तम्बदर्शनानुगतोपदेशेनाध्यायोपाकरणादीनां कर्मोच्यते। तत्र तावदध्यायोपाकरणस्य श्रावण्यां पौर्णमास्यां आचार्यश्शिष्यैस्सह कृतप्राणायामोऽध्यायमुपाकरिष्य इति सङ्कल्प्य महानद्यां विधिवत् स्नात्वा पवित्रपाणिः नव ऋषीन् तर्पयेत्—[1] 'प्रजापतिं काण्डऋषिं तर्पयामि। सोमं काण्डऋषिं तर्पयामि। अग्निं काण्डऋषिं तर्पयामि। विश्वान् देवान् काण्डऋषींस्तर्पयामि। सांहितीर्देवता उपनिषदस्तर्पयामि। याज्ञिकीर्देवता उपनिषदस्तर्पयामि। वारुणीर्देवता उपनिषदस्तर्पयामि। ब्रह्माणं स्वयंभुवं तर्पयामि। सदसस्पतिं तर्पयामि—इति। ततोऽग्नेरुपसमाधानाद्यग्निमुखान्ते अन्वारब्धेष्वन्तेवासिषु नवा[2]ज्याहुतीर्जुहोति—'प्रजापतये काण्डऋषये स्वाहा। सोमाय काण्डऋषये स्वाहा। अग्नये काण्डऋषये स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः काण्डऋषिभ्यः स्वाहा। साँहितीभ्यो देवताभ्य उपनिषद्भ्यः स्वाहा। याज्ञिकीभ्यो देवताभ्य उपनिषद्भ्यः स्वाहा। वारुणीभ्यो देवताभ्य उपनिषद्भ्यस्स्वाहा। ब्रह्मणे स्वयंभुवे स्वाहा'। सदसस्पतिमित्येतयर्चा नवमीमाहुतिं जुहोति। तत आचार्यप्रमुखाः दर्भेष्वासीना दर्भान् धारयमाणा वेदस्यादितश्चतुरोऽवराध्यानुवाकानधीयीरन्। अथ जयादि परिषेचनान्ते ब्राह्मणतर्पणम्। एवमे[3]वोत्सर्गो, न ततोऽधिकं [4]स्मृत्यन्तरोपसंहारेणापि, किन्तु यथापस्तम्बीयं सूत्रम्। तथानादितो वेदस्यानुवाकानामध्ययनम्। जयादयस्तु भवन्ति। सौम्याहूते काण्डोपाकरणसमापनयोश्च न सूक्तोपहोमदेवतोपस्थानजयादयः। सौम्यस्यैव सूक्तजयादयः। एवमापस्तम्बमत एवावस्थिताः केचित् कुर्वते यथोक्तम्॥

अथ प्राजापत्ये व्रते पूर्ववत् स्नात्वा सोमाग्निविश्वेदेववर्ज्यानां तर्पणम्। अग्निमुखान्ते चान्वारब्धे व्रतिनि जुहोति–प्रजापतये काण्डऋषये स्वाहा। 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (तै. ब्रा. २-८-१-२.) इति सूक्तेन प्रत्यृचं षडाहुतीः, चतस्र उपहोमाहुतीः साँहितीभ्य इत्यादिभिरेव, सदसस्पतिमित्येतयैव सदसस्पतिं च। अथ व्रती उपस्थेयदेवता अभिसन्धायाग्निपुरोगाश्चतस्रो देवता उपतिष्ठते। 'अग्ने व्रतपते काण्डऋषिभ्यः प्राजापत्यं व्रतं चरिष्यामि,

---

१. ट—प्रजापतिं काण्डऋषिं तर्पयामि. सोम, अग्नि, विश्वान् देवान्, साँहिताः, याज्ञिकीः, वारुणीः, ब्रह्माण, सदसस्पतिम्'।

२. ट—नवाहुतीर्जुहोति प्रजापतये काण्डऋषये स्वाहेत्यादि सदसस्पतिमित्यन्तम्।

३. ङ ज—वोत्सर्गः। ४. क—स्मृत्युपस.।

तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। वायो व्रतपते, आदित्य व्रतपते, व्रतानां व्रतपते काण्डऋषिभ्यः, प्राजापत्यं व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्,' (तै. आ. ४-४१-३) इत्येतैश्चतुर्भिः यथादैवतम्[1]। ततो जयादि, ब्राह्मणतर्पणं च। एवमेव[2] समापने प्रयोगः [3]संवत्सरे संवत्सरे पर्यवेते। तत्रोपस्थानमन्त्रेषु अचारिषमशक[4]मराधीति विशेषः। केचित्—सौम्ये केशश्मश्रुवापनस्य दृष्टत्वात् प्राजापत्यादिष्वपीच्छन्ति॥

एवमेवाग्नेये वैश्वदेवे च। अग्नये काण्डऋषये स्वाहा; 'अग्ने नये' (तै. ब्रा. २-८-३.) ति[5] षडृचं सूक्तम्, ; 'अग्ने व्रतपते काण्डऋषिभ्यः आग्नेयं व्रतं चरिष्यामी' त्याग्नेये विशेषः। विश्वेभ्यो देवेभ्यः काण्डऋषिभ्यः स्वाहा 'आ नो विश्वे अस्क्रागमन्तु' (तै. ब्रा. २-८-६-३) इति षडृचं सूक्तम्; वैश्वदेवं व्रतं चरिष्यामो' ति वैश्वदेवव्रते विशेषः॥

[6]सोमस्य काण्डोपाकरणसमापने शुक्रियकल्पोक्ते। [7]अत्राप्युक्तं यत्तदुच्यते—पूर्ववदुपाकृत्याग्नेरुपसमाधानाद्यग्निमुखान्ते, सोमाय काण्डऋषये स्वाहा। 'सोमो धेनु' (तै. ब्रा. ३-९-२-१.) मिति षडृचं सूक्तम्। उपहोमान् सदसस्पतिं च हुत्वा, एवं पूर्ववदुपाकृत्य, मदन्तीरुपस्पृश्य प्रथमेनानुवाकेन शान्तिं कृत्वा चतस्र औदुम्बरीस्समिधो घृतान्वक्ता अभ्यादधाति 'पृथिवी समित्' (तै. आ. ४-४१-१०) इत्यादिभिः। अथ देवतोपस्थानम् 'अग्ने व्रतपते काण्डऋषिभ्यः सौम्यं व्रतं चरिष्यामि' इत्यादिभिः। ततः प्रभृति शुक्रियमन्त्रब्राह्मणानुवाकानां प्रथमपदानि 'युञ्जते' (तै. आ. ४-२.) 'सविता' (तै. आ. ५-१२.) इति वाभिव्याहार्य वाचयित्वा जयादि[8] प्रतिपद्यते। परिषेचनान्तं कृत्वा मदन्तीरुपस्पृश्य, उत्तमेनानुवाकेन शान्तिं कृत्वा ततस्सम्मीलनादि यथासूत्रम्। श्वोभूते 'वयः सुपर्णाः' (तै. आ. ४-४२-३) इत्यादित्योपस्थानान्ते ब्राह्मणभोजनम्। अथास्य स्वाध्यायविधिः शुक्रियकल्प एवोक्तः। एवं समापने। विशेषस्तु 'द्यौस्समिदादित्य व्रतपते' इत्याद्यावृत्ता. समिदाधानोपस्थानमन्त्राः। उत्तमेनानुवाकेन शान्तिं कृत्वा गुरवे वरं दत्वा केशश्मश्रु वापयित्वा ब्राह्मणभोजनम्।

अथ सूत्रमाक्षिप्यते—ननु-'उपाकरणे समापने च ऋषिर्यः प्रज्ञायते' इति

---

१. ट—सानुषङ्गमुपस्थायेत्यधिकम्। २. ट-समापनेऽपि. ३. ट—पूर्णे संवत्सरे.
४. ट-कं तन्मे ऽराधि. ५ सूक्तेन प्रत्यृचे षडाहुती, ६. ट—सौम्यस्य।
७. ट—तत्रापि.।
८. ख. ग. ङ. ञ—नाम प्रभृतिव्याहरणम्. इत्यधिकम्। ट जयादि-प्रभृति परि।

यः प्रजापत्यादीनामन्यतमः काण्डानुक्रमण्यां काण्डऋषित्वेन समाम्नायते, स ऋषिः देवतेति व्यर्थमेवेदं सूत्रम् ।

काण्डोपकरणेष्वेतान् पुरस्तात्सदसस्पतेः ।

जुहुयात् काण्डसमाप्तौ च श्रुतिरेषा सनातनी ॥ (काण्डा. २-११)

इति काण्डानुक्रमण्यां काण्डर्षिदेवतात्वस्य सिद्धत्वात् । सत्यम्, अत एव प्रजापत्यादयश्चत्वारः प्रधानहोमदेवताः; साँहित्यादयस्स्वयम्भुपर्यन्ताश्चत्वार उपहोमदेवताः । तेनैते चत्वारस्सर्वकाण्डानामुपाकरणसमापनयोरनुवर्तन्ते प्रधानानुवर्तित्वादङ्गानामित्येव परं सूत्रम्, न देवतात्वविधिपरम् ॥ १ ॥

ननु-सदसस्पतिरध्यायोपाकरणसमापनयोर्नवमः । काण्डोपाकरणसमापनयोष्षष्ठः । एवमयमद्वितीयोऽपि किमर्थं द्वितीय इत्युच्यते ? । द्वितीयस्य स्विष्टकृतः स्थानेऽयं सदसस्पतिर्भवेदित्येवमर्थम् । इदमर्थमेव च पूर्वत्र 'अग्निस्स्विष्टकृद्द्वितीयः' (आप. गृ. ७-७) इत्युक्तम् । उपाकरणसमापनयोराज्यहविष्कयोः स्विष्टकृदेव नास्ति, कथं तत्स्थाने सदसस्पतिविधिः ? इति[1] चेत्—

अनेनैव वचनेनास्य प्रसङ्गो विधीयते, यथा अग्निहोत्रे द्वितीयस्या आहुतेश्शातपथेन ब्राह्मणेन । तेनाग्नेरुत्तरार्धपूर्वार्धेऽस्मै होमः । एतद्विस्मरणे स्विष्टकृल्लोपप्रायश्चित्तं च । अयं च होमो लिङ्गक्रमाभ्यां 'सदसस्पतिमद्भुतम्' इत्येतया होतव्य इति स्पष्टत्वात् सूत्रकारस्यानादरः ॥

केचित्—'उपाकरणे समापने च यः काण्डऋषिः प्रज्ञायते तस्य द्वितीयस्सदसस्पतिः । काण्डऋषेरुपरिष्टादयं मन्त्रस्सदसस्पतिर्विनियुज्यते, न तु विवाहे, उद्दीप्यस्वेति ऋग्द्वयमिव[2] । विवाहमध्ये पाठस्त्वध्ययनविध्यर्थः' इत्येवं सदसस्पतिमन्त्रस्य विषयज्ञापनव्याजेन एतयोः कर्मणोः प्रयोगकल्पस्यान्यत्र प्रसिद्धस्यात्राप्रसिद्धत्वात् अवश्याश्रयणीयस्य इह शास्त्रेऽभ्यन्तरीभावोऽस्य सूत्रस्य प्रयोजनम्, ततश्च क्रियाप्रवृत्तिरिति । तन्न; सूत्रस्थस्य सदसस्पतिशब्दस्य मुख्यार्थदेवतापरत्वसम्भवेऽपि मन्त्रप्रतीकं लक्षयित्वा तेन लक्षितेन मन्त्रलक्षणाया अयुक्तत्वात्, उक्तविधयानयोरिहैव प्रयोगस्य प्रसिद्धत्वात्, अन्यत्र प्रसिद्धस्याभ्यन्तरीभाववैयर्थ्याच्च ॥ २ ॥

'यस्याग्नौ न क्रियते न तद्भोक्तव्यम्' (आप. ध. २-१९-११.) इति धर्मशास्त्रवचनात् शरीरस्थित्यर्थमपि भोजनं द्विजस्य वैश्वदेवशेषेणैव भवितव्यम् । चतूरात्रमहूयमानोऽग्निर्लौकिकस्सम्पद्यते' इति वचनादहुतेऽग्निहोत्रे सर्वक्रत्वर्थोऽग्निर्लौकिकस्स्यात् । ततश्च ज्वरादिभिरुपद्रवे सत्यपि वैश्वदेवाग्निहोत्रादेः,

---

१. ट, ड-चेत् ; न ।   २. ज—मेव

तत्प्रायश्चित्तानां वा होमानामवश्यकार्यत्वादृत्विगन्तरालाभे सत्यपि द्वयोरपि स्त्र्यनुपेतयोः येन केनचित् प्रकारेण मन्त्राङ्गलोपेनापि तत्र प्रसक्तिः। तथा वैश्वदेवस्य श्राद्धादिषु 'अथ गृहमेधिनो यदशनीयस्य होमा बलयश्च' (आप. ध. २-३-१२.) इति वचनात्, 'सुवर्चका[1] यवक्षाराभ्यां लवणेन चावरान्नेन च कोशधान्यापरनाम्ना माषादिना तिलव्यतिरिक्तेन संसृष्टस्यापि भवति हविषो होमे प्रसक्तिः। तदुभयनिषेधार्थमाह—

स्त्रियानुपेतेन क्षारलवणावरान्नसंसृष्टस्य च होमं परिचक्षते ॥ ३ ॥

अनु०—स्त्री के द्वारा किए गए या किसी ऐसे पुरुष के, द्वारा जिसका उपनयन संस्कार नहीं हुआ है, किये गये यज्ञ कर्म को, नमक या खारे पदार्थ से मिश्रित होम वाले यज्ञ को, अथवा ऐसे यज्ञ को जिसके होम में निकृष्ट अन्न मिला हो, गर्हित ठहराया गया है ॥ ३ ॥

टि०—यह निषेध शिष्ट लोगों के अनुसार है। आश्वलायन गृह्य में "पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत् स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वा' का निषेध कर यह शंका दूर की गयी है कि क्या पत्नी या पुत्री औपासन होम कर सकती है? । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी कहा गया है: 'न स्त्री जुहुयात् नानुपेतः" (२. १५. १५, १६) ॥३॥

अनाकुला

पाकयज्ञाधिकारे सर्वत्रायं प्रतिषेधः श्राद्धादिष्वप्यवरान्नानि[2] कोशीधान्यानि माषादीनि कृष्णधान्यानि चणककोद्रवादीनि। परिचक्षते वर्जयन्ति शिष्टाः[3]। 'न स्त्री जुहुयात्। नानुपेतः। न क्षारलवणहोमो विद्यते' इति [4]प्रतिषेधेनैव सिद्धे उत्तरार्थोऽयं प्रतिषेधः। किञ्च 'पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत् स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वे' (आश्व. गृ. १-९-१) ति आश्वलायनवचनेन पत्न्यादीनामौपासनहोमप्राप्त्याशङ्कायां प्रतिषेधः ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्त्रिया अनुपेतेन अनुपनीतेन च होमं होममात्रं श्रौतं स्मार्तं च शिष्टाः परिचक्षते वर्जयन्ति यस्मात् तस्मादेव ताभ्यां न होतव्यमिति वाक्यशेषः। होममिति च सामान्याभिधानेन श्रौतहोमेऽपि स्त्र्यनुपनीतौ शिष्टाः वर्जयन्तीति ज्ञापनात् गार्ह्याधिकारापवादः। क्षारेत्यादि व्याख्यातप्रायमेव। यत्तु धर्मशास्त्रे 'न क्षारलवणहोमो विद्यते। तथावरान्नसंसृष्टस्य च' (आप. ध. २-१५-१२, १३.) इति तत् 'उदीचीनमुष्णं भस्मापोह्य तस्मिन् जुहुयात्' (आप.

१ क. ज—सर्वचिका. २. कुलुत्थादीनि ३. ङ.- न कर्तव्य इत्यर्थ इत्यधिकम्। ४. ग. सामयाचारिकेषु यः प्रतिषेधः तेनैव सिद्धे।

ध. २-१५-१४.) इति विधानार्थोऽनुवादः। यदपि तत्रैव 'न स्त्री जुहुयात् नानुपेतः' (आप. ध. २-१५-१५, १६.) इति तत् क्षारादि यथोष्णभस्मनि हूयते, तथा तस्मिन्नपि स्त्र्यनुपनीताभ्यां न होतव्यमिति निषेद्धुम् ॥ ३ ॥

अस्य प्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवमाह—

यथोपदेशं काम्यानि बलयश्च ॥ ४ ॥

अनु०—विशेष इच्छाओं से किए जाने वाले काम्य कर्म वाले यज्ञ तथा बलियज्ञ को विहित विधि के अनुसार करना चाहिए (तथा पिछले नियम अर्थात् स्त्री आदि द्वारा कर्म के प्रतिषेध पर विचार नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

टि०—स्त्रियों और अनुपनीत के विषय में प्रतिषेध का उपर्युक्त नियम काम्य कर्मों के संबन्ध में लागू नहीं होता। काम्य कर्म और बलियाँ करने का नियम उनके लिए भी है। तात्पर्यदर्शन के अनुसार काम्य कर्मों में लवण, क्षार आदि के वर्जन का नियम नहीं है। बलियों में भी क्षारादि का निषेध नहीं है। भोज्य सामग्री की बलि में नमक आदि हो सकता है ॥ ४ ॥

अनाकुला

योऽयं स्त्र्यादीनां प्रतिषेधः स काम्येषु कर्मसु नादरणीयः यथोपदेशमेव तानि कर्तव्यानि। तथा बलयश्च यथोपदेशमेव कर्तव्याः। सिध्यर्थे यदस्य गृहे पण्यं स्यादिति काम्योदाहरणम्। एवमत ऊर्ध्वं यदशनीयस्येत्यादि बलीनां होमे चोदितस्य स्त्र्यादिप्रतिषेधस्य बलिषु प्रसङ्गाभावात् ज्ञापकमिदं—होमधर्मो बलिषु प्रवर्तत इति। तेन अपरेणाग्निं दक्षिणं जान्वाच्येत्येवमादिर्बलिष्वपि भवति। 'न काम्येषु बलिषु च' इत्येव सिद्धे यथोपदेशमिति वचनमुपदेशाद्देवैषां प्रवृत्तिः स्वशास्त्रेण, शास्त्रान्तरेण वा न प्रतिनिधित्वेन ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'यानि काम्यानि येन प्रकारेणोपदिष्टानि तानि तथैव भवन्ति, नैव तत्र क्षारादिवर्जनम्. 'यदस्य गृहे पण्यं स्यात्' (आप. गृ. २-३-५.) इत्युपदेशस्य गृहशब्देन विशेषितत्वात्। यदि तत्र क्षारादिवर्जनमिष्टं स्यात्, तदा 'यदस्य पण्यं स्या' दित्येतावदेव ब्रूयात्। तथा बलयश्च यथोपदेशमेव। न तु क्षारादिनिषेधः, 'सति सूपसंसृष्टेन कार्याः' (आप. ध. २-३-१९.) इत्यारम्भसामर्थ्यात्। अन्यथा 'गृहमेधिनो यदशनीयस्य होमा बलयश्च' इति वचनादेव क्षारादिव्यतिरिक्तशाकमांसादिसूपसंसृष्टेनान्नेन कार्यास्युः। अत्र च 'यदशनीयस्य होमा बलयश्च' इति होमसाहचर्यात् बलिष्वपि या क्षारादिनिषेधशङ्का सा वार्यते।

१. ट पुस्तके—यानि, येन, तानि, एतेषां द्विरुक्तिः।

केचित्—यथोपदेशं 'काम्यानि बलयश्चेत्यस्मादेव ज्ञापनाद्धोमधर्माणां बलिष्वपि प्रसक्तिरिति। तेषां सर्पबलौ सक्तुनिर्वापे स्वाहाकारो दुर्वारः ॥ ४ ॥

*सर्वत्र स्वयं प्रज्वलितेऽग्नावुत्तराभ्यां समिधावादध्यात् ॥ ५ ॥

अनु०—जब कभी (सभी पाकयज्ञों में) अग्नि में अपने आप लपट निकले तब आगे के दो मन्त्रों "उद्दीप्यस्व" तथा "मा नो हिंसीः" का पाठ करते हुए उस पर समिध रखना चाहिए ॥ ५ ॥

टि०—सभी पाकयज्ञों में जिस अग्नि का प्रयोग किया जाय वह फूँककर या हवा देकर न जलाई जाय, अपितु वह स्वयं ही प्रज्वलित हो। इस कार्य के लिए अगले दो मन्त्रों से दो समिधाएँ अग्नि पर रखे किन्तु 'स्वाहा' शब्द के प्रयोग का नियम नहीं है। प्रस्तरप्रहरण नामके अग्नि कर्म में भी 'स्वाहा' के प्रयोग का नियम नहीं होता ॥ ५ ॥

अनाकुला

सर्वत्र सर्वेषु पाकयज्ञेषु अग्नौ स्वयं प्रज्वलिते धमनादि पुरुषप्रयत्नमन्तरेणेत्यर्थः। एतस्मिन् निमित्ते संप्राप्ते उत्तराभ्यामृग्भ्यां द्वे समिधावग्नावादध्यात् 'उद्दीप्यस्व' 'मा नो हिंसीरि'ति। आदधातिचोदितत्वात् स्वाहाकारो नास्ति। सर्वत्र ग्रहणात् सर्वपाकयज्ञेष्वयं विधिर्भवति। अन्यथा प्रकरणाद्विवाह एव स्यात्। सर्वत्र लौकिके वैदिके गार्ह्ये वाग्नाविति। एककर्मकालेष्वित्यन्ये ॥५॥

तात्पर्यदर्शनम्

सर्वत्र सर्वाचारलक्षणेषु कर्मसु। अन्ये—सर्वदा[2] अकर्मकालेष्वपीति। स्वयं प्रज्वलितेऽग्नौ प्रयत्नमन्तरेणौपासने प्रज्वलिते। उत्तराभ्यां ऋग्भ्यां 'उद्दीप्यस्व जातवेदः' इत्येताभ्यां समिधावादध्यात्। प्रत्यृचमेकैकां समिधमादध्यात्, स्वतस्साधनभेदे क्रियाभेदात्। आदधातिप्रहरतीत्याद्यजुहोतिचोदितेषु न स्वाहाकारो विहितः। प्रस्तरप्रहरणेऽपि 'न स्वाहाकरोति' (आप. श्रौ. ३-६-७.) इत्येतत्, आदधातीत्यादिष्वपि प्रतिषेधदर्शनार्थम्।

अन्ये तु—'न स्वाहाकरोति' इत्येष प्रतिषेधः अजुहोतिचोदितेष्वप्याद-धातीत्यादिषु स्वाहाकारं ज्ञापयतीति ॥ ५ ॥

आपन्मा श्रीः श्रीर्मागादिति वा ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा 'आपन्मा श्रीः' आदि और "श्रीर्मागात्" आदि मन्त्रों का पाठ करते हुए समिध रखे ॥ ६ ॥

---

१. काम्यहोमाः। *इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेनेति 'क' 'ख' पुस्तकयोः। २. ज—अकर्मादि।

अनकुला

एताभ्यां यजुर्भ्यां एते समिधावादध्यादिति मन्त्रविकल्पः ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'उद्दीप्यस्वे'ति ऋग्वेदेन आपन्मेत्येतद्यजुर्द्वयं विकल्प्यते ॥ ६ ॥

एतदहर्विजानीयाद्यदहर्भार्यामावहते ॥ ७ ॥

अनु०—उस दिन को स्मरण रखे जिस दिन पत्नी को अपने घर ले आया हो। (अर्थात् उस नक्षत्र को याद रखे) ॥ ७ ॥

टि०—विवाह के नक्षत्र को स्मरण करने का प्रयोजन यह है कि प्रतिवर्ष उस नक्षत्र में विशेष कर्म करने का विधान है। यह कर्म है "श्वोभूते स्थालीपाकः" (आप. ध. २-१-१०) द्वारा विवक्षित स्थालीपाक। किन्तु अन्य वर्षों में किये जाने वाले इस कर्म में शमियों का प्रयोग नहीं होता है ॥ ७ ॥

अनाकुला

एतदहः एतन्नक्षत्रम्। विजानीयात् न विस्मरेत्। यदहः यस्मिन्नक्षत्रे भार्यां आवहते तत्कुलादानयति। यस्मिन्नक्षत्रे पाणिग्रहणं कृतं तत् न विस्मर्तव्यमित्यर्थः। आवहत इत्यनेनादिपाणिग्रहणं विवक्षितम्। अविस्मरणोपदेशे प्रयोजनं संवत्सरे संवत्सरे तस्मिन्नक्षत्रे कर्मविशेषः। कः पुनरसौ ? 'यच्चैनयोः प्रियं स्यादि' (आप. ध. २-१-७) त्यादि सामयाचारिकेषूपदिष्टः। न चासौ विधिः। पार्वणविशेषो यदि स्यात् तस्योपचारः पार्वणेन व्याख्यात इत्येतदसमञ्जसं स्यात्। अथ स विधिरेवेह कस्मान्नोपदिश्यते ? उच्यते-इहोपदेशे प्रकरणाद्विवाहाङ्गत्वं विज्ञायेत। ततश्च शम्यादयोऽपि विवाहधर्माः स्युः। किञ्च सर्वचरणार्थः तत्रोपदेशः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यस्मिन्नहनि गृहप्रवेशनादि स्थालीपाकान्तं कर्म करोति तदं तदहरवधित्वेन विजानीयात तत आरभ्य त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्येत्यादि कर्तुम्।

केचित् यस्मिन्नक्षत्रे विवाहोऽभूत् तस्य न विस्मरेत्। धर्मशास्त्रे 'श्वोभूते स्थालीपाकः' (आप. ध. २-१-१०) इत्युपदिष्टकर्म प्रतिसंवत्सरं कर्तुम्। तस्य चेहोपदिष्टस्य तत्रोपदेशः-कथं विवाहाङ्गत्वं शम्याश्च मा भूवन्, सर्वचरणार्थता च कथं स्यादिति। प्रकृतत्वादेव च स्थालीपाकादारभ्य त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्येत्यादि भविष्यतीति। तन्नः यथोक्तकर्मान्तरे विधेरेव निरस्तत्वात् 'पार्वणेन' (आप. गृ. ७. २-३) इत्यत्र ॥ ७ ॥

त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या ब्रह्मचर्यं क्षार-

लवणवर्जनं च ॥ ८ ॥

अनु०—इस दिन से वे दोनों तीन रात तक भूमि पर शयन करें, ब्रह्मचर्य धारण करे (संभोग में न प्रवृत्त हों) और नमक मिर्च वाले भोजन से परहेज करें ॥ ८ ॥

टि०—हरदत्त मिश्र के अनुसार क्षारलवण आदि के परहेज का नियम स्थालीपाक से पूर्व, मार्ग में नहीं होता। ब्रह्मचर्य का पालन उसके पहले भी करना आवश्यक होता है। वे दोनों स्थालीपाक के बाद साथ सोवें किन्तु संभोग से विरत रहें। मैथुन आठ प्रकार का बताया गया है और इन सभी से परहेज करने का नियम है। 'सूत्र' में जो 'च' पद प्रयुक्त है उससे सदर्शनाचार्य ने यह अर्थ किया है कि नमक, मसाले आदि तिक्त पदार्थों के अलावा मधु, मांस, दन्तधावन, अञ्जन, अभ्यञ्जन, लेप, माला आदि का भी निषेध विहित है। ब्रह्मचर्य शब्द के प्रयोग से मधु आदि वस्तुओं का निषेध भी अभिप्रेत है। ये सभी निषेध तीन रात के लिए हैं ॥ ८ ॥

अनाकुला

स्थालीपाकादारभ्य त्रिरात्रमुभयोः दम्पत्योः अधश्शय्या नोपरि खट्वादौ। ब्रह्मचर्यं मैथुनवर्जनं,[1] क्षारलवणयोश्च वर्जनं भोजने। तत्र क्षारलवणवर्जनं स्थालीपाकात् प्रागध्वनि न भवति। ब्रह्मचर्यं तु तत्रापि भवति। चतुर्थ्यां समावेशनविधानात् इदं तु ब्रह्मचर्य [2]वचनं दार्ढ्यार्थम्। यद्यपि सहशयनमुभयोः, तथापि मैथुनवर्जने यत्नः [3]कार्य इति ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उभयोर्दम्पत्योः स्थालीपाकादारभ्य त्रिरात्रमधश्शय्या स्यात्, न तु खट्वादौ। नापि पृथक्शय्या, उभयोरिति ग्रहणात्। तथाऽष्टाङ्गमैथुनवर्जनलक्षणं ब्रह्मचर्यं स्यात्। मैथुनस्याष्टाङ्गत्वमपि बृहस्पतिनोक्तम्—

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥'

इति। एतच्च स्थालीपाकात् प्रागप्यध्वनि, 'शेषं समावेशने जपेत्' (आप. गृ. ८–१०.) इत्युत्तरत्र क्रमविधानात्। अत एवात्र सूत्रे शय्यैक्यात् दुर्वारमपि मैथुनमतिप्रयत्नेन वर्जनीयमित्येवमर्थस्तन्निषेधः। तथैव क्षारलवणवर्जनं च स्यात्। चकारान्मधुमांसदन्तधावनाञ्जनाभ्यञ्जनानुलेपनस्रग्धारणानां वर्जनमपि। यद्वा ब्रह्मचर्यपदेनैव मध्वादिसप्तकमपि निषिद्धम्। चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थ एव। सर्वत्र त्रिरात्रमित्येव ॥ ८ ॥

---

१. ग. त्रिरात्रमुभयोर्मैथुनवर्जनमित्यर्थः। अत्र मैथुनवर्जनमिति क्षत्रादिविषयमेव, न ब्राह्मणजातीनाम्। इति 'घ' पुस्तकेऽधिकः पाठः।

२. विधानं।   ३. कर्तव्यः।

तयोश्शय्यामन्तरेण दण्डो गन्धलिप्तो वाससा सूत्रेण वा परिवीतस्तिष्ठति ॥ ९ ॥

अनु० – उन दोनों के शयन (बिस्तरों) के बीच (किसी दूधदार वृक्ष का) डण्डा, गन्ध से युक्त करके, वस्त्र में लपेट कर या सूत से लपेटा हुआ रखा जाता है ॥ ९ ॥

अनाकुला

तयोः दम्पत्योः शय्यामन्तरेण शयनस्य मध्ये दण्डः क्षीरिवृक्षोद्भवः गन्धेन सुरभिणा लिप्तः पुष्पैश्चालङ्कृतः वाससा सूत्रेण वा परिवीतः तिष्ठति स्थापयितव्यः। अन्योन्यसंस्पर्शो मा भूदिति ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

तयोः व्रतस्थयोर्दम्पत्योर्यावत्त्रिरात्रमभिन्ना शय्या तामेवान्तरेण तस्या एव मध्ये, न तु त्रिरात्रादूर्ध्वं नानाशय्यामेकशय्यां चान्तरेणापीति; तयोरिति प्रकृतपरामर्शात्। दण्डो गन्धलिप्तः चन्दनानुलिप्तः गन्धस्य प्रदर्शनार्थत्वात् पुष्पैरप्यलङ्कृतः। वाससा सूत्रेण वा परिवीतस्तिष्ठति स्थापयितव्यः। अस्मिंश्च दण्डे गन्धर्वो विश्वावसुर्भावयितव्यः, 'उदीर्ष्वातो विश्वावसो' इति मन्त्रलिङ्गात्। अत एवायं दण्डो नैयग्रोध औदुम्बर आश्वत्थः प्लाक्षो वा, 'एते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः' (तै. सं. ३-४-८) इत्यर्थवादात् ॥ ९ ॥

'तं चतुर्थ्यापररात्र उत्तराभ्यामुत्थाप्य प्रक्षाल्य, निधायाग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वापरेणाग्निं प्राचीमुपवेश्य तस्याश्शिरस्याज्यशेषाद्व्याहृतिभिरोङ्कारचतुर्थीभिरानीयोत्तराभ्यां यथालिङ्गं मिथस्समीक्ष्योत्तरयाऽऽज्यशेषेण हृदयदेशौ संमृज्योत्तरास्तिस्रो जपित्वा शेषं समावेशने जपेत् ॥ १० ॥

अनु०—चौथी रात के तीसरे भाग में आगे के दो मन्त्रों का "उदीर्ष्वात" आदि का पाठ करते हुए उस डण्डे को उठावे, उसे धोकर अलग रख दे। तब अग्नि के उपसमाधान (अग्नि पर समिध रखने) से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक का कर्म करे, पत्नी पति को पकड़े रहे और पति 'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्यादि मन्त्रों से सात प्रधान आहुतियाँ करे तब जया आदि आहुतियाँ करे और फिर अग्नि के चारों ओर

---

१. इदं सूत्रं सूत्रत्रयं चकार हरदत्तः। 'आज्यभागान्त' इति द्वितीयसूत्रस्यारम्भः, 'परिषेचनान्तमि'ति तृतीयस्य।

जल के परिषेचन तक की क्रियाएँ करे तब पत्नी को अग्नि के पश्चिम में पूर्व की ओर मुख कराके बैठावे और अवशिष्ट आज्य में से (दर्वी द्वारा) कुछ आज्य लेकर उसके सिर पर तीन व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए तथा चौथी बार 'ओम्' कहते हुए छिड़के। अगले दो मन्त्रों 'अपश्यं त्व' आदि द्वारा लिङ्ग के अनुसार वे एक-दूसरे को एक साथ देखें। आज्य के अवशिष्ट अंश से वर पत्नी तथा अपने हृदयप्रदेश पर लगावे तब आगे के तीन मन्त्रों का (प्रजापते तन्वम् आदि का) जप करके पत्नी के साथ संभोग के समय अनुवाक के शेष मन्त्रों 'आरोहोरुम्' आदि का जप करे ॥ १० ॥

अनाकुला

अपररात्रो रात्रेस्तृतीयो भागः उत्तराभ्यामुदीष्वात इत्येताभ्याम्। अत्र प्राप्तस्य निधानस्य विधानं पुनस्तस्मिन् शयने दण्डस्य निधानं मा भूदिति।

उत्तराः सप्त प्रधानाहुतीर्जुहोति-'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्येवमाद्याः। तत्रादितश्चतुर्षु मन्त्रेषु 'त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरि' त्ययमनुषङ्गः। उत्तरे मन्त्रास्त्रयः। आज्यभाग इत्यन्वारम्भकालोपदेशः। जयादि प्रतिपद्यत इति च तन्निवृत्तिः।

तन्त्रशेषं समाप्य ततः तामपरेणाग्निं अग्नेः पश्चात् प्राचीं प्राङ्मुखीं उपवेश्य यो हुतस्याज्यस्य शेषः तस्मादवदाय दर्व्या तस्या वध्वाश्शिरसि व्याहृतिभिरोङ्कारचतुर्थीभिः स्वाहाकारान्ताभिः प्रतिमन्त्रमानयति।

ततः उत्तराभ्यामृग्भ्यां 'अपश्यं त्वे' त्येताभ्यां यथालिङ्गं मिथः अन्योऽन्यं युगपत् समीक्षेते, पूर्वया वधूः उत्तरया वरः ततो वर उत्तरयर्चा 'समञ्जन्त्वि' त्येतया वधूवरयोरुभयोर्हृदयदेशौ समनक्ति तेनैवाज्यशेषेण सकृत् गृहीतेनाज्येन सकृदेव मन्त्रं चोक्त्वा। ततः उत्तरास्तिस्रो जपति 'प्रजापते तन्वमि'त्याद्याः। ततः शेषमनुवाकशेषं 'आरोहोरुमि'त्यादि समावेशने समागमनकाले जपेत्। समावेशनं च तस्मिन्नेवापररात्रे नियमेन भवति। इदमेव समावेशनं मन्त्रवत् नान्यानि। परिषेचनान्तवचनमानन्तर्यार्थम्। परिषेचनान्ते एतदेव कर्म यथा स्यात्। तेन भोजनं प्रागेव भवति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

चतुर्थ्या अपररात्रे इति [1]विवृत्यार्थपाठः। चतुर्थ्या रात्रेः चतुर्थस्याहोरात्रस्यापररात्रे रात्रेरपरत्र तृतीयभागे तं दण्डं उत्तराभ्यां 'उदीष्वात' इत्येताभ्यां उत्थाप्याद्भिः प्रक्षाल्य शयनादन्यत्र निधायाग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते आज्यभागान्ते कृते वध्वामन्वारब्धायां उत्तराः 'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्याद्यास्सप्ताहुतीर्जुहोति। तत्र द्वितीयतृतीययोरपि 'त्वं देवानां' इत्याद्यनुषङ्गः। ततोऽन्वार-

१. ङ—विवृत्य।

म्भवज जयादौ प्रणीता मोचनान्ते कृते अपरेणाग्निं वधूं प्राचीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य हुतशेषादाज्यामादाय तस्याश्शिरसि व्याहृतिभिरोङ्कारचतुर्थीभिस्स्वाहाकारान्ताभिस्सर्वेषामन्ते सकृदानयति। केचित्–प्रतिमन्त्रमिति।

अथोत्तराभ्यां 'अपश्यं त्वा मनसा' इत्येताभ्यां यथालिङ्गं, पूर्वया वधूरुत्तरया वरः, मिथः अन्योन्यं युगपत् समीक्ष्य उत्तरया 'समञ्जन्तु' इत्येतया आज्यशेषेण हृदयदेशौ युगपदङ्गुष्ठ[2]विस्रंसिनीभ्यां समनक्ति, 'समापो हृदयानि नौ' इति द्विवचनलिङ्गात्। अथ उत्तरास्तिस्रः 'प्रजापते तन्वं मे' इत्याद्या जपित्वा शेषमनुवाकशेषं 'आरोहोरुम्' इत्यादिकं समावेशने समावेशनकाले जपेत्। समावेशनं च वध्वा सह मैथुनार्थं शयनम्, 'ऋतुसमावेशने' (आप. गृ, ८–१३.) इत्यृतुलिङ्गात्। एतच्च रागप्राप्तसमावेशनाश्रितं विवाहकर्मार्थं क्रमजपयोर्विधानम्, यथा भोजनपर्यायव्रताश्रितं पय आदिविधानम्।

केचित्–असत्यपि रागे कर्मार्थमस्मिन् क्रमे समावेशनं नियतमेवेति।

समावेशनान्तरेषु तु अकर्मार्थत्वादेव नायं जपः। बौधायनेन तु विकल्पोऽभिहितः 'सर्वाण्युपगमनानि मन्त्रवन्तीति बौधायनो यच्चादौ यच्चर्ताविति शालिकिः' (बौ. गृ. २–७–१२.) इति। अस्मिन्नेव क्रमे यदि दैवादृतुगमनमपि कर्तव्यं स्यात् तदा पूर्वं 'आरोहोरुम्' इत्यादिजपः। ततो 'विष्णुर्योनिम्' इत्यादिभिरभिमन्त्रणम् ॥ १० ॥

[3]अन्यो वैनामभिमन्त्रयेत ॥ ११ ॥

अनु०—अथवा (उनके संभोग में प्रवृत्त होने के पूर्व) कोई दूसरा व्यक्ति अनुवाक के उपर्युक्त शेष मन्त्रों का उस पर पाठ करे ॥ ११ ॥

टि०—उपर्युक्त नियम का विकल्प इस सूत्र में दिया गया है कि दूसरा भी कोई व्यक्ति पति-पत्नी के समागमन के समय विहित मन्त्रों का पाठ करे। तब स्वयं जप न करो। उसके पूर्व वधू जो वस्त्र धारण किये रहेगी उसके स्थान पर उसे दूसरा वस्त्र पहनाकर वर वधू का स्पर्श करे। व्रत के समय दण्ड के बीच में होने से स्पर्श नहीं होता। वर उस वस्त्र को शूर्प के मन्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण को दे। इसी का विधान आगे नवें खण्ड में किया गया है: "वधूवासः उत्तराभिरेतद्विदे दद्यात्"। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी कहा गया है: "सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्" ॥ ११ ॥

अनाकुला

अन्यो वा ब्राह्मणः कश्चित् एनौ जायापती समागमिष्यन्तौ अनुवाकशेषेणाभिमन्त्रयेत। न स्वयं वरो जपेत्। तत्र यत् वधूवासः प्रागनेन परिधा-

१. ट—विमोकान्ते। २. ङ ज.—विस्रंसिका।
३. अन्यो वैनावभिमन्त्रयेत' इति हरदत्तसम्मतः पाठः।

पितं तत् व्रतान्ते विमुच्यान्यत् वासः परिधाय संस्पृशति वधूः। तेन हस्तस्पर्शने दोषदर्शनात् परादेहि शाबल्यमित्येतासु। व्रतचर्यायां तु दण्डेनान्तर्हितत्वादसंस्पर्शः। तद्वासः श्वोभूते परादेहि शाबल्यमित्येताभिश्चतसृभिः ऋग्भिस्सूर्याविदे ब्राह्मणाय वरो दद्यात्। यथा वक्ष्यति-'वधूवास उत्तराभिरेतद्विदे दद्यात्' (आप. गृ. ९-११.) इति आश्वलायनेनाप्युक्तं-'सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्। अन्नं ब्राह्मणेभ्यः' (आश्व. गृ. १-८-१३, १४.) इति॥ ११॥

तात्पर्यदर्शनम्

व्यक्तार्थम्। इदं च 'अहं गर्भमदधाम्' इत्यादि लिङ्गविरोधेऽपि श्रुतेर्बलीयस्त्वात्॥ ११॥

यदा मलवद्वासाः स्यादथैनां ब्राह्मणप्रतिषिद्धानि कर्माणि सँशास्ति 'यां मलवद्वासस'मित्येतानि॥ १२॥

अनु०—विवाह के बाद जब पत्नी पहली बार रजस्वला हो तो ब्राह्मणों में 'या मलवद्वाससम्' आदि के द्वारा रजस्वला के लिए जिन कर्मों का निषेध किया है उनके विषय में शिक्षा दे॥ १२॥

टि०—मासिकधर्म के नियमों के विषय में वधू को उपदेश केवल एक बार ही दिया जाता है, जिस प्रकार ब्रह्मचारी को उपनयन के समय ही एक बार नियमों का उपदेश दे दिया जाता है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है, ',तिस्रो रात्रीर्व्रतं" चरेदञ्जिना वा पिवेत्" इसका भी उपदेश इस अवसर पर किया जाता है। 'या' मलवद्वाससा' से ऋतुस्थान से पूर्व समागम का निषेध, 'यामरण्य' से कहीं जाने का निषेध, 'यां पराची' से पराङ्मुखगमन का निषेध, 'या स्नाती' से ऋतुकाल के तीन दिनों में स्नान का निषेध, 'याऽभ्यङ्क्ते से अभ्यञ्जने लगाने का,'या प्रलिख'क से कंघी करने का, 'याऽऽङ्क्ते' से आँखों में अञ्जन का, 'या दतः' से दातौन करने का, 'या कृणत्ति' से कपास से सूत कातने का निषेध होता है, इसी प्रकार अनेक दूसरे कर्मों के निषेध का नियम भी 'अनाकुला में दर्शाया गया है। नाखून काटने, रस्सी बनाने का भी निषेध है॥ १२॥

अनाकुला

मलवद्वासा इति रजस्वलाया अभिधानम्। यदेतिवचनं विवाहादूर्ध्वमपि प्राप्त्यर्थम्। अन्यथा विवाहमध्य एव स्यात्; प्रकरणात्। संशासनं च प्रथमर्तौ सकृत् भवति। तदेव सर्वार्थं भवति। यथा ब्रह्मचारिणि उपनयने। एनामित्यनुच्यमाने अन्य एतौ संशास्तीत्येवं विज्ञायेत। 'अन्यो वैनावि' ति प्रकृतत्वात्। ब्राह्मणप्रतिषिद्धानीत्युच्यते लोकप्रतिषिद्धान्युपरिशय्यासनादीनि लोकत एव प्रत्येतव्यानीति ज्ञापनार्थम्। कर्माणीति वचनात् कर्मणामेव

शब्दान्तरैरवबोधनम्, न ब्राह्मणवाक्येन संप्रैषः। 'एतानी' तिवचनं 'यां मलवद्वाससमि'त्यादीनां प्रतिषिद्धानां विहितानां च संशासनं यथा स्यात्। तेन 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेदञ्जलिना वा पिबेत्" (तै. सं. २-५-१.) इति विहितयोरपि संशासनं भवति। एवञ्च 'ब्राह्मणप्रतिषिद्धानी' ति प्रतिषिद्धग्रहणमुपलक्षणम्। तत्र 'या मलवद्वाससमि'ति वाक्ये स्नानात् प्राक् समागमप्रतिषेधः। 'यामरण्य' इति देशप्रतिषेधः। स्नातायामपि 'यां पराचीमि'ति पराङ्मुख्या गमनप्रतिषेधः। 'या स्नाती' ति त्रिरात्रमध्ये स्नानस्य प्रतिषेधः। 'याऽभ्यङ्क्ते' इत्यभ्यञ्जनस्य। 'या प्रलिखत' इति शिरसि प्रलेखनस्य कङ्कतादिना। 'याऽऽङ्क्ते' इति चक्षुषोरञ्जनस्य। 'या दतः' इति दन्तधावनस्य। 'या नखानी' ति नखनिकृन्तनस्य। या कृणत्ती' ति कार्पासादेस्तन्तुकर्मणः। 'या रज्जुमि'ति रज्जुक्रियायाः। 'या पर्णेने' ति पर्णनाशनस्य। 'या खर्वेणे' ति खर्वेण पात्रेण। एकदेशविलुप्तं खर्वम्। 'तिस्रो रात्री रि'त्येतेषां प्रतिषेधानां कालनियमः। 'अञ्जलिना वा पिबेदि'त्यादिर्भोजने पात्रविधिः॥ १२॥

तात्पर्यदर्शनम्।

मलवद्वासाः कालनिर्गतेन शोणितेन मलिनं वासो[1] वसनं यस्यास्सा; रजस्वलेत्यर्थः। रूढशब्दत्वाद्यदृच्छया निर्मलवासा अपि यदेयं रजस्वला स्यात्, तदा पतिरेवैनां ब्राह्मणप्रतिषिद्धानि कर्माणि संशास्ति लौकिकभाषया शिक्षयति। कानि तानि ब्राह्मणप्रतिषिद्धानीत्यत आह-'यां मलवद्वाससमि'त्येतानि 'यां मलवद्वाससँ संभवन्ति' (तै. सं. २-५-१-४) इत्येतद्ब्राह्मणचोदितानि, तान्येतान्यपि सर्वाणीत्यर्थः।

अथ तानि सुग्रहार्थं क्रमेणोच्यन्ते-न स्नानात्पूर्वं मैथुनम्। तदेव न स्नानादूर्ध्वमप्यरण्ये। तदेव न स्नातयाऽपि पराङ्मुख्या अनिच्छन्त्या वा। अपूर्णे त्रिरात्रे न स्नानम्। न तैलाभ्यञ्जनम्। न [2] कङ्कतादिना शिरसि लेखनम्। न चक्षुषोरञ्जनम्। न दन्तधावनम। न नखनिकृन्तनम्। न कार्पासादिना तन्तुकरणम्। न रज्जुक्रिया। इत्येतान्येकादश। अथाशनपात्रमञ्जलिरखर्वो वा। खर्वः अल्पः, खण्डो वा दग्धोऽपि वा। ततोऽन्योऽखर्वः। एतच्च व्रतं तिस्रो रात्रीश्चरेत् अत्र चामी मैथुनादिनिषेधा अमैथुनादिसङ्कल्प विधयो वेति भाष्ये न विविक्तम्। न्यायतस्तु 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' (तै. सं. २-५-१) इति वचनात् [3]'नेक्षेतोद्यन्तमस्तंयन्तमादित्यम्' इत्यादि प्राजापत्यविधिवत् सङ्कल्पविधय एव॥ १२॥

---

१. ख—वसाना. २. ङ—कण्टकादिना. ज—करम्भादिना.

३. नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्। इत्यादिषु स्नातकव्रतप्रकरणपठितेषु वाक्येषु निषेधः? सङ्कल्पविधिर्वे? त्याशङ्कय

रजसः प्रादुर्भावात् स्नातामृतुसमावेशन उत्तराभिरभिमन्त्रयते ॥१३॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने अष्टमः खण्डः

अनु०—मासिक धर्म का समय समाप्त होने के बाद पत्नी द्वारा स्नान कर लेने के बाद संभोग के समय आगे वाले "विष्णुर्योनिम्" आदि तेरह मन्त्रों से उसका अभिमन्त्रण करे ॥ १३ ॥

टि०—ऋतुकालीन समागम में भी 'विष्णुर्योनिम्' आदि तेरह मन्त्रों से अभिमन्त्रण का नियम है। मासिक धर्म के नियमों के उपदेश की तरह केवल पहली बार ही यह कर्म नहीं होता। 'स्नाता' से तात्पर्य केवल स्नान से नहीं अपितु अभ्यञ्जन, अंजन आदि मंगल एवं प्रसाधन के कर्मों से भी है। ऋतुकाल का समय रजस्वला होने के दिन से सोलह दिन का होता है। मनु ने भी कहा है: 'ऋतुःस्वाभाविकस्त्रीणां रात्रयःषोडश स्मृताः' (३.४६) ॥ १३ ॥

अनाकुला

रजसः लोहितस्य। ऋतौ यत् समावेशनं तत्र कर्तव्ये, उत्तराभिर्ऋग्भिः 'विष्णुर्योनिमि'त्यादिभिः त्रयोदशभिरभिमन्त्रयेत। 'रजसः प्रादुर्भावादि'ति वचनात् सर्वस्मिन् रजसः प्रादुर्भावेऽभिमन्त्रणं भवति। न संशासनवत् प्रथम एवर्तौ। 'स्नातामि'त्येतत् ब्राह्मणप्रतिषिद्धानां सर्वेषां प्रतिप्रसवार्थम्। स्नातां कृतमङ्गलामित्यर्थः। तेनाञ्जनाभ्यञ्जनान्यपि भवति(न्ति) ॥ १३ * ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायामष्टमः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

रजसः शोणितस्य। प्रादुर्भावात् काले निर्गमात्कारणात्, न मालिन्यादेः। स्नातां पूर्णे त्रिरात्रे स्नातां भार्याम्। ऋतुसमावेशने ऋतुकालीनसमावेशनकाले। ऋतुश्च स्त्रीणां रजोनिर्गमनादारभ्य षोडश दिवसाः,

'ऋतुःस्वाभाविकस्त्रीणां रात्रयःषोडश स्मृताः' (म. स्मृ. ३–४६.) इति मनुवचनात्। उत्तराभिः 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादिभिस्त्रयोदशभिरभिमन्त्रयते। अत्र रजसः प्रादुर्भावात् स्नातामितिवचनाच्चतुर्थेऽहनि प्रायश्चित्तार्थमनया स्नातव्यमेव ॥ १३ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शनेऽष्टमः खण्डः ॥

उपक्रमे व्रतशब्दश्रवणात् तस्य च कर्तव्यार्थकत्वात्, 'नेक्षेते'त्यादौ निषेधबोधने तस्याकर्तव्यत्वेन कर्तव्यानुक्त्योपक्रमभङ्गापत्तेः तदनुग्रहार्थं नेक्षेतेत्यादौ उद्यदादित्यानीक्षणसङ्कल्पो विधीयते इति-निर्णीतं पूर्वमीमांसायां चतुर्थाध्याये प्रथमे पादे तृतीयाधिकरणे। तद्वदत्रापि उपसंहारे व्रतशब्दश्रवणात् तदनुरोधेन पूर्ववाक्यानां सङ्कल्पविधायकत्वमेव युक्तमित्यर्थः।

*खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते चतुर्दश सूत्राणि (१४) सुदर्शनमते तु त्रयोदश (१३)॥

अथ नवमः खण्डः

चतुर्थिप्रभृत्याषोडशीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिश्श्रयसमृतुगमन इत्युपदिशन्ति ॥ १ ॥

अनु० — (पत्नी के मासिक धर्म आरंभ होने के बाद) चौथी रात्रि तथा सोलहवीं रात्रि एवं इनके बीच की सभी युग्म रात्रियाँ (६, ८, १०, १२, १४) में उत्तम सन्तान प्राप्ति के लिए ऋतु गमन की रात्रियाँ होती हैं कहा भी गया है ॥१॥

टि०— पञ्चमी के अर्थ में 'षोडशी' में द्वितीय का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है सोलहवीं तक। रजस्वला तक। रजस्वला होने के बाद की चौथी और सोलहवीं रात्रियों को भी गिना जाता है। विवाह के बाद प्रथम गमन होने पर भी यह नियम होता है। इसमें युग्म रात्रियाँ पुत्रोत्पत्ति के लिए बताई गयी है। ऐसा मनु आदि ने निर्देश किया है ॥ १ ॥

अनाकुला

षोडशीमिति पञ्चम्यर्थे द्वितीया। आषोडश्या इत्यर्थः। आङ्चाभिविधौ। रजसः प्रादुर्भावादारभ्य चतुर्थीषोडश्यौ गृह्येते, प्रकरणात्। चतुर्थीप्रभृत्याषोडश्याः सर्वा रात्रय ऋतुगमनकाला। तत्रापि उत्तरामुत्तरां युग्मां रात्रिं प्रजानिश्श्रेयसं विद्यादिति। ऋतुगमन इति वचनात् वैवाहिके प्रथमगमने सत्यपि ऋतुनिमित्तेनायमुपदेशः प्रवर्तते। चतुर्थ्यां अपाररात्रे नियमेन गमनं भवति। तत्र च शेषं समावेशने जपेत्। उत्तराभिरभिमन्त्रयत इति च गमनमन्त्राणां समुच्चयो भवति। तत्र पूर्वमृतुगमनमन्त्राः। पश्चात् समावेशनमन्त्राः। विपरीतमन्ये ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

चतुर्थीप्रभृतीति दीर्घेणार्थपाठः। चतुर्थीरात्रिमारभ्याषोडशीं; आङ अभिविधौ, द्वियोया च पञ्चम्यर्थे, आषोडश्या इति यावत्। उत्तरामुत्तरां युग्मां रात्रिं प्रति ऋतुगमने ऋतौ मैथुने कृते, प्रजानिःश्रेयसं, प्रजाः पुत्राः तेषां निश्श्रेयसं आयुरादीप्सितगुणसम्पत्तिर्भवतीत्युपदिशन्ति मन्वादयः। एतदुक्तं भवति—त्रयोदशसु रात्रिषु ऋतुगमने शुक्राधिक्ये सति पुत्रा जायन्ते। उत्तरोत्तरासु च युग्मासु यथाक्रमं तरतमभावेन ते सद्गुणाधिका भवन्ति ॥ १ ॥

संस्कारकाण्डे कर्मान्तरव्याख्यानमसङ्गतमपि मन्त्राम्नानक्रमेणैव कार्यमित्युत्तरसूत्रजातं यावत्पटलान्तरमारभ्यते—

अर्थप्राध्वस्य परिक्षवे परिकासने चाप
उपस्पृश्योत्तरे यथालिङ्गं जपेत् ॥ २ ॥

अनु०—किसी कार्य की सिद्धि के लिए निकलने पर छींक या खाँसी आनेपर जल का स्पर्श करे और जिस प्रकार का निमित्त उपस्थित हुआ हो उसके अनुसार आगे के दो मन्त्रों 'अनुहवं परिहवम्' आदि का जप करे ॥ २ ॥

टि०—इस सूत्र में दुर्निमित्त के सम्बन्ध में नियम दिया गया है। यात्रा के समय दुर्निमित्त होने पर जल के स्पर्श का विधान है। ये निमित्त है यात्रा के समय उपस्थित व्यक्तियों का छींकना खाँसना। उस समय स्नान और आचमन भी किया जा सकता है। इन दोनों निमत्तों में कोई एक भी हो तब भी दोनों मन्त्रों का जप किया जाय, ऐसा हरदत्त मिश्र ने निष्कर्ष निकाला है, क्योंकि यथालिङ्ग का नियम यहां लागू नहीं होता। अन्य दुर्निमित्त हैं, अनुहव, किसी का पीछे से बुलाना, किसी और से टोकना (परिहव), परिवाद, छींकना, बुरा स्वप्न, अशुभ वचन, पक्षियों के अमंगलमय शब्द शृगाल आदि का तिरछे रास्ता काटना। इनमें से किसी भी दुर्निमित्त के होने पर दोनों मन्त्रों का जप किया जायगा। विवाह के लिए जाते समय भी इन निमित्तों के होने पर प्रायश्चित्त का विधान है ॥ २ ॥

अध्वानं प्रस्थितः प्राध्वः। अर्थः प्रयोजनम्। यत्किञ्चित् प्रयोजनमुद्दिश्य योऽध्वानं प्रस्थितः, तस्य अर्थप्राध्वस्य। परिक्षवे परिकासने वा दुर्निमित्ते प्राप्ते प्रायश्चित्तं अप उपस्पृश्योत्तरे ऋचौ जपेत् 'अनुहवं परिहवं' इत्येते। परितः क्षवः परिक्षवः। सर्वतः स्थितैर्जनैः कृतक्षवथुः। तथा परिकासनम्। उपस्पर्शनं पाणिना संस्पर्शः, स्नानमाचमनं वा। तत्र यस्मिन् कृते प्रयतो मन्यते तत्र तत् कुर्यात्। यथालिङ्गमित्यनुपपन्नम्। परिक्षवपरिकासलिङ्गाभावात्। अथ पूर्वस्यामृचि परिक्षवशब्द एकदेशविकृतो लिङ्गमित्युच्यते तथाप्युत्तरस्यां परिकासनलिङ्गं नास्त्येव। तस्मादेवं व्याख्येयम्-एतयोर्निमित्तयोरेकस्मिन्नपि सति मन्त्रयोरेतयोर्जपः कार्यः। अन्येषु च मन्त्रलिङ्गप्रतीतेष्वनुहवादिषु दुर्निमित्तेष्वपि। तत्र पृष्ठत आह्वानमनुहवः। सर्वत आह्वानं परिहवः। परिवादोऽभिशंसनम्। परिक्षव उक्तः। दुःस्वप्नः प्रसिद्धः। दुरुदितम् अल्पायुरित्यादि। अनुहूतं परिहूतमिति शकुनेरशोभना वागुच्यते। अशाकुनं अनिमित्तभूतम्। मृगस्य शृगालादेः। अक्ष्णया सृतम् तिर्यग्गमनमपसव्यादि। एतेषामेकस्मिन्नपि निमित्ते द्वयोरपि मन्त्रयोर्जपः कार्यः। परिक्षवपरिकासनयोश्च लिङ्गाभावेऽपि। परिक्षवशब्दस्तु क्षवथुलिङ्गं न भवति, रूपभेदात्। एकदेशविकारस्तु परिक्षवस्यापि संभवति। तन्निमित्ते तु अन्यस्मिन् प्रकरणे एतद्वक्तव्यम्। इह च वचनप्रयोजनं विवाहार्थं गच्छतोऽपि एतेषु निमित्तेषु प्रायश्चित्तमेतत्

यथा स्यादिति। प्रकरणान्तरे तु श्रुतानां विवाहादूर्ध्वमेव प्रवृत्तिः। इदं तु अर्थप्राध्वस्येति वचनात् सर्वार्थं च भवति। प्रकरणात् विवाहेऽपि स्वाध्यायस्थाननियमार्थं च मन्त्रयोरेतयोरिह पाठः॥ २॥

तात्पर्यदर्शनम्

अर्थः प्रयोजनं, धर्मार्थं तदुपकारकाणि। अर्थमुद्दिश्य यः प्रसिद्धमध्वानं प्रस्थितः सोऽर्थप्राध्वः, न तु स्नान, ब्रह्मयज्ञोदक, युग्यघासादिकमुद्दिश्य समोपदेशं प्रति निर्गतः। तस्य परिक्षवे क्षवथौ परिकासने कासे च दुर्निमित्ते जाते अप उपस्पृश्य उपस्पर्शनमाचमनं स्पर्शनमात्रं वा यथातुष्टि कृत्वोत्तरे 'अनुहवं परिहवम्' इत्येते यथालिंगं परिक्षवे पूर्वां, परिकासने चोत्तरां जपेत्। जपत्वाच्चानयोश्चातुस्स्वर्यमेव। अत्र च यथालिंगमित्यनेनैतत् ज्ञापयति-पूर्वया वर्णव्यत्ययेन परिक्षव एव प्रकाश्यः, उत्तरया त्वध्याहृतं परिकासनमेव। यथा चैते ऋचौ क्षवथुकासावेव तात्पर्येण प्रकाशयतः, तथा व्याख्याते भाष्यकारेण।

केचित्-यथालिंगमिति न केवलं परिक्षवे परिकासने चानयोर्जपः, अन्येषु च मन्त्रलिंगप्रतीतेष्वनुहवादिषु दुर्निमित्तेष्वपीति॥ २॥

एवमुत्तरैर्यथालिङ्गं चित्रियं वनस्पतिं शकृद्रीतिं
सिग्वातं शकुनिमिति॥ ३॥

अनु०—इसी प्रकार आगे के "आरात्ते अग्निरस्तु" आदि मन्त्रों का (उस मन्त्र में उल्लिखित लिङ्ग के और वचन के अनुसार) उस समय पाठ करे जब प्रसिद्ध या विशाल वृक्ष, शकृत् का समूह, वस्त्र, द्वारा की गयी हवा तथा अशुभ वचन बोलने वाला पक्षी सामने आवे॥ ३॥

अनाकुला

एवमित्यनेन 'अर्थप्राध्वे' ति च, अप उपस्पृश्ये' ति च, 'जपेदि' ति चापेक्ष्यते। एवञ्च यथालिङ्गवचनं विस्पष्टार्थम्। चित्रियः प्रसिद्धः तत्रार्थप्राध्वः चित्रियं वृक्षमासाद्याप उपस्पृश्य 'आरात्ते अग्निरस्त्वि' ति एतयर्चानुमन्त्रयते। 'नमश्शकृत्सदे' इति शकृद्रीतिमुपतिष्ठेत। 'सिगसी' ति सिग्वातम् अन्यकृतम्। आत्मसंस्पृष्टो वाससा कृतो वातः सिग्वातः। सिगसि नासीति दीर्घान्ते प्राप्ते छान्दसो ह्रस्वः। शकुनिं शुभां वाचमनुमन्त्रयेत 'उद्गातेव शकुने' इत्येतयर्चा अशुभवचने तु प्रागुक्तो जपः। केचिदिदमपि तत्रैवेच्छन्ति॥ ३॥

तात्पर्यदर्शनम्

एवमित्यनेन अर्थप्राध्वोऽप उपस्पृश्येत्याकृष्यते। इहोत्तरैरिति करणविभक्तिदर्शनाद्वनस्पत्यादीनि यथालिङ्गमभिमन्त्रयते। न तु पूर्ववज्जपेत्। चित्रियं

लोकप्रसिद्धम् , चयनमूलं वा । वनस्पतिं पुष्पैर्विना फलवन्तम् । अस्य प्रदर्शनार्थत्वात् वृक्षमप्येवंविधं 'आरात्ते अग्निः' इत्येतयाऽभिमन्त्रयते । 'नमश्शकृत्सदे' इति शकृद्रीतिं शकृत्सन्ततिम् । 'सिगसिनसि' इति सिग्वातम् । सिचो वस्त्रस्य वातस्सिग्वातः । स चान्यकृतः स्वदेहसंस्पृष्टश्चेदमङ्गलः । 'उद्गातेव शकुने' इत्येतया शकुनिमशोभनवाचम् , 'प्रति नस्सुमना भव' इति मन्त्रलिङ्गात् ॥

केचित्—शुभवाचं, अशुभदर्शने तु पूर्वसूत्रेणोक्तो जप इति ॥ ३ ॥

[1]उभयोर्हृदयसंसर्गेप्सुस्त्रिरात्रावरं ब्रह्मचर्यं चरित्वा स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायां स्थालीपाकादुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वा तेन सर्पिष्मता युग्मान् द्व्यवरान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा सिद्धिं वाचयीत ॥४॥

अनु०— वर का मन पत्नी की ओर आकृष्ट न हो तो यदि यह इच्छा हो (वधू के पिता की) कि उन दोनों के हृदय परस्पर प्रेमानुरक्त रहें, तो वह कम से कम तीन रात्रियों तक ब्रह्मचर्य का पालन करे, स्थालीपाक तैयार करके अग्नि के उप समाधान (समिध् रखने से) आरम्भ करके आज्य भाग की आहुति तक की क्रियाएँ करे उसकी पत्नी उसे पकड़े रहे और वह आगे के मन्त्रों से सात प्रधान आहुतियाँ करे; उसके बाद जया आदि आहुतियाँ करे और अग्नि के चारो ओर जल के परिषेचन तक की क्रियाएँ करे । यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को घृत मिलाकर सम संख्या के ब्राह्मणों को और कम से कम दो ब्राह्मणों को खाने के लिए दे और उन्हें भोजन करा कर अपनी सिद्धि के लिए आशीर्वाद पढ़वाये ॥ ४ ॥

टि०—यह वशीकरण कर्म औपासन अग्नि में ही किया जाता है । यह कर्म पुनर्वसु में होता है, क्योंकि पांचवें छठें सूत्र में कहा गया है "स्वस्तिष्येण" । यह कर्म होता है: स्थालीपाक और पाठार्चन । सभी कर्म पार्वण कर्म की तरह होते हैं । चूँकि यह विवाहप्रकरण में आया है अतः एकबार पात्र प्रयोग होता है और शमियों का भी प्रयोग होता है । इसके समय का कोई नियम नहीं है । 'प्रातरग्निम्' आदि सात प्रधान आहुतियों के बाद स्विष्टकृत् के लिए आहुति और अन्त में जयादि आहुतियाँ होती हैं । परिषेचन के बाद पार्वण कर्मों में घृत का व्यवहार होता है । एक ब्राह्मण के भोजन का निर्देश होने पर भी अनेक का अर्थ लिया जाता है । द्व्यवरान् से कमसे कम दो की संख्या विहित है ॥ ४ ॥

---

१. सूत्रमिदं त्रेधा विभक्तं हरदत्तेन……समाधानादि ॥……प्रतिपद्यते ॥…… वाचयीत ॥ इति विभागप्रकारः ।

अनाकुला

यदि वरस्य मनो वध्वां न तुष्येत् अथ तत्सिद्धिकामेन वध्वाः पित्रादिना तपोयुक्तेनेदं कर्म कर्तव्यमज्ञातं वरस्य। वशीकरणार्थत्वात्। औपासने च कर्तव्यम्। तदुक्तं पुरस्तात् ब्रह्मचर्यविधानस्य दृष्टार्थत्वात्। यावता तपसार्थसिद्धिं मन्यते तावत् कर्तव्यम्। पुनर्वस्वोश्चेदं कर्म भवति। 'श्वस्तिष्येण' (आप. गृ.-९-६.) इति वचनात्। किं पुनस्तत् कर्म? स्थालीपाकः, पाठार्चनं च। सर्वं कर्म पार्वणवत्। विवाहप्रकरणे तूपदेशात् सकृत् पात्रप्रयोगः शम्याश्च। कालस्य चानियमः। विवाहप्रकरणे चास्यास्समाप्तिः तच्छेषभूतस्य वासोदानस्योपरिष्टादुपदेशादवगन्तव्या। एवमर्थमेव च तस्योपरिष्टादुपदेशः।

सप्त प्रधानाहुतयः प्रातरग्निमित्येवमाद्याः। ततः स्विष्टकृत्, ततो जयादि।

पार्वणातिदेशाद् एकस्यैव ब्राह्मणस्य भोजने प्राप्ते बहुत्वं विधीयते। तेन स्थालीपाको महान् कर्तव्यः। सर्पिष्मद्वचनं नियमार्थं परिषेचनादूर्ध्वं पार्वणधर्माणां सर्पिष्मत्वमेव भवतीति। तेन 'पूर्णपात्रस्तु दक्षिणेत्येक' इत्येतन्न भवति। सिद्धिं वाचयीत तैर्भुक्तवद्भिः सङ्कल्पसिद्धिरस्त्विति वाचनम्। परिषेचनान्तवचनं कर्तृनियमार्थम्। कथम्? यो होमस्य कर्ता स एव ब्राह्मणभोजनं सिद्धिवाचनं च कुर्यादिति तेन यदुत्तरं कर्म परिकिरणादि तस्य वधूः कर्त्रीति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उभयोर्जायापत्योः 'त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या' इत्यधिकारात्, इहान्वारब्धायामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशाच्च। हृदयसंसर्गं मनसोस्सम्प्रीतिमीप्सुः वध्वा हितैषी पितृभ्रात्रादिरपापोऽपि त्रिरात्रादनूनं यावन्मनस्तोषं ब्रह्मचर्यं चरित्वा तस्यौपासन एव स्थालीपाकश्रपणाद्यग्निमुखान्तं कृत्वा तस्यामन्वारब्धायां स्थालीपाकादवदाय 'प्रातरग्निम्' इत्यादिभिस्सप्तभिर्मन्त्रैः प्रत्यृचं प्रधानाहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते। तदनन्तरं स्विष्टकृदादि तन्त्रशेषं पार्वणवत् समाप्य, तेन हुतशेषेण सर्पिष्मता युग्मान् ह्यवरान् द्वाववरौ संख्यातो येषां तान् ब्राह्मणान् यथालाभं भोजयित्वा तैरेव भुक्तवद्भिः कर्मफलसिद्धिरस्त्विति सिद्धिं वाचयीत। तेन सर्पिष्मतेति च पार्वणसिद्धानुवादो 'युग्मानिति विधातुम् ॥ ४ ॥

श्वस्तिष्येणेति त्रिस्सप्तैर्यवैः पाठां परिकिरति "यदि वारुण्यसि वरुणात्त्वा निष्क्रीणामि यदि सौम्यसि सोमात्त्वा निष्क्रीणामी"ति ॥५॥

---

१. ट—युग्मान् त्र्यवरानिति.।

अनु०—दूसरे दिन जब चन्द्रमा तिष्य नक्षत्र में होने वाला हो तब वह (वधू) पाठ नाग के पौधे के चारों ओर तीन बार सात-सात जौ 'यदि वारुण्यसि वरुणात्त्वा निष्क्रीणामि यदि सौम्यसि सोमात्त्वा निष्क्रीणामि' मन्त्र का पाठ करते हुए बिखेरे ॥ ५ ॥

टि०—'श्वस्तिष्येण' का तात्पर्य है, कल जो कर्म करने होते हैं वे तिष्य नक्षत्र में किये जाते हैं अर्थात् उस दिन का कर्म पुनर्वसू नक्षत्र में होता है। पाठा नाम की एक विशेष प्रकार की ओषधि है ॥ ५ ॥

अनाकुला

श्वो यत् करणीयं कर्म तत्तिष्येण नक्षत्रेण सम्पाद्यत इति कृत्वा पूर्वेद्युस्सिद्धिवाचनान्ते कर्मणि कृते पित्रादिना ऋत्विजा यजमानभूता वधूः यत्र प्रदेशे पाठा तिष्ठति तत्र गत्वा तां पाठां त्रिस्सप्तैः एकविंशत्या यवैः परिकिरति 'वारुण्यसी' त्येताभ्याम्। त्रिस्सप्तैरिति छान्दसो निर्देशः। पाठा ओषधिविशेषः। आथर्वणिकास्तु पाशेत्यधीयते ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पाठोत्थापनादि भर्तृपरिग्रहणान्तं कर्म श्वोभूते परेद्युस्तिष्यो भवतीति कृत्वा पूर्वेद्युः श्वस्तिष्यः पुनर्वसू इत्यर्थः। तस्मिन् नक्षत्रे पित्रादिना सिद्धिवाचनान्ते कर्मणि कृते, अनन्तरं वधूर्यत्र भूमौ [1]पाठास्ति तत्र गत्वा तां पाठां त्रिस्सप्तैः एकविंशत्या यवैः 'यदि वारुण्यसि' इत्येताभ्यां परिकिरति परितो वपति। त्रिस्सप्तैरिति छान्दसं रूपम् ॥ ५ ॥

श्वोभूते उत्तरयोत्थाप्योत्तराभिस्तिसृभिरभिमन्त्र्योत्तरया प्रतिच्छन्नां हस्तयोराबध्य शय्याकाले बाहुभ्यां भर्तारं परिगृह्णीयदुपधानलिङ्गया ॥६॥

अनु०—दूसरे दिन उस पाठ वृक्ष को "इमां खनामि" आदि का पाठ करते हुए खोदकर आगे की तीन ऋचाओं "उत्तानपर्णे" आदि से उसके मूल के दो टुकड़े करके आगे की ऋचा "अहमस्मि" आदि का पाठ करते हुए हाथ इस प्रकार बांधकर रखे कि उसका पति न देख सके और रात्रि को शयन के समय आगे के मन्त्र 'उपतेऽधाम्' आदि का जप करते हुए दो बाहों से पति का इस प्रकार आलिंगन करे कि उन पाठमूलों में एक दूसरे के ऊपर पड़े ॥ ६ ॥

टि०—यही कर्म सपत्नीबाधन अर्थात् सौतों के प्रभाव को कम करने के लिए भी किया जाता है। यह कर्म इस प्रकार किया जाता है कि जिस सपत्नी का बाधन

---

१. ब. ङ—पाठा.।

किया जाता हो वह जान न पावे। यह कर्म स्त्री अपने विवाह से संबद्ध अग्नि में करती है। विवाह के भेद से अलग-अलग अग्नि की स्थापना करने का नियम है, किन्तु कुछ लोग पहले विवाह की अग्नि में ही दूसरे विवाह के भी कर्म करने की व्यवस्था देते हैं ॥ ६ ॥

अनाकुला

कृत्वा परिकिरणमुपोष्य ततः श्वोभूते तां पाठां उत्थापयति खनित्रेण खात्वोत्खिदति उत्तरयर्चा "इमां खनामी"त्येतया। ततस्तामुत्तराभिस्तिसृभिः ऋग्भिः अभिमन्त्रयेत् "उत्तानपर्णे" इत्येताभिः। तस्या मूलं द्वेधा प्रच्छिद्य हस्तयोराबध्नाति उत्तरयर्चा 'अहमस्मी'त्येतया। प्रतिच्छन्नां यथा भर्ता न पश्यति तथेत्यर्थः। उभयत्र मन्त्रस्यावृत्तिः आबध्य ततो रात्रौ शय्याकाले भर्तारं परिगृह्णीयात्। उपधानलिङ्गया ऋचा 'उपतेधामि'त्येतया उत्तरयेति वक्तव्ये उपधानलिङ्गयेति वचनं परिग्रहे विशेषविधानार्थम्। यथा मूलयोः अन्यतरदधस्तादुपधानं भवति इतरच्चोपरिष्टादपिधानं तथा परिग्रहः कर्तव्यः ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

परेद्युर्वधूरेव तां पाठां 'इमां खनामि' इत्येतया खनित्रेणोत्खाय 'उत्तानपर्णे' इत्यादिभिस्तिसृभिरभिमंत्र्य तस्याः मूले द्विधा छित्वा उपायेन भर्तुरदृश्ये कृत्वा 'अहमस्मि सहमाना' इत्येतयाभ्यस्तया स्वहस्तयोराबध्य रात्रौ शय्याकाले 'उपतेऽधाम्' इत्युपधानलिङ्गया बाहुभ्यां भर्तारं परिगृह्णीयात्। उपधानलिङ्गयेति ज्ञापनं च कर्माङ्गम् ॥

केचित्—आबध्य पाठामूलयोर्हस्तयोरुपधानमेकोऽन्यश्चापिधानं यथा स्यात् तथा परिगृह्णीयादिति ॥ ६ ॥

वश्यो भवति ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार वह पति उसके वश में हो जायगा ॥ ७ ॥

अनाकुला

यदि भार्या भर्तरि न रमते तदा नैवैतत्कर्म भवतीति प्रदर्शनार्थमिदं वश्यः पतिर्भवति भार्यायाः, न भार्या भर्तुरिति ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इदं स्पष्टम्। वश्य इति पुल्लिङ्गनिर्देशात् वधूरिह यजमाना ॥ ७ ॥

अस्या अधिकारान्तरसंयोगमाह—

सपत्नीबाधनं च ॥ ८ ॥

अनु०—इसी क्रिया से पत्नी अपनी सौतों पर अधिष्ठित होती है ॥ ८ ॥

अनाकुला

न केवलमुभयोर्हृदयसंसर्गसाधनमेवैतत्कर्म, किं तर्हि? सपत्नीबाधनञ्च

सपत्न्यनेन बाधितुं शक्येत्यर्थः। अस्मिन्नपि पक्षे औपासन एवाग्निः योऽस्या विवाहेन सम्पादितः या सपत्नीं बाधते। विवाहभेदाध्यग्निस्संसृज्यते। तथा च राजसूय इत्युक्तं-"तस्या औपासने प्रतिनिहितम्" (आप. श्रौ. १८-१६-१४) इति। तथा-अग्निसंसर्गो बौधायनीयेऽभिहितः संसर्गादूर्ध्वमपि तस्मिन्नेव भवति। यथा बाध्यमाना सपत्नीं न जानाति। केचित् पूर्वस्मिन्नेवाग्नौ द्वितीयं विवाहमिच्छन्ति। तेषामपि तस्मिन्नेव कर्म ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सपत्नी बाध्यते येन तत् सपत्नीबाधनम्। एतत्कर्म सपत्नीबाधनमपि भवति। अधिकारान्तरं च युक्तम्; य एकया संसृष्टहृदयोऽप्यन्यां तत्सपत्नीं भार्यां तदधीनधर्मादावपि लोभान्न बाधते सोऽपि कथं नु नाम तदधीनधर्मा-[1]द्युपेक्षयापि तां बाधेतैवेत्येवमर्थत्वादस्य कर्मणः ॥ ८ ॥

अथान्यदपि सपत्नीबाधनमाह—

एतेनैव कामेनोत्तरेणानुवाकेन सदादि-
त्यमुपतिष्ठते ॥ ९ ॥

अनु०—इस प्रयोजन के लिए वह प्रतिदिन अगले अनुवाक का पाठ करते हुए सूर्य की पूजा करें ॥ ९ ॥

टि०—सपत्नीबाधन का प्रयोग सिद्ध हो जाने पर भी जब तक वह अविधवा है तब तक 'उदसौ सूर्यो अगात्' अनुवाक द्वारा प्रतिदिन सूर्य की पूजा करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

एतेनैव सपत्नीबाधनेन कामेन उत्तरेणानुवाकेन "उदसौ सूर्यो अगात्" इत्यनेन सदा अहरहः आदित्यमुपतिष्ठते। सदार्थक एवकारः पौनर्वाचनिकः ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एतस्मिन्नेव कामे वधूः 'उदसौ सूर्यो अगात्' इत्यनुवाकेन प्राग्भोजनादहरहरादित्यमुपतिष्ठते। सदेति वचनं च सिद्धेऽपि सपत्नीबाधने, यावदविधवा तावन्नित्यमिदमुपस्थानमित्येवमर्थम्।

केचित्—इदमुपस्थानं पूर्वाधिकारशेषो वा, सपत्नीबाधनकामे कर्मान्तरं वेति ॥ ९ ॥

यक्ष्मगृहीतामन्यां वा ब्रह्मचर्ययुक्तः पुष्करसंवर्तमूलैरुत्तरैर्य-
थालिङ्गमङ्गानि संमृश्य प्रतीचीनं निरस्येत् ॥ १० ॥

---

१. ब ङ–द्यपेक्षयापि

अनु०—यदि पत्नी राजयक्ष्मा से पीड़ित हो या अन्य रोग से पीड़ित हो तो ब्रह्मचर्य रखनेवाला व्यक्ति ऐसे कमल के मूलों से जिसकी पंखड़ियां बन्द हों, (अथवा उसकी पंखुड़ियों और मूल से) "अक्षीभ्यां ते" आदि छः मन्त्रों का पाठ करते हुए मन्त्र में निर्दिष्ट अंग को एक-एक मन्त्र से रगड़कर उन (कमलदलों और मूलों) को पश्चिम दिशा की ओर फेंक दे ॥ १० ॥

टि०—इस सूत्र के अनुसार विवाह के समय वधू ने जो वस्त्र धारण किये हों वह इस प्रश्न में पढ़े गये मन्त्रों को अर्थपूर्वक जानने वाले ब्राह्मण को अर्पित करे। कुछ लोग 'एतद्विदे' से इस भैषज्यकर्म के ज्ञाता से अर्थ लगाते हैं। 'परादेहि' आदि मन्त्रों में विवाह के समय वधू द्वारा धारण किये गये वस्त्र के स्पर्श को निन्दित ठहराया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में इस सम्बन्ध में कहा गया है: "चरितव्रतः सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्" १. ८. १३। वधू के वस्त्र को बिना स्पर्श किये ही देना चाहिए, इसे सुदर्शनाचार्य ने स्पष्ट किया है: 'विवाह काले वध्वा यदाच्छादितं वासस्तद्विभुभ्यासंस्पृशन्नेव""तस्मै दद्यात्' ॥ १० ॥

अनाकुला

यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः। तेन गृहीतां भार्यां अन्यां वा स्वां स्त्रियं मातृप्रभृतिं ज्ञात्वा भैषज्यमिदं कर्तव्यम्। किं तत्? उच्यते—ब्रह्मचर्येण युक्तः पुष्करस्य संवर्तमूलैः परिमण्डलाकारैः मूलैः। संवर्तमूलैश्चेत्यन्ये। संवर्तिका नवदलमिति नैघण्टुकाः। उत्तरैर्मन्त्रैः "अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां" इत्यादिभिः यथालिङ्गं तस्या अक्ष्यादीन्यङ्गानि संमृश्य प्रतीचीनं यथा तथा निरस्येत्। यथालिङ्गवचनात् प्रतिमन्त्रं सम्मर्शनं निरसनं च। एकैकेन मूलेन सम्मर्शनम्, बहुवचनस्य सर्वापेक्षत्वात्। आन्त्रादीनामन्तर्गतत्वात् बहिस्तत्प्रदेशे सम्मार्जनम् ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

राजयक्ष्मणा गृहीतां, अन्यां वा राजयक्ष्मणोऽन्यैः कुष्ठादिभिर्गृहीतां वा वधूं तद्धितैषी उक्तलक्षणब्रह्मचर्ययुक्तः पुष्करस्य पद्मस्य संवर्तिकाभिर्दलैर्मूलैश्च 'अक्षीभ्यां ते' इत्याद्युत्तरैः षड्भिर्मन्त्रैः यथालिङ्गं मन्त्रलिङ्गप्रतिपन्नानि भाष्ये व्याख्यातान्यक्ष्यादीन्यङ्गानि संमृश्य प्रतिमन्त्रं तानि प्रतीचीनं निरस्येत्। एतेन भैषज्येनागदा स्यादिति तात्पर्यम् ॥

केचित्—यक्ष्मगृहीतां भार्यां अन्यां वा मात्रादिं पुष्करस्य संवर्तैः परिमण्डलाकारैः मूलैरिति ॥ १० ॥

वधूवास उत्तराभिरेतद्विदे दद्यात् ॥ ११ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने नवमः खण्डः ॥

समाप्तस्तृतीयः पटलः ॥

अनु०—अगले "परा देहि" आदि चार मन्त्रो का पाठ करते हुए वधू के विवाह के समय पहने गये वस्त्र को किसी ऐसे ब्राह्मण को दान करे, जो (इस प्रश्न में पढ़े गये मन्त्रो को अर्थपूर्वक) जानता हो ॥ ११ ॥

अनाकुला

विवाहकाले यत् वासः परिधापितम्, तत् एतद्विदे ब्राह्मणाय दद्यात्, योऽस्मिन् प्रश्ने पठितान् मन्त्रान् सार्थान् वेद तस्मै। केचित्–भैषज्यशेषमिदं मन्यन्ते, आनन्तर्यात्। तेषां वधूवास इति विशेषणमन्यस्याः स्त्रियाः यक्ष्मगृहीतायाः वाससो दाननिवृत्त्यर्थम्। एतद्विद इति च भैषज्यकर्मकृत इत्यर्थः। मन्त्रेषु तु परादेहि इत्यादिषु विवाहकाले परिहितस्य वधूवाससः स्पर्शनिन्दा। सूर्याविदे ब्राह्मणाय तद्दानं च दृश्यते। कल्पान्तरे च तदुक्तम्–"चरितव्रतः सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्" (आश्व. गृ. १. ८. १३.) इति। तस्मात् भैषज्यशेषत्वमनुपपन्नम्। यत्पुनरुक्तं आनन्तर्यादिति, तत्र कारणमुक्तमेव। कथम्? एवमन्तं विवाहप्रकरणं स्यादिति ॥ ११ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामापस्तम्बगृह्यवृत्तावनाकुलायां नवमः खण्डः ॥

तृतीयश्च पटलः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यस्या वध्वा इदं भैषज्यं क्रियते तस्या वासः। एतद्विदे एतत्कर्म समन्त्रार्थं यो वेत्ति तस्मै 'परा देहि' इत्यादिभिश्चतसृभिर्दद्यात्।

केचित्—विवाहकाले वध्वा यदाच्छादितं वासस्तद्विमुच्यासंस्पृशन्नेव पञ्चम्यां 'परा देहि' इत्यादिभिश्चरितव्रताय एतद्विदे सूर्याविदे, य एतान् मन्त्रान् सार्थान् वेद तस्मै दद्यात्। असंस्पर्शश्च 'क्रूरमेतत् कटुकमेतत्' इति लिङ्गात्। अस्य च समावेशनानन्तरमुपदेष्टव्यस्य इहोपदेशो हृदयसंसर्गार्थे कर्मणि शम्याज्ञापनार्थमिति। नेदं युक्तम्, सन्निहितकर्मपरित्यागेन वासोदानस्य अतिव्यवहितविवाहार्थज्ञानानुदयात्, अस्मदीयानामाचाराभावाच्च ॥ ११ ॥

इत्थं सुदर्शनार्येण साहसैक[1]सवाश्रयात्।
कृच्छ्रात्तीर्णोऽतिगूढार्थस्तृतीयपटलोदधिः ॥ १ ॥
अत्रानुक्तं दुरुक्तं वा मतेर्मान्द्याच्छ्रुतस्य[2] वा।
सन्मार्ग[3]प्रवणत्वेन तत् क्षमध्वं विपश्चितः ॥ २ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने नवमः खण्डः ॥

तृतीयश्च पटलः समाप्तः ॥

---

१. ख—व्यपा. २. क—च. ३. क—प्रवणं चैतत्.

खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या त्रयोदश (१३) सुदर्शनमते एकादश (११)

अथ चतुर्थः पटलः

दशमः खण्डः

अथ मन्त्राम्नानक्रमप्राप्तमुपनयनव्याख्यानं प्रतिजानीते—

उपनयनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—अब हम उपनयन की विधि का वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

टि०—उपनयन शब्द की व्युत्पत्ति है: "येन आचार्यकुलम् उपनीयते कुमारः तदुपनयनं नाम कर्म" जिस व्यक्ति का उपनयन न हुआ हो, वह कोई भी श्रौत या स्मार्त कर्म करने का अधिकारी नहीं होता। उपनयन कर्म के लिए भी वह बालक अधिकारी नहीं होता जिसका गर्भाधानादि संस्कार न हुआ हो। सुदर्शनाचार्य ने उपनयन की व्युत्पत्ति दी है: "कुमारस्य आचार्यसमीपनयनमस्मिन् कर्मणि' कुछ आचार्यों का मत है: संयोग से किसी विघ्न के कारण यदि बालक के अन्य संस्कार न भी हुए हों तब भी उपनयन कर्म होता है। गृह्यसूत्रों में उल्लिखित कर्म का अधिकारी गृहस्थ ही होता है, ब्रह्मचारी नहीं. इसी कारण विवाह का विधिप्रतिपादन करने के बाद उपनयन की विधि बतायी गई है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में उपनयन के अधिकारी के विषय में कहा गया है: "उपनयनं विद्यार्थस्य" (१.१.९) इस कारण यह सबके लिए नहीं है।

अनाकुला

येन आचार्यकुलमुपनीयते कुमारः तदुपनयनं नाम कर्म श्रौतः पुरुषसंस्कारः। 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत' इति वक्ष्यमाणेनैवोपनयनाधिकारे सिद्धे प्रतिज्ञाकरणं प्राधान्यख्यापनार्थम्। यथा "अग्न्याधेयं व्याख्यास्याम" (आप. श्रौ. ५. १. १.) इत्यादौ। कथं पुनरुपनयनस्य प्राधान्यम्? यस्मादनुपनीतस्य श्रौतस्मार्तेषु सर्वेषु कर्मस्वनधिकारः। उपनयने तु गर्भाधानदिभिरसंस्कृतस्यानधिकारः। यत्र ब्रह्मचारिधर्माः सामयाचारिकेषु तत्रैवोपनयनेऽप्युच्यमाने सर्वचरणार्थता स्यात्। इष्यते चास्मदीयानामेवायं कल्पः। तस्मादत्रोपदेशः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उपनयनमिति कर्मनामधेयम्। कुमारस्याचार्यसमीपनयनमस्मिन् कर्मणीति, पङ्कजादिवत्। विर्विस्तरार्थः। आङ् बलवदर्थः। चक्षिङोऽत्र व्यक्तवागर्थस्य ख्याञादेशात् व्याख्यस्याम इति रूपम्। तथा चायमर्थः—उपनयनाख्यं

कर्म वैकल्पिककल्पोक्त्या विस्तृतं बलवत्प्रमाणोपपन्नं असाधारणैश्शब्दैर्वक्ष्याम इति । इयं च प्रतिज्ञा श्रोतृजनमनोऽवधारणार्था ।

केचित्—दैवादेर्विघ्नात् पूर्वैर्निषेकादिभिरसंस्कृतस्याप्युपनयनं भवत्येव । न तूपनयनासंस्कृतस्य उत्तराणि श्रौतस्मार्तानीत्येवमुपनयनप्राधान्यज्ञापनार्था प्रतिज्ञा । किञ्च गृह्योपदिष्टकर्मसु गृहस्थस्यैवाधिकारो न ब्रह्मचारिण इत्येवंरूपं विशेषं ज्ञापयितुमप्रतिज्ञं विवाहमुपदिश्य उपनयनकल्पोपदेशः सप्रतिज्ञः क्रियते। अस्य च कल्पस्य धर्मशास्त्रे 'उपनयनं विद्यार्थस्य' (आप. ध. १-१-९.) इत्यत्रानुपदेशः सर्वचरणार्थतां निवर्तयितुमिति ॥ १ ॥

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत ॥ २ ॥

अनु०—ब्राह्मण का उपनयन संस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में करना चाहिए ॥२॥

टि०—जिस वर्ष में बालक गर्भ में हो उस वर्ष को लेकर आठवें वर्ष में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार होता है । कुछ आचार्यों के अनुसार जन्म के बाद सात वर्षों मे गर्भ का वर्ष आठवाँ वर्ष होता है । इस कारण सातों वर्षों में उपनयन हो सकता है । इन सात वर्षों में पहले के चार वर्षों में बालक कोई भी कार्य करने में असमर्थ होता है और उसके अन्य संस्कार किए जाते हैं । अतः शेष· पाँचवे, छठे, सातवें वर्षों में ब्राह्मण बालक का उपनयन किया जा सकता है । किन्तु प्रश्न है: बालक पाँचवे या छठे वर्ष में हो तब गर्भ का वर्ष आठवां वर्ष कैसे हो सकता है ? इस कारण बालक जब सातवें वर्ष में रहेगा तभी गर्भ आठवाँ वर्ष सिद्ध होगा । सुदर्शनाचार्य छठे सातवें वर्ष में भी उपनयन के नियम को मानते हैं ॥ २ ॥

अनाकुला

यस्मिन् वर्षे गर्भो भूत्वा शेते तद्वर्षं गर्भशब्देनोच्यते तदष्टमं येषां तानीमानि गर्भाष्टमानि वर्षाणि । बहुवचनं सौरादिभेदेन वर्षाणां भिन्नत्वात् । अपर आह—जन्मप्रभृति सप्तानां वर्षाणां गर्भमाष्टमं भवति । तेन सप्तस्वपि वर्षेषूपनयनं चोद्यते । तत्र चतुर्षु वर्षेष्वयोग्यत्वात् चौलादिसंस्कारान्तरविरोधाच्च पञ्चमादिषु त्रिषूपनयनमिति । अत्र षष्ठसप्तमयोः काम्यमुपनयनमष्टमे नित्यमित्ययं विशेषो न स्यात् । सर्वत्र नित्यमेव स्यात् । किंच पञ्चमे षष्ठे वा वर्षे वर्तमाने कथं गर्भवर्षमष्टमं भवति । नह्यसत्यपूरणीयेषु पूरणत्वमुपपद्यते । तस्मात् सप्तमे वर्तमान एव गर्भवर्षमष्टमं भवति । तस्मादविवक्षितं बहुवचनम्। पूर्वोक्तो वा निर्वाहः । काम्यं तूपनयनं विध्यन्तरलभ्यम् । उपनयीतेति पाठः श्रुत्यनुसारेण । शब्विकरणस्तु धातुः । राजन्यवैश्ययोः विशेषोपदेशादेव गर्भाष्टमविधेः ब्राह्मणविषयत्वे सिद्धे ब्राह्मणविधिः श्रुत्यनुवाद एव । पुनरुपनयीतेत्यनुच्यमाने पूर्वमुपनयनग्रहणमधिकारार्थमेव स्यात्, तमर्थं न साधयेत् यस्तत्र साध्यः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

गर्भाष्टमेषु वर्षेष्विति शेषः। 'गर्भादिस्सङ्ख्या वर्षाणाम्' (गौ. ध. २-७.) इति गौतमवचनात्। गर्भशब्देन यस्मिन् वर्षे गर्भो वर्धते, तल्लक्ष्यते। तदष्टमं येषां जन्मादीनां सप्तानां तानि गर्भाष्टमानि वर्षाणि। तेषु ब्राह्मणमुपनयीत। एवं यद्यपि जन्मादिसप्तस्वप्युपनयनं प्राप्तं, तथापि जन्मादिषु त्रिषु चौलान्तैः गर्भसंस्कारैरवरुद्धत्वान्न क्रियते। चतुर्थेऽपि नैव; कुमारस्य व्रतासामर्थ्यात्। अतोऽत्रोपादेयगता बहुत्वसङ्ख्या [1]कपिञ्जलन्यायेन गर्भादारभ्य षष्ठसप्तमाष्टमेषु त्रिष्वेवावतिष्ठते, सामर्थ्यात् प्रयोगभेदेन।

ननूत्तरत्र 'राजन्यं' 'वैश्यम'ति विशेषोपादानादेव गर्भाष्टमविधिर्ब्राह्मणस्यैवेत्यर्थसिद्धत्वात् ब्राह्मणमिति न वक्तव्यम्। तथोपनयनं व्याख्यास्याम इति प्रकृतत्वादुपनयीतेत्यपि। मैवम्; उपनयनं श्रौतमिति ज्ञापयितुम्। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्येतच्छ्रुत्यनुकारित्वात्।

केचित्—गर्भाष्टम एव वर्षे, न तु षष्ठसप्तमयोः; तयोर्गर्भाष्टमत्वाभावादिति। तन्न; बहुवचनानर्थक्यात्॥ २॥

[2]गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्॥ ३॥

वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण॥ ४॥

अनु०—क्षत्रिय वर्ण के बालक का उपनयन संस्कार गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य वर्ण के बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में करना चाहिए॥ ३॥

वर्णों के क्रम के अनुसार वसन्त, ग्रीष्म और शरद् उपर्युक्त तीन वर्णों के लिए उपनयन की ऋतुएँ होती हैं॥ ४॥

टि०—उदगयन में ही उपनयन काल का विधान है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में 'वसन्ते ब्राह्मणम्' कहकर भरद्वाजगृह्यसूत्र के 'शिशिरे च वा सर्वान्' का प्रतिषेध किया गया है॥ ४॥

---

१. 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इत्यत्र वसन्तोद्देश्यककपिञ्जलद्रव्यको यागो विधीयते। तत्र कपिञ्जलानां बहुत्वश्रवणात् त्र्यादि परार्धपर्यन्तायाः संख्यायाः अनियमेन कपिञ्जलेषु विधानम्? उत त्रित्वस्यैव? इति सन्दिह्य चतुरादिग्रहणे प्रथमं त्रिग्रहणस्यावश्यकत्वेन प्रथमातिक्रमणे कारणाभावेन प्रथमगृहीतेनैव तेन शास्त्रार्थोपपत्तौ नाधिकग्रहणे प्रमाणमस्ति। एवञ्च यत्र बहुवचनं तत्रासत्यधिकसंख्याग्राहकप्रमाणे बहुवचनस्य त्रित्वमेवार्थ-इति सिद्धान्तितं पूर्वमीमांसायामेकादशप्रथमषष्ठे (पू० मी. ११-१-६.) तन्न्यायेनेत्यर्थः। कपिञ्जलः पक्षिविशेषः।

२. इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन।

अनाकुला

उदगयने वसन्तनियमः ब्राह्मणस्य । क्षत्रियस्यापवादो नियमो वा । वैश्यस्यापवादः । पूर्वपक्षादयस्तु स्थिता एव । वर्षाण्यृतवश्च विधीयन्ते इह सामयाचारिकेषु च । तत्र सामयाचारिकेषु विधानं सर्वचरणार्थम् । इह विधानं वर्णानियमार्थम् । शास्त्रान्तरदृष्टानां कालान्तराणामिह प्रवृत्तिर्मा भूदित्येवं ब्रुवन्नेतत् ज्ञापयति–चौलादिषु शास्त्रान्तरदृष्टोऽपि कालः पक्षे भवतीति ॥३-४॥

तात्पर्यदर्शनम्

उभयत्रापि कपिञ्जलन्यायेन बहुवचनस्य त्रित्वमेवार्थः ॥ ३ ॥

ऋतवो वसन्तादयस्त्रयो[1] ब्राह्मणादिवर्णक्रमेणोपनयनस्य काला भवन्ति । अयं चर्तुविधिस्सामान्यविधिप्राप्तोदगयनस्य यथार्हं नियमापवादार्थः । पूर्वपक्षादिस्तु भवत्येव । धर्मशास्त्रे तु 'वसन्ते ब्राह्मणम्' (आप. ध. १–१–१९.) इत्यादिः 'शिशिरे च वा सर्वान्' इति भरद्वाजगृह्योक्तशिशिरप्रतिषेधार्थः । 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणम्' इत्यादिस्तु 'अथ काम्यानि' (आप. ध. १–१–२०–) इत्यादि विधातुमनुवादः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा कुमारं भोजयित्वानुवाकस्य प्रथमेन यजुषापः संसृज्योष्णाश्शीतास्वानीयोत्तरया शिर उनत्ति ॥ ५ ॥

अनु०—(बालक का पिता) ब्राह्मणों को भोजन करावे, उन ब्राह्मणों से स्वस्तिपाठ करावे: तदुपरान्त कुमार को भोजन करावे । (आचार्य) अगले अनुवाक के प्रथम मन्त्र का पाठ करते हुए शीतल जल में उष्णजल डाल कर फिर अगले मन्त्र 'आप उन्दन्तिव' आदि का पाठ करते हुए कुमार के सिर को भिगाए ॥ ५ ॥

टि०–पहले दिन नान्दी श्राद्ध करे । तदुपरान्त उपनयनके दिनसे पहले दिन ब्राह्मणों को भोजन कराये, उनसे आशीर्वाद मन्त्रों का पाठ कराये । फिर कुमार को भोजन कराये । कुमार भोजन करने से पहले ही 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण करे । कुछ लोग समिदाधान से पहले ही यज्ञोपवीत धारण का नियम करते हैं । कुमार के भोजन में नमक या तीत खाद्य पदार्थ न हो । भोजन के पहले और बाद में दो बार आचमन करे । कुछ आचार्यों के अनुसार यहाँ तक का कर्म माता-पिता को करना चाहिए इसके बाद का कर्म आचार्य करे । मन्त्रों के साथ शीतल जल में गरम जल डालकर पहले आचार्य बालक के सिर को भिगोए, पुनः नापित शेष जल से भिगोए ॥ ५ ॥

---

१. ८–त्रयः क्रमेण ब्राह्मणादिवर्णानामुप.

अनाकुला

अथोपनयनविधिः-पूर्वेद्युर्नान्दोश्राद्धम्। ततः श्वोभूते ब्राह्मणान् भोजयित्वा तैराशिषो वाचयति-पुण्याहं स्वस्त्यृद्धं इति। ततः कुमारं भोजयेत्। एवमन्तं पित्रादेः कर्म। अथाचार्यः उष्णाश्शीताश्चापः संसृजति। अनुवाकस्योत्तरस्य प्रथमेन यजुषा 'उष्णेन वायवि'त्येतेन। संसृजंश्चोष्णाश्शीतास्वानयति, न शीता उष्णासु। ततस्ताभिरद्भिः कुमारस्य शिर उनत्ति क्लेदयति-उत्तरयर्चा 'आप उन्दन्त्वि' त्येतया। उत्तरेण यजुषेत्येव सिद्धे अनुवाकस्य प्रथमेन यजुषेत्युक्तं संज्ञाकरणार्थम्। तेन उष्णेन वायवुदकेनेत्येष इत्यत्रानुवाकस्य ग्रहणं भवति। अन्यथा संशयः स्यात्-अनुवाको मन्त्रो वेति। उष्णाश्शीतास्वानीयेत्येव सिद्धे संसृज्येतिवचनं सर्वार्थत्वप्रदर्शनार्थम्। आत्मनश्च नापितस्य च या उन्दनार्थास्ताः संसृजति तच्चान्येषां व्यक्तम्-नापितं शिष्यात्—शीतोष्णाभिरद्भिरबर्थं कुर्वाणोऽक्षुण्वन् कुशलीकुर्विति॥ (आश्व. गृ. १–१७–१६.) ॥५॥

तात्पर्यदर्शनम्

ब्राह्मणान् भोजयित्वेत्यनेन यच्छ्राद्धं धर्मशास्त्रे 'शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २–१५. ९.) इति विहितं, यदेव नान्दीश्राद्धमभ्युदयश्राद्धमिति प्रसिद्धं, तदेवोच्यते। तच्च स्मृत्यन्तरप्रसिद्धविधिना कर्तव्यम्। तस्य त्विह पुनः पाठः पाठक्रमेणानुष्ठानार्थः। अन्यथा पदार्थानां बद्धक्रमत्वाद्विवाहादिष्विवान्त एव स्यात्। आशीर्वचनेऽपि धर्मशास्त्रविहितेऽयमेव न्यायः। आशीर्वचनविधिश्च भाष्योक्तः।

केचित्—पूर्वेद्युर्नान्दोश्राद्धम्' आचारात् स्मृत्यन्तराच्च। श्वोभूते च ब्राह्मणानां भोजनं, भुक्तवद्भिरेवाशिषां वाचनार्थम्। सर्वकर्मणां चान्ते 'शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' इति वचनादिति।

अत्र च कुमारस्य स्वभोजनात्प्राक् 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' इत्यादि मन्त्रेण यज्ञोपवीतधारणम्। 'भोजने, आचमने, स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्' इति धर्मशास्त्रवचनात्॥ केचित्-समिदाधानात्प्रागेवेति॥

कुमारभोजनं च विना क्षारलवणादिभिः। आद्यन्तयोश्च द्विराचमनम।

केचित्-एवमन्तं मातापितरौ कुरुतः, अत ऊर्ध्वमाचार्य इति॥

अनुवाकस्य प्रथमेन यजुषः 'उष्णेन वायो' इत्यनेन अपः उष्णाश्शीताश्च संसृजति। संसृजंश्चोष्णाश्शीतास्वानयति, न त्वनियमेन। अत्र चानुवाकग्रहणं गृह्यमन्त्रास्समाम्नाता एव न कल्पसूत्रस्था इति ज्ञापनार्थम्। तत्प्रयोजनं चैते ब्रह्मयज्ञादिष्वध्येतव्या इत्युक्तम्। ततस्ताभिरद्भिः 'आप उन्दन्तु' इत्येतया कुमारस्य शिर उनत्ति। प्रागारभ्य प्रदक्षिणमुनत्ति क्लेदयति॥ ५॥

त्रींस्त्रीन् दर्भानन्तर्धायोत्तराभिश्चतसृभिः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं प्रवपति ॥ ६ ॥

अनु०—केशों के बीच (चारो दिशाओं में) तीन-तीन कुश रखकर आगे के चार मन्त्रों 'येनावपत्' 'येन पूषा' "येन भूयः" "येन पूषा" आदि मन्त्रों का एक-एक करके पाठ करते हुए बारी बारी से चारो दिशाओं के केशों का (आचार्य) वपन करे ॥ ६ ॥

टि०—जिस प्रकार केशों को भिगोने के कार्य में पहले आचार्य ने भिगोया था और तब नापित ने, उसी प्रकार पहले आचार्य मन्त्र के साथ केशों का वपन करता है, उसके बाद नापित वपन करता है। सुदर्शनाचार्य ने 'प्रवपति' से 'यह अर्थ लिया है कि आचार्य ही पूरी तरह से केशों का वपन करता है। 'कुशलीकरणमप्याचार्यस्यैव' ॥ ६ ॥

अनाकुला

प्रवपति प्रथमं वपति वपनं प्रारभत इत्यर्थः। तेन पूर्वं मन्त्रवद्वपनं करोत्याचार्यः पश्चान्नापित इत्युक्तं भवति। तत्रायं प्रयोगः—कुमारस्य शिरसि प्राच्यां दिशि त्रीन् दर्भानन्तर्धाय 'येनावपदि'त्येतया प्रच्छिनत्ति क्षुरेण। असावित्यस्य स्थाने तस्य नाम प्रथमया विभक्त्या गृह्णाति। यथा असावयं यज्ञदत्तशर्मा। एवं सर्वत्रादसः प्रयोगे नाम निर्देष्टव्यम्। प्रच्छिद्यानडुहे शकृत्पिण्डे यवमति केशान् प्रक्षिपति। अथाप उपस्पृश्य तथैव दक्षिणस्यां दिशि 'येन पूषे' ति। प्रतीच्यां 'येन भूयः' इति। उदीच्यां 'येन पूषे' ति। अत्र संबुध्या नामग्रहणं—तेन ते वपामि यज्ञदत्तशर्म्मन्नायुषेति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततो 'येनावपत्' इत्यादिभिश्चतसृभिः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं त्रींस्त्रीन् दर्भानन्तर्धाय केशान् प्रवपति। प्रशब्दात् कुशलीकरणमप्याचार्यस्यैव तत्र प्रथमे मन्त्रे असावित्यस्य स्थाने विष्णुशर्मेति कुमारस्य नामग्रहणम्। चतुर्थे तु सम्बुध्या ॥ ६ ॥

*वपन्तमुत्तरयानुमन्त्रयते दक्षिणतो माता ब्रह्मचारी वा ॥ ७ ॥

अनु०—जब वह केश का वपन कर रहा हो तो बालक की माता अथवा कोई ब्रह्मचारी दक्षिण ओर बैठकर अगले मन्त्र "यत्क्षुरेण" आदि का पाठ करे ॥ ७ ॥

---

*वपन्तमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ ६ ॥ दक्षिणतोमाता…निदधाति ॥ इति हरदत्तमते सूत्रच्छेदः। 'यत्क्षुरेणे' त्यनुमन्त्रणमाचार्यकर्तृकमेवेति हरदत्ताशयः ॥

टि०—हरदत्तमिश्रके अनुसार आचार्य नापितका अभिमन्त्रण करता है किन्तु सुदर्शनाचार्य के अनुसार कुमार की माता या कोई ब्रह्मचारी आचार्य का ही अभिमन्त्रण करे। हरदत्त मिश्र ने इस सूत्र के दो खण्ड किए हैं 'वपन्तमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते' और 'दक्षिणतो माता ब्रह्मचारी वा आनडुहे शकृत्पिण्डे...निदधाति' उनके अनुसार वे इस खण्ड के क्रमशः ६ ठे ७ वें सूत्र हैं। 'यत् क्षुरेण' आदि मन्त्र में 'मा प्रमोषीः' क्रिया का प्रयोग है, जो मध्यमपुरुष की क्रिया है। आचार्य स्वयं तो वपन में लगा है, अतः यह मन्त्र कोई अन्य ही पढ़ेगा, निश्चय ही वह माता होगी या कोई ब्रह्मचारी होगा। ऐसा सुदर्शनाचार्य का तर्क है। यह भेद इस लिए उत्पन्न होता है कि सुदर्शनाचार्य केशवपन का समूचा कार्य आचार्य का मानते हैं, हरदत्तमिश्र केवल अंशतः आचार्य का मानकर शेष नापित का मानते हैं। सुदर्शनाचार्य ने इस का विरोध करते हुए अगले सूत्र की व्याख्या में लिखा है: "एतद्वपनं नापितस्समापयतीत्यत्र वचनाभावात्, तत्कल्पनायां चानुपपत्त्यभावात्" ॥ ७ ॥

अनाकुला

एवमाचार्येण प्रतिदिशं प्रवपने कृते नापितस्तस्य केशान् वपति संसृष्टाभिरेवाद्भिरवर्थं कुर्वाणः। तं नापितं वपन्तमुत्तरयर्चा 'यत् क्षुरेणे'त्येतयाऽनुमन्त्रयत आचार्यः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

दक्षिणत उपविश्य कुमारस्य माता ब्रह्मचारी वा कश्चित् 'यत् क्षुरेण' इत्येतया वपन्तमाचार्यमनुमन्त्रयते। कस्मादेवं सूत्रच्छेदः? उच्यते। अस्य कुमारस्यायुर्मा प्रमोषीरिति मध्यमपुरुषलिङ्गकेऽनुमन्त्रणे वपनव्यापृताचार्यकर्तृकत्वविरोधात्। मातृब्रह्मचारिव्यतिरिक्तस्य प्रकृतस्याभावात् ॥ ७ ॥

आनडुहे शकृत्पिण्डे यवान्निधाय तस्मिन् केशानुपयम्योत्तरयोदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वा निदधाति ॥ ८ ॥

अनु०—तब कुमार की माता अथवा कोई ब्रह्मचारी बैल के गोबर के ऊपर जौ बिखेरकर उनके ऊपर कटे हुए केशों को (उनके भूमि पर गिरने से पहले ही) लेकर रखे और फिर उन सभी केशों को उदुम्बर वृक्ष के जड़ में अथवा कुशों में रखे ॥ ८ ॥

टि०—केशों के रखने का कार्य कुमार की माता या कोई ब्रह्मचारी करेगा, इस विषय में टीकाकार का मत अभिन्न है। केशों को इस प्रकार ग्रहण किया जाय कि वे भूमि पर न गिरने पावें उन्हें उदुम्बर वृक्ष के नीचे अथवा कुशों की झाड़ी में रखे ॥ ८ ॥

अनाकुला

अथ कुमारस्य माता ब्रह्मचारी वा कश्चित् तस्य दक्षिणत उपविश्य कस्मिंश्चित् पात्रे आनडुहं शकृत्पिण्डं कृत्वा यवांश्च तस्मिन् पिण्डे निधाय तस्मिन् केशानुपयच्छति उपगृह्णाति यथा भूमौ न पतन्ति तथा सर्वानुपयम्य ततस्तान् कुशानुदुम्बरस्य वृक्षस्य मूले दर्भस्तम्बे वा निदधाति। उत्तरयर्चा 'उप्त्वाय केशानि'त्येतया। यदि माता तामन्यो मन्त्रं वाचयति ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उपनयनस्य प्रकृतत्वान्माता ब्रह्मचारी वा 'उप्त्वाय केशान्' इत्येतया आनडुहे शकृत्पिण्डे इत्यादि यथोपदेशं करोति।

केचित्—आचार्यः पूर्वं वपनमारभते। ततो नापितस्संसृष्टाभिरेवाद्भिरर्थं कुर्वन् केशान् प्रवपति। तं च वपन्तमुत्तरया आचार्योऽनुमन्त्रयते। दक्षिणतो मातेत्युक्तार्थमेवेति। तन्न; एतद्वपनं नापितस्समापयतीत्यत्र वचनाभावात्, तत्कल्पनायां चानुपपत्त्यभावात्। प्रशब्दस्य निपातस्य प्रमाणान्तरावगतार्थद्योतकत्वात्, उक्तसूत्रभेदेन स्ववाक्योक्तस्यैव मात्रादेरनुमन्त्रणकर्तृत्वोपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

स्नातमग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते पालाशीं समिधमुत्तरयाऽऽधाप्योत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदाऽश्मानमास्थापयत्यातिष्ठेति ॥ ९ ॥

अनु०—बालक के स्नान कर लेने पर तथा अग्नि के उपसमाधान (समिध् रखने) से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म करने के बाद अगले मन्त्र 'आयुर्दा देव' आदि मन्त्र द्वारा कुमार से अग्नि पर पलाश की एक समिध् रखवावे, और अग्नि के उत्तर में रखे हुए एक प्रस्तर पर "आतिष्ठेमम्" मन्त्र से पैर रखवाए ॥ ९ ॥

टि—इस कर्म के लिए भी विवाह के संदर्भ में उक्त विधि से अग्नि उत्पन्न की जायगी। शमी परिधियों के रूप में प्रयुक्त होंगी और एक बार पात्र प्रयोग होगा। वस्त्र मेखलादि सभी एक साथ रखे जायगे। आज्य भाग आहुतियों के अन्त में कुमार पलाश की समिध् रखता है। मन्त्र का उच्चारण कौन करे इसके विषय में मतभेद है। कुछ लोग आचार्य द्वारा मन्त्र पढ़े जाने का विधान करते हैं तो अन्य लोग कुमार द्वारा। 'मन्त्र पढ़कर आचार्य दाहिने पैर को हाथों से पकड़कर पत्थर पर रखता है? हरदत्त मिश्र ॥ ९ ॥

---

१. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः। इति मन्त्रः।

अनाकुला

"स्नातं कुमारं शुचिवाससम्बद्धशिखं यज्ञोपवीतमासज्जति—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रमिति। ततस्तं यज्ञोपवीतिनं देवयजनमुदानयतो" (बौ.गृ. २-५) ति बौधायनः। तस्य सर्वस्योपलक्षण स्नातवचनम्। ततोऽग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यत आचार्यः। विवाहवदग्न्युत्पत्तिः शम्याः परिध्यर्थे। सकृत् पात्रप्रयोगः। वासोमेखलादीनामपि सह सादनम्। तत आज्यभागान्ते कुमारं पालाशीं समिधमाधापयति उत्तरयर्चा 'आयुर्दा देव' इत्येतया। कुमारो मन्त्रेण समिधमादधाति। तमाचार्यः प्रयुक्ते मन्त्रं च वाचयति, समिधं चाधापयति। देवताया अभिधेयत्वान्न मन्त्रलिङ्गविरोधः। अन्ये त्वाचार्यस्यैव मन्त्रप्रयोगमिच्छन्ति। आधाप्य समिधमुत्तरेणाग्निं अश्मानं प्रतिष्ठितमनेनास्थापयति दक्षिणेन पदा 'आतिष्ठेमम'ति मन्त्रेण। अयं मन्त्र आचार्यस्यैव, कुमारस्याभिधेयत्वात्। तेनाचार्यो मन्त्रमुक्त्वा दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां गृहीत्वाऽश्मनि निधापयति॥ ९॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथाग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। पात्रासादनकाले अश्मवासोमेखलाजिनदण्डकुशकूर्चांश्च सहैव सादयति। केचित्—दर्व्यादीन्यपि सहैवेति। आज्यभागान्ते कृते स्नातं कुमारं 'आयुर्दा देव' इत्येतया पालाशीं समिधं हस्ते गृहीत्वाऽऽधापयति। मन्त्रान्ते चाधेहीति ब्रूयात्। आधापनमन्त्रश्चायम्।

केचित्—आधानमन्त्रं वाचयीताचार्य इति। तेषां 'जरसे नयेमम्' इति मन्त्रलिङ्गविरोधः। अथाधापनार्थे मन्त्रे अश्मास्थापनमन्त्रवत् कुमाराभिधानार्थमुच्चारणं स्यात्, न देवताभिधानार्थम्; सकृदुच्चरितस्योभयाभिधानाशक्तेरिति चेत्, न; 'घृतपृष्ठो अग्ने' इतीह देवताया एवाभिधेयत्वात्। अत एवोक्तं 'मन्त्रमुक्त्वाऽऽधेहि जुहुधीति ब्रूयात्' इति। शेषं व्यक्तम्॥ ९॥

वासः सद्यःकृत्तोतमुत्तराभ्यामभिमन्त्र्योत्तराभिस्तिसृभिः परिधाप्य परिहितमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते॥ १०॥

अनु०—'रेवतीस्त्वे' आदि दो मन्त्रों से एक ऐसे वस्त्र को अभिमन्त्रित करके, जो एक ही दिन में ताना-बाना करके बुना गया हो, अगले तीन मन्त्रों 'या अकृन्त' आदि से उसे पहनावे और उस बालक द्वारा वस्त्र धारण कर लिए जाने पर 'परीदं वास' आदि मन्त्र से बालक को अभिमन्त्रित करे॥ १०॥

---

१ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ इति समग्रो मन्त्रः।

टि०—वस्त्र पहनाते समय 'या अकृन्तन्' आदि मन्त्र का पाठ आचार्य करता है। तीनों मन्त्रों का पाठ करने के बाद वस्त्र पहनाया जाता है ॥ १० ॥

अनाकुला

एकस्मिन्नेवाहनि तन्तुक्रिया, वयनक्रिया च यस्य तत् सद्यःकृत्तोतम्। एवंभूतं वास उत्तराभ्यां ऋग्भ्यां 'रेवतीस्त्वे' त्येताभ्यां अभिमन्त्रयेत। ततस्तदुत्तराभिस्तिसृभिः 'या अकृन्तन्नि' त्येताभिः परिधापयति। आचार्यस्यैव मन्त्राः। वचनादेकमिति तिसृणामन्ते परिधापनम्। ततः तं परिहितवन्तं कुमारं आचार्यः उत्तरया 'परीदं वास' इत्येतया अनुमन्त्रयते ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वासः यच्छाण्यादि धर्मशास्त्रे विहितं तत् सद्यःकृत्तोतं मत्र एव छिन्नोतं, नान्यस्मिन्नहनि प्रशस्तेऽपि। केचित्—एकस्मिन्नेवाहनि तन्तुक्रिया वयनक्रिया च यस्य, तत् सद्यःकृत्तोतमिति। एवंभूतं 'रेवतीस्त्वा' [1]इति द्वाभ्यामभिमन्त्र्य 'या अकृन्तन्' इत्येताभिस्तिसृभिः परिधाप्य, परिहितं कुमारं 'परीदं वासः' [2]इत्यनयाऽनुमन्त्रयते ॥ १० ॥

[3]मौञ्जीं मेखलां त्रिवृतां त्रिः प्रदक्षिणमुत्तराभ्यां परिवीयाजिनमुत्तरमुत्तरया ॥ ११ ॥

अनु०—अगले दो मन्त्रों "इयं दुरुक्ता" आदि के द्वारा एक मुञ्ज की मेखला जिसमें तीन गुण हो, उसके शरीर में बाएँ से दाहिने की ओर तीन बार लपेट कर बाँधे और फिर अगले मन्त्र "मित्रस्य चक्षुः" आदि का उच्चारण करते हुए मृगचर्म (वर्णविशेष के अनुसार) प्रदान करे ॥ ११ ॥

टि०—'इयं दुरुक्ता' आदि मन्त्रों का पहले आचार्य उच्चारण करे और फिर बालक से उच्चारण करावे। सामयाचारिक नियमों में वर्णविशेष के लिए मेखला विशेष का विधान किया गया है किन्तु मूंज की मेखला सभी के लिए है। इस विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र १.२.३३ द्रष्टव्य है ॥ ११ ॥

अनाकुला

अथ मेखलामुत्तराभ्यामृग्भ्यां 'इयं दुरुक्तादि'त्येताभ्यां त्रिः प्रदक्षिणं परिव्ययति कुमारम्। स्वयमेव मन्त्रमुक्त्वा तं वाचयत्याचार्यः। मन्त्रलिङ्गात् त्रिवृत् मेखला मौञ्जी मुञ्जतृणैः कल्पिता। त्रिवृत् त्रिगुणा। त्रिवृतामिति छा-

---

१. ट—इत्येताभ्यां। २. ट—ड—इत्येतया।

३. मौञ्जीमित्यादि 'उत्तरया' इत्यन्तं एकं सूत्रं, तत 'उत्तरेणे' त्यारभ्य 'अपती' त्यन्तं सूत्रान्तरतया परिगणितं क, ख. घ. पुस्तकेषु। ग. पुस्तके तु एकसूत्रतया।

न्दसो दीर्घपाठः। ततोऽजिनमुत्तरं वासः करोति उत्तरयर्चा। 'मित्रस्य चक्षु-रि'त्येतया स्वयमेव मन्त्रमुक्त्वा। सामयाचारिकेषु वर्णविशिष्टा मेखलाविशेषा-श्चोदिताः इदं तु सर्ववर्णानां मौञ्जीप्राप्त्यर्थं वचनम्। अजिनविशेषास्तु साम-याचारिका इहापि प्रत्येतव्याः 'कृष्णं ब्राह्मणस्ये'त्यादयः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

मौञ्जीं मुञ्जैः कल्पिताम्। त्रिवृतां त्रिवृतम्। दीर्घश्छान्दसः। मेखलां 'इयं दुरुक्तात्' इत्येताभ्यां त्रिः प्रदक्षिणं परिव्ययति। त्रिवृतामिति च 'शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्। ज्या राजन्यस्य' (आप. ध. १-२-३३,३४) इत्यादीनां प्रद-र्शनार्थम्। अजिनं 'कृष्णं ब्राह्मणस्य' (आप. ध. १-३-३) इत्यादि धर्मशास्त्रे विहितमुत्तरं वासः करोति 'मित्रस्य चक्षुः' इत्येतया ॥ ११ ॥

उत्तरेणाग्निं दर्भान् सँस्तीर्य तेष्वेनमुत्तरयाऽवस्थाप्योदकाञ्जलि-मस्मा अञ्जलावानीयोत्तरया त्रिः प्रोक्ष्योत्तरैर्दक्षिणे हस्ते गृहीत्वोत्तरै-र्देवताभ्यः परीदायोत्तरेण यजुषोपनीय 'सुप्रजा' इति दक्षिणे कर्णे जपति ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने दशमः खण्डः ॥

अनु०—(आचार्यः) अग्नि के उत्तर ओर कुश बिछावे उस पर कुमार को 'आगन्त्रा समगन्महि' मन्त्र का पाठ करते हुए कुमार को बैठावे। अपनी अञ्जलि में जल लेकर कुमार की अञ्जलि में डाले, फिर अगले मन्त्र 'समुद्रादूर्मि'का पाठ करते हुए तीन बार जल से प्रोक्षण करे फिर अगले दस मन्त्रों "अग्निष्टे हस्तमग्रभीत्' आदि द्वारा कुमार का हाथ पकड़े और अगले ग्यारह मन्त्रों "अग्नये त्वा परिददामि' आदि का पाठ करते हुए (मन्त्र में उल्लिखित) देवता को प्रदान करे। फिर अगले यजुस् मन्त्र "देवस्य त्वा सवितुः" के द्वारा उपनयन करके (दाहिने कान में) "सुप्रजा" मन्त्र का जप करे ॥ १२ ॥

टि०—'प्रोक्ष्य' में प्रेरणार्थक का लोप है, अतः प्रोक्षण का कर्म स्वयं बालक ही करता है। आचार्य अपनी अञ्जलि में जल ले, आचार्य द्वारा लाये गये जल को बाँए हाथ में लेकर कुमार दाहिने हाथ से प्रोक्षण करे, ऐसा भी कुछ लोगों का मत है ॥ १२ ॥

अनाकुला

अथाचार्यः उत्तरेणाग्निं दर्भान्संस्तीर्य तेष्वेनं कुमारं उत्तरया 'आगन्त्रा समगन्महो'त्येतयाऽवस्थापयति। कुमारस्य मन्त्रः आचार्यो वाचयति। अथ-

स्थाप्य स्वयं च पश्चात् भूमाववस्थाय स्वमञ्जलिमुदकेन पूरयित्वा तमञ्जलिमस्मै कुमाराय प्रतिमुखं दर्भेष्ववस्थिताय प्रोक्षणार्थमानयति तस्याञ्जलौ। अस्मा इति चतुर्थीनिर्देशात् कुमारार्थोऽयमुदकाञ्जलिः। तेन प्रोक्षणस्य कुमारः कर्ता भवति। आनीय ततः प्रोक्षणं प्रयोजयत्याचार्यः। उत्तरयर्चा 'समुद्रादूर्मिरि'त्येतया। कुमारस्य मन्त्रः। आचार्यो वाचयति।' (त्रिः प्रोक्षयति। सकृत् मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। सव्येन धारणमुदकस्य, दक्षिणेन प्रोक्षणम्। प्रोक्ष्येत्यत्र णिचो लोपो द्रष्टव्यः) अथ कुमारस्य हस्तं गृह्णाति उत्तरैर्दशभिर्मन्त्रैः 'अग्निष्टे हस्तमग्रभीदि'त्यादिभिः। प्रतिमन्त्रं ग्रहणावृत्तिः। तत उत्तरैरेकादशभिः 'अग्नये त्वा परिददामी'त्यादिभिः तं देवताभ्यः परिददाति। सर्वेष्वसौशब्देषु नामग्रहणं सम्बुद्ध्या। परिदाय तमुत्तरेण यजुषा 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्येतेन उपनयते विद्यानुष्ठानार्थं आचार्यः स्वकुलं प्रापयतीत्यर्थः। यजुरुच्चारणमेव तत्र व्यापारः, नान्यः कश्चित्। नामग्रहणं च सम्बुध्या। केचित्—असावित्यन्तोदात्तस्य पाठात् आचार्यस्य नाम प्रथमया निर्देश्यं मन्यन्ते। एतत्सम्बन्धात् समस्तमेव कर्मोपनयनं, यथा पशुबन्ध इति। उपनीय सुप्रजा इति दक्षिणे कर्णे जपति। 'सुपोषः पोषैरि'त्येवमन्तो जपः॥ १२॥

इति गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां दशमः खण्डः॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरया 'आगन्त्रा समगन्महि' इत्येतया। अस्मा इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। उत्तरया 'समुद्रादूर्मिः' इत्येतया। त्रिः प्रोक्षति। सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम्। उत्तरैः 'अग्निष्टे हस्तमग्रभीत्' इत्यादिभिर्दशभिर्मन्त्रैः। सर्वेषां चान्ते सकृद्धस्तग्रहणम्। उत्तरैः 'अग्नये त्वा परिददामि' इत्येकादशभिः प्रतिमन्त्रं देवताभ्यो मन्त्रलिङ्गप्रतीताभ्यः परिददाति रक्षणार्थम्। ततश्च यदि सकृत्परिदानं स्यात् तदा विध्यपराधात् सर्वप्रायश्चित्तं होतव्यम्। असौशब्देषु च सर्वेषु सम्बुद्ध्या नामग्रहणम्। उत्तरेण यजुषा 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यनेन उपनयते आत्मनस्समीपं नयति। नामग्रहणं च सम्बुद्ध्यैव।

केचित्—कुमारस्याञ्जलावाचार्येणानीतमुदकं सव्ये हस्ते धारयन्, दक्षिणेन हस्तेनात्मानं त्रिः प्रोक्षति। आचार्यस्तु प्रोक्षयति। णिचश्च लोपो द्रष्टव्यः। हस्तग्रहणं च प्रतिमन्त्रमित्यनेककल्पनासापेक्षं व्याचक्षते॥ १२॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने दशमः खण्डः॥

( ) कुण्डलान्तर्गतो भागः 'ख' पुस्तक एव दृश्यते। परन्तु सुदर्शनाचार्यैरस्य भागस्यानुवादात् भागोऽयं ग्रन्थारूढ इत्येव भाति।

अथैकादशः खण्डः

'ब्रह्मचर्यमागामि'ति कुमार आह ॥ १ ॥

अनु०—बालक कहता है 'मैं ब्रह्मचर्य धारण करने आया हूँ ॥ १ ॥'

अनाकुला

'सवित्रा प्रसूत' इत्येवमन्तो मन्त्रः । आहेति वचनं उच्चैः प्रयोगार्थम् ॥१॥

तात्पर्यदर्शनम्

व्यक्तम् ॥ १ ॥

❀प्रष्टं परस्य प्रतिवचनं कुमारस्य ॥ २ ॥

अनु०—आचार्य बालक से ("को नामासि' आदि चार मन्त्रों के अनुसार) प्रश्न करता है और बालक (उन्हीं के अनुसार) उत्तर देता है ॥ २ ॥

टि०—'को नामासि' आदि के बाद के कर्म आचार्य के हैं । 'प्रष्टम्' को हरदत्त-मिश्र ने वैदिक रूप अथवा अपपाठ माना है । कुमार प्रथमा विभक्ति का प्रयोग करते हुए नाम का निर्देश करता है । मन्त्र में जो प्रतिवचन के अंश हैं उनका उच्चारण बालक करता है ॥ २ ॥

अनाकुला

'को नामासी'त्येवमादयः चत्वारो मन्त्राः पृष्टप्रतिवचनार्थाः । तत्र यत्र पृष्टं तत आरभ्य कर्माचार्यस्येत्यर्थः । प्रष्टमिति संप्रसारणाभावश्छान्दसः; अपपाठो वा । यत् प्रतिवचनं तत् कुमारस्य । [3]असौशब्देषु नाम निर्दिशति कुमारः प्रथमया । आचार्यः संबुध्या कुमारस्य नाम । तत्र को नामासीत्याचार्यः । '[1]यज्ञशर्मनामास्मीति कुमारः । कस्य ब्रह्मचार्यसि [2]श्रीयज्ञशर्मन् इत्याचार्यः, प्राणस्य ब्रह्मचार्यस्मि यज्ञशर्मेति कुमारः । [3]आहेत्यनुवृत्तेरुच्चैः प्रयोगः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्रष्टं प्रश्न इत्यर्थः । रूपं तु छान्दसम् । 'को नामासी'त्यादिषु प्रश्नप्रतिवचनार्थेषु चतुर्षु मन्त्रेषु प्रष्टं परस्याचार्यस्य, प्रतिवचनं तु कुमारस्य । ततश्चैवं प्रयोगः—को नामासि ?' इत्याचार्यः पृच्छति । विष्णुशर्मनामास्मि' इति कुमारः प्रतिब्रूयात् । तथा 'कस्य ब्रह्मचार्यसि विष्णुशर्मन्' ? इत्याचार्यः । 'प्राणस्य ब्रह्मचार्यस्मि' इति कुमारः ॥ २ ॥

❀ इदं च सूत्रद्वयमिति क. ख. पुस्तकयोः ।

१. क. ख. श्रीरामशर्मनामा २. क. ख. श्रीरामशर्मन् । ३. च. असाविति ।

शेषं परो जपति ॥ ३ ॥

अनु०—आचार्य अनुवाक के शेष अंश का जप करता है ॥ ३ ॥

अनाकुला

पृष्टप्रतिवचनादूर्ध्वं अनुवाकस्य यश्शेषः तं 'एष ते देव सूर्ये'त्यादिकं पर आचार्यो जपति ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम् ।

शेषमनुवाकशेषैकदेशं 'विष्णुशर्मैष ते देव' इत्यादि 'अनुसञ्चर विष्णुशर्मन्' इत्येवमन्तमाचार्यो जपति 'अध्वनामध्वपते' इत्यस्य प्रत्यगाशिषो वाचनविधानात् ॥ ३ ॥

प्रत्यगाशिषं चैनं वाचयति ॥ ४ ॥

अनु०—उन मन्त्रों में जो ('अध्वनामध्वपते' आदि) आशीर्वादात्मक मन्त्र हैं उनका पाठ बालक से कराता है ॥ ४ ॥

टि०—'अध्वनाम्' से लेकर उपनयन की समाप्ति तक जितने आशीर्वाद के मन्त्र हों 'योगे योगे' इत्यादि. उन्हें कुमार से पढ़वाये ॥ ४ ॥

अनाकुला

तत्रैव शेषे या प्रत्यगाशीः 'अध्वनामध्वपत' इत्येवमाद्या' तामेनं कुमारं वाचयति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

आत्मगाम्याशीःफलं यस्मिन् मन्त्रे स प्रत्यगाशीः । जात्यभिप्रायमेकवचनम् । अध्वनामित्यारभ्य आ उपनयनसमाप्तेर्ये प्रत्यगाशिषो मन्त्राः 'योगे योगे' इत्यादयः, तान् सर्वान् कुमारं वाचयति ॥ ४ ॥

*उक्तमाज्यभागान्तम् ॥ ५ ॥

अथैनमुत्तरा आहुतीर्हावयित्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

अनु०—फिर आज्यभाग तक की क्रियाओं का विधान किया गया है ॥ ५ ॥

अनु०—फिर अगले मन्त्रों "योगे योगे" इत्यादि ग्यारह मन्त्रों से कुमार के द्वारा ग्यारह प्रधान आहुतियाँ कराके जया इत्यादि आहुतियाँ कराता है ॥ ६ ॥

टि०—आहुति कराते समय आचार्य मन्त्रों का वाचन करता है । दूसरे और चौथे मन्त्र का उच्चारण बालक करेगा, इसमें देवता का उल्लेख है । कुछ लोगों का कथन है कि आचार्य ही वक्ता होगा और कुमार होता । यहाँ संस्कार कुमार का हो रहा है

* इदं सूत्रद्वयमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।

अतः वही प्रधान है। कुछ लोगों का मत है कि आचार्य हाथ पकड़कर हवन कराये। आचार्य सभी कर्मों में स्वयं मन्त्रों का उच्चारण करने के बाद सभी मन्त्रों को एक साथ ही कुमार से पढ़वाये ॥ ६ ॥

अनाकुला

आज्यभागान्तं तन्त्रं प्रागेवोक्तम्। अत्रेदानीमेनं कुमारं उत्तरा एकादश प्रधानाहुतीर्हावयति 'योगे योगे' इत्येवमाद्याः। उत्तरैर्मन्त्रैः कुमारो जुहोति। तमाचार्यः प्रयुङ्क्ते मन्त्रवाचनेन। द्वितीयचतुर्थयोरपि मन्त्रयोः कुमार एव वक्ता, देवताभिधानार्थत्वात्। अपर आह—लिङ्गविरोधादाचार्यो वक्ता कुमारस्तु[1]होतेति। प्रधानहोमेषु हावयित्वेति वचनात् [2]उपहोमेष्वाचार्य एव कर्ता ॥ ५-६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इदमनुवादमात्रं मा भूदिति साध्याहारं व्याख्यायते न केवलमध्वनामित्यारभ्य प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् वाचयति। आज्यभागान्तमुक्त्वा ये पश्चात् प्रत्यगाशिषो मन्त्राः मेखलापरिव्ययणादिषूक्ताः 'इयं दुरुक्तात्' इत्याद्यास्तानपि[3] स्वयमुक्त्वा वाचयति। उक्तमिति जात्यभिप्रायम्।

इदं त्विह वक्तव्यम्—यासु मेखलापरिव्ययणादिषु कुमारप्रधानासु संस्कारक्रियासु ये प्रत्यगाशिषो मन्त्राः तच्चोदकैराख्यातैः करणत्वेन चोदिताः क्रियाः तैर्मन्त्रैः कृत्वा पश्चाद्वाचयति। स्वतः करणमन्त्राणां क्रियागुणभूतैः कर्तृभिरेवोच्चार्यत्वात्। कुमारस्य चात्र संस्कार्यत्वेन प्राधान्यात्। यत्र पुनर्होमादिषु कुमारस्य गुणभाव एव, न संस्कार्यत्वं, तत्र तान् प्रत्यगाशिषो वाचयत्येव।

केचित्—परिव्ययणादिष्वपि कुमारस्यैव मन्त्राः, परस्तु वाचयत्येवेति ॥५॥

अत्र अस्मिन् क्रमे, न तु 'यथोपदेशं प्रधानाहुतीः' इति सामान्यवचनादाज्यभागानन्तरमेव। एनं कुमारम्। उत्तराः 'योगे योग' इत्येकादशर्चः प्रत्यगाशिषो वाचयन् हस्ते गृहीत्वा प्रतिमन्त्रं हावयति। तत्र द्वितीयचतुर्थौ 'इममग्न आयुषे' 'अग्निष्ट आयुः प्रतराम्' इति लिङ्गविरोधात् 'आयुर्दा देव जरसम्' इतिवत् स्वयमेव ब्रूयात्, नैनं वाचयति।

केचित्—एतयोरपि देवताभिधानार्थत्वात् कुमारस्यैवोच्चारणमिति। ततो 'जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत' इति सामान्यविधिप्रसिद्धमेवाचार्यो। जयादि प्रतिपद्यते। ततश्च 'अग्निर्भूतानामधिपतिस्समावतु' इत्यादीनां प्रत्यगाशिषामपि वाचनं न भवति। नैव च हावनम् ॥ ६ ॥

---

१. ग, जुहोतीति २. घ. अङ्गहोमेषु। ३. क. ख. पुस्तके 'स्वयमुक्त्वा' इति नास्ति

परिषेचनान्तं कृत्वापरेणाग्निमुदगग्रं कूर्चं निधाय तस्मिन्नुत्तरेण यजुषोपनेतोपविशति ॥ ७ ॥

अनु०—अगले "राष्ट्रभृदसि" इत्यादि यजुस् मन्त्र द्वारा (अग्नि के चारो ओर) परिषेचन तक की क्रियाएँ करके वह (आचार्य) अग्नि के पश्चिम और उत्तर की ओर अग्रभाग वाला कूर्च रखकर उपनेता (आचार्य) उस पर बैठे ॥ ७ ॥

टि०—जैसा कि हरदत्त मिश्र ने बताया है, कुछ लोग इस समय सावित्र नाम के व्रत का विधान करते हैं। कुछ लोग तीन रात्रियों के बाद सावित्रीमन्त्र विहित करते हैं। कूर्च रखने का कार्य आचार्य ही करता है, बालक नहीं। यहाँ उपनेता के पैरों से तात्पर्य है, बालक के पैर से नहीं। बालक दाहिने हाथ से दाहिने पैर को पकड़े ॥७॥

अनाकुला

उत्तरेण यजुषा 'राष्ट्रभृदसी'त्येतेन। परिषेचनान्तवचनमानन्तर्यार्थम्। केचित् सावित्रं नाम व्रतमस्मिन् काल उपाकुर्वन्ति। केचित् त्रिरात्रान्ते सावित्रीमनुब्रुवते। तदुभयमप्यनिष्टमाचार्यस्य। निधायेति वचनादाचार्य एव निधाने कर्ता, न माणवकः। अधिकारादेव सिद्धे उपनेतेति वचनमुत्तरार्थम्। पुरस्तात् प्रत्यङ्ङासीन इत्यत्र उपनेतुः पुरस्तात् यथा स्यात् अग्नेः पुरस्तात् मा भूत् इति। तथा दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमित्यत्रोपनेतुः पादो न माणवकस्य ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

कूर्चं दर्भमयमासनम्। उत्तरेण यजुषा 'राष्ट्रभृदसि' इत्यनेन। उपनेता आचार्यः। शेषं व्यक्तम् ॥ ७ ॥

पुरस्तात् प्रत्यङ्ङासीनः कुमारो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमन्वारभ्याह 'सावित्रीं भो! अनुब्रूही'ति ॥ ८ ॥

अनु०—उनके पूर्व की ओर बैठा हुआ, पश्चिम की ओर मुख करके कुमार अपने दाहिने हाथ से आचार्य के दाहिने चरण को पकड़ता है और कहता है: श्रीमन्, सावित्री का उपदेश दीजिए ॥ ८ ॥'

अनाकुला

दर्भेष्वासीन इति गृह्यान्तरे। दक्षिणेनेति वचनमुभाभ्यामेवोभावित्ययं पक्षोऽत्र मा भूदिति। तेन सकुष्ठिकमुपसंगृह्णीयादित्ययं विशेषः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उपनेतुः पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखः आसीनः कुमारो दक्षिणेन पाणिना उपनेतुर्दक्षिणं पादं अन्वारभ्य उपसंगृह्य 'सावित्रीं भो! अनुब्रूहि' इति प्रार्थयते ॥ ८ ॥

*तस्मा अन्वाह 'तत्सवितु'रिति ॥ ९ ॥

पच्छोऽर्धर्चशस्ततस्सर्वाम् ॥ १० ॥

अनु०—तब आचार्य उसे "तत्सवितुः" आदि सावित्री मन्त्र का उपदेश देता है ॥ ९ ॥

अनु०—एक-एक पाद का उच्चारण करके फिर अर्धर्च का उच्चारण करे और इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण करे ॥ १० ॥

अनाकुला

तस्मा इति वचनात् कुमारस्य ग्रहणार्थमनुवचनम्। तेन त्रिष्वपि वचनेषु कुमारस्यानुग्रहणं भवति। अनुशब्दोऽनुग्रहद्योतनार्थः। अनुग्रहणाह-अन्वाहेति। तेन यद्यसमर्थः कुमारः तावत् वक्तुं ततो यथाशक्ति वाचयति। स्वयं विधिवत् पूर्वमुक्त्वा प्रथमं पच्छः पादेपादेऽवसानम्। द्वितीयमर्धर्चशः, ततस्सर्वामन्वाहेति। उत्तरमिति वक्तव्ये तत्सवितुरिति निर्देशः सावित्रीप्रदेशेषु सावित्र्या समित्सहस्रमादध्या-(आप. ध. १-२७-१) दित्यादिषु अस्या एव ग्रहणं यथा स्यात्। यस्याः कस्याश्चित् सवितृदेवत्यायाः मा भूदित्येवमर्थम्। तत इति वचनादेतावदेवास्मिन्नहन्यनुवचनम्। एतैर्वचनैरग्रहणे कालान्तरेऽध्यापनम्॥९-१०

तात्पर्यदर्शनम्।

तस्मै कुमाराय ग्रहणार्थं 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्येतामृचमाचार्योऽन्वाह। तत्र च सवितृदेवत्यामृचमनुब्रूहीत्यविशेषेण प्रार्थनायां कृतायामपि योयं 'तत्सवितुरित्यन्वाह' इति नियमः स ज्ञापयति-धेनुपङ्कजादिशब्दवत् सावित्रीशब्दस्य यौगिकस्यापि 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यस्यामेव प्रयोगो नियतः, न तु 'आसत्येन रजसा' इत्यादिष्वपीति। ततश्च धर्मशास्त्रे 'सावित्रीं प्राणायामशः' (आप. ध १-२६-१५) 'सावित्र्या समित्सहस्रमादध्यात्' (आप. ध. १-२७-१.) इत्यादिष्वस्या एवर्चस्सम्प्रत्ययो नान्यस्या अपीति ॥ ९ ॥

कथमन्वाह ? इत्यत्राह—

पच्छः पादे पादे अवसाय। अर्धर्चशः अर्धर्चे अवसाय। ततः सर्वां समस्तां अनवसानामित्यर्थः। अत्र च सर्वानुवचनस्यादृष्टार्थत्वात्, ग्रहीतुमसमर्थस्यापि कमारस्य सर्वा निगद्यते ॥ १० ॥

अथ तस्मिन्नेवानुवचने विशेषमाह—

†व्याहृतीर्विहृताः पादादिष्वन्तेषु वा तथार्धर्चयोरुत्तमां कृत्स्नायाम् ॥ ११ ॥

अनु०- एक-एक पाद की आवृत्ति करते समय कुमार पादों के आरंभ में या

---

* सूत्रद्वयमपीदं एकमेव सूत्रं हरदत्तस्य।

† इदं सूत्रद्वयं हरदत्तमते। 'अन्तेषु वा' इत्यन्तं प्रथमसूत्रम्, ततोऽपरम्।

अन्त में व्याहृतियों का उच्चारण करे। इसी प्रकार अर्धर्चों के आरंभ या अन्त में प्रथम और द्वितीय व्याहृति का उच्चारण करे। सम्पूर्ण मन्त्र की आवृत्ति करने पर अन्तिम व्याहृति का भी उच्चारण करे ॥ ११ ॥

टि०—पहली बार तीनों पादों के आरंभ में या अन्त में क्रमशः तीन व्याहृतियों का उच्चारण करना चाहिए। दूसरी बार दोनों अर्धर्चों के आरम्भ में या अन्त में क्रमशः दो व्याहृतियों का उच्चारण करना चाहिए। तब अन्तिम 'सुव.' शेष रह जाता है उसे अगली बार सम्पूर्ण का पाठ करने के साथ कहना चाहिए। आरम्भ में या अन्त में इन व्याहृतियों का किस प्रकार प्रयोग किया जायगा इसे सुदर्शनाचार्य की टीका में देखा जा सकता है ॥ ११ ॥

अनाकुला

तत्रैवानुवचने विशेषः—प्रथमे वचने पादानां त्रयाणां आदिष्वन्तेषु वा तिस्रो व्याहृतयः क्रमेण वक्तव्याः।

द्वितीये वचने अर्धर्चयोरादितः अन्ततो वा द्वे व्याहृती क्रमेण वक्तव्ये। तत उत्तमा शिष्यते सुवरिति। तामुत्तमां कृत्स्नायां वचनेऽनुब्रूयादिति। तत्र प्रयोगः-प्रणवोऽग्रे वक्तव्यः। "ॐकारः स्वर्गद्वारम्, तस्मात् ब्रह्माध्येष्यमाणः" (आप-ध-१-१३-६.) इति वचनात्। ॐभूः तत्सवितुर्वरेण्यम्। ॐभुवः भर्गो देवस्य धीमहि। ॐ सुवः धियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ भूः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। ॐ भुवः धियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ सुवः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

विहृताः व्याहृतीः त्रिष्वपि पादादिष्वेकैकामन्वाह। अथवा पादानामन्तेषु। तथार्धर्चऽवसाय प्रयोगेऽपि प्रत्यर्धर्चमादावन्ते वैकैकामन्वाह। अवशिष्टां तूत्तमां व्याहृतिं कृत्स्नायामिति षष्ठ्यर्थपाठः।

प्रयोगस्तु-प्रथमं प्रणवमन्वाह; ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह (तै. उ.-१-८) इति श्रुतेः, 'ओंकारस्स्वर्गद्वारं तस्माद्ब्रह्माध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत' (१·१३ ६.) इति धर्मशास्त्रवचनाच्च। 'ॐ भूः तत्सवितुर्वरेण्यम्। ॐ भुवः भर्गो देवस्य धीमहि। ॐ सुवः धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ॐ भूः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। ॐ भुवः धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ॐ सुवः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नःप्रचोदयात्'। अन्तेषु वेति पक्षे प्रयोगः-'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भूः। ॐ भर्गो देवस्य धीमहि भुवः। ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् सुवः॥ ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि भूः। ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् भुवः॥ ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् सुवः'। इति ॥ ११ ॥

कुमार उत्तरेण मन्त्रेणोत्तरमोष्ठमुपस्पृशते ॥ १२ ॥

अनु०—अगले मन्त्र ("वृषमसौ सौम्य" आदि) का पाठ करते हुए कुमार ऊपर के ओंठ का स्पर्श करे ॥ १२ ॥

अनाकुला

अथ तत्रैवासीनः कुमारः उत्तरेण मन्त्रेणा 'वृधमसौ सोम्ये' त्यनेन स्वयमुत्तरमोष्ठमुपस्पृशते । अप उपस्पृशति । ओष्ठयोर्द्वित्वात् उत्तरमिति विशेषणम् । मन्त्रग्रहणमुत्तरशब्दस्य दिग्वाचिताशङ्का मा भूदित्येवमर्थम् । मन्त्रे असावित्यनेन प्राणोऽभिधीयते नाचार्यो नापि [1]माणवकः । तेन नामनिर्देशो न कर्त्तव्यः ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

आचार्यवाचितेन 'अवृधमसौ सोम्य' इत्यनेन मन्त्रेण कुमारः स्वमुत्तरमोष्ठमुपस्पृशति । छान्दसमात्मनेपदम् । असावित्यत्र च नास्ति नामग्रहणम्, प्राणाभिधानत्वात् । 'श्यावान्तपर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याचामेत्' (आप. ध. १-१६ १०-) इति वचनादाचमनं तु कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

कर्णावुत्तरेण ॥ १३ ॥

अनु०— उसके आगे के मन्त्र ("ब्रह्मण आणी स्थ" आदि) से दोनों कानों का स्पर्श करे ॥ १३ ॥

अनाकुला

उत्तरेण मन्त्रेण "ब्रह्मण आणी स्थ" इत्यनेन । सकृन्मन्त्रः । कर्णाविति द्विवचनयोगात् क्रमेणोपस्पर्शनम् ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स एव युगपद्धस्तद्वयेन स्वोयौ कर्णौ स्पृशति । उत्तरेण 'ब्रह्मण आणी स्थः' इति द्विवचनलिङ्गेन ॥ १३ ॥

दण्डमुत्तरेणादत्ते ॥ १४ ॥

अनु०—अगले मन्त्र "सुश्रवस्सुश्रवसम्" आदि से दण्ड धारण करे ॥ १४ ॥

अनाकुला

उत्तरेण मन्त्रेण 'सुश्रवस्सुश्रवसमि' त्यनेन ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरेण 'सुश्रवः' इत्यनेन ॥ १४ ॥

अथ वर्णक्रमेण त्रिभिस्सूत्रैर्दण्डानां गुणविधिमाह—

---

१. घ० कुमारः

पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैय्यग्रोधस्स्कन्धजोऽवाङ्ग्रो राजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य ॥ १५ ॥

अनु०—ब्राह्मण का दण्ड पलाश का होता है, क्षत्रिय का न्यग्रोध वृक्ष की शाखा का दण्ड होता है और शाखा का नीचे की ओर मुड़ा हुआ भाग दण्ड का ऊपरी हिस्सा होता है। वैश्य का दण्ड बदर या पलाश वृक्ष का होता है ॥ १५ ॥

टि०—यह विधि भी वर्ण के आधार पर है। ब्राह्मण का दण्ड किसी वृक्ष का हो सकता है, ऐसा विकल्प का नियम है 'वार्क्षो दण्डः' ॥ १५ ॥

अनाकुला

राजन्यवैश्ययोः विशेषविधानादेव सिद्धे ब्राह्मणग्रहणं अयमपि विधिर्वर्णसंयुक्तो यथा स्यादिति। तेन 'वार्क्षो दण्ड' इत्ययं विकल्पो ब्राह्मणस्यापि भवति। इतरथा राजन्यवैश्ययोरेव स्यात् तयोरेव वर्णसंयुक्तं विधानमिति कृत्वा ॥

न्यग्रोधस्य विकारो नैय्यग्रोधः। स्कन्धे जातः स्कन्धजः। अवाचीनाग्रः अवाङ्ग्रः। ङकारपाठश्छान्दसः।

बदर्या विकारो बादरः। वृक्षप्रकरणात् उदुम्बरो वृक्षः, न ताम्रम् ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पालाशः पलाशवृक्षस्य विकारः। एवमुत्तरेष्वपि विग्रहः। स्कन्धे जातः स्कन्धजः। अवाङ्ग्रः अवाचीनमग्रं यस्य दण्डस्य ॥ १५ ॥

वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति ॥ १६ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि वर्ण विशेष का विचार किये बिना वृक्ष का दण्ड होना चाहिए ॥ १६ ॥

टि०—वृक्ष के दण्ड से यह तात्पर्य है कि यज्ञिय वृक्ष का ही दण्ड हो, बाँस या बेंत का दण्ड न हो। यह नियम सर्वसाधारण है, किसी वर्ण विशेष के आधार पर नहीं है। इस संबन्ध में कहा गया है: 'यदि वर्णसंयुक्तः कल्पः प्रक्रान्तः स एवासमावर्तनात् कर्तव्यः' ॥ १६ ॥

अनाकुला

वृक्षस्य विकारो वार्क्षः। यज्ञियस्य वृक्षस्य इति कल्पान्तरे। पूर्वो विधिर्वर्णसंयुक्तः, अयं तु सर्वसाधारणो न केनचित् वर्णविशेषेण संयुज्यते। अत्र

❀ हरदत्तमते 'पालाशो दण्ड' इत्यादि उपदिशन्ती' त्यन्तमेकसूत्रतया परिगणितं 'क' 'ख' पुस्तकयो। सूत्रचतुष्टयमिति ग. घ. पुस्तकयोः। तत्र सूत्रच्छेदः······ ब्राह्मणस्य ॥······राजन्यस्य ॥······वैश्यस्य ॥ ······उपदिशन्ति ॥ इति।

च सामयाचारिक एव दण्डविधिरसर्वचरणार्थः सन्निहानूद्यते नैय्यग्रोधादिषु मन्त्रप्रापणार्थम्। अन्यथा पालाशस्यैव मन्त्रेणादानं स्यात् तूष्णीमन्येषाम्। 'सुश्रवः' इत्यस्य पालाशाभिधानत्वात्। "देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाश्रृणोत् सुश्रवा वै नामेति" (तै. सं. ३-५-७) वार्क्षो दण्ड इत्येतावतैव सिद्धे अवर्णसंयोगेनेति वचने कल्पान्तरयोरसंभेददर्शनार्थम्—यदि वर्णसंयुक्तः कल्पः प्रक्रान्तः स एवासमावर्तनात् कर्तव्य इति ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वार्क्षः वृक्षस्य यज्ञियस्य विकारः, न तु वेणुवेत्रादेः। अवर्णसंयोगेन सर्ववर्णानामविशेषेणेत्येव वा उपदिशन्ति। अत्र यद्यपि 'तत् पर्ण उपाश्रृणोत्सुश्रवा वै नाम' (तै. सं. ३-५-७) इत्यर्थवादेन मन्त्रस्थसुश्रवश्शब्दस्य पालाशाभिधानलिङ्गत्वात् अनेन मन्त्रेण नैय्यग्रोधादिदण्डानामप्युपादाने लिङ्गविरोधः तथापि 'दण्डमुत्तरेणादत्ते' इति श्रुतिप्राबल्यात् लिङ्गं बाधित्वाऽनेनैव सर्वदण्डानामुपादानम्। धर्मशास्त्रे 'पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य' (आप.ध.१.२-३८.) इत्यादि पुनर्विधानं च 'त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेत्' (आप.ध.१.१-२८) इत्युपनयनकालातिपत्तिप्रायश्चित्तानुष्ठानेऽपि तत्तद्वर्णेन तत्तद्दण्डधारणार्थम्।

केचित्—तत्रैव सर्वचरणार्थं विहितानां दण्डानां गृह्येऽनुवादः सर्वेषामुपादानेऽपि श्रुत्यैतन्मन्त्रविधानार्थ इति ॥ १६ ॥

'स्मृतं च म' इत्येतद्वाचयित्वा गुरवे वरं दत्त्वोदायुषेत्युत्थाप्योत्तरैरादित्यमुपतिष्ठते ॥ १७ ॥

अनु०—गुरु "स्मृतं च मे" आदि का पाठ करावे और गुरु को वर (दक्षिणा) दे, गुरु उसे "उदायुषा" आदि मन्त्र से उठावे। बालक अगले दस मन्त्रों 'तच्चक्षुर्देवहितम्' आदि द्वारा सूर्य की पूजा करे ॥ १७ ॥

टि०—दण्ड लेकर कुमार वहीं आसन पर बैठकर 'स्मृतं च मे' आदि का वाचन करे चार पादों द्वारा विवक्षित कर्म कुमार ही करता है। कुमार 'तच्चक्षुर्देव हितम्' आदि दस मन्त्रों से, जिनका उच्चारण आचार्य करता है, सूर्य की पूजा करता है। 'वाचयित्वा' तथा 'दत्त्वा' का कर्ता एक ही नहीं समझना चाहिए ॥ १७ ॥

अनाकुला

अथ दण्डमादाय तत्रैवासीनः कुमारः 'स्मृतञ्च म' इत्येतत् व्रतसंकीर्तनमाह। ततो गुरवे वरं ददाति। तत उदायुषेति मन्त्रेणोत्तिष्ठेत् उत्तरैर्मन्त्रैरादित्यमुपतिष्ठते 'तच्चक्षुरि'त्यादिभिः 'सूर्य दृशे' इत्येवमन्तैः। व्रतसंकीर्तनादि पदार्थचतुष्टयस्य कुमार एव कर्ता। हेत्वभिधानं तूभयत्राविवक्षितं–वाचयित्वोत्था-

प्येति च। विवक्षिते तु तस्मिन् वरदाने उपस्थाने चाऽऽचार्य एव कर्ता स्यात्। तस्मादर्थप्राप्तस्य हेतुव्यापारस्यानुवादः ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथाचार्यः 'स्मृतं च मे' इत्येतन्मन्त्रजातं कुमारं वाचयति। तत्राष्टौ मन्त्रास्समानोदर्काश्शेषो नवमः। तेषां प्रत्यगाशिष्ट्वादेव वाचने प्राप्ते वाचयित्वेति पुनर्वचनं वाचनवरदानयोः नैरन्तर्यार्थम्। अथ गुरवे आचार्याय कुमारो वरं गां 'गुरो ! वरं ते ददामि' इति ददाति। अग्न्याधाने 'गौर्वै वरः' (आप. श्रौ. ५-११-४) इत्युक्तत्वात्। आचार्यस्तु सप्तदशकृत्वोऽपान्यहोतॄणां दशमानुवाकस्य 'देवस्य त्वा' इत्यादित आरभ्य 'देवि दक्षिणे' इत्येवमन्तमुक्त्वा 'रुद्राय गां तेनामृतत्वमश्याम्' इत्यादि सन्धाय 'उत्तानस्त्वाङ्गीरसः प्रतिगृह्णातु' (तै. आ. ३-१०.) इत्येवमन्तेन श्रौतवत् प्रतिगृह्णाति; उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितस्संस्कारः' (आप-ध-१-१-९.) इति धर्मशास्त्रवचनात्। ततः कुमारं 'उदायुषा' इत्युत्थाप्य इदं च वाचयति।

अथ कुमारः 'तच्चक्षुर्देवहितम्' इत्यादिभिराचार्यवाचितैर्दशभिर्मन्त्रैरादित्यमुपतिष्ठते। अत्र वाचयित्वेत्यादेः क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियाविधानमात्रे तात्पर्यं, न तु समानकर्तृकत्वेऽपि। ज्ञापितं चैतत् 'योक्त्रं विमुच्य तां ततः प्र वा वाहयेत्' (आप-गृ. ५-१३.) इत्यत्र। अथवा व्यवधानेन सम्बन्धः; आचार्यस्मृतादि वाचयित्वा 'उदायुषा' इत्युत्थाप्य 'यं कामयेत' इत्यादि कुर्यात्। कुमारस्तु गुरवे वरं दत्वोत्तरैरादित्यमुपतिष्ठते।

केचित्—स्मृतसङ्कीर्तनादि पदार्थचतुष्टयमपि कुमारकर्तृकम्। वाचयित्वोत्थाप्येति तु णिजर्थो हेतुरविवक्षितः' अन्यथा त्वसमानकर्तृकत्वात् वरदानमुपस्थानं चाचार्यकर्तृकं स्यात तथा गुरुग्रहणं चौलादौ ब्रह्मणे वरदानार्थमिति ॥ १७ ॥

अथ काम्यमाह—

यं कामयेत नायमच्छिद्येतेति तमुत्तरया दक्षिणे हस्ते गृह्णीयात् ॥१८॥

अनु०—यदि आचार्य यह चाहे कि विद्यार्थी मुझ से दूर न होवे तो अगली ऋचा 'यस्मिन् भूतम्' आदि का पाठ करते हुए (नाम लेते हुए) उसके दाहिने हाथ को पकड़े ॥ १८ ॥

टि०—यह विधि काम्य है, अनिवार्यतः इसके सम्पादन का विधान नहीं किया गया है। यह कर्म तभी करे जब आचार्य चारों वेदों का ज्ञाता हो और सभी शास्त्रों को पढ़ाने में समर्थ हो ॥ १८ ॥

अनाकुला

यं कुमारं उपनेता कामयेत गुरुः. किमिति ? अयं मत्तो न छिद्येत न वियुज्येत मदधीन एव स्यादासमावर्तनादिति तमेतस्मिन् काले दक्षिणे हस्ते गृह्णीयात् उत्तरयर्चा 'यस्मिन् भूतमि' त्येतया। नामनिर्देशः संबुध्या। काम्योऽय विधिः न नित्यः। एतदेव ज्ञापकमासमावर्तनात् नोपनेतुरेव समीपे वर्तितव्यमिति ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यं कुमारं अयमासमावर्तनान्मत्तो न च्छिद्येत न वियुज्येतेति कामयेत, तमुत्तरया 'यस्मिन् भूतम्' इत्यनयर्चा सम्बुद्धया च नाम गृहीत्वा दक्षिणे हस्ते गृह्णीयात् प्रथममाचार्यश्चतुर्वेदी सर्वशास्त्रवित् अध्यापयितुं व्याख्यातुं च शक्नोति ॥ १८ ॥

*त्र्यहमेतमग्निं धारयन्ति ॥ १९ ॥

अनु०—(उपनयन के समय प्रयुक्त) अग्नि को तीन दिन तक बनाये रखते हैं ॥ १९ ॥

अनाकुला

एतमुपनयनाग्निं त्र्यहं धारयन्ति अविनाशिनं कुर्वन्ति पित्रादयः ॥ १९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्पष्टमेतत् ॥ १९ ॥

क्षारलवणवर्जनं च ॥ २० ॥

अनु०—इस बीच नमकीन और चटपटे भोजन का परहेज करना चाहिए ॥२०॥

टि०—तीन दिन तक भोजन में नमकीन वस्तुओं का परहेज करना चाहिए। ब्रह्मचारी के लिए तो सभी समयों के लिए निषेध का नियम तो होता ही है, किन्तु यह नियम केवल तीन दिन के लिए है। मधु आदि का नित्य ही निषेध होता है ।२०॥

अनाकुला

क्षारलवणयोर्वर्जनं भवति भोजने त्र्यहम्। अस्य ब्रह्मचारिणः सामयाचारिकः प्रतिषेधः सार्वकालिकः। अयं तु त्र्यहसम्बन्धः। तयोर्विकल्पः। मध्वादिप्रतिषेधस्तु सामयाचारिको नित्यमेव भवति ॥ २१ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

त्र्यहं क्षारलवणयोर्वर्जनं च भवति। अत्र च त्र्यहमिति नियमाद्धर्मशास्त्रो

---

१. क-नायं मच्छिद्येत। *द्वयमपीदं एकसूत्रं हरदत्तमत इति 'क' 'ख' पुस्तके।

'यथा क्षारलवणमधुमांसानि' (आप. ध. १-४-६.) 'इत्यनेन क्षारलवणयो-र्द्वयोर्निषेधः । त्र्यहादूर्ध्वं पाक्षिकः । मध्वादेस्तु नित्य एव ॥ २० ॥

'परि त्वेति परिमृज्य तस्मिन्नुत्तरैर्मन्त्रैस्समिध आदध्यात् ॥ २१ ॥

अनु०—'परि त्वा' आदि मन्त्र से सभी ओर जल से परिमार्जन करके 'अग्नये समिधम्' आदि बारह मन्त्रों का पाठ करते हुए प्रत्येक मन्त्र पर एक समिध रखे॥२१॥

टि०—आपस्तम्ब धर्म सूत्र में समिदाधान प्रातः और सायं दोनों समय बताया गया है । किन्तु कुछ लोग सायं ही अग्नि की पूजा करते हैं 'साय प्रातः' 'सायमेवाग्नि-पूजेत्येके, (आप. ध. १।४. १६. १७) । समिदाधान का उपक्रम प्रातः किया जाता है और सायं समापन किया जाता है । कुछ लोगों के अनुसार सायं ही समिदाधान का उपक्रम करना चाहिए । तीन दिन के बाद भी उसी अग्नि में समिदाधान करना चाहिए । समिदाधान से पहले लकड़ियों से अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए ॥ २१ ॥

अनाकुला

तमुपनयनाग्निं 'परि त्वे' त्यनेन मन्त्रेण परिमृज्य सर्वतो मार्जनमुदकेन कृत्वा उत्तरैर्मन्त्रैः 'अग्नये समिधमि' त्यादिभिः द्वादशभिः प्रतिमन्त्रं समिधो नित्यमादध्यात् ब्रह्मचारी । 'सायं प्रात' (आप. ध. १४-१६) रिति विशेषः सामयाचारिकः प्रत्येतव्यः । 'सायमेवाग्निपूजेत्येके' (आप. ध. १-४-१७.) इति च । अयं तूपदेशोऽस्मिन् काले प्रारम्भार्थः । तेन प्रातरुपक्रमं समिदा-धानं सायमपवर्गम् [1]पक्षान्तरे सायमेवोपक्रमः, नान्यस्मिन् काले । तत्र यथाकामी प्रक्रमे । अधिकारादेव सिद्धे तस्मिन्निति वचनं त्र्यहादूर्ध्वमपि तस्मिन्नुपनयनाग्नावेव समिदाधानं यथा स्यादिति । तेन नित्यधारणमप्यस्य विकल्पेन साधितं भवति । व्याहृतिभिरप्यन्ते चतस्रस्समिध आदधाति । तत्प्रायश्चित्तत्वेन द्रष्टव्यम्, [2]कल्पान्तरदर्शनाच्च । 'यत्ते अग्ने तेजः' इत्यादिभि-रुपस्थानं सम(या)चाराद्भसितधारणम् ॥ २२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'परि त्वाग्ने' इत्यग्निं परिमृज्य परिसमूह्य, तस्मिन् उपनयनाग्नौ यावद्धार-णमुत्तरैर्मन्त्रैर्द्वादशभिः 'अग्नये समिधमाहार्षं' इत्यादिभिः प्रतिमन्त्रमेकैकां समिधमादध्यात् । [3]पुनश्चान्ते तूष्णीं परिसमूहनम् । [4]अनन्तरमुभयतस्तूष्णीं

१, घ. सायमेवाग्निपूजेत्यत्र तु पक्षे ।

२. 'तस्मिन् सायं प्रातस्समिधोऽभ्यादधाति भूस्स्वाहा भुवस्स्वाहा सुवस्स्वाहा भूर्भु-वस्सुवस्स्वाहेति'-(बौ गृ, १-७) इति बौधायनः । "व्याहृतिभिस्समिधोऽभ्यादधा-त्येकैकशस्समस्ताभिश्च" (हि. गृ. १-८-४) इति च सत्याषाढः । ३. ट-तश्च. ।
४. ट-तथा समूहानन्तरं, ।

समन्तं परिषेचनं, स्मृत्यन्तरादाचाराच्च । एतच्च समिदाधानं पूर्व काष्ठैरग्निमिद्ध्वा कार्यम्; धर्मशास्त्रे 'अग्निमिद्ध्वा परिसमूह्य समिध आदध्यात्' (आप. ध. १-४-१६.) इति वचनात् । परिसमूहनस्य 'परि त्वेति परिमृज्य' इति विधिः । तथा धर्मशास्त्रे तु 'समिद्धमग्निं पाणिना परिसमूहेन्न समूहन्या' (आप. ध. १-४-१८) इति गुणार्थोऽनुवादः ॥ २१ ॥

एवमग्निपूजापरशब्दं समिदाधानं सविधिकमभिधाय, इदानीं तस्यैवाधिकारसम्बन्धं गुणान्तरं चाह—

*एवमन्यस्मिन्नपि सदारण्यादेधानाहृत्य ॥ २२ ॥

अनु०—उपनयन की अग्नि हटा दिये जाने पर उपर्युक्त विधि से दूसरे अग्नि पर भी वन से समिध लाकर आधान करे ॥ २२ ॥

टि०—अरण्य के वृक्षों की लकड़ी से समिदाधान करे । इससे गाँव के फलवाले वृक्षों की लकड़ियों का प्रतिषेध किया गया है । 'आहृत्य' शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित है कि दूसरों द्वारा लाये गये समिध् का प्रयोग नहीं होना चाहिए । समावर्तन तक प्रतिदिन सायं प्रातः यह समिधादान कर्म किया जाता है अग्नि पर समिधादाधान के विषय में कई विकल्प है जैसा करना अनुकूल हो उसके अनुसार ब्रह्मचारी कर सकता है ॥ २२ ॥

अनाकुला

यथाऽस्योपनयनाग्नेः नित्यधारणपक्षे समिदाधानं नित्यत्वेन चोदितं, एवं त्र्यहं धारणपक्षे त्र्यहादूर्ध्वं अन्यस्मिन्नप्यग्नाविदं कर्म कर्तव्यमित्यर्थः ।

अरण्यग्रहणात् ग्राम्याणां फलवतां वृक्षाणां प्रतिषेधः । आहृत्येति वचनात् अन्यैराहृतानां प्रतिषेधः । एधाः काष्ठानि । एधग्रहणमग्नेराहरणशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । सामयाचारिकेषु विधिः गुर्वर्थं ब्रह्मचारिणस्समिदाहरणं विधत्ते । इदं त्वात्मार्थम् ॥ २२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एवमुक्तेन विधिना सदा उपनयनप्रभृत्यासमावर्तनात् अहरहस्सायं प्रातः, सायमेव वा समिदाधानं कर्तव्यम् । एतच्च त्र्यहादूर्ध्वमन्यस्मिन्नपि लौकिकेऽग्नौ भवति । न तूपनयनाग्निर्नष्ट इति नित्यस्य समिदाधानस्य लोपः । समिधश्चारण्यादेवाहृत्याधेयाः । यच्च धर्मशास्त्रे 'सायं प्रातर्यथोपदेशम्' इति 'सायमेवाग्निपूजेत्येके' (आप. ध. १-४-१६, १७.) इति स विकल्पविध्यर्थोऽनुवादः ।

* सूत्रद्वयमिदं हरदत्तस्य ।

केचित्—नित्यस्य सततसमिदाधानस्य अत्रोपदेशोऽस्मिन् काले प्रारम्भार्थः ततश्चेदं प्रातरुपक्रमं सायमपवर्गम् । सायमेवेति पक्षे तु सायमेवोपक्रमो नान्यत्र । तत्र यथाकामी प्रक्रमेत तथा तस्मिन्नन्यस्मिन्नपीत्यारम्भात् उपनयनाग्नेस्त्र्यहादूर्ध्वमपि विकल्पेन धारणं, तत्रैव समिदाधानं चेति ॥ २२ ॥

उत्तरया सँशास्ति ॥ २३ ॥

अनु०—अगली ऋचा 'ब्रह्मचार्यसि' आदि द्वारा गुरु बालक को शिक्षा देता है ॥ २३ ॥

टि०—जो आदेश दिये जाते हैं वे इस प्रकार है तुम ब्रह्मचारी हो' मुझसे विना पूछे केवल जल ग्रहण कर सकते हो, दिनमें मत सोना, भिक्षाचरण करना, आचार्यके अधीन रहना । बालक इन सभी आदेशों को सुनकर 'बाढम्' कहकर उत्तर देता है ॥ २३ ॥

अनाकुला

अथ तं उत्तरयर्चा 'ब्रह्मचार्यसो' त्येतया संशास्ति गुरुः संशिक्षयतीत्यर्थः यथापाठमृचा संशासनं अर्थं च कथयति । ब्रह्मचार्यसि ब्रह्मचर्याश्रमं प्राप्तोऽसि। तस्मात् कामचारवादभक्षो मा भूः । बाढमिति प्रतिवचनम् । अपोऽशान, मयाऽननुज्ञातः अप एवाशान, नान्यत् । पूर्ववत् प्रतिवचनं सर्वत्र । वार्म कुरु गुरुशुश्रूषणादि । मा सुषुप्थाः दिवा स्वापप्रतिषेधः । "दिवा मा स्वाप्सी (आश्व, गृ. १–२२–२,) रित्येवाश्वलायनः । अपर आह-अथ यः पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशो तमाहुर्न स्वपितीति । एवंविधोऽत्र स्वापाभाव इति । भिक्षाचर्यं चरेति नियमेन भैक्षविधिः । आचार्याधीनो भव मातापित्रोरपि वशं त्यक्त्वा आचार्यवशे वर्तस्वेत्यर्थः । संशासनानन्तरं भिक्षाचरणम् । अत्र बोधायनः— "अथास्मा अरिक्तं पात्रं प्रयच्छन्नाह मातरमेवाग्रे भिक्षस्वेति" । (बौ. गृ. २–७) आश्वलायनस्तु-'अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वा' (आश्व. गृ. १–२२–७) इति ॥ २५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'ब्रह्मचार्यसि' इत्यनया कुमारं संशास्ति शिक्षयति । 'अथ संशासनार्थज्ञापनाय मन्त्रार्थ उच्यते । ब्रह्मचार्यसि [2]कामचारवादभक्षो मा भूः । अपोऽशान मयानुज्ञातोऽप [3]एव पिब, बुभुक्षां तु धारय । कर्म कुरु, अस्मदर्थं कर्म मयानुक्तोऽपि कुरु, मा सुषुप्थाः पूर्वोत्थायो जघन्यसंवेशो भयाः, 'तमाहुर्न स्वपिति' (आप. ध. -४-२) इत्युक्तत्वात्, मा दिवा स्वाप्सीरिति

---

१. ट–ठ–अथास्य श्राम । २. ट–'ब्रह्मचार्येधि' इत्यधिकम् ।

३ ख–ता अपः ।

वा। भिक्षाचर्यं चर, निमन्त्रणादिना भुञ्जानोऽप्यस्मदर्थं भैक्षमाचर। आचार्याधीनो भव, मयाननुज्ञातो याजनादिकर्म मा कार्षीरिति। अत्र चासीतिछान्दसो लकारः, सुषुप्था इति रूपं च। संशासनेषु च सर्वेषु कुमारो 'बाढम्' 'एवं करोमि' इति प्रतिवचनं[1] दाप्यः। संशासनान्ते च भिक्षाचरणम्। अथास्मा अरिक्तं पात्रं प्रयच्छन्नाह—मातरमेवाग्रे भिक्षस्वेति (बौ गृ. २-५-४०.) इति बौधायनगृह्यात्॥ २३॥

वासश्चतुर्थीमुत्तरयादत्तेऽन्यत् परिधाप्य॥ २४॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकादशः खण्डः॥

समाप्तस्तुरीयः पटलः॥

अनु०—उपनयन के चौथे दिन आचार्य ब्रह्मचारी को दूसरा वस्त्र पहना कर पहने हुए वस्त्र को अगली ऋचा "यस्य ते प्रथमवास्यम्" आदि द्वारा उतारता है॥ २४॥

अनाकुला

अथ त्रिरात्रे [2]निवृत्ते चतुर्थीं रात्रिं सप्तम्यर्थे द्वितीया। चतुर्थ्यामित्यर्थः। तत्र किम्? यद्वासः कुमारस्य धार्यं सद्यःकृत्तोतं परिधापितं तदाचार्य आदत्ते उत्तरयर्चा "यस्य ते प्रथमवास्य" मित्येतया। अन्यद्वासः परिधाप्य। गृहे तु तस्मिन्नियमेन सद्यः कृत्तोतमेव। चतुर्थीमित्यत्र न रात्रिर्विवक्षिता। किं तर्हि? अहोरात्रसमुदायः। तत्राहन्यवादानं वाससः 'उदगयनपूर्वपक्षाहः' इति नियमात्॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्राश्य विनष्टानि [3]धार्याण्यन्यानि मन्त्रवत्॥ २४*।

इति गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां एकादशः खण्डः।
चतुर्थः पटलः॥

तात्पर्यदर्शनम्

चतुर्थीमिति सप्तम्यर्थे द्वितीया। चतुर्थ्यां रात्रौ चतुर्थाहोरात्रे अहन्येव 'उदगयनपूर्वपक्षाहः' (आप. गृ. १-२.) इति नियमात्। वासः उपनयनकाले यत्परिधापितं तदाचार्यः सप्तदशकृत्वोऽपान्य 'यस्य ते प्रथमवास्यम्' इत्यनयैव स्वीकरोति, न तु सावित्रेण; अत्र विशेषविधेर्बलीयस्त्वात्। उपदेशमतं तु 'देवा वै वरुणमयाजयन्' (तै. ब्रा. २-२-५.) इति लिङ्गादयज्ञेषु न प्रतिग्रह-

---

१, दद्यात्। २. घ. संवृत्ते,।
३. ग. गृह्णीतान्यानि,। * खण्डेस्मिन् हरदत्तसुदर्शनयोरेकया संख्यया भेदः

विधिरिति । एतच्चान्यद्वासः कुमारं परिधाप्यैव कर्तव्यम् । स तु 'गुरो वासस्ते ददामि' इति दद्यात् । एतच्च त्र्यहं मन्त्रवत्परिहितमेव वासः परिधेयम् । आपस्तम्बमत्या एतदन्तमुपनयनम् ॥ २५ ॥

अथ पालाशकर्मभाष्यं लिख्यते—

केचित् स्मृत्यन्तरोपसंहारेण पलाशवृक्षसमीपे पालाशं कर्म कुर्वते समानम् । अन्येषां च श्रद्दधानानां हितार्थं [१] पालाशकर्मणो विधिरुच्यते-त्रीण्यहानि प्रत्यहमामभैक्षमाचरेत् । चतुर्थेऽहन्यन्नसंस्कारेण संस्कृत्याचार्येण सह प्राचीमदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य पूर्वेणोत्तरेण वा पलाशवृक्षं त्रीण्युदगपवर्गाणि स्थण्डिलानि कल्पयित्वा तेषु यथाक्रमं प्रत्यङ्मुखः प्रणवश्रद्धामेधाभ्योऽर्घ्यपाद्याचमनस्नानवस्त्रगन्धमाल्यधूपदीपबलींश्च दत्वाऽथोपतिष्ठते 'यश्छन्दसाम्' इत्यनेन 'श्रुतं मे गोपाय' (तै. उ. १-४.)इत्यन्तेन प्रणवम् । 'श्रद्धयाग्निः समिध्यते' (तै. ब्रा. २-८-८.) इति सूक्तेन श्रद्धाम् । [२]'मेधा देवी' (तै. उ. ४-४१) इत्यनुवाकेन मेधाम् । ततः पलाशमूले दण्डं विसृज्य अन्यदण्डमादाय सहाचार्यो गृहमागच्छतीति ॥

चतुर्थे पटलेऽपीत्थं यथाभाष्यं यथामति ।
कृतं सुदर्शनार्येण गृह्यतात्पर्यदर्शनम् ॥

सुबद्धं दुर्लभं भाष्यं भाष्यार्थश्च सुदुर्ग्रहः ।
अतोऽनुकम्प्या विद्वद्भिः मन्दबुद्धिश्रुता वयम् ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृतौ गृह्यसूत्रतात्पर्यदर्शने एकादशः खण्डः ॥
समाप्तश्चतुर्थः पटलः ॥

---

२. ट-यथागम'मित्यधिकम् । ३. ब-'मेधाम्मे देवस्सविता.

अथोपाकर्मोत्सर्जनपटलः

*अथात उपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—अब उपाकरण के उत्सर्जन की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

अनाकुला

अथ शब्दः आदौ मङ्गलार्थः प्रकरणान्तरत्वात् । अतश्शब्दो हेतौ । यस्मादेतयोर्व्याख्यानमन्तरेण प्रयोगो न शक्यते कर्तुं अत एते व्याख्यास्यामः इति ॥ १ ॥

श्रवणापक्ष ओषधीषु जातासु हस्तेन पौर्णमास्यां वाध्यायोपाकर्म ॥ २ ॥

अनु०—श्रावण महीने के पूर्वपक्ष में ओषधियों के उत्पन्न हो जाने पर अथवा हस्तनक्षत्र से युक्त पौर्णमासी को यह कर्म करना चाहिए ॥ २ ॥

श्रवणापक्षे श्रावणस्य मासस्य पूर्वपक्ष इत्यर्थः । ओषधीषु जातासु प्रवर्षणाद्रूढासु हस्तेन नक्षत्रेण पौर्णमास्यां वा श्रावणस्य कर्तव्यमित्यर्थः । अध्यायस्योपाकरणं अध्यायोपाकर्मप्रारम्भ इत्यर्थः । ओषधीषु जातास्विति वचनादाजातास्वोषधीषु प्रोष्ठपद्यां भवति । तथा च कल्पान्तरं–श्रावण्यां पौर्णमास्यां प्रोष्ठपद्यामाषाढ्यां वेति ॥ २ ॥

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धेषु काण्डऋषिभ्यो

---

*अयमुपाकर्मोत्सर्जनाख्यः पटलः 'क' 'ख' इ, संज्ञितेषु अनाकुलापुस्तकेषु न दृश्यते । परं तु ग, घ, च, पुस्तकेषूपलभ्यते । अग्रिमखण्डादिस्थसुदर्शनव्याख्यापर्यालोचनया चात्रैव प्रकरणेऽस्यास्तिताप्यनुमीयते । सूत्राणि त्वत्रत्यानि आपस्तम्बेन प्रणीतानि न वेति न निश्चेतुं शक्यते । मूलसूत्रपुस्तके एतानि नोपलभ्यन्ते । सत्याषाढभारद्वाजसूत्रैः सह प्रायशस्संवदन्त्येतत्सूत्राक्षराणि । किन्तु तान्येवेत्यपि न सुदृढं वक्तुं पार्यते । अतः हरदत्ताचार्यैः ग्रन्थान्तरस्थानि सूत्राण्यर्थतोऽनूदितानि वा अथवा आपस्तम्बेनैव प्रणीतानि वेत्यत्र मूकीभावश्शरणमस्माकम् । किञ्चादर्शपुस्तकेषु त्रिष्वपि कानि सूत्राक्षराणि कानि च व्याख्यागतानीत्यादिपरिचायकं किञ्चिदपि चिह्नं नोपलभ्यते । अभ्यूहेन परं मयैवं विभागः कृतः । आदर्शान्तरालाभेन लब्धादर्शेभ्यश्च निर्णेतुमशक्ताः काश्चिदशुद्धयोऽपि तथैव मुद्रिताः । अतो विद्वद्भिः त्रुटिरत्रत्या स्वबुद्धिबलेन वा आदर्शान्तरावलोकनेन वा परणीया ।

जुहोति सदसस्पतये सावित्र्या ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदायाथर्वण-वेदायेति हुत्वा उपहोमो वेदाहुतीनामुपरिष्टात्सदसस्पतिमित्येके ॥ ३ ॥

अनु०—अग्नि के ऊपर समिध् रखने की क्रिया से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म करके शिष्यों से संयुक्त होकर प्रधान आहुतियों का हवन करे प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेवाः, ब्रह्मा स्वयंभू इन पाँच काण्डऋषियों को, सदसस्पति को 'तत्सवितुः' आदि मन्त्र से सविता को, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वणवेद के लिए हवन करके उपहोम करे। कुछ आचार्यों का मत है कि वेद की आहुतियों के बाद सदसस्पति के लिए एक आहुति होनी चाहिए ॥ ३ ॥

एवमुपाकरणस्य काल उक्तः। अथ प्रयोगः—अग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। अग्निश्च श्रोत्रियागाराद्वाहार्यः, मन्थ्यो वा, न त्वौपासनो बहूनामत्र सहत्वाभावात्। भार्यायाश्च सहत्वाभावात् वचनमत्र प्रयोगः ?। विद्यासंस्कारार्थमिदं कर्म वेदसंयुक्तम्। तत्राज्यभागान्तेऽन्वारब्धेषु शिष्येषु प्रधानाहुतीर्जुहोति। काण्डऋषिभ्यः प्रजापतिस्सोमोऽग्निर्विश्वेदेवा ब्रह्मा स्वयंभूः इति पञ्च काण्डऋषयः। तत्र प्रजापतये स्वाहेति होमः। प्रजापतये काण्डऋषये स्वाहेत्यन्ये। 'सदसस्पतिमद्भुत' मित्यनेन सदसस्पतये जुहोति। 'तत्सवितु' रित्येतया सावित्र्यै, कल्पान्तरे तथा दर्शनात्। ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदायाथर्वणवेदायेति चतस्रो वेदाहुतयः। तत उपहोमाः जयादि प्रतिपद्यते इत्यर्थः। एक आचार्या वेदाहुतीनामुपरिष्टात् सदसस्पतिं होतव्यं मन्यन्ते ॥३॥

परिषेचनान्तं कृत्वा त्रीननुवाकानादितोऽधीयीरन् ॥ ४ ॥

अनु०—परिषेचन तक की क्रियाएँ करके आरम्भ से तीन अनुवाकों का अध्ययन करें ॥ ४ ॥

तन्त्रशेषं समाप्य वेदस्यादितः त्रीननुवाकानधीयीरन् [1]"इषे त्वोर्जे त्वा" [2]'आप उन्दन्तु' [3]'उद्धन्यमान' [4]'अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति धेनुर्दक्षिणा'। एते प्राजापत्यसौम्याग्नेयवैश्वदेवानामादितश्चत्वारोऽनुवाकाः। [5]"सह वै देवानां चासुराणां चे' ति स्वयंभुवः। एतेषां वा पञ्चानां अनुवाकानां अध्ययनम् ॥ ४ ॥

प्रथमोत्तमावनुवाकौ वा ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा पहले अनुवाक 'इषे त्वा' आदि और अन्तिम अनुवाक "भृगुर्वै वारुणिः' आदि का पाठ करे ॥ ५ ॥

---

१. तै.सं.१-१-१. २. तै.सं.१-२-१. ३. तै.ब्रा१-२-१ ४. तै.सं.१-८-१. ५. तै.आ.२-१.

यदि वा वेदस्य प्रथमोत्तमौ अनुवाकावधीयोरन् 'इषे त्वा' 'भृगुर्वै वारुणिरि'ति ॥ ५ ॥

त्र्यहमेकाहं वा क्षम्याधीयीरन् ॥ ६ ॥

अनु०—जिस दिन उपाकरण कर्म किया गया हो, उस दिन से लेकर तीन दिन तक विराम करने के बाद अध्ययन करे ॥ ६ ॥

यस्मिन्नहन्युपाकरणं कृतं तत आरभ्य त्र्यहमेकाहं वा क्षम्य विरम्याधीयीरन् । उपाकृते त्र्यहमेकाहं वाऽनध्याय इत्यर्थः । तत्र काण्डोपकरणे एकाहः पारायणोपाकरणे त्र्यहः । अधीयीरन्निति वचनं उपाकृत्य त्र्यहादूर्ध्वं नियमेनाध्ययनं यथा स्यादिति ॥ ६ ॥

यथोपाकरणमध्यायः ॥ ७ ॥

अनु०—जिस विधि से उपाकरण कर्म किया जाता है उसी विधि से अध्ययन भी करना चाहिए ॥ ७ ॥

येन प्रकारेणोपाकरणं कृतं तथाऽध्ययनं कर्तव्यम् । यदि सर्वेभ्यः काण्डऋषिभ्यो हुत्वा वेदादौ त्रयाणामनुवाकानामारम्भः कृतः प्रथमोत्तमयोर्वा तथा सति यथाध्यायमध्ययनं कर्तव्यम् । यदि तु काण्डादीनां सर्वेषामारम्भः तथा सति यथाकाण्डमध्येतव्यम् । यस्तु कृत्स्नं वेदमरण्येऽनुवाक्यानि परिहाप्य प्रागुत्सर्जनादध्येतुं न शक्नोति तस्य पृथक्काण्डोपाकरणम् । तत्र तस्यैव काण्डस्यैक ऋषिः सदसस्पतिः सावित्री वेदाहुतय उपहोमाः परिषेचनान्ते तस्यैव काण्डस्यानुवाकं एकाहमनध्यायः तस्यैव काण्डस्याध्ययनम् ॥ ७ ॥

तैषीपक्षस्य रोहिण्यां पौर्णमास्यां वोत्सर्गः ॥ ८ ॥

अनु०—तैषीपक्ष की रोहिणी या पौर्णमासी को उत्सर्ग करना चाहिए ॥ ८ ॥

एवमुपाकृत्यानध्यायवर्जं वेदं काण्डं वाऽरण्येऽनुवाक्यानि परिहाप्याधीयानस्य रोहिण्यामुत्सर्गः कर्तव्यः । पौर्णमास्यां वा तैषीपक्षस्यैव । तत्रास्मिन्कर्मणि होमोऽपि भवति । कथं भवति ? उपाकरणवत् समानविधानादुपाकरणवद्गृहे हुत्वैव क्षम्यमाणं कर्म प्रतिपद्यते । हिरण्यकेशिनां तु तर्पणादूर्ध्वं उदकान्ते होमः ॥ ८ ॥

प्राचीमुदीचीं वा सगणो दिशमुपनिष्क्रम्य यत्रापः पुरस्तात् सुखाः सुखावगाहा अवकिन्यः शङ्खिन्यः तासामन्तं गत्वाभिषेकान् कृत्वा सुरभिमत्याब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभि-

१. तै. उ. २-१.

रिति मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन त्रीन् प्राणायामान् धारयित्वो-त्तीर्याचम्योपोत्थाय दर्भानन्योन्यस्मै संप्रदाय शुचौ देशे प्राक्कूलैर्द-र्भैरासनानि कल्पयन्ति ॥ ९ ॥

अनु०—शिष्यों के साथ जहाँ पूर्व की ओर या उत्तर की ओर जल हो, छूने में जल सुखकर हो, सरलता से प्रवेश करने योग्य हो, अवका और शंख से युक्त हो वहाँ जाकर घड़ों से स्नान करके 'दधिक्राव्ण', आपोहि ष्ठा मयो भुव' आदि तीन मन्त्रों, 'अवते हेड उदुत्तमिमं मे वरुण तत्त्वायामि' आदि मन्त्रों, हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका' आदि चार मन्त्रों, पवमानः सुवर्जन' आदि अनुवाक का पाठ करते हुए प्रत्येक मन्त्र पर (कुछ के अनुसार प्रत्येक पाद पर) मार्जन कर्म करते हुए मार्जन कर्म करे। फिर जल के भीतर प्रवेश करके 'ऋतं च सत्यं च' आदि अघमर्षण ऋषि द्वारा दृष्ट तृच का पाठ करके तीन बार प्राणायाम करे। (जल में खड़ा होकर ही इस अनुवाक का एक बार पाठ करे) इस प्रकार तीन बार प्राणायाम करके जल से निकलकर एक दूसरे को कुश देकर पवित्र स्थान में जल के निकट ही पूर्व की ओर अग्रभाग वाले कुशों से आसन बनावे ॥ ९ ॥

सगणः सशिष्यः यत्रापः पुरस्तादिति यत्र देशे पूर्वस्यां दिशि अपः पश्य-तीत्यर्थः। सुखाः सुखस्पर्शाः। सुखावगाहाः सुतीर्थाः यास्ववका भवन्ति ताः अवकिन्यः तथा शंखिन्यः तासामन्तं समीपं गत्वाभिषेकान् कुंभैः कृत्वा ततः सुरभिमत्या दधिक्राव्णण इत्येतयाब्लिङ्गाभिः 'आपोहि ष्ठा मयो भुव' इति तिसृभिः वारुणीभिः 'अवते' हेड' उदुत्तममिमं मे वरुण' 'तत्वायामी'त्येताभिः हिरण्यवर्णीयाभिः 'हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका' इति चतसृभिः पावमानीभिः 'पवमानः सुवर्जन' इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा अभ्युक्ष्य प्रतिमंत्रं क्रियाभ्या-वृत्तिः प्रतिपाद्मित्यन्ये। ततोऽन्तजलगतः जलस्यान्तर्निमग्नोऽघमर्षणेन तृचेन 'ऋतं च सत्यं चे' त्यघमर्षणदृष्टेन त्रीन् प्राणायामान् धारयति। सर्वत्र सगण इत्येव। अप्सु निमज्यैतमनुवाकं सकृज्जपति स एकः प्राणायामः। एवं त्रिर्धा-रयित्वोत्तीर्य गृह्यान्तरदर्शनात् प्रक्षालितोपदातान्यक्लिष्टानि वासांसि परिधा-याचम्योत्थाय द्वौ संभूय दर्भानन्योन्यस्मै संप्रदाय ततः शुचौ देशे उदकान्त एव स्थण्डिलानि पृथक्कृत्वा दर्भैः प्रागग्रैः आसनानि कल्पयन्ति ॥ ९ ॥

केभ्यः ? देवेभ्यः पितृभ्यः ऋषिभ्यश्च।

ब्रह्मणे प्रजापतये बृहस्पतयेऽग्नये वायवे सूर्याय चन्द्रमसे नक्ष-त्रेभ्यः ऋतुभ्यस्संवत्सराय इन्द्राय राज्ञे सोमाय राज्ञे यमाय राज्ञे

वरुणाय राज्ञे वैश्रवणाय राज्ञ वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्साध्येभ्यो मरुद्भ्य ऋभुभ्यो भृगुभ्योऽङ्गिरोभ्य इति देवगणानाम् ॥ १० ॥

अनु० ब्रह्मा, प्रजापति, बृहस्पति, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों, ऋतुओं, संवत्सर, इन्द्र, राजा, सोम, राजा यम, राजा वरुण, राजा वैश्रवण, वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, विश्वेदेवों, साध्यों, मरुतों, ऋतुओं, भृगुओं, अङ्गिरा आदि देवगणों के लिए आसन बनावे ॥ १० ॥

देवगण इति देवानां च तद्गणानां चेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मादि दश देवताः । इन्द्रादयः पञ्च राजानः । वस्वादयः दश देवगणाः । सर्वान्ते कल्पयन्तीति वचनात् सर्वत्र कल्पयामीत्यस्य सम्बन्धः । ब्रह्मणे कल्पयामि प्रजापतये कल्पयामीति । एतानि पञ्चत्रिंशतिरासनान्युदगपवर्गाणि । तर्पणं चैषां दैवेन तीर्थेन भवति ॥ १० ॥

अथर्षयः—विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजो गौतमोऽत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तर्षयः सप्तर्षिभ्यः कल्पयित्वा दक्षिणतोऽगस्त्याय कल्पयन्ति ॥ ११ ॥

अनु०—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप ये सात ऋषि हैं । इन सात ऋषियों के लिए आसन बनाकर, दक्षिण की ओर अगस्त्य के लिए आसन बनाते हैं ॥ ११ ॥

देवानामुत्तरतः सप्तर्षीणामासनानि, दक्षिणतोऽगस्त्याय, कश्यपादूर्ध्वमरुन्धत्याः, [1]गृह्यान्तरदर्शनात् ॥ ११ ॥

तो यावदेकवेद्यन्तैः कल्पयन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—इसके बाद जो एक वेदी वाले कृष्णद्वैपायन आदि ऋषि हैं उनके लिए आसन बनावे ॥ १२ ॥

ततः अनन्तरं यावन्तः एकवेद्यन्ताः समानवेद्यन्ताः कैः ? सप्तर्षिभिः, तेभ्यः कल्पयन्ति । के पुनस्ते ? कृष्णद्वैपायनादय ऋषयः । एतदुक्तं भवति—कृष्णद्वैपायनाय जातूकर्ण्याय तरुक्षाय तृणबिन्दवे सोमशुष्मिणे सोमशुष्काय वर्मिणे सनद्वाजाय बृहदुक्थाय वामदेवाय वाचरत्नाय हरितयज्वनः उदमयाय गौतमाय ऋणञ्ज-

---

१. उत्तरत उदीचीनप्रवणे उदगग्रैर्दर्भैः प्रागपवर्गाण्यासनानि कल्पयन्ति विश्वामित्राय…(म. गृ २-१९-२.) इति सत्याषाढगृह्ये । विश्वामित्राय जमदग्नये भरद्वाजाय गौतमायात्रये वसिष्ठाय कश्यपायारुन्धत्यै कल्पयामीति दक्षिणतोऽगस्त्याय कल्पयन्ति (भ. गृ. ३-१०) इति भारद्वाजगृह्ये ।

याय कृतञ्जयाय बभ्रवे त्र्यरुणाय त्रिधातवे त्रिवर्षाय शिबिन्ताय पराशराय वसिष्ठायेन्द्राय मृत्यवे कर्त्रे त्वष्ट्रे धात्रे सवित्रे भृतश्रवसे सावित्र्यै वेदेभ्यश्चेति पृथक्। एते कृष्णद्वैपायनादय[२]श्चतुस्त्रिंशदृषयः। वेदाश्चत्वार इत्यष्टात्रिंशदेकवेच्यन्ताः सप्तर्षिभिः। केचिदथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणानि सर्पदेवजनान् सर्वभूतानीत्येतेषामपि वेदग्रहणेन ग्रहणमिच्छन्ति; कल्पान्तरे तथा दर्शनात्॥ १२॥

प्राचीनावीतानि कृत्वा दक्षिणतो वैशम्पायनाय पङ्गये तित्तिरये उखायात्रेयाय पदकाराय, कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय, बौधायनाय प्रवचनकाराय, आपस्तम्बाय सूत्रकाराय, भरद्वाजाय सूत्रकाराय, सत्याषाढाय हिरण्यकेशाय, आचार्येभ्य ऊर्ध्वरेतोभ्य, एकपत्नीभ्यो वानप्रस्थेभ्यः कल्पयामीति॥ १३॥

अनु०—प्राचीनावीत कराके दक्षिण की ओर वैशम्पायन, पैङ्ग्य, तितिर उखा आत्रेय, पदकार, वृत्तिकार कौण्डिन्य, प्रवचन कार॥ १३॥

ततः सर्वे प्राचीनावीतानि कृत्वा वैशम्पयनादिभ्यो ०द्वादशभ्य आसनानि कल्पयन्ति दक्षिणतो देवानामगस्त्यस्य च। तत्र दक्षिणाप्रवणदेशे दक्षिणाग्रैः प्रत्यगपवर्ग (स. गृ. २.१९–७. मिति कल्पान्तरम्॥ १३॥

अथ यथास्वं पितृभ्यः कल्पयन्ति मातामहेभ्यश्च पृथक्॥ १४॥

अनु०—यथानुरूप अपने पितरों के लिए (पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के लिए) आसन बनावे और मातामह आदि (माता के पिता, पितामह, प्रपितामह) के लिए अलग आसन बनावे॥ १४॥

यथास्वं यस्य ये पितरः पितामहाः प्रपितामहा मातामहाश्च मातुर्ये पितृपितामहप्रपितामहाः सर्वेभ्य उभयेभ्यः कल्पयन्तीत्यर्थः। प्राचीनावीतानि कृत्वा दक्षिणत इति चानुवर्तते। तत्र यथास्वं पित्रादीनां नामभिः कल्पनं-रुद्रशर्मणे विष्णुशर्मण इति। अन्ये पितृभ्य इत्येव कल्पयन्ति। किमर्थं तर्हि यथास्वमिति? जीवत्पितृकाणामिहापि पिण्डदानवदुपायविशेषप्रतीत्यर्थः॥१४॥

यज्ञोपवीतानि कृत्वा तेष्वेव देशेषु तयैवानुपूर्व्या तैरेव नामभिर्देवानृषींश्च तर्पयन्ति वैशम्पायनप्रभृतींस्तु मातुः प्रपितामहपर्यन्तान्

---

१. तरक्षवे।

२. अत्र गणनायां एकत्रिंशदेव नामानि सन्ति। अतो नामत्रयं त्रुटितमिति भाति।

प्राचीनावीतिनस्तर्पयन्ति—अमुं तर्पयाम्यमुं तर्पयाम्यमुं तर्पयामीति ॥ १५ ॥

अनु०—बायें कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण कर उन्हीं स्थानों पर, उसी (पूर्वोक्त) क्रम से, पूर्वोक्त नामों से देवों और ऋषियों के लिए तर्पण करते हैं। वैशम्पायन से लेकर माता के प्रपितामह तक को दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत रखकर तर्पण करते हैं 'अमुं तर्पयामि, अमुं तर्पयामि' कहते हुए तर्पण करे ॥ १५ ॥

अथ कल्पान्तरे दृष्टो विशेषः-अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति गन्धपुष्पधूपदीपैः, अमुष्मै स्वाहामुष्मै स्वाहेत्यन्नेन, अमुं तर्पयाम्यमुं तर्पयामीति फलोदकेनेति (भा. गृ. ३-११) (स. गृ. २-७०-५-७) ॥ १५ ॥

अभिप्यंते वाऽन्योऽन्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—अथवा वे एक-दूसरे के साथ दो-दो के समूह में प्रार्थना करते हैं ॥१६॥

आप्नोतेरेतद्रूपम् । अभिप्या प्रार्थना । इहोत्सर्जने कर्मणि शिष्याणामुपाध्यायस्य च स्नानादिषु कर्मसु सह प्रवृत्तिश्चोदिता । सर्वत्र बहुवचननिर्देशात् अभिषेकान् कृत्वाऽऽसनानि कल्पयन्तीति । तत्रायं विशेषो वैकल्पिक उपदिश्यते । अन्योन्यमभिप्यन्ते वा द्वौ द्वौ सम्भूयान्योऽन्यं प्रार्थयन्ते वासःप्रवृत्त्यर्थं न सर्वे सहेति । अधीत्सन्त इति पाठे ऋध्यतेरेतद्रूपम् । उपसर्गवशाच्च स एवार्थः । ये त्वधिशब्दात् परं तकारमेवाधीयते न रेफमपि तेषां धातुर्मृग्यार्थ एव ॥ १६ ॥

यज्ञोपवीतानि कृत्वा त्रीनादितोऽनुवाकानधीयीरन् ॥ १७ ॥

अनु०—यज्ञोपवीती होकर आरम्भ के तीन अनुवाकों का अध्ययन करे ॥ १७ ॥

अध्ययनप्रकार उपाकरणेन व्याख्यातः ॥ १७ ॥

काण्डादीन् प्रथमोत्तमौ वा ॥ १८ ॥

अनु०—अथवा काण्डों के आरम्भ का पाठ करे, प्रथम या अन्तिम अनुवाक का अध्ययन करे ॥ १८ ॥

अयमपि विकल्प उपाकरणे व्याख्यातः ॥ १८ ॥

'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्तो' ति द्वाभ्यामुपोदके दूर्वां रोपयन्ति ॥१९॥

अनु०—समूल दूर्वा उखाड़कर उसका 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ति' आदि दो दो ऋचाओं का पाठ करते हुए रोपण करे ॥ १९ ॥

अथ समूलं दूर्वास्तम्बमाहृत्य तमुदकस्य समीपे रोपयति । यथा दूर्वा प्ररोहति तथा निखनन्ति 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती'ति द्वाभ्यामृग्भ्याम् । तत्र दूर्वा इत्येकवचनश्रवणात् एक एव मुख्यो निखनति तमितरेऽन्वारभेरन् । अन्ये प्रतिपूरुषमिच्छन्ति ॥ १९ ॥

अपः प्रगाह्योदधिं कुर्वन्ति ॥ २० ॥

अनु०—जल में प्रवेश करके उसमें समुद्र की तरह क्षोभ उत्पन्न करे ॥ २० ॥

अथापः प्रविश्य तत्रोदधिं कुर्वन्ति । उदधिः समुद्रः तमिव क्षोभयन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

अथ तदित्याह—

सर्वतः परिवार्योर्मिमन्तः कुर्वन्ति ॥ २१ ॥

अनु०—चारो ओर से रोककर लहरें उत्पन्न हों इस प्रकार बनावे और ऐसा तीन बार करे ॥ २१ ॥

बहुभिः परिवार्य सर्वतस्सन्निरुध्य यथोर्मयस्तत्रोत्पद्यन्ते तथा कुर्वन्तीत्यर्थः। एवं त्रिः कुर्वन्ति ॥ २१ ॥

उद्गाह्यातमितोराजिं धावन्ति ॥ २२ ॥

अनु०—जल से निकलकर पू र्व या उत्तर दिशा की ओर दौड़े ॥ २२ ॥

उद्गाह्य उत्तीर्य आतमितोः आश्रमजननात् आजिं धावन्ति । प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिधावन्ति । तथापवर्गः ॥ २२ ॥

प्रत्येत्याभिदानादि सक्तुभिरोदनेनेति ब्राह्मणान्
भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयति ॥ २३ ॥

अनु०—घर में प्रवेश करके ब्राह्मणों को भोजन करा के उनसे आशीर्वाद पढवाये ॥ २३ ॥

प्रत्येत्य गृहान् प्रविश्येत्यर्थः । आशिषः पुण्याहाद्याः पुण्याहं स्वस्त्यृध्यतामिति वाचयित्वेति ॥ २३ ॥

एवं पारायणसमाप्तौ च काण्डादिदूर्वा-
रोपणोदधिधावनवर्जम् ॥ २४ ॥

अनु०—इसी प्रकार परायण की समाप्ति भी करनी चाहिए, किन्तु काण्डादि का अध्ययन, दूर्वारोपण, उदधिकरण, आजिधावन कार्य नहीं होने चाहिए ॥ २४ ॥

टि०—तीन रात्रि बीतने के बाद चौथे दिन को जो वस्त्र बालक ने उपनयन के समय धारण किया है उसे आचार्य 'यस्य ते प्रथमवास्यम्' मन्त्र से ग्रहण करे ।

चौथी रात से चौथे दिन से तात्पर्य है। 'उदगयनपूर्वपक्षाहः' से दिन का ही विधान है। आपस्तम्ब के अनुसार उपनयन कर्म यहीं समाप्त हो जाता है। कुछ अन्य स्मृतियों में पलाश के मूल में पालाशकर्म भी किया जाता है। इसमें प्रणवश्रद्धामेधा का पूजन किया जाता है ॥ २४ ॥

यथास्मिन् वार्षिकेऽप्यध्याये समाप्ते उत्सर्गश्चोदितः एवमेव पारायणसमाप्तावपि कर्तव्यम्। तत्र वर्ज्याणि—काण्डादोनामध्ययनं, दूर्वारोपणमुदधिकरणमाजिधावनं चेति ॥ २४ ॥

प्रत्येत्य ब्राह्मणभोजानदि कर्म प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

अनु०—पुनः जाकर ब्राह्मण भोजन आदि कर्म करे ॥ २५ ॥

काण्डादिग्रहणात् पारायणाध्ययने यथाकाण्डमेवाध्ययनम्, न तु सम्भिन्नस्य पाठस्येति केचित्। अन्ये तु काण्डादिग्रहणस्योपलक्षणत्वात् सर्वप्रकारस्यानुवाकाध्ययनस्य प्रतिषेधः। पारायणे च यथारुच्यध्ययनमित्याहुः ॥ २५ ॥

एवमेवाद्भिरहरहर्देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयेत् ॥ २६ ॥

अनु०—इसी प्रकार जल से प्रतिदिन देवों, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करे ॥ २६ ॥

अद्भिरिति वचनात् अहरहस्तर्पणमद्भिरेव। तेनोत्सर्गकर्मणि पूर्वोक्तानां गन्धादोनामपि प्रवृत्तिः। अहरहस्तर्पणं ब्रह्मयज्ञानन्तरम्, कल्पान्तरे दर्शनात् ॥ २६ ॥

इति गृह्यसूत्रावृत्तावनाकुलायां उपाकर्मोत्सर्जनपटलः ॥

अथ पञ्चमः पटलः

द्वादशः खण्डः

पूर्वत्रोपनयनं व्याख्यातम् । उपनीतस्य च धर्मशास्त्रे 'अथ ब्रह्मचर्यविधिः' (आप. ध. १-२-१८) इत्यारभ्य धर्मा उपदिष्टाः । अध्यायकाण्डव्रतानामुपाकरणसमापनयोर्विधिश्च 'उपाकरणे समापने च ऋषिर्यः प्रज्ञायते' (आप. गृ. ८-१०.) इत्यत्र सम्पूर्णमेव व्याख्यातः । अथेदानीं,

'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ (याज्ञ. स्मृ. १-५१.)' इत्यादिवचनार्थानुष्ठानेन कृतकृत्यस्य गुरुकुलात् समावृत्तस्यानुष्ठेयं समावर्तनापरपर्यायं स्नानाख्यं कर्म व्याख्यायते ।

केचित्—'उपाकरणे समापने च' (आप. गृ. ८-१) इत्यत्रैतयोः कल्पस्याप्रसिद्धत्वात्, अवश्यमन्यत्र प्रसिद्ध आश्रयितव्य इति वदन्तः 'अथात उपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः' इत्यादिकं व्रतपटलं नाम उपनयनानन्तरं व्याचक्षते । नैतत्; 'उपाकरणे समापने च' (आप. गृ. ८-१.) इत्यत्रैवानयोर्विध्योर्भाष्यकारेण सम्पूर्णमेव व्याख्याातत्वात्, व्रतपटलाध्ययनस्य च विप्रतिपन्नत्वात्, भाष्ये प्रसङ्गाभावाच्च ॥

वेदमधीत्य स्नास्यन् प्रागुदयाद्व्रजं प्रविश्यान्तर्लोम्ना चर्मणा द्वारमपिधायास्ते ॥ १ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन समाप्त करके स्नान करने के लिए जाने से पूर्व सूर्योदय से पहले ही गायों के घर में जाकर दरवाजे के पास किसी मृग का चर्म इस प्रकार बिछावे कि रोएँ नीचे को ओर हों, और उस पर बैठे ॥ १ ॥

टि०—१ वेदों का अध्ययन करने के बाद आचार्य के कुल से दूसरे आश्रम में प्रवेश करने के लिए इस कर्म का विधान किया गया है । इस विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है: 'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।' १.५१ इस कर्म को स्नान कर्म भी कहा गया है । 'यस्मिन् कर्मणि नियमेन विशिष्टं स्नानं विधिवत् भवति तदेतत् स्नानमित्युच्यते ।'' मृगचर्म किसी भी प्रकार के मृग का होना चाहिए । 'वेदम्' से एकवेद या अनेक वेदों के अध्ययन करने का अर्थ समझना चाहिए । 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' (मनुस्मृति ३.२) । 'स्नास्यन्' से तात्पर्य यह है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए यह नियम नहीं होता है ॥ १ ॥

अनाकुला

एवमुपनीतश्चरितब्रह्मचर्योऽधीतवेदषडङ्गो यद्याचार्यकुलादन्यमाश्रमं प्रेप्सुर्भवति तस्य स्नानं नाम कर्मोपदिश्यते । यस्मिन् कर्मणि नियमेन विशिष्टं स्नानं विधिवत् भवति तदेतत् स्नानमित्युच्यते । स्नानं समावर्तनं तत् करिष्यन्नित्यर्थः । प्रागुदयादित्यादित्योदयो गृह्यते । नैनमेतदहरादित्य इति दर्शनात् । व्रजं गोष्ठम् । अन्तः अभ्यन्तरं लोमानि यस्य तेन चर्मणा यस्य कस्यचित् मृगस्य । आसनवचनं निष्क्रमणप्रतिषेधार्थम् । वेदमित्यविवक्षितमेकवचनम् । वेदं वेदौ वेदान् वा अधीत्य पाठतश्चार्थतश्चाधिगम्येत्यर्थः । स्नास्यन्निति वचनं नैष्ठिकस्य उत्तरं कर्म मा भूदिति ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वेदं मन्त्रब्राह्मणलक्षणम् । एकवचनं जात्यभिप्रायम् ;

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ॥' (म॰ स्मृ॰ ३-२)

इति मनुवचनात् । अधीत्य पाठतश्चाधिगम्य, सषडङ्गं समीमांसं वेद[1]मधीत्येत्यर्थः । अधीत्येति च विधिः ।

'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।'

इत्यस्य प्रदर्शनार्थः । स्नास्यन् स्नानाख्यं कर्म करिष्यमाणः प्रागुदयात् प्रागादित्योदयात् । व्रजं[2] गोशालां परिश्रितां प्रविश्येत्यादि व्यक्तार्थम् ॥ १ ॥

नैनमेतदहरादित्योऽभितपेत ॥ २ ॥

अनु॰—उस दिन सूर्य की धूप उसके ऊपर न पड़े ॥ २ ॥

टि॰—मूत्र, मल त्याग आदि कर्म भी वहीं गोष्ठ में, छाया में ही करे । आदित्य का उल्लेख होने से अग्नि के ताप का निषेध नहीं है ॥ २ ॥

अनाकुला

एनं एतत्कर्म कुर्वाणम् । एतदहः एतस्मिन्नहनि कदाचिदपि नाभितपेदादित्यः । तेन मूत्रपुरीषादिकमपि तत्रैव व्रजे छायायामपि कर्तव्यम् । आदित्यग्रहणादग्नितापस्य न प्रतिषेधः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अस्मिन्नहनि यावदस्तमयं मूत्रपुरीषोत्सर्जनार्थमप्यसौ मण्डपाद्बहिर्न निर्गच्छेत् इत्यर्थः ॥ २ ॥

मध्यन्दिनेऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते पालाशीं समिधमु-

---

१. ४- मधिगम्य । २. श्रितां गोशालाम् ।

त्तरयाऽऽधायापरेणाग्निं कट एरकायां वोपविश्योत्तरया क्षुरमभिम॰न्त्र्योत्तरेण यजुषा वप्त्रे प्रदायापाँ संसर्जनाद्या केशनिधानात् समानम् ॥ ३ ॥

अनु॰—दोपहर को अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक का कर्म करके अगले मन्त्र "इमं स्तोमम्" आदि के द्वारा पलाश की समिध अग्नि पर रखे और अग्नि के पश्चिम एक चटाई पर या एरक घास पर बैठे, अगले मन्त्र 'त्र्यायुषम्' द्वारा एक छुरे को अभिमन्त्रित करे और छुरे को 'शिवो नामासि' आदि का पाठ करते हुए नाई को दे। उष्ण और शीतल जल के गिराने के अपां संसर्जन से लेकर केशनिधान तक के कर्म पहले की तरह ही करना चाहिए ॥ ३ ॥

टि॰—उस दिन दोपहर से कर्म आरम्भ होता है। अग्नि के उपसमाधान से कर्म आरंभ होता है। शमियों का प्रयोग होता है। इस कर्म को ब्रह्मचारी स्वयं ही करता है आचार्य नहीं। आज्य भाग की आहुतियों तक के कर्म किये जाते हैं। इस क्रिया का आरम्भ ही मध्यन्दिन को होता है, सभी क्रियाएँ नहीं। 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि सूत्र में 'जुहोति' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस क्रिया में केश का वपन नापित करता है, आचार्य नहीं। कुछ लोग आचार्य कुल में ही समावर्तन का विधान करते हैं। आचार्य नापित को छुरा देता है और जब नापित केशवपन करता रहता है तब आचार्य अगले मन्त्र का पाठ करता है ॥ ३ ॥

अनाकुला

अथ तस्मिन्नहनि मध्यन्दिने कर्म प्रतिपद्यते। अग्नेरुपसमाधानादि। शम्याः। सकृत्पात्राणि क्षुरादिभिस्सह। स्वयमेव कर्ता नाचार्यः। आज्यभागान्तवचनं समिदाधानादेरुत्तरस्य कर्मणः कालोपदेशार्थम्। अनेनैव तन्त्रप्राप्तावपि सिद्धायां अग्नेरुपसमाधानादिवचनं तन्त्रारम्भस्यैव मध्यन्दिननियमः, न कृत्स्नस्य कर्मणः। उत्तरयर्चा 'इमं स्तोममि' त्येतया। न स्वाहाकारः' जुहोतिचोदनाभावात्। कटः प्रसिद्धः एरका तत्प्रकृतिभूतं तृणम्। कशिप्वित्यन्ये। उत्तरयर्चा 'त्र्यायुषमि' त्येतया। क्षुरमभिमन्त्र्य। उत्तरेण यजुषा 'शिवो नामासी' त्यनेन। वप्ता नापितः नाचार्यः। तस्मै क्षुरं प्रदाय ततः 'उष्णाः शीतास्वानीये' त्यादि यदपां संसर्जनादि कर्म केशनिधानान्तं यदुपनयनेन समानम्। किं? कारयतीत्यध्याहारः। केन कारयति? आचार्येण। यद्यप्याचार्यकुलादयं निवृत्तः, तथापि स्नानकाले विवाहकाले च समवैत्याचार्यः। समानवचनसामर्थ्यात्। योऽस्यापचितस्तमितरया (आप. गृ. ३-९.) इति

च दर्शनात् । स्पष्टं चाश्वलायनके-अथैतान्युपकल्पयति समावर्तमानः (र्त्यमाने) (आश्व गृ. ३-८-१.) इत्यादि । अन्ये त्वाचार्यकुल एव समावर्तनमिच्छन्ति । तत्राचार्यस्संसर्जनोन्दने कृत्वा क्षुरं नापितादपादाय प्रतिदिशं प्रवाप्य पुनस्तस्मै प्रदाय तं च वपन्तमुत्तरयानुमन्त्रयते । एवमन्तमाचार्यकर्म ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथा मध्यन्दिने[1] प्रधानहोमा भवन्ति तथा कर्म कुर्यात् । अत्र तु तन्त्रोपदेशोऽस्याज्यप्रधान हविष्ट्वात्[2] । 'आज्यभागान्ते' इति च क्रमार्थम् । आज्यभागान्ते कृते समिदाधानमेव, न पुनरर्थकृत्यमपोति । अत्र च पात्रप्रयोगे दर्व्यादीनि द्वन्द्वम्, क्षुरकटादीनि सकृदेव, शम्याश्च परिध्यर्थे । केचित्—दर्व्यादीन्यपि सकृदेवेति । पालाशीं पलाशवृक्षावयवभूताम् उत्तरया 'इमँ स्तोमम्' इत्येतया । कटः प्रसिद्धस्तृणमयः । एरका कटप्रकृतिभूतं पङ्क्तिकटाख्यं तृणम् । केचित्—कशिप्विति ।

उत्तरया 'त्रियायुषम्' इत्येतया[3] । उत्तरेण यजुषा 'शिवो नामासि' इत्यनेन । वप्त्रे वपनकर्त्रे कस्मैचिन्मन्त्रविदे ब्राह्मणाय तत् क्षुरं प्रयच्छति ।

केचित्—इहाप्याचार्यो वपनं प्रारभते, नापितस्तु वप्ता अस्मै प्रयच्छतीति । तदयुक्तम्; इहाचार्यस्यैवाभावात्, नापितस्यामन्त्रज्ञत्वाच्च । 'अथानुवाकस्य प्रथमेन यजुषा' इत्यारभ्य 'तस्मिन् केशानुपयम्योत्तरयोदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वा निदधाति' (आप. गृ. १०-८) इत्येवमन्तमुपनयनेन समानं, भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

टि०—सुदर्शनाचार्य ने निर्देश किया है कि कुछ लोगों का मत है कि इस कर्म में भी केशवपन की क्रिया का आरम्भ आचार्य करे और बाद में केशवपन का कार्य नापित करे । यह कर्म आचार्य का ही है, क्योंकि मन्त्र का उच्चारण नापित नहीं कर सकता । केशों को उठाकर उदुम्बर की जड में अथवा दर्भ की झाड़ी में रखे ॥ ३ ॥

जघनार्धे व्रजस्योपविश्य विस्रस्य मेखलां ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति । ४ ॥

अनु०—गायों के निवास स्थान के पीछे बैठकर मेखला निकालकर किसी ब्रह्मचारी को दे ॥ ४ ॥

---

१. ख. ग. ङ-अग्नेरुपसमाधानादिकं भवति. २. ट-हविष्कत्वात्.

३ ट. ठ-'अभिमन्त्र्य क्षुर' मित्यधिकम् ।

अनाकुला

[1]अथोप्तकेशश्मश्रुनखो व्रजस्य जघनार्धे पश्चार्धे उपविश्य मेखलां विस्रस्य विमुच्य, कस्मैचित् ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथोप्तकेशादिको व्रजस्य जघनार्धे पश्चार्धे उपविश्येत्यादि करोति ॥ ४ ॥

तां स उत्तरेण यजुषोदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वोपगूहति ॥ ५ ॥

अनु०—अगले यजुस् मन्त्र 'इदमहममुष्यामुष्य' के साथ ब्रह्मचारी उस मेखला को किसी उदुम्बर वृक्ष के मूल में या कुशों के गुच्छे में छिपाकर रख दे ॥ ५ ॥

अनाकुला

प्रच्छादयति । उत्तरेण यजुषा 'इदमहममुष्यामुष्ये' त्यादिना तत्रादःशब्देषु नामग्रहणम्-इदमहं यज्ञशर्मणो गार्ग्यस्य पाप्मानमपगूहाम्युत्तरो यज्ञशर्मा द्विषद्भ्य इति । अथ यदि वा स्यात् यज्ञशर्मणो गार्ग्यायणेति । दण्डाजिनयोरप्यस्मिन् काले त्यागः ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स तु ब्रह्मचारी तां मेखलां सूत्रोक्तदेशे उपगूहति अप्रकाशां करोति 'इदमहं[2] विष्णुशर्मणो[3] गौतमस्य पाप्मानमुपगूहाम्युत्तरो[4] विष्णुशर्मा द्विषद्भ्यः' इत्यनेन यजुषा । अत्र च स्नातुर्नामगोत्रे ग्राह्ये ॥ ५ ॥

एवंविहिताभिरेवाद्भिरुत्तराभिष्षड्भिस्स्नात्वोत्तरयोदुम्बरेण दतो धावते ॥ ६ ॥

अनु०—पूर्वोक्त (शीत एवं उष्ण जलमिश्रित) जल से अगले छः 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्रों से स्नान करे तथा अगले मन्त्र 'अन्नाद्याय व्यूहध्वम्' मन्त्र के साथ उदुम्बर की दातौन से दाँत साफ करे ॥ ६ ॥

टि०—तात्पर्य यह कि केशों के वपन के पूर्व उपनयन कर्म की तरह ही ठंढे जल में उष्ण जल मिलाकर प्रयोग किया जायगा, उसी जल से स्नान भी करे । प्रत्येक मन्त्र का उच्चारण करके स्नान करे अथवा छहों मन्त्रों के पाठ के अन्त में एक बार स्नान करे ॥ ६ ॥

---

१. घ. क्लृप्तकेश ।

२. ख. ग-नारायणशर्मणो वत्सस्य ज-विष्णुशर्मणो हरितगोत्रस्य.

३. ट-ठ-गौतमगोत्रस्य. ४. ख. ग-नारायणशर्मा.

अनाकुला

एवंविहिताभिः पूर्ववत्संसृष्टाभिः शीतोष्णाभिरित्यर्थः । तत्र संसर्जने मन्त्रस्य लोपः, वपनलिङ्गविरोधात् । एवकारः पौनर्वाचनिकः । उत्तराभिष्षड्भिः ऋग्भिः आपोहिष्ठीयाभिः हिरण्यवर्णीयाभिश्च । तत्र 'यासु जात' इत्यासां ग्रहणम् । प्रतिमन्त्रं चाभिषेकः । दतो धावते दन्तेभ्यो मलमपनयति । उत्तरयर्चा 'अन्नाद्याय व्यूहध्वम्' इत्येतया ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एवंविहिताभिस्तूष्णीं मिश्रिताभिश्शीतोष्णाभिरद्भिः । 'केशान् वपतु' इति मन्त्रलिङ्गविरोधात् एवकाराच्च न मिश्रणमन्त्रः । उत्तराभिष्षड्भिः 'आपो हि ष्ठा' इति तिसृभिः 'हिरण्यवर्णाः' इति तिसृभिश्च । स्नाति अभिषिञ्चति । एतच्च षण्णामन्ते सकृदेव ।

केचित्—प्रत्यृचमिति । तत्र; गुणार्थे प्रधानाभ्यासकल्पनमयुक्तमित्युक्तत्वात् ।

[1]अथोदुम्बरेण काष्ठेन दन्तेभ्यो मलं 'अन्नाद्याय व्यूहध्वम्' इत्यनया अपनयति ॥ ६ ॥

*स्नानीयोच्छादितस्स्नातः ॥ ७ ॥

उत्तरेण यजुषाऽहतमन्तरं वासः परिधाय सार्वसुरभिणा चन्दनेनोत्तरैर्देवताभ्यः प्रदायोत्तरयानुलिप्य मणिं सौवर्णं सोपधानं सूत्रोतमुत्तरयोदपात्रे त्रिः प्रदक्षिणं परिप्लाव्योत्तरया ग्रीवास्वाबध्यैवमेव बादरं मणिं मन्त्रवर्जं सव्ये पाणावाबध्याहतमुत्तरं वासो 'रेवतीस्त्वेति' समानम् ॥ ८ ॥

अनु०—स्थानीय जल से, जिसमें सुगन्धित वस्तुएँ मिली हों, स्नान करे ॥ ७ ॥

अनु०—अगले युजस मन्त्र 'सोमस्य तनूरसि' के उच्चारण के साथ एक नया अधोवस्त्र धारण करे और सभी प्रकार के सुरभित पदार्थों से युक्त चन्दन 'नमो ग्रहाय' आदि तीन मन्त्रों द्वारा देवताओं के लिए प्रदान करके, उसके आगे वाले मन्त्र अप्सरस्सु यो गन्धः' मन्त्र का पाठ करते हुए स्वयं अपने शरीर में उस चन्दन का लेप करे। अगले मन्त्र 'इयमोषधे' आदि का उच्चारण करते हुए सोने की मणि को जो सूत से गुँथी हुई हो, जल के पात्र में तीन बार बायें से दायें को घुमावे ।

---

१. ङ-तत उदुम्बरेण । * इदमग्रिमसूत्रं चैकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।

अगले मन्त्र 'अपाशोऽस्युरोः' आदि से उस मणि को अपने गले में बाँधे, उसी प्रकार, विना मन्त्र के एक बदर की मणि अपने बायें हाथ पर बाँधे और 'रेवतीस्त्वा' आदि मन्त्र से अथवा आगे वाले मन्त्र से एक नया वस्त्र धारण करके पूर्वोक्त कर्मों की आवृत्ति करे ॥ ८ ॥

टि०—परिप्लावन और बन्धन का कर्म बिना मन्त्र के ही किया जाता है। रेवती नक्षत्र में यह कर्म होता है। परिधान धारण करने का कर्म ब्रह्मचारी स्वयं करता है। आचार्य वस्त्र नहीं पहनाता। 'अहतमुत्तरं वासः' से परिधान का ही अर्थ लिया जायगा, उत्तरीय का नहीं। 'नित्यमुत्तरं कार्यम्' (आप० धर्म सू० २-४-२२) के अनुसार उत्तरीय धारण करने का नियम स्वतः सिद्ध है। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ उत्तरीय से ही तात्पर्य है, परिधानीय से नहीं किन्तु जैसा कि सुदर्शनाचार्य ने स्पष्ट किया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। 'परिधाप्य परिहितम्' से परिधानीय का स्पष्ट संकेत है। आचार्य कुल से ब्रह्मचारी के निकल जाने के कारण इस कर्म में आचार्य का सहयोग नहीं समझना चाहिए ॥ ७–८ ॥

अनाकुला

ततः स्नानीयैः स्नानार्हैः क्लीतकादिभिः उच्छादितः उद्वर्तितः अपकृष्टमलः पुनरपि ताभिरेवाद्भिः स्नातः उत्तरेण यजुषा 'सोमस्य तनूरसि' इत्यनेन अहतमन्तरं वासः येन कटिः प्रच्छाद्यते तदन्तरमित्युच्यते। येन बहिर्नीविप्रच्छादनं उपवीतं वा क्रियते तदुत्तरमिति। तयोरन्तरं वासः परिधाय चतुर्थ्यानुलेपनं करोति। केन? चन्दनेन। कीदृशेन?। सर्वसुरभिणा सर्वाणि सुरभिद्रव्याणि यत्र भवन्ति तत् सर्वसुरभि। सार्वसुरभिणेति पाठे रूपसिद्धिर्मृग्या। तत्र पूर्वमुत्तरैर्मन्त्रैस्त्रिभिर्देवताभ्यः प्रयच्छति 'नमो ग्रहाय' चेत्येवमादिभिः। तत उत्तरया 'अप्सरस्सु यो गन्धः' इत्येतया आत्मनोऽनुलेपनम्। "मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेत् बाहू राजन्यः, उदरं वैश्यः, (आश्व. गृ. ३-७-१०-१२)" इत्याश्वलायनः। अथ मणिमाबध्नाति ग्रीवासु प्रतिमुञ्चति। स च मणिः सौवर्णो भवति। उपदानेन च वैडूर्यादिनोपहितः। सूत्रोतः सूत्रेणोतः। सपाश इत्यर्थः। तं मणिं उत्तरयर्चा 'इयमोषधे' त्येतया उदपात्रे त्रिः परिप्लावयति। सकृदेव मन्त्रः। अथ तं उत्तरयर्चा 'अपाशोऽस्युरो' इत्येतया ग्रीवास्वाबध्नाति। ग्रीवाशब्दोऽयं धमनिवचनः बहुवचनान्तः तद्योगात् कण्ठे प्रयुज्यते। अस्यामृचि पृथिवी स्तूयते। तस्मादियमोषधिस्त्रायमाणेति भवितव्यम्। सकारलोपश्छान्दसः। अथ बादरं बदरीबीजेन कल्पितमेवमेव सूत्रोतमुदपात्रे त्रिः प्रदक्षिणं परिप्लाव्य सव्ये पाणावाबध्नाति। तूष्णीमेव परिप्लावने च बन्धने च मन्त्रप्रतिषेधः। पुनर्मणिग्रहणादुपधानमस्य न भवति। सूत्रोतस्तु

भवति । अबाध्य मणिं तत उत्तरं वासः करोति अहतमेव । तत्र रेवतीस्त्वेत्येवमादि कर्म समानमुपनयनेनैव प्रत्येतव्यम् । रेवतीस्त्वेत्येताभिरिति वा उत्तराभिरित्येव वा सिद्धे समानवचनमुपनयनवत् प्रयोगार्थम् । तेन उत्तराभ्यामभिमन्त्र्येत्यादि परिहितानुमन्त्रणान्तं गुरोः कर्म ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्नानोपकरणैः [1]क्लीतकमधूकचूर्णादिभिः उद्वर्तितदेहः आमलकपिष्टादिभिः[2]स्नानीयैस्स्नातश्च भवति ॥ ७ ॥

'सोमस्य तनूरसि' इत्यनेन यजुषा अहतमन्तरं वासः अन्तर्वासोऽन्तरीयमित्यर्थः । तत् परिदधाति । अनेन सूत्रेणात ऊर्ध्वं स्नातकस्य नित्यमन्तर्वासो विधीयते । यजुः पुनः कर्मार्थमेव, प्रकरणाम्नानात् । ततस्सार्वसुरभिणा सर्वैः कस्तूरिकादिभिर्गन्धद्रव्यैर्वासितेन चन्दनेन अनुलिम्पतीति व्यवहितेन सम्बन्धः कथमनुलिम्पति ? [3]इत्यत्राह-उत्तरैरित्यादि । 'नमो ग्रहाय च' इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः देवताभ्यश्चन्दनं पूर्वं प्रदाय, पश्चात् 'अप्सरस्सु यो गन्धः' इत्यनया आत्मानमनुलिम्पति । मुखस्य चाग्रेऽनुलेपः; 'मुखमग्रे ब्राह्मणो लिम्पेत्' (आश्वगृ. ३-७-१०.) इत्याश्वलायनगृह्यात् । देवताभ्यः प्रदानं च नमश्शब्देन, न तु मन्त्रान्तेन; नमस्कारस्यापि [4]प्रदानार्थत्वात् । मणिं कीदृशं ? सौवर्णं सुवर्णविकारम् । सोपधानं वज्रवैडूर्यादिना उभयतः परिगृहीतम् । सूत्रोतं सूत्रप्रोतम् 'इयमोषधे त्रायमाणा' इत्येतया सकृदुच्चरितया उदपात्रे प्रदक्षिणमविरतं त्रिः परिप्लाव्य, उत्तरया 'अपाशोऽस्युरो मे' इत्यादिकया 'पुण्याय' इत्यन्तया त्र्यवसानया तं मणिं ग्रीवासु कण्ठे आबध्य, बदरीबीजमयं बादरं [5]सूत्रोतमेव मणिमेवमेवोदपात्रे त्रिः प्रदक्षिणं तूष्णी परिप्लाव्य, तूष्णीमेव सव्ये पाणावाबध्नाति ।

अहतमुत्तरं वासः [6]परिधानीयमेव, नान्तरीयम् । तदुपनयनेन समानम् । स्वयं परिदधाति, इहाचार्याभावात् । ततश्च 'रेवतीस्त्वा' इति द्वाभ्यां परिधानीयं वासोऽभिमन्त्र्य 'या अकृन्तन्' इति तिसृभिः परिधाय 'परीदं वासः' इत्यनुमन्त्रयते । 'रेवतीस्त्वेति समानम्' इति वचनबलाच्च मन्त्रस्थयुष्मदर्थलिङ्गबाध एव । यद्वा अन्यो विद्वान् ब्राह्मणः रेवतीस्त्वेति समानं करोति ।

---

१. ख. ग-क्लीतकमाधुक. क-क्लितगविधुक. घ. मसूर । २. ट-ड-शिरस्स्नानीयैः ।
३. इत्यत आह— ४. ट-प्रदर्शनार्थत्वात् ।
५. ठ-ड-सूत्रोतं । ६. घ-ट-परिधानमेव नान्तरीयम् ।

कुतः पुनः 'अहतमुत्तरं वासः' इत्यनेनापि परिधानमेवोच्यते नोत्तरीयम्? उच्यते—रेवतीस्त्वेति समानमुपनयनेनेति वचनात् उपनयने च 'तिसृभिः परिधाप्य परिहितमुत्तरया' (आप. गृ. १०-१०.) इति परिधानार्थवासोऽवगमात्। 'पूर्वस्य 'अहतमन्तरं वासः' इति चोदितत्वाच्च। उत्तरीयं तु 'नित्यमुत्तरं कार्यम्' (आप. ध. २-४-२२.) इत्यादिधर्मशास्त्रवचनादत्रापि सिद्धमेव।

केचित्—इहोत्तरीयं विधीयते नैव परिधानीयम्; उत्तरमिति वचनात्। तथा आचार्य एव 'रेवतीस्त्वा' इत्याद्युपनयनेन समानं करोतीति।[2] तन्न; 'परिधाप्य, परिहितम्' इत्यनुपपत्तेरेव। तथा आचार्यकुलान्निवृत्तेनेदं स्नानं क्रियते। [3]तत्राचार्यकर्तृकत्वाप्रसक्तिरेव ॥ ८ ॥

तस्य दशायां प्रवर्तौ प्रबध्य दर्व्यामाधायाज्येनाभ्यानायन्नुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

अनु०—उस वस्त्र के आँचल में दो कर्णभूषण बाँधकर उन्हें दर्वी में रखकर उनके ऊपर आज्य गिराते हुए आगे के आठ मन्त्रों 'आयुष्यं वर्चस्यम्' आदि द्वारा आठ प्रधान आहुतियाँ करे। उसके बाद जया आदि आहुतियाँ करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

तस्योत्तरस्य वाससो दशायां प्रवर्तौ कर्णालङ्कारौ सवर्णौ प्रबध्य दर्व्यामाधायाज्येन उत्तरा अष्टौ प्रधानाहुतीर्जुहोति। अभ्यानायन् प्रवर्तयोरुपर्याज्येनानयनं कारयन्नित्यर्थः। अभ्यानयन् इति वा पाठः। अस्मिन् पक्षे सव्येन पाणिनाऽभ्यानयनम्। अभ्यानायमिति णमुलन्तस्य युक्तः। अभ्यानीयाभ्यानीयेत्यर्थः। सर्वथा प्रवर्तयोरुपर्यासिक्तेनाज्येन प्रधानहोमः। जयादिवचनं प्रवर्तावपनीय यथासिद्धं प्रतिपद्येतेत्येवमर्थम् ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तस्य अनन्तरप्रकृतस्य वाससो दशायां प्रवर्तौ कुण्डले सौवर्णे प्रबध्य तावुपायेन दर्व्या अग्रे स्थापयित्वा। आज्येनेति परिभाषाप्राप्तानुवादोऽभ्यानयनविधानार्थः। अभ्यानायमिति [4]णमुलन्तोऽर्थपाठः। ततश्च स्वयमेव सव्येन हस्तेन स्थापितयोः प्रवर्तयोरुपरि आज्यमानीय तेनैवाज्येन उत्तराः 'आयुष्यं वर्चस्यम्' इत्याद्या अष्टौ प्रधानाहुतीर्हुत्वा, ततो दर्व्या अग्रात्तावपनीय,

१. ख. ङ—अपूर्वस्य। २. ट-नैतत्। ३. तत्राचार्यत्विगाः।
४. णमुलन्तश्चार्थपाठः।

यथाप्रसिद्धं जयादि प्रतिपद्यते। सूचनात्सूत्रमिति निर्वचनाच्च सूत्रे सर्वत्रानेकार्थविधिनिबन्धनो वाक्यभेदोऽपि नैव दोष इत्युक्तम् 'अग्निमिध्वा' (आप० गृ. १-१२.) इत्यत्र।

केचित्—सव्येन हस्तेन अभ्यानायन्नन्येन वाभ्यानायन्निति पाठेन भविव्यमित्याचक्षते ॥ ९ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वैताभिरेव दक्षिणे कर्ण आबध्नीतैताभिस्सव्ये ॥ १० ॥

अनु०—अग्नि के चारो ओर जल द्वारा परिषेचन तक की सभी क्रियाएँ करके इन्हीं मन्त्रों का पाठ करते हुए उन कर्णाभूषणों में से एक को दाहिने कान में बाँधे और फिर इन्हीं मन्त्रों द्वारा दूसरे कर्णाभूषण को बाँये कान में बाँधे ॥ १० ॥

अनाकुला

परिषेचनान्तवचनमानन्तर्यार्थम्। तेनास्याहनि भोजनं न भवति। एताभिरेवाहुतिभिः आहुत्यर्थैर्मन्त्रैरित्यर्थः। वचनादेकं कर्म बहुमन्त्रं स्वाहाकारवांश्च मन्त्रः प्रयोज्यः। सव्ये चेत्युच्यमाने मन्त्राणां विभज्य विनियोगः स्यात्। तस्मात् पुनरेवाभिरित्युक्तम् ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

परिषेचनानन्तरमेव एताभिरेव 'आयुष्यं वर्चस्यम्' इत्यष्टाभिरेव दक्षिणे कर्णे प्रवर्तयोरेकं आबध्नीत प्रतिमुञ्चेत्। तथान्यमेताभिरेव सव्ये कर्णे। अत्र च होममन्त्राणामेव आबन्धनकरणत्वेन सूत्रवाक्यसादृश्यानुमितया श्रुत्यैव चोदितत्वात्तैराबन्धनमपि गौण्या वृत्त्या प्रकाश्य[1]मैन्द्रीवत्। तथैताभिरिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो बहुत्वादृचां ब्राह्मणग्रामवत्। न चात्र होमार्थानामेव आबन्धनार्थत्वेनापि विनियोगे देवदत्तीयेयं गौर्यज्ञदत्तीयेतिवद्विरोधः। [2]'पुरोडाशक-

१. 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते' इतीयमैन्द्री ऋक्। अनया चेन्द्रो मुख्यया वृत्त्या प्रकाश्यते। 'कदाचन स्तरीरसीत्यैन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति ब्राह्मणवाक्यगतया ऐन्द्र्येति तृतीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्वमस्या ऋचोऽवोध्यते। अतश्च विनियोगबलादिन्द्रप्रकाशिकाया अप्यस्याः गार्हपत्यप्रकाशकत्वमपि गौण्या वृत्त्याङ्गीक्रियते। तद्वदत्रापि होमीयानामपि मन्त्राणां विनियोगबलात् आबन्धनप्रकाशकत्वमपीत्यर्थः।

२. 'कपालेषु श्रपयती' ति वाक्येन पुरोडाशश्रपणे विनियुक्तानि कपालानि। 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति' इति वाक्येन पुरोडाशार्थस्यैव सतः कपालस्यात्यक्तपूर्व-

पालेन तुषानुपवपति' इत्यादिवदधिष्ठानलक्षणया विनियुक्ताकार[1] मतिरोधार्थापि विनियोगोपपत्तेः, ऋङ्मन्त्रविषये त्वनेकार्थत्वमपि नायुक्तमित्या[2] ग्नेय्यधिकरणे उक्तत्वाच्च।

केचित्—एताभिरप्यनेन प्रकृताहुतिपरामर्शादाहुत्यर्था मन्त्रा लक्ष्यन्ते 'पितॄणां याज्यानुवाक्याभिरुपतिष्ठते' इतिवदिति। नैवम्; यतः पूर्वत्रोत्तराहुतोरिति लक्षणया प्रकृतानां मन्त्राणामपि परामर्शो वरम्; न त्विहापि वाक्ये लक्षणा ॥ १० ॥

एवमुत्तरैर्यथालिङ्गं स्रजश्शिरस्याञ्जनमादर्शावेक्षणमुपानहौ छत्रं दण्डमिति ॥ ११ ॥

अनु०—इसी प्रकार आगे के मन्त्रों द्वारा 'शुभिके शिर' आदि दो मन्त्रों द्वारा शिर पर माला बाँधे, 'यदाञ्जनं त्रैककुदम्' इन दो मन्त्रों से अञ्जन लगावे। 'यन्मे वर्च' आदि मन्त्र से दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखे फिर 'प्रतिष्ठे स्थ' यजुस् मन्त्र के साथ जूता को धारण करे; 'प्रजापतेश्शरणमसि' यजुस् मन्त्र से छाता लगावे और 'देवस्य त्वा' यजुस् मन्त्र से छड़ी ले ॥ ११ ॥

टि०—माला आदि छः पदार्थों को मन्त्रों में जैसा निर्देश हो उसके अनुसार धारण करे। 'शुभिके शिर' दो मन्त्रों से सिर पर माला बाँधे "न मालोक्ताम्। माले चेत् ब्रूयुः, स्रगित्यभिधापयीत" (आश्व० गृह्य ३-८-१२) दो मन्त्रों से दाहिनी आँख में अंजन लगावे, उन्हीं दोनों मन्त्रों से बायी आँख में अंजन लगावे। सुदर्शनाचार्य के अनुसार दोनों आँखों में एक साथ अंजन लगावे। अंजन लगाने की विधि की तरह ही दोनों मन्त्रों का पाठ करके जूते पहने जायंगे अथवा दोनों मन्त्रों का पाठ करके दाहिने में और फिर उनका उच्चारण करके बाँए में जूता पहने ॥ ११ ॥

अनाकुला

एवमुत्तरैरपि मन्त्रैर्यथालिङ्गं स्रगादीनि षट् द्रव्याण्युपयुञ्जीत यथार्हम्। तत्र 'शुभिके शिर' इति द्वाभ्यां स्रजश्शिरसि बन्धनम्। यथालिङ्गवचनात् (द्वाभ्या 'मिमां तामपिनह्ये' इति)। स्रज इति षष्ठ्येकवचनम्, न प्रथमाया द्वितीयाया वा बहुवचनम्। इमां तामित्येकवचनात्। शिरसीति वचनात् अंसयोर्न भवति। "न मालोक्ताम्। माले चेत् ब्रूयुः, स्रगित्यभिधापयीत" (आश्व. गृ. ३. ८. १२) इत्याश्वलायनः।

सम्बन्धस्य तुषोपवापाधिकरणत्वमपि विधीयते। तद्वदत्रापि अपरित्यक्तहोमसम्बन्धानामेव मन्त्राणामाबन्धनार्थत्वेनापि विधाने न कोऽपि दोष इत्यर्थः।

१. ख. ग. घ—विनियुक्ताकारं विरोधायापि इत्यपपाठः। २. पू. मी. ३–२–८।

अथ 'यदाञ्जनं त्रैककुद' मिति द्वाभ्यामञ्जनं अक्ष्णोरुपयुञ्जीत । तत्र द्वाभ्यामपि मन्त्राभ्यां पूर्वं दक्षिणस्याञ्जनम् । अथ ताभ्यामेव सव्यस्य । यद्यपि 'तेन वामाञ्जे' इति मन्त्रे द्विवचनं भवति । तथापि एवमित्यतिदेशसामर्थ्यात् प्रवर्तयोराबन्धनवत क्रियाभ्यावृत्तिर्मन्त्राभ्यावृत्तिश्च भवति । तत्र सान्नाय्य-कुम्भीवत् द्विवचनं, यथा "अप्रस्रंसायाययज्ञस्योखे उपद्धाम्यह" मिति ।

अथादर्शस्यावेक्षणं 'यन्मे वर्च' इत्येतया । अवेक्षणमित्यनुच्यमाने आदान-मेव स्यादस्मिन् काले; 'इदं तत्पुनरादद' इति लिङ्गात् । तस्मादवेक्षणग्रहणम् । ततः उपानहावुपमुञ्चते 'प्रतिष्ठे स्थ' इति यजुषा । आञ्जनवत् क्रियाभ्यावृत्ति-र्मन्त्रस्यावृत्तिश्च भवति । ततश्छत्रमादायात्मानमाच्छादयति 'प्रजापतेश्शरण-मसी'ति यजुषा । 'देवस्य त्वे'ति यजुषा दण्डमादत्ते । वैणवमित्याश्वलायनः ॥ (आश्व. गृ. ३-८-१५) ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथा कर्ममध्ये समन्त्रकं प्रवर्त्तौ हि बद्धौ, एवमुत्तरैर्मन्त्रैर्यथालिङ्गं मन्त्र-लिङ्गानुसारेण स्रगादिषट्कं आबध्नोत कर्तव्यमित्यादि यथाई वाक्यशेषः । तत्र 'शुभिके शिरः' इत्यनयैकयैव शिरसि स्रजमाबध्नीत । 'यामाहरत्' इत्येषा विकल्पार्था, 'एकमन्त्रणि कर्माणि' । 'अवशिष्टा विकल्पार्थाः' (आप. प. १-४१; ४-१२) इति परिभाषावचनात् । स्रज इति द्वितीयैकवचनार्थे; 'शुभिके शिर आरोह' 'यामाहरत्' इत्याद्येकवचनलिङ्गात् । षष्ठ्येकवचनं वा । तथा सति. स्रज आबन्धनं कर्तव्यमिति शेषः ।

तथा 'यदाञ्जनं त्रैककुदम्' इत्येकयैव सकृदुच्चरितया त्रिककुत्पर्वतजाता-ञ्जनेन युगपदक्ष्णोरञ्जनं कर्तव्यम् । अत्रापि 'मयि पर्वत' इत्यादीनि चत्वारि यजूंषि विकल्पार्थान्येव । न चाक्ष्णोः पर्यायेणाञ्जनम्; 'तेन वाम' इति द्विवचनलिङ्गविरोधात् । तथैव 'यन्मे वर्चः परागतम्' इत्येतया आदर्शावेक्षणं कर्तव्यम । तथैव 'प्रतिष्ठे स्थः' इत्यनेन यजुषोपानहौ युगपदुपमुञ्चते; 'प्रतिष्ठे स्थः' इति द्विवचनलिङ्गात् । तथैव तूष्णीं छत्रमादाय 'प्रजापतेः शरणमसि' यति यजुषा आत्मानमभिच्छादयति । तथैव दण्डं वैणवं 'देवस्य त्वा' इत्यादि-यजुषा आदत्ते । इति एतानि षट् द्रव्याणीत्यर्थः ।

केचित्—'शुभिके शिर आरोह' 'यामाहरत्' इति द्वाभ्यामपि स्रज आब-न्धनम् । तथा 'यदाञ्जनं' 'मयि पर्वत पूरुषम्' इति द्वाभ्यामप्यावृत्ताभ्यां दक्षिणसव्ययोरक्ष्णोः क्रमेणाञ्जनम्; 'एवमुत्तरैर्यथालिङ्गम्' इति वचनबलात् ।

---

१. ट—इति वु ।

ततश्च 'तेन वाम्' इति लिङ्गमपि विधिबलाद्बाध्यमेव। यथैकस्यां सान्नाय्यकुम्भ्यां 'उखे उपधाम्यहम्' इति द्विवचनलिङ्गम्। उपानहोरुपमोचनेऽप्यञ्जनवदेव व्याख्येति। तदसत्; 'एकमन्त्राणि' (आप. प. १-४१) इत्यादिपरिभाषाविरुद्धत्वात्। 'उत्तरैर्यथालिङ्गम्' इत्यस्य च पूर्वव्याख्यानेऽप्युपपत्तेः। 'मयि पर्वत पूरुषम्' इत्यत्र पाठे प्रश्लिष्टेऽपि विभागे निराकाङ्क्षत्वात्, वाक्यभेदावगतेश्च ॥ ११ ॥

* वाचं यच्छत्या नक्षत्रेभ्यः ॥ १२ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्योत्तरेणार्धर्चेन दिश उपस्थायोत्तरेण नक्षत्राणि चन्द्रमसमिति ॥ १३ ॥

अनु०—नक्षत्रों का उदय होने तक मौन रहे । १२ ॥

अनु०—नक्षत्रों का उदय होने पर पूर्व या उत्तर दिशा को जाकर अगले अर्धर्च 'देवीष्षडुर्वी' द्वारा दिशाओं की पूजा करे फिर अगले अर्धर्च 'मा हास्महि' द्वारा चन्द्रमा सहित नक्षत्रों की पूजा करे ॥ १३ ॥

टि०—छः दिशाओं को देखे—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे ॥ १३ ॥

अनाकुला

ततः उत्तरेणार्धर्चेन 'देवीष्षडुर्वी' रित्यनेन प्राङ्मुखः प्राञ्जलिः सर्वा दिशो मनसि कृत्वा मन्त्रान्तेन प्रदक्षिणमावृत्य समनुवीक्षते। षडेव दिशः। षडुर्वीरिति लिङ्गात्। प्राच्याद्याश्चतस्रः ऊर्ध्वा अधरा चेति। तत उत्तरेणार्धर्चेन 'मा हास्महो'त्यनेन नक्षत्राणि चन्द्रमसं च सहोपतिष्ठते ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

इदं च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

उत्तरेणार्धर्चेन 'देवीष्षडुर्वीः' इत्यनेन दिशः अवाचीषष्ठा उपस्थाय, उत्तरेण 'मा हास्महि' इत्यर्धर्चेन नक्षत्राणि चन्द्रमसं चोपतिष्ठते। श्रुतिबलाच्च 'मा हास्महि' इत्यत्र नक्षत्राणीत्यध्याहृत्य तानि प्रकाश्यान्येव ॥ १३ ॥

रातिना सम्भाष्य यथार्थं गच्छति ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वादशः खण्डः ॥

---

* इदमुत्तरं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन।

अनु०—मित्र के साथ भाषण करने के बाद वह इच्छानुसार जावे (अभीष्ट आश्रम में प्रवेश करे) ॥ १४ ॥

अनाकुला

रातिना बन्धुना संभाष्य किं मया कर्तव्यम् ? क आश्रमः प्रतिपत्तव्यः ? इति संभाषणं कृत्वा तेन रातिना सह गच्छति अवधृतमाश्रमं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । 'बुध्वा कर्माणि यत् कामयेत तदारभेते' (आप. ध. २-२१-५.) त्यनेनैव सिद्धे पुनर्वचनं प्रव्रजतोऽपि संभाषणान्तं स्नानकर्म यथा स्यादिति ॥ १४ ॥

इति गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां द्वादशः खण्डः ॥ १२ * ॥

तात्पर्यदर्शनम्

रातिः मित्रं; रमयतीति व्युत्पत्त्या । तेन सह विस्रब्धस्सम्भाष्य आत्मशक्त्याद्यनुरूपं धर्मादिकं विचार्य निश्चित्य । यथार्थं गच्छति तेन रातिना सह योऽर्थो धर्मो मोक्षो वा साध्यत्वेनावधृतः, तदनुरूपमाश्रमं गार्हस्थ्यं मौनं वा प्रतिपद्यते । एवं च ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजतोऽपि सम्भाषणान्तं स्नानं कृत्वैव [1]प्रव्रज्यात् ॥ १४ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने द्वादशः खण्डः समाप्तः ॥

---

* खण्डेऽस्मिन् हरदत्तमते सूत्रसंख्या द्वादश (१२) सुदर्शनमते चतुर्दश (१४)

१. प्रव्रज्या ।

अथ त्रयोदशः खण्डः

एवं स्नानस्य मुख्यकल्पं [1]विधायानुकल्पं विदधाति—

अथैतदपरं तूष्णीमेव तीर्थे स्नात्वा तूष्णीं समिधमादधाति ।। १ ।।

अनु०—यह समावर्तन की दूसरी विधि है। किसी पवित्र जलाशय में बिना मन्त्र के ही स्नान करे और चुपचाप ही बिना मन्त्र के अग्नि पर समिध का आधान करे ।। १ ।।

टि०—प्रमुख तथा श्रेष्ठ स्नानकर्म का पहले वर्णन दिया जा चुका है। इस खण्ड में दूसरे स्नानविधान का वर्णन किया गया है जो अल्प महत्त्व का है, गौण है। इस विधान में बिना मन्त्र के ही सरोवर में स्नान करे। जल निकालकर स्नान न करे। समिध का आधान भी चुपचाप किया जाता है, मन्त्र के पाठ के साथ नहीं। केशवपन का कर्म लौकिक होता है; उसमें भी मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता। इस विधान में केशश्मश्रुवपन और समिदाधान कर्म बिना मन्त्र के ही होता है। जिस अग्नि में कर्म किये जाते हैं वह अग्नि श्रोत्रिय के घर से लाई जाती है ।। १ ।।

अनाकुला

व्याख्यातं स्नानकर्म गरीयश्च मुख्यं च। अथेदानीमेतदपरं स्नानविधानं लघीयश्च गौणं च व्याख्यायते। किं तत्? तूष्णीमेव तीर्थे भूमिष्ठे जले स्नाति। नोद्धृताभिश्शीताभिः। तूष्णीं च समिधमादधाति। न मन्त्रेण। पालाशी समित्। एतावदेवास्मिन् विधौ कार्यम्। नान्यत् किञ्चित् 'प्रागुदयात् व्रज' मित्यादिकम्। वपनादि तु लौकिकमधर्मकं भवति। तत्र प्रयोगः—केशश्मश्रुनखलोमानि वापयित्वा मेखलादण्डमजिनमित्यपनीय तूष्णीमेव तीर्थे स्नात्वा दन्तधावनमौदुम्बरेण काष्ठेन कृत्वा स्नानीयोच्छादितः पुनः स्नात्वा अहते वाससी परिधायाचम्याग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य पालाशीं समिधमग्निं मनसा ध्यायन्नाधाय मणिप्रभृतान्यलङ्करणानि यथोपपादमुपादत्ते तूष्णीमेव सर्वम् ।। १ ।।

तात्पर्यदर्शनम्

अथापरमेतद्विधानं। उच्यते इति शेषः। तीर्थे पुण्यनद्यादौ। समिधं पालाशीं, अविरोधात्। एवकाराच्चास्मिन् विधौ (२)नान्यत्किञ्चिदनुष्ठेयम्।

---

१. ठ-विधायाधुनानुक.। २. ट-ठ नान्यत् कर्म किञ्चित्।

ननु—पूर्वस्मिन्नेव विधौ स्नानसमिदाधानयो'रन्यः प्रकारो वैकल्पिक इति किमिति नास्थीयते ? उच्यते—एवकारवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, स्नानसमिदाधानयोरिह व्युत्क्रमणाभिधानात्, अस्य सूत्रस्य बह्वक्षरत्वाच्च। यदि ह्ययं पूर्वस्मिन्नेव विधौ वैकल्पिकोऽभिप्रेतोऽभविष्यत्, तदा तत्रैव 'पालाशीं समिधमुत्तरयाधाय तूष्णीं वा' 'एवंविहिताभिरेवाद्भिरुत्तराभिः षड्भिः स्नात्वा तीर्थे वा तूष्णीम्' इत्यल्पैरेवाक्षरैरसूत्रयिष्यत्। किञ्च सूत्रकाराणां नैवं शैली दृष्टचरा—यदुत साङ्गं प्रधानमुक्त्वा पश्चाद्थादिना सूत्रेण वैकल्पिकानां प्रकारभेदानामभिधानमिति। एवमेव 'अथैतदपरं दध्न एवाञ्जलिना जुहोति' (आप. गृ. २२-१०) [2]इत्यस्यापि व्याख्यानम्। प्रयोगस्तु—ब्रह्मचारिलिङ्गानि मेखलादीनि त्यक्त्वा तीर्थे तूष्णीं स्नात्वा, वासोऽन्तरपरिधानादि कृत्वा, श्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य 'यत्र क चाग्निम्' इति विधिनोपसमाधाय, तत्र प्रजापतिं मनसा ध्यायन् तूष्णीमेव समिधमादधाति।

केचित्—केशश्मश्रु[3]वपनादिकमन्यदप्यविरोधि तूष्णीमेव करोतीति॥१॥

यत्रास्मा अपचितिं कुर्वन्ति तत्कूर्चं उपविशति यथापुरस्तात् ॥२॥

अनु०—पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही घासों के एक कूर्च के ऊपर उस स्थान पर बैठे जहाँ अर्घ क्रिया द्वारा पूजा की जानी हो ॥ २ ॥

टि०—'पहले की तरह से' का तात्पर्य यह है कि 'राष्ट्रभृदसि' मन्त्र का उच्चारण करते हुए बैठे। मधुपर्क नाम की यह पूजा स्नातक के लिए की जाती है। जिस विधि से उपनयन कर्म में आचार्य बैठता है उसी विधि से कुटुम्बियों द्वारा दिये गये आसन पर बैठे। कूर्च के सिरे ऊपर की ओर रखे ॥ २ ॥

अनाकुला

उक्तयोरन्यतरेण स्नातको भवति। तस्यास्मिन् काले बन्धुभिरपचितिः कार्या; गोमधुपर्कार्हो वेदाध्याय इति वचनात्। आवेद्यार्घ्यं [4]दद्या (बौ. गृ. १-२-१.) दिति कल्पान्तरम्। साधु व्रतस्नात [5]मर्घयिष्यामो भवन्तमिति निगदेनावेदनं कौषीतकिनस्समामनन्ति। "विष्टरं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्को गौरित्येतेषां त्रिस्त्रिरेकैकं वेदयन्ते" (आश्व. गृ. १-२१-६) इत्याश्वलायनः। तत्र यत्र देशेऽस्मै अपचितिं कुर्वन्ति बान्धवाः, तत्र तैर्दत्ते कूर्चं उप-

---

१. ठ—रयमन्यः। २ ठ—इत्यत्रापि।
३ वपनादिकर्माण्यन्यदपि। ४. कुर्यात्। ५. ग अर्च.।

विशति यथापुरस्तादुपनयने आचार्यः । कूर्चं प्रत्तमुपादायोदगग्रं निधाय तस्मिन् 'राष्ट्रभृदसी' त्यनेनोपविशतीत्यर्थः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यत्र यस्मिन् स्वधर्मयुक्तस्य कुटुम्बिनो गृहे, आतिथ्यार्थमागतायास्मै स्नातकायापचितिं पूजां मधुपर्काख्यां कुर्वते कुटुम्बिनः । बहुवचनं चानुपादेयगतत्वादविवक्षितम् । अत एवोत्तरत्र प्राहेत्येकवचनम् । तत् तत्र गृहे तैर्दत्ते कूर्चे उपविशति । यथा पुरस्तात् उपनयने आचार्यः 'राष्ट्रभृदसि' इति यजुषा उपविशति तथा उपविशेदित्यर्थः ॥ २ ॥

एवमुत्तराभ्यां यथालिङ्गं राजा स्थपतिश्च ॥ ३ ॥

अनु०—राजा और स्थपति भी अगले दो मन्त्रों 'राष्ट्रभृदसि सम्राडासन्दी' तथा 'राष्ट्रभृदस्यधिपत्न्यासन्दी' द्वारा मन्त्र के निर्देश के अनुसार बैठे ॥ ३ ॥

टि०—पहला मन्त्र ब्राह्मण अतिथि के संबंध में है : 'आचार्यासन्दीति लिङ्गात्' । ब्राह्मण आचार्य होता है । जिस प्रकार मन्त्रयुक्त पूज्य ब्राह्मण मन्त्र के साथ बैठता है उसी प्रकार राजा 'राष्ट्रभृदसि सम्राडासन्दी' मन्त्र से तथा स्थपति 'राष्ट्रभृदस्यधिपत्न्यासन्दी' मन्त्र से बैठे । स्थपति वैश्य होता है ॥ ३ ॥

अनाकुला

एवं राजा स्थपतिश्च यथा ब्राह्मणः स्नातकः कूर्चे उपविशति । यथालिङ्गमाचार्यासन्दीति । एवं राजा स्थपतिश्च पूज्यमानौ उत्तराभ्यां यजुर्भ्यां यथालिङ्गमुपविशतः । तत्र क्षत्रियो राष्ट्राधिपतिरभिषिक्तो राज्याय साम्राज्यं तस्य लिङ्गम् । स एव जनाधिपतिः । स्थापत्यायाभिषिक्तः स्थपतिः । आधिपत्यं तस्य लिङ्गम् । उत्तराभ्यां राजा स्थपतिश्चेत्येव सिद्धे 'एवं' 'यथालिङ्ग'मित्युच्यते-यथा प्रथमस्य मन्त्रस्य लिङ्गात् विनियोगः एवमुत्तरयोरपि प्रज्ञापनार्थम् । तेन प्रथमो मन्त्रो ब्राह्मणस्यैव भवति । आचार्यासन्दीति लिङ्गात् । ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यत इति चोक्तत्वात् । तेन क्षत्रियवैश्ययोः तूष्णीमुपवेशनम् । तत्रा "चार्यर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ" इति राज्ञोऽपचितिः । अधिपतेस्तु श्वशुरत्वेनापचितिः ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथा ब्राह्मणः पूज्यो मन्त्रेणोपविष्टः, एवं राजा स्थपतिश्चोत्तराभ्यां यथालिङ्गं 'राष्ट्रभृदसि सम्राडासन्दी' इति राजा, 'राष्ट्रभृदस्यधिपत्न्यासन्दी' इति स्थपतिश्चोपविशेदित्यर्थः । राजा च क्षत्रिय एव न तु प्रजापालनकर्ताऽन्य-

वर्णोऽपि। ननु क्षत्रिये राजशब्दप्रयोग आन्ध्राणां, आर्याणां तु प्रजापालनादि-कर्तर्येव, तत्कथं बलवदार्यप्रयोगबाधेन राजा क्षत्रिय एवेति ? नैवम्। आर्य-वरस्य भगवतः पाणिनेः गणपाठे 'राजासे' इति विशेषस्मरणस्यान्ध्रप्रयोग-मूलत्वमेव युक्तमिति [1]अवेष्ट्यधिकरणे साधितत्वात्। स्थपतिश्च महदाधि-पत्यं प्राप्तोऽन्यवर्णोऽपि।

अन्ये-वैश्यः स्थपतिरिति। केचित्-क्षत्रिय एव राज्याभिषिक्त इति ॥ ३ ॥

'आपः पाद्या' इति प्राह ॥ ४ ॥

अनु०—अतिथेय 'आपः पाद्या' (पैर धोने के लिए यह जल है) ऐसा कहे ॥ ४ ॥

अनाकुला

अथ मधुपर्कप्रदाता पादप्रक्षालनार्थं अप उपसंगृह्य 'आपः पाद्या' इति प्राह ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ अपचेता पादप्रक्षालनार्थां अप उपसंगृह्य 'आपः पाद्याः' इति प्राह। एतच्च संवादवचनं अनन्तरं यत्कर्तव्यं तत्कुर्वित्येवमर्थम्। एवमेव प्रयोजनं 'अर्हणीया आपः' इत्यादिष्वपि ॥ ४ ॥

उत्तरयाऽभिमन्त्र्य दक्षिणं पादं पूर्वं ब्राह्मणाय प्रयच्छेत्सव्यं शूद्राय ॥ ५ ॥

अनु०—अतिथि उस जल के ऊपर अगले मन्त्र 'आपः पादावनेजनीः' आदि द्वारा अभिमन्त्रण करे और फिर दाहिना पैर ब्राह्मण द्वारा धोये जाने के लिए बढ़ावे तथा बाँया पैर शूद्र द्वारा धोये जाने के लिए बढ़ावे ॥ ५ ॥

टि०—यह नियम क्षत्रिय और वैश्य के संबन्ध में लागू नहीं होता, बौधायन गृह्य में कहा गया है कि धोने का कार्य स्त्री करती है, अभिषिञ्चन पुरुष करता है। कुछ लोग इसके विपरीत मानते हैं। विशेष यज्ञ में पत्नी और यजमान जंघों को धोते हैं। ब्राह्मण और शूद्र ही धोने वाले होते हैं, क्षत्रिय और वैश्य नहीं ॥ ५ ॥

अनाकुला

अथ पूज्यमानस्ता अपः उत्तरयर्चा "आपः पादावनेजनी"रित्येतयाऽभि-मन्त्र्य प्रक्षालयित्रे 'ब्राह्मणाय दक्षिणं पादं पूर्वं प्रयच्छेत् प्रसारयेत्। सव्यं

---

1. पू. मी २-३-१।

शूद्राय क्षत्रियवैश्याभ्यामनियमः। पुलिङ्गस्याविवक्षिततत्वात्। स्त्रीष्वप्येवम्। 'स्त्री प्रक्षालयति पुमानभिषिञ्चति। विपरीतमेके' (बौ. गृ. १-२.) इति कल्पान्तरम्। पत्नीयजमानौ जङ्घे धावत इति यज्ञे विशेषः। आपः पाद्या इति प्रकरणादेव सिद्धे पादग्रहणमुत्तरत्र पादप्रत्ययो मा भूदित्येवमर्थम्। तेन प्रक्षालयितुरुपस्पर्शनं पादे न भवति ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ पूज्यस्ता अपः 'आपः पादावनेजनीः' इत्येतयाऽभिमन्त्र्य प्रथमं दक्षिणं पादं ब्राह्मणाय प्रक्षालयित्रे प्रयच्छेत् प्रसारयेत्। शूद्राय तु पूर्वं सव्यम्। अत्र ब्राह्मणशूद्रावेव प्रक्षालयितारौ, न तु राजन्यवैश्यौ; तयोरनभिधानात्।

अन्ये तु—क्षत्रियवैश्याभ्यां अनियमेन पूर्वं पादं प्रयच्छेदिति ॥ ५ ॥

प्रक्षालयितारमुपस्पृश्योत्तरेण यजुषाऽऽत्मानं प्रत्यभिमृशेत् ॥ ६ ॥

अनु० - पैर धोने वाले को छूकर अगले यजुस् मन्त्र 'मयि महः' आदि का पाठ करते हुए अपने हृदय को छुए ॥ ६ ॥

टि०—बौधायनगृह्य के अनुसार अपने हाथ से धोने वाले के हाथों को छुए। 'मयि महः' मन्त्र का जप करते हुए उसका स्पर्श करे अपने हृदय का स्पर्श करे ॥ ६ ॥

अनाकुला

तथा स्वेन हस्तेनावनेक्तुः पाणी संस्पृशे (बौ. गृ. १-२.) दिति कल्पान्तरम्। उत्तरेण यजुषा 'मयि महः' इत्यनेन प्रतीचीनमभिमर्शनम्। तच्च हृदयदेशे भवति। आत्मनः स्थानं हि तत् ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततः प्रक्षालितपादस्तं प्रक्षालयितारं पाणावुपस्पृश्य 'मयि महः' इति यजुषा आत्मानं हृदयदेशे प्रत्यभिमृशेत् प्रतिलोमेन पाणिना स्पृशेत्। ततोऽपामुपस्पर्शनम् ॥ ६ ॥

कूर्चाभ्यां परिगृह्य मृन्मयेनार्हणीया आप' इति प्राह ॥ ७ ॥

अनु०—आतिथेय मिट्टी के बर्तन में जल लेकर और उस पात्र को नीचे तथा ऊपर से घास के कूर्चों से पकड़कर अतिथि से कहे 'अर्हणीया आप' (अर्थात यह अर्घ के लिए जल है) कहे ॥ ७ ॥

टि०— अर्घ के लिए पुष्प, अक्षत से युक्त जल ले आवे। कूर्चों से ऊपर और नीचे पकड़कर लावे ॥ ७ ॥

अनाकुला

ततः प्रदाता मृन्मये पात्रे उपनीता अपः कूर्चाभ्यामधस्तादुपरिष्टाच्च परिगृह्य 'अर्हणीया आप' इति प्राह निवेदयति। पुष्पाक्षतैस्संयुक्ता इति कल्पान्तरम् ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथार्हयिता मृन्मये पात्र अर्हणार्थाः पुष्पाक्षतसंयुक्ताः अप आनीय, कूर्चाभ्यामधस्तादुपरिष्टाच्च परिगृह्य 'अर्हणीया आपः' इति प्राह ॥ ७ ॥

उत्तरयाऽभिमन्त्र्याञ्जलावेकदेश आनीयमान उत्तरं यजुर्जपेत् ॥ ८ ॥

अनु०—अतिथि उस जल को अगले मन्त्र 'आमागन्' द्वारा अभिमन्त्रित करके और जब उस जल का कुछ अंश उसकी अञ्जलि में गिराया जा रहा है। तब अगले यजुस् मन्त्र 'विराजो दोहोऽसि' आदि का जप करता रहे ॥ ८ ॥

अनाकुला

अर्हणीया अपः निवेदिता उत्तरया 'आमाग' न्नित्येतया अभिमन्त्रयते। पूज्यमानस्ततोऽञ्जलिं कृत्वा हस्तेन ततस्तस्याञ्जलौ एतासामेकदेशमानयति प्रदाता। तस्मिन्नानीयमाने उत्तरं यजुः 'विराजो दोहोऽसी'त्येतत् जपेत् पूज्यमानः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

अथ पूज्यस्ता अपः 'आमागन्' इत्येतयाऽभिमन्त्र्य तासामेकदेशे स्तोके स्वाञ्जलौ दात्रा आनीयमाने 'विराजो दोहोऽसि' इति यजुर्जपेत् ॥ ८ ॥

शेषं पुरस्तान्निनीयमानमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ ९ ॥

अनु०—और शेष जल के ऊपर, जो पूर्व की ओर ले जाकर गिरा दिया जाता है अगले यजुस् मन्त्र 'समुद्रं व' आदि का पाठ करके अनुमन्त्रित करता है ॥ ९ ॥

टि०—इस समय दो वस्त्र, दो कुण्डल, गौ, माला और दूसरे अलंकार भी देने का विधान है। कुछ लोग कहते हैं कि इन वस्तुओं के बिना पूजा पूरी नहीं होती ॥ ९ ॥

अनाकुला

अथ तासामपां शेषं पूर्वस्यां दिशि नयति प्रदाता। तत् निनीयमानं उत्तरयर्चा 'समुद्रं व'इत्येतयाऽभिमन्त्रयते पूज्यमानः। एतस्मिन्काले वस्त्रयुगलं

कुण्डलयुगं गां स्रजं यच्चान्यदलङ्करणार्थं तत्सर्वं दद्यात् । भोजनान्त इत्यन्ये । तत्सर्वमपचितिशब्देन चोदितं द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ तासां शेषं दात्रा नीयमानं पूज्यः 'समुद्रं वः' इत्येतया अनुमन्त्रयते ।

केचित्—अस्मिन् काले भोजनान्ते वा पूज्याय वस्त्रकुण्डलयुगाद्यलङ्करणं दातव्यम्; अन्यथाऽयं पूजित एव न भवति । एतच्चापचितिशब्देनास्माकमपि चोदितमेवेति ॥ ९ ॥

दधि मध्विति संसृज्य कांस्येन वर्षीयसा पिधाय कूर्चाभ्यां परिगृह्य 'मधुपर्क' इति प्राह ॥ १० ॥

अनु०—दही और मधु काँसे के बरतन में मिलाकर उसके ऊपर काँसे के पात्र से ढँककर दोनों ओर से कूर्चों से पकड़कर (अतिथि के समक्ष) कहे : यह मधुपर्क है ॥ १० ॥

अनाकुला

वर्षीयसा बृहता कांस्येन पात्रेण मधुपर्कं प्राह । कांस्येन वर्षीयसा पिधायेत्येवमपि सम्बन्धः । तेनोभयोः पात्रयोः कांस्यनियमः सिद्धो भवति । इतिशब्दः प्रकारे—दधि मध्विति वा पयो मध्विति वेति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

दधि मध्वित्येतद्द्वयं नियमविधानात् कस्मिंश्चित्पात्रे संसृज्य, ततो वर्षीयसा बृहता कांस्येन पात्रेण पिधाय । शेषं व्यक्तम् ।

अन्ये तु अपिधानं कांस्यं प्रदर्शनार्थम्, तेनेतरदपि कांस्यमेवेति ॥ १० ॥

त्रिवृतमेके घृतं च ॥ ११ ॥

अनु०—कुछ आचार्य तीन पदार्थों से उपर्युक्त दही, मधु तथा घी को मिलाकर मधुपर्क बनाने का विधान करते हैं ॥ ११ ॥

अनाकुला

त्रयाणां द्रव्याणां समुदायः त्रिवृत् । पूर्वोक्ते द्वे दधि मध्विति वा पयो मध्विति वा, घृतञ्च तृतीयम् ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

त्रयाणां द्रव्याणां समाहारस्त्रिवृच्छब्देनोच्यते । तस्मिन् पक्षे पूर्वोक्ते दधिमधुनी घृतं च संसर्जनीयानि ॥ ११ ॥

पाङ्क्तमेके धानास्सक्तूंश्च ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ लोग पाँच पदार्थ लेते हैं, उपर्युक्त तीन तथा धाना और सत्तू ॥ १२ ॥

अनाकुला

पञ्चानां द्रव्याणां समुदायः पाङ्क्तम्। दधि मधु घृतं धानास्सक्तवः इति ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इहापि पञ्चानां समुदायः पाङ्क्तम्। शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

उत्तराभ्यामभिमन्त्र्य यजुर्भ्यामप आचामति पुरस्तादुपरिष्टाच्चोत्तरया त्रिः प्राश्यानुकम्प्याय प्रयच्छेत् ॥ १३ ॥

अनु०—अतिथि उस मधुपर्क को आगे के दो मन्त्रों "त्रय्यै विद्यायै" "आमागन्" आदि द्वारा अभिमन्त्रित करे, फिर अगले दो मन्त्रों "अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि" इन दोनों मन्त्रों द्वारा क्रमशः आचमन करे। इसके बाद आगे के तीन मन्त्रों द्वारा तीन बार उसमें से लेकर खावे और शेष अंश को किसी ऐसी व्यक्ति को जिसपर उसकी कृपा हो (पुत्र या भाई को) दे ॥ १३ ॥

टि०—जिसकी पूजा की जा रही है वह अगले दो ऋग्मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके पाँच द्रव्यों के उस समुदाय को ग्रहण करता है। मधुपर्क को भी अभिमन्त्रित करके ग्रहण करने का नियम होता है। तीन बार प्राशन किया जाता है, एक बार मन्त्र पढ़कर और दो बार बिना मन्त्र पढ़े ही, प्राशन के पहले और बाद में आचमन करे। प्राशन से अवशिष्ट बचे मधुपर्क को पुत्र या भाई को दे। वह भी उसका प्राशन करे, क्योंकि वह उच्छिष्ट नहीं माना जाता : 'सोमभक्षणे मधुपर्कप्राशने भोजने च मध्ये नोच्छिष्टतेति शिष्टाः स्मरन्ति' हरदत्तमिश्र। सुदर्शनाचार्य ने आचमन के विषय में बोधायनादि गृह्यसूत्रों में उपस्तरण के बाद 'आचमनविषयोऽप्यस्मदीयानामाचारो वेदमूल एवेति।' भोजन में प्रत्येक ग्रास के बाद आचमन की आवश्यकता नहीं होती, सामपान में तो अन्त में भी आचमन की आवश्यकता नहीं होती ॥ १३ ॥

अनाकुला

अथ तं मधुपर्कमुत्तराभ्यामृग्भ्यां 'त्रय्यै विद्यायै, 'आमागन्नि' त्येताभ्यामभिमन्त्र्य पूज्यमानः प्रतिगृह्णाति। पाद्यादीनामभिमन्त्र्य प्रतिग्रहदर्शनात् मधुपर्कस्याभिमन्त्र्य प्रतिग्रहः, न प्रतिगृह्याभिमन्त्रणम्। ततस्तं 'यन्मधुन' इत्येतया त्रिः प्राश्नाति। सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्।

ष्टाच्चयजुर्भ्यामनन्तरपठिताभ्याम् "अमृतोपस्तरणमस्यमृतापिधानमसी"त्येताभ्यां यथाक्रममप आचामति। तत्र प्रयोगः-अमृतोपस्तरणमसीत्युपस्तरणीया अप आचम्य मधुपर्कं मन्त्रेण प्राश्याचम्य एवं द्विस्तूष्णीं प्राश्यापिधानीया अप आचामति। पश्चात् शौचार्थमाचमनम्। शेषं मधुपर्कप्राशनशेषं अनुकम्प्याय अनुग्राह्याय पुत्राय भ्रात्रे वा समावृत्तायैव प्रयच्छेत्। सोऽपि तं प्राश्नाति। सोमभक्षणे मधुपर्कप्राशने भोजने च मध्ये नोच्छिष्टतेति शिष्टाः स्मरन्ति ॥१३॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ पूज्यस्तं मधुपर्कं प्रतिगृह्यापिधानपात्रमपनीय 'त्रय्यै विद्यायै' 'आमागन् यशसा' इति द्वाभ्यामभिमन्त्र्य। 'अमृतोपस्तरणमसि' इति यजुषा पुरस्तात्प्राशनादपः पिबति। तत आचम्य 'यन्मधुनो मधव्यम्' इत्यनया त्रिः प्राश्नाति। द्विस्तूष्णीम्। ततः 'अमृतापिधानमसि' इति यजुषा उपरिष्टादप्यपः पिबेत्। अथाचम्य शेषमनुकम्प्याय अनुग्राह्याय पुत्रशिष्यादये समावृत्तायैव प्राशितुं प्रयच्छेत्; न तु ब्रह्मचारिणे, 'न चास्मै श्रुतिविप्रतिषिद्धमुच्छिष्टं दद्युः' (आप. ध. १-४-५) इति निषेधात्।

नन्विह मध्ये शुद्ध्यर्थमुपस्तरणानन्तरमाचमनं न कर्तव्यम्; अस्माकं वचनाभावात्। न्यायतोऽपि नैव; भोजनवदपिधानान्तमेककर्मत्वात्। अपरथा भोजनेऽपि प्रतिग्रासमाचमनं प्रसज्येत। अथ सर्वदेशकालकर्तृव्याप्ताचारबलात्तत्कर्तव्यमिति चेत्, न; अयमाचार उक्तलक्षणो न वेत्यर्वाचीनानां दुर्निश्चेयत्वात्।

अत्रोच्यते-नायमाक्षेपः, बोधायनादिगृह्येषूपस्तरणानन्तरमाचमनविधिदर्शनेनास्माकमप्याचारः सर्वदेशादिव्यापीति निश्चेतुं सुशकत्वात्। उक्तं चैतत् 'अथ कर्माण्याचाराद्यानि' (आप. गृ. १-१) इत्यत्र गाह्यणीति स्वशब्दं विहाय, आचारादित्युपलक्षणतो व्याख्येयगार्ह्यकर्मनिर्देशात्, गृह्यान्तराद्युपदिष्टविषयोऽप्यस्मदीयानामाचारो वेदमूल एवेति। भोजने तु न प्रतिग्रासमाचमनप्रसक्तिः, क्वचिदपि वचनाभावात्, आचाराभावाच्च। सोमपाने पुनः 'न सोमेनोच्छिष्टा भवन्ति' इति वचनादन्तेऽपि नैवाचमनम्। अपि चैतदाचमनं शिखाबन्धनादिवत् कर्तुः संस्कारकम्, सन्निपाति च अनुक्तमप्यपेक्षितमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायविदः। तस्मादिहोपस्तरणानन्तरमाचमनं कार्यमेव।

केचित्-बौधायनादिभिरुपस्तरणापिधानयोस्तदर्थानां चापां निवेदनस्य पृथगुपदेशात् उपस्तरणादूर्ध्वमाचमनविधानाच्च उपस्तरणादेर्बहिरङ्गत्वेन कर्मा-

---

१. कर्तृसंस्कारकम्।

न्तरत्वावगतेर्युक्तं तेषां प्राशनात्प्रागप्याचमनम्। अस्माकं तु तथाविधोपदेशा-भावात्, अन्तरङ्गत्वेन उपस्तरणाद्यपिधानान्तं भोजनवदेकं कर्मेति मध्ये शुद्ध्यर्थमाचमनं न युक्तमिति। मैवम्; यतोऽस्माकमपि 'यजुर्भ्यामप आचमति' इति शब्दान्तरेणाचमनयोः पृथगेवोपदेशः। अस्मादेव पृथगुपदेशात्तदर्थानामपामावेदनं चाक्षेप्यम्। अतोऽस्माकं तेषां चोपदेशे वैषम्याभावात्तुल्ययोगक्षेम-मेवाचमनम् ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्यैव राजा स्थपतिर्वा पुरोहिताय ॥ १४ ॥

अनु०—राजा या स्थपति केवल उस मधुपर्क को ग्रहण करके अपने पुरोहित को दें ॥ १४ ॥

टि०—ऐसी स्थिति में मधुपर्क के अभिमन्त्रण का कर्म पुरोहित ही करता है। पुरोहित मधुपर्क का विधिपूर्वक प्राशन करता है ॥ १४ ॥

अनाकुला

एवकारात् प्राशनमकृत्वा पुरोहिताय प्रदानम्। स विधिवत् प्राश्नाति॥१४॥

तात्पर्यदर्शनम्

राजा स्थपतिश्च मधुपर्कं प्रतिगृह्यैव पुरोहिताय प्रयच्छेत्। एवकारादभि-मन्त्रणमकृत्वा। अभिमन्त्रणादि तु प्राशनान्तं पुरोहितस्यैव। पुनश्चोत्तरं कर्म राजादेरेव ॥ १४ ॥

गौरिति गां प्राह ॥ १५ ॥

अनु०—इसके बाद गऊ को उपस्थित करके कहे यह गऊ है ॥ १५ ॥

टि०—आचमन बैठे हुए पूज्यमान के सामने गौ प्रस्तुत की जाती है। गौ का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग के लिए किया गया है, अथवा बैल भी हो सकता है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है: "तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हति उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते।" १·३·४। गौ पूज्यमान के सामने इस अभिप्राय से प्रस्तुत की जाती है कि उसका संज्ञपन हो अथवा उसे छोड़ दिया जाय। पूज्यमान अपनी इच्छा व्यक्त करता है ॥ १५ ॥

अनाकुला

अथाचाम्योपविष्टाय गां निवेदयते-गौरिति। स्त्री च गौर्भवति, गौर्धेनु-भव्येति दर्शनात्। यद्वा पुमानपि भवति। श्रूयते हि—"तद्यथैवादो मनुष्य-राज आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हति उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते" इति। (ऐ. ब्रा.

१-३-४) एवमर्थमेवात्र गामित्युक्तं गोजातिमात्रस्य निवेदनं यथा स्यात्। अन्यथा गौरिति प्राहेत्येतावता सिद्धं यथा पाद्यादिषु ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्राशने कृते दाता 'गौः' इति गां प्राह कथयति । गौश्च स्त्री, 'गौर्धेनुभव्या' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् । एतच्च कथनं, किमियं गौस्संज्ञप्यतामुत्सृज्यतां वा ? इति पूज्याभिप्रायनिश्चयार्थम् । स च स्वाभिप्रायं दातुर्ब्रूयात् ॥ १५ ॥

*उत्तरयाभिमन्त्र्य तस्यै वपाँ श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति ॥ १६ ॥

अनु०—अर्घ्य व्यक्ति अगले मन्त्र "गौरस्यपहतपाप्मा" आदि द्वारा गाय को अभिमन्त्रित करे । (उसकी आज्ञा से) आतिथेय गौ का आलंभन करके उसकी वपा को पकावे, उसके नीचे तथा ऊपर आज्य फैलाकर फिर बीच के या किनारे के पलाश के पत्ते द्वारा अगले मन्त्र 'अग्निः प्राश्नातु' आदि मन्त्र के साथ उसी अग्नि में हवन करे ॥ १६ ॥

टि०—गौ के आलम्भन की आज्ञा पाकर मधुपर्क देनेवाला उसकी वपा निकाल कर उसे औपासन अग्नि से या भोजन के लिए प्रयुक्त अग्नि पर पकावे । उसके अंश का हवन करके अन्न के साथ उसे पूज्यमान के सामने प्रस्तुत करे । गौ के आलंभन के पूर्व 'गौरस्यपहतपाप्मा' आदि मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित किया जाता है । मन्त्र में 'अमुष्य' के स्थान पर पूजा करने वाले के नाम का निर्देश होता है । सुदर्शनाचार्य ने इस क्रिया के विषय में टिप्पणी की है : "अयं च संज्ञपनपक्षः कलियुगानाचारेषु पठितत्वादिदानीं त्याज्य एव" ॥ १६ ॥

अनाकुला

अनुजानीयादित्यध्याहारः । कल्पान्तरे तथा दर्शनात् । ॐकुरुतेति कारयिष्यन् अनुजानीयादिति । प्रोक्तायां गवि तां उत्तरया 'गौरस्यपहतपाप्मे' त्येतया पूज्यमानोऽभिमन्त्र्य । यद्यस्या आलम्भनमिच्छन् अनुजानीयात् । यद्यप्येक एवार्धर्चस्समाम्नायते तथापि स्त्रीलिङ्गनिर्देशादृगेवैषा गायत्री । तत्रामुष्येत्यस्य स्थाने प्रदातुर्नामनिर्देशः—मम च यज्ञशर्मणश्चेति ।

ततः प्रदाता तेनालम्भनेऽनुज्ञाते लौकिक्याऽऽवृता तस्या गोरालम्भं कृत्वा वपामुत्खिद्य वपाश्रपणीभ्यां परिगृह्य औपासने पचने वा श्रपयित्वा तामुपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरयर्चा 'ग्निः प्राश्नात्वि'

* उत्तरयाभिमन्त्र्य ॥ १६ ॥ तस्यै वपां···जुहोति ॥ १७ ॥ इति विभागो हरदत्तेन कृतः ॥

त्येतया तस्मिन्नेवाग्नौ जुहोति। उपस्तीर्याभिघारितामिति उपस्तरणाभिघारणे कृत्वेत्यर्थः। हुत्वा ततो मांसं संस्कृत्यान्नेन सह तस्मा उपहरन्ति। 'अविकृतमातिथ्य'मिति वचनात् उपस्तरणाभिघारणयोरप्रसङ्गे वचनम्। पलाशपर्णेनेत्येव सिद्धे मध्यमेनान्तमेनेति वचनं द्विपर्णस्य पलाशवृन्तस्य पर्णेन होमो मा भूदिति। अभावविकल्पार्थं वापूर्वं मध्यमेन तदभावे अन्तमेनेति ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि प्रतिग्रहीता संज्ञपनमिच्छेत्, तदा 'गौरस्यपहतपाप्मा' इत्येतयाऽनवसानया गामभिमन्त्रयते। अमुष्येत्यस्य स्थाने चार्हयितुर्नाम विष्णुशर्मण इति गृह्णाति। ततस्सुखमासीत। दातुरेव वपाहोमान्तं कर्म। अभिमन्त्र्येति च क्त्वाप्रत्ययः क्रियाविधानमात्रार्थ एव, न तु समानकर्तृकत्वार्थः। तस्यै तस्याः संज्ञपनं कृत्वा, वपामुत्खिद्य, श्रपयित्वा, मध्यमेनाऽन्तमेन वा पलाशपर्णेन लौकिकेनाज्येनोपस्तीर्य कृत्स्नां वपां सकृदेवावदायाभिघार्य 'अग्निः प्राश्नातु' इत्येतया तेन पर्णेन स्वाग्नौ जुहोति। तत्र च मध्यमेनान्तमेन वेति वचनं द्विपर्णप्रतिषेधार्थमभावविकल्पार्थं वा। शिष्टैश्चावदानैस्संस्कृतैस्सहान्नं भोजयेत्। अयं च संज्ञपनपक्षः कलियुगानाचारेषु पठितत्वादिदानीं त्याज्य एव ॥ १६ ॥

यद्युत्सृजेदुपांशूत्तरां जपित्वोमुत्सृजतेत्युच्चैः ॥ १७ ॥

अनु०—यदि पूज्यमान व्यक्ति गाय को छोड़ना चाहे तो आगे के चार मन्त्रों 'यज्ञो वर्धताम्' आदि का जप धीमे स्वर में करे और जोर से कहे 'ओम् उत्सृजत' (इसे छोड़ दो) ॥ १७ ॥

टि०—यदि पूज्यमान गौ को छोड़ना चाहे तो 'यज्ञो वर्धताम्' आदि मन्त्रों का जप करे प्रदाता उस गौ को छोड़कर दूसरे पशु का मांस बनावे, क्योंकि बिना मांस के मधुपर्क नहीं होता है 'नामांसो मधुपर्को भवति' आश्व० गृ० १९-२८। १७ ॥

अनाकुला

अथ यदि गामुत्सृजत्ययं पूज्यमानः स गौरिति प्रोक्ते मन्त्रान् उत्तरांश्चतुरो 'यज्ञो वर्धता' मित्युपांशु जपति। जपित्वा 'ओमुत्सृजते' त्युच्चैः प्रसौति। प्रदाता च तामुत्सृज्यान्यत् मांसं कल्पयति, 'नामांसो मधुपर्को भवती' (आश्व. गृ. १९-२८) ति कल्पान्तरात्। तत्र पुङ्गवालम्भे गौर्धेनुभव्यामातारुद्राणामेतयोर्लोपः लिङ्गविरोधात्, नेत्यन्ये। जपत्वादेव सिद्धे उपांशुवचनं नियमार्थम्—उत्तरे चत्वार एव मन्त्राः उपांशु वक्तव्याः। न प्रणव इति। शाखान्तरदर्शनात् प्रसङ्गः। प्रणवाद्युच्चैः, ऊर्ध्वं वा प्रणवात् इति। तेन ब्राह्मण एवैष

विकल्पः सिद्धो भवति । इह प्रसवविधेरभावेऽपि उच्चैरिति वचनादेव प्रसौतिर्द्रष्टव्यः ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि पूज्यो गामुत्सृज्यमानामिच्छेत् । अयं च कामप्रवेदने लिङ् । तदोत्तरान् त्रीन् मन्त्रान् 'यज्ञो वर्धताम्' इत्यादिकानुपांशु जपित्वा 'ओमुत्सृजत' इत्युच्चैः, प्रब्रूयादिति शेषः । केचित्—यज्ञ इत्यादिकाश्चत्वारो मन्त्रा इति । इयं च गौरुत्सर्जनपक्षेऽपि भोक्तुरेव ॥ १७ ॥

अन्नं प्रोक्तमुपांशूत्तरैरभिमन्त्र्यों कल्पयतेत्युच्चैः ॥ १८ ॥

अनु०—इस स्थिति में गौ के स्थान पर जो भोजन उसे दिया जाय उसे अगले पाँच मन्त्रों 'भूतम्' आदि का मन्दस्वर से जप करते हुए अभिमन्त्रित करे और फिर उच्च स्वर से कहे 'ओं कल्पयत' (बनाओ) ॥ १८ ॥

टि०—यह अन्न मांस से युक्त होता है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है 'सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रब्रूयात्' (१-३-१०) । बौधायन गृह्यसूत्र में चार भिन्न-भिन्न गोत्रों के ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद पूज्यमान को भोजन कराने के बाद पूज्यमान को भोजन दिया जाता है ॥ १८ ॥

अनाकुला

अथान्नं सामिषं समाहृत्य तस्मै प्राह—भूतमिति । सिद्धेऽन्ने भूतमिति प्राह (बौ. गृ. १–२–५५) इति कल्पान्तरम् । अस्माकं च वैश्वदेवे । तस्मात् भूतमित्येव निवेदनम् । तदन्नं प्रोक्तमुत्तरैः पञ्चभिर्मन्त्रैर्भूतमित्यादिभिः भोक्तोपांश्वभिमन्त्र्य ओंकल्पयतेत्युच्चैः प्रसौति । प्रसूताः परिवेष्टारः परिवेविषन्ति चतुरो नानागोत्रान् ब्राह्मणान् भोजयतेति ब्रूयात्तेषु भुक्तवत्स्वन्नमस्मा उपाहरन्तीति (बौ. गृ. १–२) कल्पान्तरम् ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ दाता सिद्धमन्नं 'भूतं' इति मन्त्रेण पूज्याय प्रब्रूयान्निवेदयेत् । कुत एतत् ? 'सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रब्रूयात्' (आप. ध. २–२–१०) इति वैश्वदेवे दर्शनात् । मधुपर्कप्रकरण एव 'सिद्धेन्ने तिष्ठन् भूतमिति प्राह' इति कल्पान्तराच्च । एवं प्रोक्तमन्नं भोक्ता उत्तरैर्मन्त्रैः 'सुभूतम्' इत्यादिभिः पञ्चभिरभिमन्त्र्य, ॐ कल्पयतेत्युच्चैः । अत्राप्यनुजानीयादिति शेषः । ततो भोजनं; अन्ननिवेदनस्य दृष्टार्थत्वात्, [1]आचाराच्च ॥ १८ ॥

---

१. ठ–कल्पान्तरात् इत्यधिकम् ।

आचार्यर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यच एतत्कार्यम् ॥ १९ ॥

अनु०—अपने आचार्य, ऋत्विज्, श्वशुर और राजा के लिए जब भी वे एक वर्ष के बाद आवें तब यह अर्घ्य कर्म करना चाहिए ॥ १९ ॥

टि०—आचार्य, ऋत्विज्, श्वशुर तथा राजा के लिए मधुपर्क प्रतिवर्ष किया जाय। यह पूजा कर्म कूर्च से आरम्भ करके भोजन कराने तक होता है। इस नियम के अनुसार विवाह के बाद आचार्य, श्वशुर को निमन्त्रित करके उन्हे मधुपर्क अर्पित करे। ऋत्विज की पूजा कर्म के समय की जाती है तथा राजा की पूजा अभिषेक के बाद की जाती है। ये ही अगर एक वर्ष पर आवें तो यह कर्म करना चाहिए। धर्मशास्त्र में वेदाध्ययन से युक्त स्नातक को भी मधुपर्क का अधिकारी माना गया है: "गोमधुपर्कार्हो वेदाध्यायः"। मधुपर्क दधि या मधु मिलाकर बनाया जाता है अथवा दूध और मधु मिलाकर बनाया जाता है अभाव होने पर जल से भी काम चल सकता है (आपस्तम्ब धर्मसूत्र २-८-५...९)। स्नातक और वेदाध्यायी अतिथि के लिए यह कर्म केवल एक बार किया जाता है। गौ को प्रस्तुत करने का नियम आचार्य, ऋत्विज, वेदाध्यायी, श्वशुर और राजा के लिए ही समझना चाहिए। जिसने वेद का अध्ययन नहीं किया है उसके लिए मधुपर्क में गौ प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। वेद के वक्ता या वेदार्थवक्ता के लिए यह मधुपर्क का कर्म केवल एक बार किया जाता है ॥ १९ ॥

अनाकुला

आचार्यादयः प्रसिद्धाः। तेभ्यश्चतुर्भ्यः परिसंवत्सरं विप्रोष्योपतिष्ठद्भ्यः गृहमातिथ्येनागतेभ्यः एतदपचितिकर्म कूर्चादि भोजनान्तं कर्तव्यम्। केन? गृहस्थेन। निवेशे हि वृत्ते नैयमिकानि(?) श्रूयन्ते 'अग्निहोत्रमतिथयः' इति वचनात्। अत्र केचिदाहुः—आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इत्येतत् कार्यम्। इत्येको योगः। अथ परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यश्चायं कार्यः इति। तेन विवाहादनन्तरं आचार्यश्वशुराभ्यां निमन्त्र्यापचितिः कर्तव्या। ऋत्विजे च कर्मणि, राज्ञे चाभिषेकानन्तरम्। अथ तेभ्य एव संवत्सरं विप्रोष्योपगतेभ्यश्च कर्तव्यमिति ॥ १९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदेतदर्हणं कूर्चादि भोजनान्तं गृहस्थेन स्नातकाय स्नानदिवस एवागताय कर्तव्यमिति विहितं, तदाचार्यादिभ्यः परिसंवत्सरात् संवत्सरादूर्ध्वं गृहमुपतिष्ठद्भ्यः उपागतेभ्यः पुनः पुनः कार्यं; न तु स्नातकवत् सकृत्। न चाप्यर्वा-

क्संवत्सरात्। अत्र चेतिशब्दश्चार्थः। ननु धर्मशास्त्रे 'गोमधुपर्काहों वेदाध्यायः। आचार्य ऋत्विक् स्नातका राजा वा धर्मयुक्तः। आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यो गौर्मधुपर्कश्च। दधिमधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम्। अभाव उदकम्, (आप. ध. २-८-५...९) इति स्नातकायाचार्यायर्त्विजे उपाध्यायाय श्वशुराय राज्ञे च दक्षिणार्थं गवा सह मधुपर्को विहितः। किमर्थमिह पुनर्विधीयते? उच्यते—इह विकल्पेन विहितस्य त्रिवृतः पाङ्क्तस्य च तस्मिन् गोमधुपर्के अवेदाध्यायाय श्वशुराय च दीयमाने च प्राप्त्यर्थम्। यत्तु तत्रैव 'गौर्मधुपर्कश्च' इति पुनर्वचनं, तदाचार्यर्त्विग्वेदाध्यायश्वशुरराजभ्य एव परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यः पुनः पुनः कार्यम्, स्नातकवेदाध्यायातिथिभ्यस्तु सकृदेवेत्येवमर्थम्॥ १९॥

सकृत्प्रवक्त्रे चित्राय॥ २०॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने त्रयोदशः खण्डः॥

पञ्चमश्च पटलः समाप्तः।

अनु०— वेद के किसी प्रसिद्ध विद्वान् के लिए यह कर्म केवल एक बार करना चाहिए (प्रतिसंवत्सर नहीं)।

अनाकुला

(सकृत् न प्रतिवत्सरं कलौ गोरालम्भस्य निषेधाद्गौरित्युक्त्वा यज्ञो वर्धतामित्यादि जपेत् मध्यमन्त्रलोपः)। प्रवक्त्रे वेदस्य वेदार्थस्य च चित्राय प्रसिद्धाय भिन्नसंशयायेत्यर्थः। एवंभूतायोपस्थिताय सकृदेतदपचितिकर्म कर्तव्यं, न प्रतिसंवत्सरमिति॥ २०॥

इति गृह्यवृत्तावनाकुलायां त्रयोदशः खण्डः॥

इति पञ्चमः पटलः॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्रवक्ता यः पदवाक्यप्रमाणाभ्यां प्रकर्षेण[1] वक्ति साधुशब्दानामुच्चारयिता, प्रमाणोपपन्नं व्याख्याता चेत्यर्थः। चित्रः प्रकाशः लोके प्रसिद्ध इत्यर्थः।

() एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागो ख-पुस्तके एव दृश्यते। नान्यत्र कुत्रापि।

१ ज-पदवाक्यप्रमाणैः प्रकर्षेण च।

इदं प्रवक्तुरेव विशेषणम्। तस्मै सकृदेवैतत् गार्ह्यं गोरर्हितं कार्यम्। अयं च प्रवक्ता न वेदाध्यायः। स हि गोमधुपर्कार्हः। यस्सषडङ्गं वेदमधीते, अर्थाश्च जानाति स वेदाध्यायः। ननु—सामयाचारिके गोमधुपर्के धर्मा नोपदिष्टाः, स कथं कर्तव्यः? उच्यते—नामधेयं धर्मग्राहकमिति मीमांसकाः। तेन गृह्ये याज्ञिकप्रसिद्धया मधुपर्कसंज्ञिके कर्मणि उपदिष्टा एव धर्माः 'गोमधुपर्कार्हः' इत्यत्र मधुपर्कनाम्ना अतिदिश्यन्ते, 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इतिवत्। 'दधिमन्थो मधुमन्थः' (आप. श्रौ. ६-३१-५) इत्यत्र तु दक्षिणाद्रव्यस्य कर्मवद्धर्माकाङ्क्षाभावान्नातिदेशः। अत्र च वेदाध्यायानिथिपूजायामयं विशेषः, 'दधि मधुपर्कः' इति प्रत्यक्षविधानादतिदेशप्राप्तं त्रिवृत्त्वं पाङ्क्तत्वं च बाध्यत इति। अयमत्र[1] निश्चितोऽर्थः—आचार्यर्त्विजे वेदाध्यायाय श्वशुराय राज्ञे च दक्षिणार्थाधिकगवा सह गार्ह्यः सामयाचारिको वा मधुपर्कः कार्यः। परिसंवत्सरादुपागतेभ्यः पुनः पुनः कार्यः। अवेदाध्यायाय श्वशुरायाधिकगवा विना गार्ह्यः; अतिथिवरापचितेभ्यो वेदाध्यायेभ्यः सह गवा धर्मोक्तः। अवेदाध्यायाभ्यां तु वरापचिताय स्नातकाय च स्नानदिन एवागताय गवा विना गृह्योक्तो धर्मोक्तो वा। प्रकाशाय च प्रवक्त्रे विना गवा गार्ह्यः। आचार्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येषां सकृदेवेति।

केचित् अत्र योगविभागमाहुः। आचार्यादिभ्यः चतुर्भ्य एतत्कार्यमित्येको योगः। तेन विवाहानन्तरमाचार्यश्वशुराभ्यां निभक्त्यापि पूजा कार्या। अन्यथा संवत्सरमपि प्रोषिताभ्यां सकृदपि न सिध्येत्। ऋत्विजे च कर्मणि कर्मणि पूजा कार्या। राज्ञे चाभिषिक्ताय नियमेनैव। तथा 'परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यः पुनः पुनः' इत्यन्यो योगः। स्पष्टश्चायं सामयाचारिकेषु विभागः, 'गोमधुपर्कार्हः' इति पूर्वं विधाय, पश्चात् 'आचार्याय' इत्यादिना पुनर्विधानात्। पूर्वयोगे च श्वशुरशब्दो निपातयितव्यः। न चात्रान्यतरविध्यारम्भो व्यर्थः। सामयाचारिकेषु सर्वाचरणार्थेन विहितायां पूजायां, गार्ह्यस्यास्मदीयानां धर्मातिदेशार्थत्वात्। न च नाम्ना धर्मातिदेशः, गोमधुपर्कशब्दयोः 'मधुमन्थो मधुपर्कः' इतिवत् द्रव्याभिधायकत्वात्। अतोऽर्थभेदात् गृह्ये धर्मे च विध्यारम्भोऽर्थवान्। तथा वेदस्य वेदार्थस्य च प्रवक्त्रे चित्राय एतत्सकृत्कार्यमिति। तच्चिन्त्यम् ॥ २० ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यकृते गृह्यतात्पर्यदर्शने त्रयोदशः खण्डः ॥

पञ्चमश्च पटलस्समाप्तः ॥

---

१. ठ-निर्णीतोऽर्थः।

अथ षष्ठः पटलः

चतुर्दशः खण्डः

मन्त्राम्नानक्रमेण विवाहाद्यस्संस्कारा व्याख्याताः। अनन्तरं तत्क्रमेणैव सीमन्तादयो व्याख्यायन्ते—

सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि ॥ १ ॥

अनु०—सीमन्तोन्नयन संस्कार स्त्री के प्रथम गर्भकाल में चौथे महीने में करना चाहिए ॥ १ ॥

टि०—सीमन्त केशों के बीच की रेखा या माँग को कहते हैं, सीमन्तोन्नयन कर्म में इसी रेखा का उन्नयन किया जाता है: 'सीमन्तो उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत्' यह संस्कार केवल पहले गर्भ के समय किया जाता है। यह गर्भ का संस्कार है और एक बार गर्भसंस्कार हो जाने के बाद पुनः संस्कार की जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि आधार के संस्कृत हो जाने पर शेष सभी गर्भ संस्कृत होते हैं ॥ १ ॥

अनाकुला

सीमन्तो नाम केशमध्ये रेखाविशेषः। स उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनन्नाम कर्म गर्भसंस्कारः। तच्चतुर्थे मासि कर्तव्यम्। प्रथमनियमादाधारसंस्कारोऽयम्। आधारे च संस्कृते तत्राहिताः सर्वे एव गर्भाः संस्कृता भवन्ति ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्, यस्मिन् कर्मणि गर्भिण्यास्सीमन्त उन्नीयते तत् व्याख्यास्याम इति शेषः। तच्च प्रथमे गर्भे; न तु गर्भे गर्भे। गर्भार्थमेवाधारस्त्रीसंस्कारः। स्त्रीसंस्कारत्वात् सकृदेव कृतस्सीमन्तस्सर्वानेव गर्भान् संस्करोति। चतुर्थे मासि चतुर्थे मासे। अल्लोपश्छान्दसः, 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति स्मृतेः ॥ १ ॥

***ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वाऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ २॥**

---

* एतत्सूत्रं द्विधा विभक्तं हरदत्तेन। तत्र "समाधानादि" इत्यन्तमेकम्। ततोऽपरम् ॥

अनु०—पहले दिन ब्राह्मणों को भोजन करावे, उनसे स्वस्तिवाचन करावे, फिर पत्नी से संयुक्त होकर अग्नि के उपसमाधान (अग्नि पर ईंधन रखने) से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म करके 'धाता ददातु नो रयिम्' आदि चार मन्त्रों और 'यस्त्वा हृदा कीरिणो' आदि चार मन्त्रों द्वारा आठ प्रधान आहुतियों का हवन करके फिर जय आदि आहुतियों का कर्म करे ॥ २ ॥

अनाकुला

तत्र पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धम् । अथ तस्मिन्नहनि ब्राह्मणान् भोजयित्वा तैर्भुक्तवद्भिः आशिषो वाचयित्वा अग्नेरुपसमाधानादि प्रतिपद्यते सक्तुपात्राणि शलल्यादयश्च सह शम्याः ।

अष्टौ प्रधानाहुतयो 'धाता ददातु नो रयि' मिति चतस्रो 'यस्त्वाहृदा कीरिणे'ति चतस्रः ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इह ब्राह्मणभोजनाशीर्वचनयोर्विधानं उपनयनवत् क्रमार्थम् । पात्रासादनकाले तु यथार्थं शलल्यादीनि सकृदेवासाद्यानि । शम्याश्च परिध्यर्थे । उत्तराः 'धाता ददातु नो रयिम्' इति चतस्रो 'यस्त्वा हृदा कीरिणा' इति चतस्र इत्यष्टौ । शेषं सुगमम् ॥ २ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निं प्राचीमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभिर्दर्भपुञ्जीलैश्शलालुग्लप्सेनेत्यूर्ध्वं सीमन्तमुन्नयति व्याहृतिभिरुत्तराभ्यां च ॥ ३ ॥

अनु०—अग्नि के चारो ओर जल छिड़कने के परिषेचन कर्म के बाद वह पत्नी को अग्नि के पश्चिम में पूरब की ओर मुख करके बैठावे और उसके केशों को नीचे से ऊपर की ओर व्याहृतियों से अथवा अथवा 'राकामहम्' यास्ते राका' आदि दो मन्त्रों का पाठ करते हुए तीन दर्भ के तिनके तथा अनपके उदुम्बर के गुच्छों सहित तीन सफेद चिह्नों वाले शलली (साही) के काँटे से उसकी माँग का उन्नयन करता है ॥ ३ ॥

टि०—भूः, भुवः, स्वः इन तीनों व्याहृतियों के साथ 'एकामहम्' आदि तथा 'यास्ते राका' आदि दोनों मन्त्रों का पाठ कर लेने के बाद एक बार सीमन्तोन्नयन किया जाता है । सुदर्शनाचार्य के अनुसार सूत्र के अन्त में 'च' अनेक अन्य मन्त्रों का भी बोधक है ॥ ३ ॥

अनाकुला

प्राचीं प्राङ्मुखीं स्वयं प्रत्यङ्मुखः । त्रिषु प्रदेशेषु एनी श्वेता त्रेणी । इकार-

लोपश्छान्दसः। णत्वं च। शलली शल्यकस्य रोमसूची। सविशाखा नाडी पुञ्जीलमित्युच्यते। दर्भस्य पुञ्जीलानि त्रीणि भवन्ति। उदुम्बरस्य फलसङ्घात-विशेषस्तरुणः शलालुग्लप्स इत्युच्यते। पिशाचोदुम्बरस्येत्यन्ये। एतानि द्रव्याणि युगपद्गृहीत्वा तैस्सीमन्तमुन्नयति ऊर्ध्वमुदूहति भूर्भुवस्सुवरित्येताभिः उत्तराभ्यां च 'राकामहं, 'यास्ते राके' इत्येताभ्याम्। त्रयाणामन्ते सकृदुन्नयनम्। इह मन्त्रसमाम्नाये व्याहृतीनां पाठो न कर्तव्यः। व्याहृतिभिरित्येतेनैव सिद्धस्सम्प्रत्ययः। यथा व्याहृतीश्च जपित्वा, व्याहृतीर्विहृताः, इत्यादौ। एवं सिद्धे व्याहृतीनां पाठः समाम्नायार्थम्। किञ्चासति पाठे व्याहृतिभिरुत्तराभ्याञ्चेत्युच्यमाने याजमानसमाम्नायात् ग्रहणं प्राप्नोति-व्याहृतिभिरुत्तराभ्याञ्च मन्त्राभ्यां 'उच्छुष्मो अग्ने' इत्येताभ्यामिति। तत्र पाठस्य प्रसिद्धत्वात्। 'राकामहं' 'यास्ते राके' इत्येतयोश्च प्रधानाहुतित्वं विज्ञायेत, विशेषाभावात्। तस्मादस्मादेव समाम्नायाद् ग्रहणं यथा स्यादिति व्याहृतीनामिह पाठः॥ ३॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्राची प्राङ्मुखी। स्वयं तु प्रत्यङ्मुखः। त्रेणी त्रीण्येतानि शुक्लानि यस्यास्सा। यद्वा त्रिषु प्रदेशेषु एनी श्वेता। त्रेणीति च रूपं छान्दसम्। शलली सूच्याकारं शल्यलोम। त्रेणीति शलल्या विशेषणम्। दर्भपुञ्जीलं सविशाखा नाडी। शलालुर्गोष्ठोदुम्बरः, खरपत्रोदुम्बरः, पिशाचोदुम्बर इत्यनर्थान्तरम्। ग्लप्सः स्तबकः; पिशाचोदुम्बरस्य तरुणफलसङ्घातविशेष इत्यर्थः। इत्येतैर्द्रव्यैर्युगपद्गृहीतैरूर्ध्वं सीमन्तमुन्नयति शिरसि मध्ये रेखामुदूहति। कैर्मन्त्रैः? 'भूर्भुवस्सुवः' 'राकामहं सुहवाम्' 'यास्ते राके सुमतयः' इत्येतैर्मन्त्रैः। चकारो बहुमन्त्रज्ञापनार्थः॥ ३॥

'गायत'मिति वीणागाथिनौ संशास्ति॥ ४॥

अनु०—वीणा बजाकर गाथा गाने वाले दो व्यक्तियों को (वहाँ उपस्थित होते हैं) आदेश देता है 'गायतम्' (तुम दोनों गाओ)॥ ४॥

अनाकुला

वीणया यो गाथां गायति स वीणागाथी। तावुभौ प्रागेवानीतौ भवतः। तौ संशास्ति संप्रेष्यति-गायतमिति। तौ गायतः। तत्रर्क्ष्वङ्नियमः॥ ४॥

तात्पर्यदर्शनम्

वीणया गाथां गायत इति वीणागाथिनौ। तौ गायतमिति संशास्ति संप्रेष्यति॥ ४॥

* उत्तरयोः पूर्वा साल्वानां ब्राह्मणानामितरा ॥ ५ ॥

अनु०—आगे के दो ऋचाओं के अन्तर्गत पहली ऋचा "यौगन्धरिः" आदि मन्त्र का साल्व देश के निवासियों में सीमन्तोन्नयन के अवसर पर गाथा के रूप में गान किया जाता है। दूसरी ऋचा का "सोम एव नो राजा" आदि का गान ब्राह्मणों में किया जाता है ॥ ५ ॥

टि०—इस सूत्र में साल्वदेश का उल्लेख किया गया है। यह देश यमुना के तट पर है। वहाँ वैश्य लोग अधिक हैं। उनके राजा यौगन्धरि हैं। यह सूचना हरदत्त मिश्र ने प्रदान की है। सुदर्शनाचार्य के अनुसार यह गाथा साल्वदेश के तीनों वर्णों के सीमन्तोन्नयन संस्कार में गाई जाती है। दूसरे देशों में ब्राह्मणों के सीमन्तोन्नयन कर्म में 'सोम एव नो राजा' गाथा होती है। क्षत्रिय और वैश्यों के कर्म में 'सोमो नो राजाऽवतु मानुषीः प्रजाः' गाथा होती है, जिसका उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र १.१२.७ में किया गया है ॥ ५ ॥

अनाकुला

उत्तरयोः ऋचोः या पूर्वा 'यौगन्धरि'रित्येषा। सा साल्वानां सीमन्तकर्मणि गाथा साल्वदेशनिवासिनां अस्यामृचि गानं कर्तव्यमित्यर्थः। स देशो यमुनातीरे भवति। वैश्याश्च तत्र भूयिष्ठं भवन्ति। तेषामेव राजा यौगन्धरिः।

इतरा 'सोम एव नो राजे'त्येषा। न सर्वेषां ब्राह्मणानामपि तु साल्वानाम् ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरयोः ऋचोः वीणागाथिनौ गायेताम्। केषां कतरा गाथा ? इत्यत आह-पूर्वेति। पूर्वा "यौगन्धरिः" इत्येषा। साल्वदेशीयानां त्रयाणां वर्णानामपि गाथा; 'साल्वोः' इत्यविशेषलिङ्गात्। अन्यदेशवासिनां ब्राह्मणानामितरा 'सोम एव नो राजा' इत्येषा। क्षत्रियवैश्यानां तु 'सोमो नो राजाऽवतु मानुषीः प्रजाः' (आश्व. गृ. १-१२-७) इत्याश्वलायनीये दृष्टायां सार्ववर्णिक्यामृचि गानं कर्तव्यम्। न तु गानाभावः। गायतमित्यविशेषेण संशासनविधानात्। केचित्—साल्वानामपि ब्राह्मणानामितरेति ॥ ५ ॥

नदीनिर्देशश्च यस्यां वसन्ति ॥ ६ ॥

अनु०—(दूसरे मन्त्र में 'असौ' के स्थान पर) उस नदी का नाम लेना चाहिए जिसके निकट निवास हो (अथवा जिसके ऊपर आजीविका की दृष्टि से आश्रित हो)।

---

* इदं सूत्रं द्विधा विभक्तं हरदत्ताचार्यैः।

टि०—उपर्युक्त दूसरे मन्त्र 'सोम एव नो राजा' में 'असौ' शब्द आता है। जैसे 'तीरेण कावेरि तव।' द्रष्टव्य पारस्कर १.१५.८. ॥ ६ ॥

अनाकुला

द्वितीये मन्त्रे असौ-शब्दस्य स्थाने नद्या नाम संबुद्धया निर्देष्टव्यम्। यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्तीत्यर्थः। यथा-तीरेण कावेरि तवेति। क्षत्रियाणां तु सर्वेषां कल्पान्तरदृष्टायां सार्ववर्णिक्यामृचि गानं भवति। "सोम एव नो राजेत्याहुर्मानुषीः प्रजाः। निवृत्तचक्रा आसीना" इति। अत्रापि नदीनिर्देशस्सम्बुद्धया ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'सोम एव नो राजा' इत्यस्यां असावित्यस्य स्थाने 'कावेरि' 'वेगवति' इति सम्बुद्धया नदीनिर्देशश्च भवति। कस्या नद्याः? इति चेत् 'यस्यां वसन्ति' समीपसप्तमी चेयम्। यस्यास्समीपे वसन्ति तस्या निर्देश इत्यर्थः ॥ ६ ॥

यवान् विरूढानाबध्य वाचं यच्छत्यानक्षत्रेभ्यः ॥ ७ ॥

अनु०—पत्नी के सिर पर अंकुरित जौ सूत्र द्वारा बाँधे और वह नक्षत्रों के उगने के समय तक मौन रहे ॥ ७ ॥

टि०—इन जौ को पहले से ही बोकर रखना चाहिए जिससे उस समय तक अंकुर निकल आये, ये अंकुरित जौ वधू के सिर पर बाँधे जाते हैं ॥ ७ ॥

अनाकुला

विरूढान् अङ्कुरितान् सूत्रबद्धानाबध्नाति शिरसि बध्वाः। सैव वाचं यच्छति। एवमुपदेशो भोजनञ्चास्यास्मिन्नहनि नेच्छन्ति। यवाश्च प्रागेव वप्तव्याः। यथास्मिन् काले विरूढा भवन्ति ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अङ्कुरितान् सूत्रग्रथितान् यवान् वध्वाश्शिरस्याबध्नाति। शिरसीति कुतः? आचारात् ॥ ७ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य वत्समन्वारभ्य व्याहृतीश्च जपित्वा वाचं विसृजेत् ॥ ८ ॥

अनु०—नक्षत्रों का उदय हो जाने पर पत्नी के साथ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर जाये, गौ के बछड़े को छुए और व्याहृतियों का जप करके (पत्नी) मौन का परित्याग करे ॥ ८ ॥

टि०—कुछ लोग ७ वें सूत्र में यच्छति के स्थान पर 'यच्छतः' और आठवें सूत्र के विसृजेत् के स्थान पर 'विसृजतः' द्विवचनान्त पढ़ते हैं। ऐसी स्थिति में मौन रहने, प्राची या उत्तर दिशा में जाने, गाय के बछड़े को पकड़कर, व्याहृतियों का जप करके बोलने तक के कर्म पति-पत्नी दोनों ही करते हैं ॥ ८ ॥

अनाकुला

वत्सः पुमान् गौश्च भवति। व्याहृतयस्समस्ताः याजमानसमाम्नायात् प्रत्येतव्याः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

विस्पष्टार्थम्। इह केचिदध्येतारो 'यच्छतो' 'विसृजत' इति द्विवचने पठन्ति। तस्मिन् पक्षे वाग्यमनादिपदार्थपञ्चकमुभौ जायापती कुरुतः।

केचित्—यवाबन्धनादि सर्वं वधूरेव ; न पतिरिति ॥ ८ ॥

पुँसुवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण ॥ ९ ॥

अनु०—(पुत्र प्राप्ति के लिए) पुंसवन संस्कार उस समय किया जाता है जब गर्भ स्पष्ट हो गया हो। यह संस्कार तिष्य नक्षत्र में किया जाता है ॥ ९ ॥

टि०—'पुंसवन' का शाब्दिक अर्थ है, जिस कर्मसे उत्पन्न स्त्री पुरुष अर्थात् पुत्र उत्पन्न करती है। यह कर्म गर्भ स्पष्ट होने पर किया जाता है, गर्भ तीसरे या चौथे मास में स्पष्ट होता है। सीमन्तोन्नयन चौथे महीने में होता है, पुंसवन कर्म सीमन्तोन्नयन के पहले ही होना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि सीमन्तोन्नयन संस्कार की तरह पुंसवन भी केवल एक बार प्रथम गर्भ के समय होना चाहिए ॥ ९ ॥

अनाकुला

पुमान् येन सूयते तत्पुंसुवनं नाम कर्म। उवङादेशश्छान्दसः। मन्त्रदर्शनात् पुंसुवनमसीति। आश्वलायनस्तु गुणमेव प्रायुङ्क्त। तत्, व्यक्ते गर्भे कर्तव्यम्। गर्भव्यक्तिश्च तृतीये चतुर्थे वा मासि। यदापि चतुर्थे तदा सीमन्तात् पूर्वमेव पुंसवनम्। निमित्तस्य पूर्वत्वात्। पश्चादुपदेशस्य तु प्रयोजनं वक्ष्यामः। तिष्येण तच्च तिष्ये कर्तव्यम्। 'नक्षत्रे च लुपो'ति अधिकरणे तृतीया ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पुँसुवनमित्यपि कर्मनामधेयम्, येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमांसमेव सूते तत्पुंसुवनम्। व्याख्यायत इति शेषः। अत्र चोवङादेशश्छान्दसः। आश्वलायनस्तु 'पुँसवनम्' इति सगुणमेव प्रायुङ्क्त। व्यक्ते गर्भे अस्ति गर्भं इति

निश्चिते । व्यक्तिश्च तृतीये चतुर्थे वा मासे ; बह्वृचादिषु स्मृत्यन्तरेषूभयथा दर्शनात् । यदि पुंसवनं चतुर्थे स्यात्तदा पूर्वं सीमन्तं कृत्वैव । कुत एतत् ? पुंसवने पश्चात्क्रियमाणेऽपि चोदितकालानतिक्रमात्, पश्चान्मन्त्राम्नानसूत्रोपदेशयोरेवंक्रमार्थत्वाच्च ।

केचित्—तृतीयवच्चतुर्थेऽपि सीमन्तात्पूर्वम्, निमित्तस्य पूर्वत्वादिति सीमन्तवत्प्रथमगर्भ एव, न तु प्रतिगर्भम्; पिष्टपेषणन्यायादेव । एतच्च पुमांसं जनयतीत्यत्र विवेचयिष्यते । तिष्येण तिष्यनक्षत्रे पुंसवनं कर्तव्यमिति व्यवहितेन सम्बन्धः ; 'प्रकरणात् प्रधानस्य' इति न्यायात् । शुङ्गाहरणे त्वनियमः ॥ ९ ॥

न्यग्रोधस्य या प्राच्युदीची वा शाखा ततस्सवृषणां शुङ्गामाहृत्य सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि ॥ १० ॥

अनु०—न्यग्रोध वृक्ष की किसी ऐसी डाल से जो पूर्व या उत्तर की ओर निकली हो एक ऐसी टहनी तोड़े जिसमें केवल दो फल पास-पास अण्डकोष के अण्डों की तरह हों । अग्नि के उपसमाधान आदि का कर्म उसी प्रकार होना चाहिए जैसे सीमन्तोन्नयन में होता है ॥ १० ॥

टि०—इस कर्म में भी सीमन्तोन्नयन संस्कार की तरह अग्नि के उपसमाधान से लेकर परिषेचन तक के कर्म किए जाते हैं । अग्नि के समाधान से कर्म आरंभ करने का निर्देश होने से उसके पहले के कर्म ब्राह्मणों का भोजन, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कर्म नहीं होंगे । कर्म के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन तो कराया ही जायगा । "शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्" आप० ध० २.१५.११ । अग्नि के चारों ओर जल से परिषेचन के बाद संशासन आदि कर्म भी नहीं किये जाते हैं । जिस दिन यह कर्म होता है उसके पहले दिन ननदी श्राद्ध होता है । इसमें परिधियों का प्रयोग होता है, शमी का नहीं । जयादि आहुतियाँ भी की जाती हैं ॥ १० ॥

अनाकुला

न्यग्रोधस्य वृक्षस्य या प्राची शाखोदीची वा तस्याः शुङ्गामग्राङ्कुरं सवृषण फलं वृषणमिति व्यपदिश्यते सादृश्यादेव । तद्वतीं शुङ्गामाहृत्य सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि परिषेचनान्तं कर्म प्रतिपद्यते । अग्नेरुपसमाधानादिवचनात् ततः पूर्वं ब्राह्मणभोजनमाशीर्वचनं च न भवति । अन्ते तु भवति "शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजये"दिति । तथा यत् परिषेचनादूर्ध्वं संशासनादि तदपि न भवति । अपरेणाग्निं प्राचीमिति पुनरिहोपदेशात् ।

तत्र प्रयोगः-पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धम् । अपरेद्युरग्नेरुपसमाधानादि सकृ[1]-त्पात्रप्रयोगः । शुङ्गया सह परिधय एव, न शम्याः । आज्यभागान्तेऽन्वारब्धायां 'धाता ददातु नो रयिमि'ति चतस्रो 'यस्त्वा हृदा कीरिणे'ति चतस्रः । जयादि प्रतिपद्यते । परिषेचनान्ते ततो वक्ष्यमाणं कर्म ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सवृषणां वृषणाकृतिकेन फलद्वयेन संयुक्तां, शुङ्गां अग्रांकुरम् । व्यक्तमन्यत् । अत्र च सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादीत्यतिदेशात् ब्राह्मणभोजनमाशीर्वचनं च तन्त्रात् पुरस्तान्निवर्तते । कर्मान्ते तु भवत एव । शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २-१५-११) इति सामान्यवचनात्, 'लोके च भूतिकर्मस्वेतदादीन्येव वाक्यानि स्युर्यथा पुण्याहं स्वस्त्यृद्धिमिति [2]वाचयित्वा' (आप. ध. १-१३-९) इति वचनाच्च । पात्रप्रयोगे च शुङ्गादीनां कर्मोपयुक्तानां सकृदेव सादनम् । तथात्र परिधय एव, न तु शम्याः, 'शम्याः परिध्यर्थे' इति चौलगोदानग्रहणात् । तथैव 'सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि' इत्यादिना [3]परिषेचनान्तकल्पातिदेशस्य विवक्षितत्वादिहापि त एवाष्टौ प्रधानहोमाः ॥१०॥

अथ समाप्ते तन्त्रशेषे कर्तव्यमाह—

अनवस्नातया कुमार्या दृषत्पुत्रे दृषत्पुत्रेण पेषयित्वा परिप्लाव्यापरेणाग्निं प्राचीमुत्तानां निपात्योत्तरेण यजुषाङ्गुष्ठेन दक्षिणे नासिकाच्छिद्रेऽपिनयति ॥ ११ ॥

अनु०—किसी ऐसी कन्या से, जो रजस्वला न हुई हो, न्यग्रोध की टहनी को पत्थर पर रखकर पत्थर से घिसवावे, उस रस को वस्त्रद्वारा छनवावे; पत्नी को अग्नि से पश्चिम दिशा में, पूर्व की ओर मुँह करके उत्तान लिटाकर उसके नाक के दाहिने छिद्र में न्यग्रोध का रस अगले यजुस मन्त्र 'पुंसुवनमसि' आदि का पाठ करते हुए प्रवेश करावे ॥ ११ ॥

अनाकुला

यस्याः प्रादुर्भूतं रजः सा अवस्नाता । तद्विपरीता अनवस्नाता । एवंभूता कन्या कर्त्री पेषणस्य । प्रयोजकः पतिः । उपलो दृषत्पुत्रः । दृषदर्थेऽपि दृषत्पुत्र एव । तत्र शुङ्गां पेषयित्वा वस्त्रेण परिप्लाव्य अपरेणाग्निं प्राचीं प्राङ्मुखीं उत्तानां ऊर्ध्वमुखीं, निपात्य शाययित्वा उत्तरेण यजुषा 'पुंसुवनमसी' त्यनेन

---

१. ख-सकृत् पात्राणि ।

२. धर्मसूत्रे वाचयित्वेति पदं नास्ति । ३. ख-घ-परिषेचनान्तं कल्पातिदेशस्य ।

तं रसं अङ्गुष्ठेन तस्या नासिकाच्छिद्रे दक्षिणे अपिनयति अपिगमयति। प्राङ्मुख एव। ([1]पिधाय नयनं स्वयं च प्राङ्मुखः) ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्नाननिमित्तस्य रजसोऽनुत्पन्नत्वात् या न स्नाता तया अनवस्नातया कन्यया दृषदर्थापन्ने दृषत्पुत्रे शुङ्गां निधाप्य दृषत्पुत्रान्तरेण पेषयित्वा तद्रसं वस्त्रेण प्लावयित्वा ततो जायामपरेणाग्निं प्राचीं प्राक्छिरसं उत्तानामूर्ध्वमुखीं, निपात्य शाययित्वा। 'पुँसुवनमसि' इति यजुषा[2] दक्षिणनासिकाछिद्रे अङ्गुष्ठेन करणभूतेन तद्रसमत्पिनयति गर्भं प्रापयति। सा रसं न निष्ठीवेदित्यर्थः॥ ११

पुमाँसं जनयति ॥ १२ ॥

अनु०—तब वह पुत्र को ही जन्म देगी ॥ १२ ॥

टि०—यह कर्म पुत्र की इच्छा होने पर ही किया जाता है, पुत्री की इच्छा होने पर नहीं किया जाता, अतः अनिवार्यतः केवल प्रथम गर्भ के विषय में ही यह नियम नहीं है ॥ १२ ॥

अनाकुला

एवमनेन कर्मणा संस्कृता स्त्री पुमासं जनयति। केचिदर्थवादमिदं मन्यन्ते। फलविधौ कामसंयोगेन क्रियाया अनित्यत्वप्रसङ्गात्। यद्यर्थवादः प्रतिगर्भमावृत्तिप्रसङ्गः। एवं तर्हि प्रथमे गर्भे इत्यनुवर्तते। एवमर्थमेव चास्य पश्चादुपदेशः। व्यक्तं चैतत् छन्दोगानां प्रथमे गर्भे तृतीये मासि पुंसवनमिति। अन्ये फलविधिं मन्यन्ते। तत्र च "एष वा अनृणो यः पुत्री"ति (तै. सं. ६-३-१४) वचनात् पुत्रस्य सकृदुत्पादनं नित्यमिति यावदेकः पुत्र उत्पद्येत तावद्गर्भेषु भवति। ऊर्ध्वं तु पुत्रेच्छायां सत्यां भवति [3]दुहितुरीप्सायां न भवति। प्रथमग्रहणं च नानुवर्तते, पुनर्गर्भग्रहणात्। पुंसुवनस्य तु पश्चादुपदेशो यथा चतुर्थे मासि तत्क्रियते तस्य पश्चात् प्रयोगार्थं इति ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

कर्मणानेन संस्कृता अन्तर्वत्नी पुमासं जनयतीत्यर्थवादः; नित्यत्वात्पुंसवनस्य। अथवा फलम्; सूत्रकारेणोपदिष्टत्वात्; यथा 'सहस्रं तेन कामदुघोऽवरुन्धे' इति। फलपक्षेऽपि 'एष वा अनृणो यः पुत्री' इत्यादिवचनैस्सकृदपि पुत्रोत्पादनस्य अवश्यकर्तव्यत्वात्, तदङ्गं पुंसवनं प्रथमे गर्भे कर्तव्यमेव। त

१. कुण्डलान्तर्गतो भागो 'गं' पुस्तक एवास्ति। २. दक्षिणेन इत्येव सर्वत्र पाठः।
३. दुहितृ...ति इति 'ग' पुस्तके नास्ति।

ऊर्ध्वं तु यत्र यत्र गर्भे पुत्रेप्सा तत्र तत्र कर्तव्यं नान्यत्र। यस्त्वतिक्रान्तचोदनः स्त्रीरेव जनयेयमिति कामयते तस्य सकृदपि न भवति।

अन्ये तु–पुमांसं जनयतीत्येतद्वचनं गर्भेऽस्य कर्तव्यतापरमिति ॥ १२ ॥

क्षिप्रँसुवनम् ॥ १३ ॥

अनु०—शीघ्र (दीर्घकालीन पीडा के बिना) पुत्रोत्पत्ति कराने की क्रिया इस प्रकार है ॥ १३ ॥

अनाकुला

येन कर्मणा क्षिप्रं सूयते तत् क्षिप्रंसुवनं नाम कर्मोच्यते ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

येन क्षिप्रं शीघ्रं सूतेऽन्तर्वत्नी न चिरं कालं पीडयते तत् क्षिप्रंसुवनं नाम कर्मोपदिश्यते ॥ १३ ॥

अनाप्रीतेन शरावेणानुस्रोतसमुदकमाहृत्य पत्तस्तूर्यन्तीं निधाय मूर्धञ्छोष्यन्तीमुत्तरेण यजुषाभिमृश्यैताभिरद्भिरुत्तराभिरवोक्षेत् ॥१४॥

अनु०—किसी कोरे पात्र में (शराव में) नदी की धारा की ओर से जल लेवे। स्त्री के पैरों के पास तूर्यन्ती का पौधा रखे; फिर अगले यजुस् मन्त्र 'आभिष्ट्वाहं दशभिरभिमृशामि' आदि द्वारा उसके सिर का स्पर्श करे और अगले यजुस् मन्त्र "यथैव सोमः पर्वतः" आदि का पाठ करते हुए प्रत्येक मन्त्र के साथ उसके ऊपर जल छिड़के ॥ १४ ॥

टि०—तूर्यन्ती, अग्निशिखा, अधःपुष्पिता नामका पुष्प है। शराव जल से भींगा हुआ न हो। कुछ लोग प्रत्येक मन्त्र पर इस कर्म को करने का विधान करते हैं। कुछ लोग शोष्यन्ती के सिर पर रखने का विधान करते हैं। कुछ लोगों के अनुसार शोष्यन्ती नामकी औषधि वन में होती है और उसके पत्ते बाँस के पत्ते की तरह होते हैं। ये कर्म अपनी ही भार्या के लिए किये जाते हैं ॥ १४ ॥

अनाकुला

अनाप्रीतेनास्पृष्टोदकेनानुस्रोतसं उदकस्य प्रस्रवतो न प्रतीपम्। पत्तः पादयोरधस्तात् यस्याः श्वेतोपमानि पत्राणि पीतोपमानि पुष्पाणि या च मध्याह्ने पुष्यति सा तूर्यन्ती वनेषु जायते। वेणुपत्रोपमानि च यस्याः पत्राणि रक्तोपमानि च पुष्पाणि यां चाग्निशिखेत्याहुः। सा शोष्यन्ती तत् औषधिद्वयं समूलपत्रमादाय सुश्लिष्टं निदधाति। मूर्धन् मूर्धनीत्यर्थः। अपरे पिष्ट्वा आलिम्पन्ति। अथ तामुत्तरेण यजुषा 'आभिष्ट्वाहं दशभिरभिमृशामि' इत्यनेनाभिमृशति। दशभिरिति लिङ्गादुभाभ्यां पाणिभ्यामभिमर्शनम्। अनु-

लोमं मुखादारभ्य तत एताभिराहृताभिरेवाद्भिस्तामवोक्षेत् । उत्तराभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'यथैव सोमः पवत' इत्येताभिः प्रतिमन्त्रमवोक्षणम् ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अनाप्रीतेन अनुदकलिप्तेन अस्पृष्टोदकेनेत्यर्थः । तथाभूतेन शरावेण । अनुद्योतसं स्रोतोऽनुलोमं न प्रतीपं गृहीतमुदकमाहृत्य । पत्तस्तस्याः पादयोः [1]तूर्यन्तीं अधःपुष्पिताख्यामोषधिं निधाय । शोष्यन्तीं प्रसवपीडया शुष्यमाणां स्त्रियं 'आभिष्ट्वाहं दशभिरभिमृशामि' इति यजुषोभाभ्यां हस्ताभ्याम् । मूर्धन् मूर्धन्यभिमृश्य । एताभिराहृताभिरद्भिः उत्तराभिः 'यथैव सोमः पवते' इत्यादिभिस्तिसृभिस्तां सकृदेवावोक्षेत् ।

केचित्—प्रतिमन्त्रम्; दृष्टोपकारकत्वादिति ।

तत्र प्रथमाया ऋचः 'प्रतितिष्ठतु' इत्यवसानम् । द्वितीयायाः 'तथा कृवम्' इति । तृतीयायाः 'सरस्वतीः' इति ।

अन्ये तु—शोष्यन्तीति चौषधिः । तां मूर्ध्नि निधाय स्त्रियं यत्र क्वचाभिमृशेदिति । तन्न; शोष्यन्तीसंज्ञाया ओषधेरप्रसिद्धत्वात् ।

केचित्—शोष्यन्ती नामौषधिः या वनेषु जायते, वेणुपत्रोपमानि च यस्याः पत्राणि, पुष्पाणि च रक्तोपमानि, यां चाग्निशिखेत्याहुरिति । तन्न; यतो वाच्यवाचकभावो नोपदेशगम्यः, यथाहुर्वार्तिककारपादाः—

'वाच्यवाचकभावो हि नाचार्यैरुपदिश्यते ।

अन्यथानुपपत्त्या तु व्यवहारात्स गम्यते ॥' (तं.वा. १-३-९) इति ।

इह तु [2]व्यवहाराभावादेव विप्रतिपत्तिः । सा भाष्यकारादप्याप्ततमप्रणीताभिधानकोशेषु शोष्यन्तीशब्दस्याग्निशिखापरपर्यायतया पाठाच्छाम्यति । न च तथा दृश्यते । तस्माद्वरं पूर्वोक्तमेव व्याख्यानमिति ॥ १४ ॥

अथान्यद्भैषज्यमाह—

यदि जरायु न पतेदेवंविहिताभिरेवाद्भिरुत्तराभ्यामवोक्षेत् ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने चतुर्दशः खण्डः ॥

अनु०—यदि जरायु न गिरे तो आगे के दो मन्त्रों "तिलदेव पद्यस्व, निरैतु पृश्नि शेवलम्' आदि द्वारा प्रत्येक मन्त्र के साथ जल छिड़के ॥ १५ ॥

---

१. ख-ग-तूर्यन्तीमधिपुष्पिताख्यां । २. ङ-ञ-व्यवहार एव ।

अनाकुला

जरायु गर्भवेष्टनं, तद्यदि न पतेत्, तत्र उत्तरो विधिः कर्तव्यः। कः पुनरसौ ? क्षिप्रंसुवने यो विधिश्चोदितः 'अनाप्रीतेन शरावेणे'त्यादि ('एवं विहिताभिरद्भिः उत्तराभ्यां मन्त्राभ्यां 'तिलदेव पद्यस्व, निरैतु पृश्नि शेवल' मित्येताभ्यां प्रतिमन्त्रमवोक्षेत्। एते च कर्मणी स्वभार्याविषयौ) यक्ष्मगृहीतामन्यां वेति कर्मान्तरे यत्नकरणात्। अन्ये पुनरविशेषेणेच्छन्ति ॥ १५* ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि प्रसूतायास्तस्या जरायु गर्भप्रावरणं न पतेत्तदा 'अनाप्रीतेन शरावेण' इत्यादिविधिनाऽऽहृताभिरद्भिः 'ऐतु गर्भो अक्षितः' इत्येताभ्यामृग्भ्यां तामवोक्षेत्।

केचित्-प्रतिमन्त्रम्। तथा पूर्वस्मिन्नवोक्षणे षडवसानास्तिस्र ऋचः। इह तु 'तिलदेव पद्यस्व' इत्येका ऋक्; 'निरैतु पृश्नि' इत्यपरं यजुरिति ॥ १५ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने चतुर्दशः खण्डः समाप्तः ॥

---

१. () अस्मिन्विधौ उत्तराभ्यां मन्त्राभ्यां 'तिलदेव पद्यस्व, निरैतु पृश्निशेवल' मित्येताभ्याम् इति विशेषः। ता एव आपः प्रतिमन्त्रं प्रोक्षयेत्। एते च कर्मणी स्वभार्याविषये एतत्कुण्डलान्तर्गतपाठस्थे 'क' 'ख' पुस्तकयोरयं पाठो दृश्येत।

* अस्मिन् खण्डे हरदत्तमते सूत्रसंख्या सप्तदश (१७) सुदर्शनमते पञ्चदश (१५)

अथ पञ्चदशः खण्डः

जातं वात्सप्रेणाभिमृश्योत्तरेण यजुषोपस्थ आधायोत्तराभ्या-
मभिमन्त्रणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्णे जापः ॥ १ ॥

अनु०—उत्पन्न हुए पुत्र को वत्सप्री नाम के ऋषि द्वारा दृष्ट "दिवस्परि" आदि (तैत्तिरीय-संहिता ४.२.२) का पाठ करके स्पर्श करे और अगले यजुस् मन्त्र 'अस्मि-न्नहम्' आदि का पाठ करके पुत्र को अपनी गोद में रखे; आगे के तीन मन्त्रों से क्रमशः ('अङ्गादङ्गात्' आदि द्वारा) अभिमन्त्रण करे ('अश्मा भव' आदि द्वारा) सिर को सूँघे और ('मेधां ते' आदि द्वारा) उसके कान में जप करे ॥ १ ॥

टि०—जातकर्म संस्कार पुत्र के लिए ही किया जाता है, पुत्री के लिए नहीं। सूत्र में 'जातम्' पुल्लिंग का व्यवहार किया गया है। वात्सप्री नाम के ऋषि द्वारा दृष्ट मन्त्र से अभिमर्शन किया जाता है। अनुवाक की प्रत्येक ऋचा का पाठ करके अभिमर्शन होता है। कुछ लोगों के अनुसार सभी ऋचाओं के अन्त में अभिमर्शन किया जाता है। कुछ लोग 'उत्तराभ्याम्' द्विवचनान्त पाठ के आधार पर दोनों मन्त्रों का तीनों ही कर्मों में विनियोग मानते हैं। उन लोगों के अनुसार दोनों ही कानों में जप किया जाता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में कहा भी गया है। 'कर्णयोरुप-निधाय मेधाजननं जपति मेधां ते देवस्सवितेति' १.१३.२। सुदर्शनाचार्य ने सम्पूर्ण अनुवाक के अन्त में स्पर्श का नियम स्वीकार किया है ॥ १ ॥

अनाकुला

जातमिति पुल्लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् पुंस एवायं जातकर्माख्यः संस्कारः। न स्त्रियाः। वत्सप्रीर्नाम ऋषिः। तेन दृष्टं वात्सप्रं दिवस्परीत्येषोऽनुवाकः। प्रत्यृचमभिमर्शनम्। सर्वान्त इत्यन्ये।

उत्तरेण यजुषा 'अस्मिन्नह' मित्यनेन। उत्तरत्र मातुरिति विशेषणादिह स्व उपस्थ आदधाति। उत्तराभिरिति पाठः। उत्तराभिः तिसृभिः ऋग्भिः अभिमन्त्रणादीनि त्रीणि कर्तव्यानि। 'अङ्गादङ्गा'दित्यभिमन्त्रणम्। 'अश्मा भवे'ति मूर्धन्यवघ्राणम्। 'मेधां त' इति दक्षिणे कर्णे जापः। जप इत्यर्थः। केचित्तु उत्तराभ्यामिति द्विवचनान्तपाठमाश्रित्य द्वयोर्मन्त्रयोः त्रिष्वपि कर्मसु विनियोगं मन्यन्ते। तेषामवघ्राणलिङ्गेनाभिमन्त्रणं कर्णयोर्जपश्च प्राप्नोति। आश्वलायनश्चाह—कर्णयोरुपनिधाय मेधाजननं जपति मेधां ते देवस्सवितेति (आश्व. श्रौ. १–१३–२) ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

जातं जातमात्रम्, प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते ॥ (मनु. २-२९)

इति वचनात् । एतच्चोपरि शोध्यते । जातं कुमारं पिता वात्सप्रेण 'दिवस्परि' (तै.सं. ४-२-२) इत्यनुवाकेन अन्ते सकृदभिमृश्य 'अस्मिन्नहम्' इत्यनेन यजुषा स्वस्योपस्थे तमाधाय, उत्तराभ्यां 'अङ्गादङ्गात्' 'अश्मा भव' इति द्वाभ्यां तस्याभिमन्त्रणं कर्तव्यम्, तथैव ताभ्यामेव मूर्धन्यवघ्राणम्, एतयोरेवचः दक्षिणे कर्णे जापो जप इत्यर्थः । वचनबलाच्च जपाभिमन्त्रणयोरवघ्राणलिङ्गबाधः । अभिधानं तु जातसंस्कारक्रियासामान्यात् । एतच्च 'तीर्थस्थाणुचतुष्पथव्यतिक्रमे' (आप.गृ. ५-२६) इत्यत्रोपपादितम् ।

केचित्—उत्तराभिरिति पाठो, नोत्तराभ्यामिति । तेन 'अङ्गादङ्गात्' इत्यभिमन्त्रणम् । 'अश्मा भव' इत्यवघ्राणम् । 'मेधां ते देवः' इति जपः । अत एवाश्वलायनः—"कर्णयोरुपनिधाय मेधाजननं जपति 'मेधांते देवस्सविता' इति ।" मधुघृतप्राशनं तु 'त्वयि मेधाम्' इति यजुर्भिरेव त्रिभिरिति । तन्न; अनधीयमानपाठाङ्गीकारे अतिप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

नक्षत्रनाम च निर्दिशति ॥ २ ॥

अनु०—उसका कोई नक्षत्र नाम रखे ॥ २ ॥

अनाकुला

अभिजिघ्राम्यसौ इत्यत्रासौशब्दस्य स्थाने नक्षत्रनामनिर्देशः । तत्संबुद्ध्या निर्दिशेत्-पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्याश्वयुजेत्यादि । तत्र नक्षत्रशब्देषु जातार्थे रूपनिर्णयार्थः श्लोकः—

रोरेममृज्येचिषु वृद्धिरादौ ष्ठात्पे च वान्त्यश्रवशाश्वयुक्षु ।
शेषेषु नाम्वोः कपरस्स्वरोऽन्त्यःस्वाप्वोरदीर्घस्सविसर्ग इष्टः ॥

रोहिण्यादिशब्दानामयमाद्यक्षरैर्निर्देशः तेषामादौ वृद्धिः कर्तव्येत्यर्थः । रौहिणः, रैवतः, माघः, मार्गशीर्षः, ज्यैष्ठः, चैत्रः । ठात्परो यः पशब्दः तत्र वृद्धिः । प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादः । 'जे प्रोष्ठपदानां' (पा.सू. ७-३-१८) मित्युत्तरपदवृद्धिः । एषु 'नक्षत्रेभ्यो बहुल'मिति (पा.सू. ४-३-३७) बहुलवचनात् लुङ् न भवति । नक्षत्रेषु अन्त्यमपभरण्याख्यं तत्र विकल्पः । आपभरणिः आपभरणो वा । तथा श्राणः श्रावणो वा । अनयोर्बहुलवचनादेव लुको विकल्पः । शतभिषजि जातः शतभिषक् शातभिषजो वा । अत्र टिलोपोऽपि पक्षे भवति शतभिष इति । तथा अश्वयुक् आश्वयुजः अनयोः "वत्स-

शाळाभिजिदश्वयुक्शतभिषजो वा" (पा. सू. ४-३-३६) इति लुको विकल्पः। शेषेषु उक्तादन्येषु नक्षत्रेषु आदौ वृद्धिर्न भवति। अत्र "श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक्" (पा. सू. ४-३-३४) "नक्षत्रेभ्यो बहुलम्" इति च लुगेव भवति। श्रविष्ठः, फल्गुनः, अनुराधः, स्वातिः, तिष्यः, पुनर्वसुः, अषाढः [1]बहुलः कृत्तिकः इति। आम्वोः आर्द्रामूल इत्येतयोः अन्त्यः स्वरः कशब्दपरो भवति। आर्द्रकः मूलकः। "पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूले'ति (पा.सू. ४-३-२८) दीर्घः वुन् प्रत्ययः। स्वाप्वोः स्वातीपुनर्वसू इत्येतयोः अन्त्यस्वरो ह्रस्वः सविसर्गश्चेष्टः स्वातिः, पुनर्वसुः 'श्रविष्ठाफल्गुनो'त्यादिना लुक्। सविसर्गत्वं सूक्तवाकादिषु प्रथमया नक्षत्रनिर्देशे। इह तु सम्बुद्ध्या निर्देशः-स्वाते पुनर्वसो इति। प्राङ्नामकरणात् अग्न्युपस्थानादिषु चास्यैव नक्षत्रनाम्नो निर्देशः कर्तव्यः। यत्र च नामद्वयनिर्देशस्तत्राप्येवंविधं नक्षत्रनामैकं, दशम्यां कृतमपरम्॥ २॥

तात्पर्यदर्शनम्

कुमारस्य यन्नक्षत्रजननाद्यन्नाम तच्च रौहिणेत्यादिसम्बुद्ध्या असौशब्दस्य स्थाने निर्दिशति। अत्र चायमशिक्षितव्याकरणशास्त्राणां रूपज्ञानाय सूत्ररूपः श्लोकः—

रोरेममृज्येचिषु वृद्धिरादौ ष्ठात्पे च वान्त्यश्रवशाश्वयुक्षु।
शेषेषु नाम्वोः कपरस्स्वरोऽन्त्यः स्वाप्वोरदीर्घस्सविसर्ग इष्टः॥

अस्यार्थः—रोहिणी रेवती मघा मृगशीर्षा ज्येष्ठा चित्रा—इत्येतेषु आद्याक्षरनिर्दिष्टेषु आदौ वृद्धिर्भवति, 'नक्षत्रेभ्यो बहुलम्' (पा. सू. ४-३-३७) इति बहुलग्रहणाज्जातार्थप्रत्ययस्य च लुगभावः। रूपं च रौहिणः रैवतः मार्गशीर्षः ज्यैष्ठः चैत्रः इति। ष्ठात्पे च, प्रोष्ठपदेत्यत्र ष्ठकारात्परे च वृद्धिः। "जे प्रोष्ठपदानाम्" (पा. सू. ७-३-१८) इत्युत्तरपदवृद्धिरित्यर्थः। पूर्ववच्च लुगभावः प्रोष्ठपादः। वान्त्यश्रवशाश्वयुक्षु। अन्त्यमाम्नानतः अपभरणोरित्यर्थः। श्रवः श्रवणः शतभिषक् अश्वयुक् इत्यतेषु चतुर्षु वा विकल्पेन वृद्धिः। अत्र च श्रवणापभरण्योः बहुलग्रहणादेव लुको विकल्पः। अश्वयुक्छतभिषजास्तु 'वत्सशालाभिजिदश्वयुक्छतभिषजो वा' (पा. सू ४-३-३६) इति सूत्रेण। अपभरणः आपभरणः। श्रवणः श्रावणः। शतभिषक् शातभिषजः। अश्वयुक् आश्वयुजः। शेषेषु न, उक्तादन्येषु नक्षत्रेषु न वृद्धिः। यतोऽत्र 'श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक्' (पा. सू. ४-३-३४)

१. बहुलशब्दष्टावन्तः कृत्तिकावाची।

इत्यनेन 'नक्षत्रेभ्यो बहुलम्' इत्यनेन च लुगेव भवति । 'लुक्तद्धितलुकि' (पा. सू. १-२-४९) इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । कृत्तिकः तिष्यः आश्लेषः फाल्गुनः हस्तः विशाखः अनुराधः आषाढः श्रविष्ठः । आम्वोः कपरः स्वरोऽन्त्यः, आर्द्रा-मूलयोरन्त्यः स्वरः कशब्दपरो भवति । पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूला' इत्यादिना 'वुन्प्रत्यय इत्यर्थः । आर्द्रकः मूलकः । स्वाप्वोरदीर्घस्सविसर्ग इष्टः, स्वाप्वोः स्वातीपुनर्वस्वोरन्त्यस्वरो दीर्घस्सविसर्गश्चेष्टः । 'श्रविष्ठाफल्गुनो' इत्यादिना लुक् । सविसर्गत्वं च पूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ हल्ङ्यादिलोपा भावात् । उत्तरस्य तनुवदुकारान्तत्वात् । स्वातिः पुनर्वसुः । एवं सर्वेषां नक्षत्रनाम्नां प्रथमया निर्देशः सूक्तवाके । जातकर्मणि[1] पुनस्सम्बुद्ध्या ॥ २ ॥

तद्रहस्यं भवति ॥ ३ ॥

अनु०—वह नाम गुप्त रहता है (दूसरे व्यक्ति उसे न जाने) ॥ ३ ॥

अनाकुला

नक्षत्रनाम रहस्यं भवति । यथा परे न जानन्ति तथा वक्तव्यमित्यर्थः सूक्तवाकादिष्वप्येवमेव ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

नक्षत्रनाम च रहस्यं निर्दिशेदिति सूत्रे प्रणेतव्ये सूत्रान्तरकरणात्[2] यत् नामनक्षत्रनिबन्धनं, यच्च दशम्यां कृतं तदुभयं सूक्तवाकान्नप्राशनाभिवाद-नादिषु नित्यं रहस्यमेव निर्देश्यं भवति ॥ ३ ॥

मधु घृतमिति सँसृज्य तस्मिन् दर्भेण हिरण्यं निष्टर्क्यं बद्ध्वाऽवदायोत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयित्वोत्तराभिः पञ्चभिस्स्नापयित्वा दधि-घृतमिति संसृज्य कांस्येन पृषदाज्यं व्याहृतीभिरोङ्कारचतुर्थाभिः कुमारं प्राशयित्वाद्भिः शेषं संसृज्य गोष्ठे निनयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—एक साथ मधु और घी को मिलाकर मिश्रण तैयार करे । उस मिश्रण में सोने के एक टुकड़े को दर्भ के एक तिनके द्वारा बाँधकर डाले और उस मिश्रण को आगे के तीन मन्त्रों 'त्वयि मेधाम्' आदि द्वारा प्राशन करावे । आगे के "क्षेत्रियै त्वा" आदि पाँच मन्त्रों से स्नान करावे, तब दूसरे काँसे के पात्र में दही और घृत मिलाकर पृषदाज्य बनावे और फिर उसे बालक को तीन व्याहृतियों तथा चौथे ओम्

---

१. ग-नामकर्मणि । २. ख-ग-ङ-इदं नाम ।

शब्द के साथ चढावे, शेष भाग को जल में मिलाकर उसे गायों के रहने के स्थान पर गिरा देवे ॥ ४ ॥

टि०—हरदत्तमिश्र ने स्पष्ट किया है कि मधु और घृत का मिश्रण विषय परिमाण में होना चाहिए। निष्टक्र्यबन्धन एक विशेष प्रकार से शिखाबन्धन जैसे बन्धन को कहते हैं। हरदत्तमिश्र के अनुसार 'त्वयि मेधा' आदि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र के साथ प्राशन होगा, किन्तु सुदर्शनाचार्य के अनुसार तीनो मन्त्रों का जप करने के बाद केवल एक बार होगा। मनुस्मृति में भी इस विषय में निर्देश है : 'मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्' २.२९. इसी प्रकार स्नान कराने की विधि के विषय में हरदत्तमिश्र के अनुसार पाँच स्नापन मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र से स्नान कराया जायगा, जबकि सुदर्शनाचार्य के अनुसार पाँचो मन्त्र का जप करके केवल एक बार ॥ ४ ॥

अनाकुला

मधुघृतमित्येतद्द्वयं विषमपरिमाणं कांस्यपात्रे संसृज्य तस्मिन् हिरण्यं दर्भेण, निष्टर्क्यं बद्ध्वाऽऽदधाति। निष्टर्क्यमिति बन्धनविशेषो लोकप्रसिद्धः। तथा बद्धेन हिरण्येन तद्रसद्वयमादाय तेनैव कुमारं प्राशयेत्। उत्तरैस्त्रिभिः 'त्वयि मेधा'मित्यादिभिः प्रतिमन्त्रं प्राशनम्। तत उत्तराभिः पञ्चभिः ऋग्भिः 'क्षेत्रियै त्वे'त्यादिभिः प्रतिमन्त्रं स्नापयति। ततोऽन्यस्मिन् कांस्यपात्रे दधि घृतञ्च संसृज्य तत्पृषदाज्यं तेनैव कांस्येन प्राशयति। व्याहृतीभिरोङ्कारचतुर्थाभिः भूः स्वाहेत्यादिभिः प्रतिमन्त्रम्। ततश्शेषद्वयमद्भिस्संसृज्य गोष्ठे निनयेत्। कुमारग्रहणं असमर्थस्यापि कुमारस्यैव प्राशनमुपायेन यथा स्यादिति। तेन यत्नाभावे "धानाः कुमारान् प्राशयन्ति" 'क्षैत्रपत्यं च प्राशयन्ति" इत्यादौ प्राशनमसमर्थानां न भवति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

निष्टर्क्यं शिखाबन्धनवत् सरन्ध्रेण ग्रन्थिना निष्टर्क्यं बध्नाति; 'प्रजानां प्रजननाय' इति लिङ्गात्। उत्तरैर्मन्त्रैः 'मेधां ते देवस्सविता' इत्यृचा, 'त्वयि मेधाम्' इति चतुर्भिर्यजुर्भिः। प्राशनं चतुर्णामन्ते सकृदेव हिरण्येन गृहीत्वा।

"मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्"। (मनु. २-२९)

इति मनुवचनात्। उत्तराभिः पञ्चभिः 'क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वा' इत्यादिभिः स्नापनमपि पञ्चानामन्ते सकृदेव। घृतमिति संसृष्टे पृषदाज्ये। तच्च यस्मिन् कांस्ये संसृज्यते तेनैव प्राशयेन्न हस्तेन। व्याहृतिभिरोङ्कारचतुर्थीभिः 'भूः स्वाहा' इत्यादिभिः। अत्राप्यन्ते सकृत्प्राशनम्। प्राशितशेषमद्भिस्संसृज्य गोष्ठे अधिकरणेऽन्यो निनयेत्।

केचित्—मधुघृतसंसर्गोऽपि कांस्ये नियतः। प्राशनद्वयं स्नापनं च प्रतिमन्त्रमिति ॥ ४ ॥

* उत्तरया मातुरुपस्थ आधायोत्तरया दक्षिणं स्तनं प्रतिधाप्योत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृश्योत्तरेण यजुषा संविष्टम् ॥ ५ ॥

अनु०—आगे के मन्त्र 'मा ते कुमारम्' का पाठ करते हुए बालक को माता की गोद में रखे; अगले मन्त्र "अयं कुमार' आदि द्वारा पत्नी का दाहिना स्तन बालक को (पीने के लिए) दिलवाये। आगे के दो मन्त्रों "यद्भूमेर्हृदयम्' आदि द्वारा पुत्र के लिटा दिये जाने पर उसे अगले यजुस् मन्त्र 'नामयति न रुदति' आदि द्वारा स्पर्श करे ॥ ५ ॥

टि०—इसके पूर्व के सभी कर्म पिता नवजात पुत्र को अपनी गोद में रखकर करेगा, उसके बाद उसे उसकी माता की गोद में बैठाकर 'अयं कुमार' आदि मन्त्र से दाहिना स्तन पिलाता है। यह मन्त्र बालक के पहले बार स्तनपान के समय होता है। माता उस बालक को पुनः भूमि पर रखती है और तब पिता 'नामयति' आदि मन्त्र से पुनः स्पर्श करता है। सुदर्शनाचार्य ने उचित ही प्रतिपादित किया है कि यह कर्म बालक के उत्पन्न होते ही किया जाता है ॥ ५ ॥

अनाकुला

अथ तं कुमारं 'मा ते कुमार'मित्येतया मातुरुपस्थ आदधाति। एतावन्तं कालं स्वोपस्थे। तस्मात् शेषनिनयनमप्यन्येन कारयितव्यम्। तत उत्तरयर्चा 'अयं कुमार' इत्येतया दक्षिणं स्तनं प्रतिधाप्य तत उत्तराभ्यां ऋग्भ्यां 'यद्भूमेर्हृदय'मित्येताभ्यां प्रतिमन्त्रं पृथिवीमभिमृशति। ततः तं कुमारं अभिमृष्टायां भूमौ संवेशयति माता। तं संविष्टमुत्तरेण यजुषा 'नामयति न रुदती'त्यनेनाभिमृशति ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरया 'मा ते कुमारम्' इत्येतया कुमारं मातुरुपस्थ आदधाति। इह च मातृग्रहणादितः पूर्वं स्वोपस्थ एव। अत एव च शेषनिनयनमन्यकर्तृकम्। उत्तरया 'अयं कुमारः' इत्येतया दक्षिणं स्तनं प्रतिधापयति पाययति। इदं च मन्त्रनियमयोर्विधानं प्रथमस्तनपानविषयम्, प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्। ततश्च जातेष्टिः, 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति

---

* 'क' 'ख' पुस्तकानुसारेण हरदत्तेन एतदादिसूत्रयं सूत्रद्वयीकृतम्-उत्तरया मातु… निधाय ॥ सर्षपान्…तायाः ॥ इति ॥

गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति' (तै. सं. २–२–५) इत्यादिना यद्यपि पुत्र-जन्माख्यनिमित्तसंयोगेन श्रुता, तथापि [1]क्षामवत्यादिवन्न निमित्तादनन्तरं कर्तव्या। कुत एतत्? [2]रात्रिसत्रन्यायेन आर्थवादिकपुत्रगतब्रह्मवर्चसादिका-मनासंवलितस्यैव जन्मनोऽधिकारहेतुत्वाभ्युपगमात् जातेष्टिप्रवृत्तेश्चोत्कटजीव-त्पुत्रगतपूततादिफलरागाधीनत्वात् दीर्घकालसमाप्यायां चेष्टौ कृतायां पश्चाद्वै-धस्तनपाने सति कुमार एव शेषो शुष्ककण्ठतया न जीवेत्। ततश्चेष्टयां रागा-धीनायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मात् जननान्तरमेव संशासनान्तं जातकर्मैव कर्तव्यम्। इष्टिस्तूक्तेन न्यायेन निमित्तस्वारस्यभङ्गस्य दुर्निवारत्वात् चोदका-नुग्रहाच्चाशौचेऽपगते पर्वण्येव कर्तव्या। उत्तराभ्यां 'यद्भूमेर्हृदयं' इत्येताभ्यां पृथिवीं सकृदभिमृशति, यत्र कुमारश्शयिष्यते। ततस्तं कुमारं अभिमृष्टायां भूमौ माता संवेशयति। अथ तं संविष्टं 'नामयति न रुदति' इति यजुषाभि-मृशति ॥ ५॥

उत्तरेण यजुषा शिरस्त उदकुम्भं निधाय सर्षपान् फलीकरण-मिश्रानञ्जलिनोत्तरैस्त्रिस्त्रिः प्रतिस्वाहाकारं हुत्वा संशास्ति–प्रविष्ट प्रविष्ट एव तूष्णीमग्नावावपतेति ॥ ६ ॥

अनु०—अगले यजुष् 'आपस्सुप्तेषु' आदि से उस बालक के सिरहाने जल से भरा घड़ा रखे। 'अयं कलिस्' आदि आठ मन्त्रों से सरसों और धान की भूसी मिलाकर अञ्जलि से तीन-तीन बार, प्रत्येक बार 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करते हुए हवन करे और (सूतिकागार में प्रवेश करनेवाले घर के सदस्यों से) कहे जब-जब तुम लोग प्रवेश करो तब-तब अग्नि में (सरसों और भूसी मिलाकर तीन-तीन बार) बिना मन्त्र के चुपचाप हवन कर दिया करो ॥ ६ ॥

टि०—फलीकरणमिश्रित सरसों का हवन कुमार की रक्षा के लिए किया जात है हवन के आठ मन्त्रों के साथ प्रत्येक मन्त्र से तीन-तीन बार हवन किया जाता है। एक बार मन्त्र पढ़कर और दो बार बिना मन्त्र के ही ॥ ६ ॥

---

१. यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् (तै. सं. २–२–२) इत्याहिताग्नेर्गृहदाहे निमित्ते कर्तव्यतया विहितेष्टिः क्षामवतीष्टिः। सा यथा दाहरूपनिमित्तोत्पत्तिसमनन्तरमेव कर्तव्यतया विहिता न तथा जातेष्टिरित्यर्थः।

२. "ज्योतिर्गौरायुरिति त्र्यहा भवन्ति" इत्यन्तेनाश्रुतफलकं किञ्चन कर्म विधाय "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति" इति तत्सन्निधावर्थवादः श्रुतः। तत्र विहितस्य कर्मणः फलाकाङ्क्षायां अर्थवादोपस्थितस्य प्रतिष्ठाख्यस्य फलस्य कल्पनमित्युक्तं पूर्व-मीमांसायां चतुर्थतृतीये। अयं न्यायो रात्रिसत्रन्यायः ॥

अनाकुला

ततस्तस्य शिरस्समीपे उत्तरेण यजुषा 'आपस्सुप्तेष्वि'त्यनेन उदकुम्भं निदधाति। ततस्सर्षपान् फलीकरणमिश्रानञ्जलिना जुहोति उत्तरैर्मन्त्रैः अष्टाभिः 'अयं कलि'मित्यादिभिः। तत्र च प्रतिस्वाहाकारं [1]त्रिर्होमः। सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। द्रव्यं च पुनः पुनरादेयम्। केचित्तु सकृदुपात्तेनैव त्रिर्जुह्वति। उत्तरयोश्च होमयोः स्वाहाकारमात्रमावर्तयन्ति। होमश्चायमपूर्वः तन्त्रस्याविधानात् परिस्तरणं तु भवति। परिषेचनं समन्त्रमुभयतः। हुत्वा ततस्संशास्ति। कान्! ये सूतिकागारं प्रविशन्ति। तत्र संशासने एवकारः एवमित्यस्यार्थे। एतदुक्तं भवति-अस्य सूतिकागारस्य यदा यदा प्रवेशो युष्माभिः क्रियते तदा तदा सर्षपान् फलीकरणमिश्रानस्मिन्नग्नावेवं तूष्णीमावपत यथा मयोप्ताः अञ्जलिना त्रिस्त्रिश्चेति। तत्र तूष्णीमित्यतिदेशप्राप्तस्य मन्त्रस्य प्रतिषेधः। यथासंप्रैषं ते कुर्वन्ति। होमश्चायं कुमारस्य रक्षार्थः संस्कारः, न मातुः, प्रकरणात्। तेन यद्यपि 'यस्यै विजातायां मन' इति मातुरपि रक्षा प्रतीयते तथापि तदर्थो होमो न भवति। ततश्च स्त्रीप्रसवे दशाहमध्ये पुत्रमृतौ च न भवति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरेण 'आपस्सुप्तेषु' इत्यनेन यजुषा कुमारस्य शिरस्समीपे उदकस्य पूर्णकुम्भं निधाय अथ 'यत्र क्व चाग्निम्' (अय.ध. २-१-१३) इत्यादिविधिना श्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य तमुपनिधाय फलीकरणमिश्रान् सर्षपान् उत्तरैः 'अयं कलिम्' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैः अञ्जलिना प्रतिमन्त्रं त्रिस्त्रिर्जुहोति। तत्र तु द्विस्तूष्णीम्। तूष्णीकेष्वपि स्वाहाकारो भवति, प्रतिमन्त्रमिति सिद्धे प्रतिस्वाहाकारमित्यधिकाक्षरात्। अथ सूतिकागृहपाशान् संशास्ति-प्रविष्टे प्रविष्ट एव तूष्णीमग्नावावपतेति। सम्प्रैषस्य चायं विवक्षितोऽर्थः—प्रतिप्रवेशं[2] तदनन्तरमेव सर्षपान् फलीकरणमिश्रान् अञ्जलिना अस्मिन्नेवाग्नौ तूष्णीं वाग्यता एव आवपतेति। एवकाराच्च प्रवेशावापयोर्मध्ये त्रुटिमात्रस्यापि कालस्य न क्षेपः। सर्षपाणामेवाञ्जलिना आवापः; प्रकृतत्वात्।

केचित्-एवकार एवमित्यर्थे। तूष्णीमिति चातिदेशप्राप्तमन्त्रप्रतिषेधार्थमिति ॥ ६ ॥

एवमहरहरानिर्दशतायाः ॥ ७ ॥

अनु०— इसी प्रकार जन्म के दस दिनों तक करे ॥ ७ ॥

---

१. त्रिर्जुहोति। २. क-प्रतिविशं।

अनाकुला

विजननप्रभृति यावत् दशाहानि न निर्गच्छन्ति तावदेव होमः कर्तव्यः संशासनञ्चेत्यर्थः। सकृच्च होमाः, न सायम्। यद्यपि संशासनमनन्तरं तथापि तावन्मात्रस्यायमतिदेशो न भवति। तस्य होमशेषत्वात्। नापि वात्सप्रादेः। कृत्स्नस्य कल्पान्तरेषु सर्वेष्वप्रसिद्धत्वात् ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथैतदनन्तरोक्तं तूष्णीमापवनं एवमहरहः आनिर्दशतायास्सूतिकागृहपालैः कर्तव्यम्। आङ् मर्यादायाम्। निर्दशा निर्गता दशभ्योऽहोरात्रेभ्यो या रात्रिस्सा। आदशम्या रात्रेरित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं जातकर्मोक्त्वा क्रमप्राप्तं नामकरणमाह—

*** दशम्यामुत्थितायां स्नातायां पुत्रस्य नाम दधाति पिता मातेति ॥ ८ ॥**

अनु०—दसवें दिन माता के उठकर स्नान कर लेने के बाद पुत्र का नाम रखे। पिता और माता सबसे पहले उस नाम का उच्चारण करें ॥ ८ ॥

टि०—उत्थान से सूतिका के चिह्नभूत जल का घट, अग्नि आदि के हटाने से तात्पर्य है। यह कार्य पति करता है अथवा नापित करता है। दशमी से रात्रि का अर्थ न लेकर दसवें दिन का अर्थ लिया जायगा। पुत्र का नाम पहले पिता और माता लें। तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है: "पिता माता च दधतुर्यदग्रे" १ ५.१० इस कर्म में भी पहले ब्राह्मणों को भोजन करावे। उनसे स्वस्तिवाचन करावे ॥ ८ ॥

अनाकुला

उत्थानं नाम सूतिकालिङ्गानामग्न्युदकुम्भादीनामपनयनम्। भर्तुश्च नापितकर्म। यच्चान्यत् स्त्रियो विदुः तच्च सर्ववर्णानां दशमेऽहनि भवति। दशमीशब्देन न रात्रिरुच्यते किं तर्हि? अहोरात्रसमुदायः यथा "तस्मात् सदृशीनां रात्रीणा" मिति। तत्र परिभाषावशादहन्येव कर्म स्नानं च सति सम्भवे तस्मिन्नेवाहनि नियमेन भवति। प्रकरणादेव सिद्धे पुत्रस्येति वचनं वक्ष्यमाणो 'नाम्नो लक्षणविशेषः' तस्यैव यथा स्यात्। तेन कुमार्याः 'अयुजाक्षरं कुमार्याः' (आप.गृ. १५-११) इत्येतावदेव भवति। न 'नामपूर्वमाख्यातोत्तर'मित्यादि। पिता मातेति वचनं तौ नामाग्रेऽ[1]भिव्याहरेतामित्येवम-

---

* 'क ख' पुस्तकानुसारेण सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते। स्नातायामित्यन्तं प्रथमसूत्रम्, तत उत्तरम्।

१. घ-अभिव्याहृत्याशीर्वचनमभिव्याहरेतामित्ये।

र्थम्। विज्ञायते च "पिता माता च दधतुर्यदग्रे" (तै. सं. १-५-१०) इति। तत्र प्रयोगः-'शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २-१४-९) इति ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता माता च नामाग्रेऽभिव्याहृत्याशीर्वचनं ब्राह्मणैरभिव्याहारयेताम्। अमुष्मै स्वस्तीति कल्पान्तरे दर्शनात्। केचित् नाम करिष्याव इति सङ्कल्पमिच्छन्ति ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्।

दशम्यां रात्रौ दशमेऽहनि। उत्थितायां सूतिकागृहान्निष्क्रान्तायां प्रसूतिकायां स्नातायां च सत्याम्। एवं वदता दशमेऽहनि निष्क्रम्य स्नातव्यमित्युक्तं भवति। पुत्रस्य पिता नाम दधाति व्यवस्थापयति, न तु करोति; शब्दार्थयोस्सम्बन्धस्य नित्यत्वात्। माता च। इतिशब्दश्चार्थे, मातापितरौ सहितौ नाम धत्त इति। इममर्थं मन्त्रवर्णोऽप्याह "मम नाम प्रथमं जातवेदः पिता माता च दधतुर्यदग्रे" (तै. सं. १-५-१०) इति ॥ ८ ॥

द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नामपूर्वमाख्यातोत्तरं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं घोषवदाद्यन्तरन्तस्थम् ॥ ९ ॥

अनु०—नाम दो अक्षर या चार अक्षरों का होना चाहिए, नाम का प्रथम भाग संज्ञाशब्द हो और अन्त में क्रियापद हो; उसमें एक दीर्घ स्वर हो या अन्त में विसर्ग होना चाहिए; आरंभ में घोष व्यञ्जन हो और नाम के मध्य में अन्तस्थ वर्ण (य, र, ल, व) हो ॥ ९ ॥

टि०—आख्यात से आख्यात जैसे क्विप प्रत्ययान्त या सुप् प्रत्ययान्त शब्द भी समझना चाहिए। अभिनिष्ठान विसर्ग के लिए ही प्रयुक्त प्राचीन नाम है। हरदत्त ने स्वयं अपना नाम भी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है ॥ ९ ॥

अनाकुला

अथ नाम्नो लक्षणविशेषः। सव्यञ्जनो निर्व्यञ्जनो वा स्वरोऽक्षरं नाम द्रव्यप्रधानं, तत्पूर्वपदं यत्र तत् नामपूर्वं क्रियानिमित्तमाख्यातं, तदुत्तरपदं यत्र तत् आख्यातोत्तरं दीर्घात्परोऽभिनिष्ठानो विसर्जनीयोऽन्ते यस्य तत् दीर्घाभिनिष्ठानान्तम् तथा घोषवद्व्यञ्जनमादिभूतं यस्य तत् घोषवदादि अन्तर्मध्ये अन्तस्था यस्य तत् अन्तरन्तस्थम् वर्गाणां तृतीयचतुर्थौ हकारश्च घोषवन्तः। यरलवा अन्तस्थाः। दिवं नयतीति द्युनीः। गाः श्रयते इति गोश्रीः। गां प्रीणातीति गोप्रीः। हिरण्यं ददातीति हिरण्यदाः भूरिदाः हरदत्त इत्यादीन्युदाहरणानि। "ऋष्यणूकं देवताणूकं वा यथा वैषां पूर्वपुरुषाणां

नामानि स्यु" रिति (बौ. गृ. २-२-२८,२९) बोधायनः। ऋष्यणूकं ऋष्यभिधायि-वसिष्ठो जमदग्निरिति। देवताणूकं देवताभिधायि रुद्रो विष्णुरिति। पूर्वपुरुषाः पित्रादयः ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ व्यवस्थापनीयस्य नाम्नो लक्षणमुच्यते-द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वेति समासोऽभिप्रेतः, न तु रूढिः 'नामपूर्वमाख्यातोत्तरम्' इति पूर्वोत्तरखण्डव्यवस्थापनात्। नापि वाक्यम्; तस्य द्रव्यवाचकत्वाभावात्। कुतः पुनर्वाक्यसमासयोरर्थवत्समुदायत्वाविशेषेऽपि समास एव द्रव्यवाचको न वाक्यम्? इति चेत्; 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा.सू. १-२-४६) इति समासग्रहणस्य नियमार्थत्वात्। नामपूर्वं, द्रव्यवाचकं सुबन्तं पदं नाम, तत्पूर्वं यस्य तन्नामपूर्वम्। आख्यातमुत्तरं पदं यस्य नाम्नस्तदाख्यातोत्तरम्।

ननु-'सुप्सुपा' इति समासनियमात् आख्यातेन तिङन्तेन नैव समासः? सत्यम्; अत एवात्र आख्यातशब्देन आख्यातसदृशं क्विबन्तं सुबन्तमेव विवक्षितम्। सादृश्यं च क्रियाप्राधान्याभावेऽपि क्रियावाचित्वमात्रात्, 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' इति धातुसंज्ञत्वाच्च। दीर्घाभिनिष्ठानान्तं दीर्घश्चाभिनिष्ठानश्चान्ते यस्य नाम्नस्तत्तथोक्तम्। अभिनिष्ठान इति विसर्जनीयस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा। घोषवान् वर्ण आदिर्यस्य नाम्नस्तत् घोषवदादि। घोषवर्णाश्च प्रातिशाख्यसूत्रे प्रसिद्धाः, 'ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः। न हकारः। व्यञ्जनशेषो घोषवान्' इति। अन्तरन्तस्थं अन्तः मध्य यस्य नाम्नोऽन्तस्थाः यरलवास्तत्तथोक्तम्। द्व्यक्षरस्योदाहरणं-वार्दाः, वाः उदक ददातीति वार्दाः, गिरं ददातीति गीर्दाः—इत्यादि। चतुरक्षरस्य तु भाष्योक्तं 'द्रविणोदाः वरिवोदाः' इति। एतद्द्वयमपि छान्दसम्। अन्यदपि हिरण्यदा युवतिदा इत्यादि ॥ ९ ॥

अपि वा यस्मिन् स्वित्युपसर्गस्स्यात् तद्धि प्रतिष्ठितमिति हि ब्राह्मणम् । १० ॥

अनु०—अथवा उस नाम में 'सु' उपसर्ग लगा हो, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है कि इस प्रकार का नाम प्रतिष्ठित होता है ॥ १० ॥

टि०—नामों के विषय में एक और विकल्प इस सूत्र में दिया गया है, 'सु' उपसर्ग लगाने का। टीकाकार सुदर्शनाचार्य ने अपना नाम भी उदाहरण स्वरूप दिया है। बौधायन के अनुसार देवता या ऋषि के नाम के अनुसार नाम रखने का नियम है। अथवा पूर्व पुरुषों के नाम पर भी नाम रखा जा सकता है॥ १० ॥

अनाकुला

अपि वा अयमपि पक्षः–यस्मिन्नाम्नि 'सु' इत्ययमुपसर्गः स्यात् तदेव तत्र लक्षणम्। नान्यद्‌द्व्यक्षरत्वादि। तद्धि प्रतिष्ठितम्। हि-शब्दोऽतिशये। पूर्वस्मादप्यतिशयेन प्रतिष्ठितं, तेन पूर्वमपि द्व्यक्षरादि प्रतिष्ठितम्। तथाच पूर्वस्मिन्नेव लक्षणे स्थित्वा भरद्वाज आह–द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं तद्धि प्रसिद्धमिति विज्ञायते इति। प्रतिष्ठितमिति। ध्रुवमविनाश्यायुष्यमित्यर्थः। सुभद्रस्सुमुख इत्याद्युदाहरणम्। उपसर्ग इति वचनात्सोमसुदित्यादि प्रतिष्ठितं न भवति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अपि वा यस्मिन्नाम्नि 'सु' इत्ययमुपसर्गस्स्यात् तन्नाम प्रतिष्ठितं आयुष्मद्यज्ञादिक्रियावच्च भवति; यथा–सुजातः सुदर्शन इत्यादि। इह ब्राह्मणग्रहणात् द्व्यक्षरादिविशेषणैः स्विति विशेषणं विकल्प्यते। हिशब्दोऽनर्थको निपातः, अनर्थको मिताक्षरेषु' इति वचनात्। उपसर्गग्रहणमुपसर्गप्रतिरूपकाणां सुतसोमेत्यादीनां व्युदासार्थम्। अत्र बोधायनो विकल्पान्तराण्याह—'ऋष्यणूकं देवताणूकं वा यथा वैषा पूर्वपुरुषाणां नामानि स्युः' इति। अणूकमभिधायकं, प्रकरणात्। ऋष्यणूकं वसिष्ठः नारदः इत्यादि। देवताणूकं विष्णुः शिवः इति। पूर्वपुरुषाणां पितृपितामहादीनां वा नामानि यज्ञशर्मा, सोमशर्मा इत्यादीनि ॥ १० ॥

अयुजाक्षरं कुमार्याः ॥ ११ ॥

अनु०—पुत्री के नाम में विषम संख्या में अक्षर होने चाहिए (युग्म नहीं) ॥११॥

टि०—सुदर्शनाचार्य ने जातकर्म से लेकर चौल तक के कर्म बालिकाओं के लिए भी विहित किए हैं, किन्तु ये कर्म बिना मन्त्र के ही किए जाते हैं, जैसा कि मनुस्मृति २.६६ में भी निर्देश किया गया है ॥ ११ ॥

अनाकुला

या संख्या अर्धविमितुं न शक्यते सा अयुक् संख्या। अयुञ्जि अक्षराणि यत्र तत् अयुजाक्षरम्–एकाक्षरं त्र्यक्षरमित्यादि। एतावदेव कुमार्या नामलक्षणम्–गौः, वाक्, पृथिवी, पार्वतीति ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अयुगक्षरं विषमाक्षरं कुमार्या नाम भवति। अयुजाक्षरमिति छान्दसः। अयुगक्षरत्वमेकमेवात्र विशेषणम्, द्व्यक्षरादीनामनेन निवर्तितत्वात्। तद्यथा–

श्रीः, गौः, भारती, पार्वती, कमला, पतिवल्लभा, कमलेक्षणा, इत्यादि। कुमार्या अपि जातकाद्यश्चौलान्ताः देहसंस्कारार्थाः क्रियास्तूष्णीं कर्तव्या एव।

"अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥" (म. स्मृ. २-६६.)

इति मनुवचनात्। इह च द्रव्यनिष्ठा भावार्थाः प्राशनवपनादय एव निष्कृष्य कर्तव्याः, न तु होमाः; एवमेव शिष्टाचारात्, स्मृत्यर्थसारे दृष्टत्वाच्च॥ ११॥

प्रवासादेत्य पुत्रस्योत्तराभ्यामभिमन्त्रणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्णं उत्तरान् मन्त्रान् जपेत्॥ १२॥

अनु०—किसी यात्रा से लौटने पर पिता अगले दो मन्त्रों 'अंगादंगात्' तथा 'अश्मा भव' से पुत्र को संबोधित कर उसका अभिमन्त्रण करे और उसके सिर को सूँघे। और उसके दाहिने कान में 'अग्निरायुष्मान् न वनस्पतिभिः' आदि पाँच मन्त्रों का जाप करे॥ १२॥

टि०—पुत्री के लिए मन्त्र का प्रयोग नहीं किया जाता। अभिमन्त्रण, सिर को सूँघने और दाहिने कान में मन्त्र कहने का कार्य सभी पुत्रों के लिए अलग-अलग किया जाता है॥ १२॥

अनाकुला

प्रवासादागत्य तु उत्तराभ्यामभिमन्त्रणमवघ्राणं च क्रमेण कर्तव्यम्। अङ्गादङ्गादित्यभिमन्त्रणं, 'अश्मा भवे'त्यवघ्राणम्। नामनिर्देशश्च'अभिजिघ्रामि यज्ञशर्म'न्निति। मन्त्रलिङ्गात् कुमार्या अभिमन्त्रणान्तरोपदेशाच्च सिद्धे पुत्रग्रहणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्णे जापश्च कुमार्या मा भूत्। अन्यथा लिङ्गविरोधाभावात् उभयं कुमार्या अपि स्यात्। तस्या अपि प्रकृतत्वात्। कुमारीमुत्तरेणेत्ययं च अभिमन्त्रणस्यैव प्रत्याम्नायः स्यात्, नेतरयोः। उत्तरे मन्त्राः 'अग्निरायुष्मानिति पञ्चे'त्यादिष्टाः। तान् पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे जपेत्। मन्त्रग्रहणं क्रियते 'अग्निरायुष्मानिति पञ्चे'त्यस्य पञ्चशब्दस्य मन्त्रेषु वृत्तिरिति प्रज्ञापनार्थम्॥१२॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्रवासादागत्योत्तराभ्यां 'अङ्गादङ्गात्,' 'अश्मा भव' इत्येताभ्यां पुत्रस्याभिमन्त्रणं कर्तव्यम्। तथैताभ्यामेव मूर्धन्यवघ्राणम्। असावित्यस्य स्थाने दशम्यां कृतं नाम सम्बुद्ध्या गृह्णाति।

केचित्—'अङ्गादङ्गादित्यभिमन्त्रणम्।' 'अश्मा भवे' त्यवघ्राणमिति। तथा सति एवं विभज्यैव विनियुञ्जीत, क्रमेणेति वा ब्रूयात्।

ततः पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे उत्तरान् 'अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिः' इत्यादिकान् सानुषङ्गान् पञ्च मन्त्रान् जपेत्। एतच्च त्रयं प्रतिपुत्रमावर्तते ॥ १२ ॥

कुमारीमुत्तरेण यजुषाऽभिमन्त्रयते ॥१३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने पञ्चदशः खण्डः ॥

अनु०—पुत्री का अगले मन्त्र 'सर्वस्मादात्मनः सम्भतासि' से अभिमन्त्रण करे ॥ १३ ॥

टि०—पुत्री का अभिमन्त्रण भी करे। चूँकि सूत्र में 'कुमारी' शब्द का प्रयोग है, अतः पुत्री के विवाह के बाद उसका अभिमन्त्रण नहीं किया जाता। उसके लिए केवल अभिमन्त्रण ही विदित है, अवघ्राण और जप नहीं ॥ १३ ॥

अनाकुला

प्रवासादेत्य कुमारीं स्त्रीप्रजां उत्तरेण यजुषा 'सर्वस्मादात्मनः सम्भूतासी' त्यनेन अभिमन्त्रयते। दुहितरमिति कर्तव्ये कुमारीमिति वचनं प्रदानादूर्ध्वं मा भूदिति। पुत्रस्य तु यावज्जीवं भवति पुत्रेऽपि प्रोषितागते अभिमन्त्रणादित्रयं भवति न्यायस्य तुल्यत्वात् ॥ १३ ॥

इति हरदत्तविरचितायामनाकुलायां गृह्यसूत्रवृत्तौ पञ्चदशः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्रवासादेत्येत्यनुवर्तते। उत्तरेण 'सर्वस्मादात्मनः' इत्यनेन यजुषा कुमारीं कन्यामप्रत्तामभिमन्त्रयते। कुमार्यास्त्वेतावदेव, न त्ववघ्राणजपौ; अवचनात्, तत्र पुत्रस्येति ग्रहणान्मन्त्रस्थपुल्लिङ्गविरोधाच्च ॥ १३ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ षोडशः खण्डः

अथान्नप्राशनमुपदिश्यते—

*जन्मनोऽधि षष्ठे मासि ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा- दधि मधु घृतमोदनमिति सँसृज्योत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयेत् ॥ १ ॥

अनु०—जन्म के छठे महीने में ब्राह्मणों को भोजन कराके, उनसे आशीर्वचन कहलावे और फिर दही, मधु, घी तथा भात मिलाकर 'भूरपां त्वा' आदि चार मन्त्रों से कुमार का अन्नप्राशन करे ॥ १ ॥

टि०—अन्नप्राशन कर्म जन्म से छठे महीने में होता है। युग्मसंख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराकर उनसे आशीर्वाद कहलाया जाता है। "पुण्याहं स्वस्ति ऋद्धिम्" आदि। "ओषधयस्सन्तु" आदि के साथ बालक का नाम लिया जायगा और प्रत्येक मन्त्र के साथ प्राशन कराया जायगा। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार चारो मन्त्रों का पाठ करके अन्त में एक बार प्राशन कराया जायगा। "कुमारम्" शब्द का सूत्र में स्पष्ट उल्लेख होने से यह कर्म कुमारी के लिए विधिवत् नहीं होता। आश्वलायन गृह्यसूत्र १. १४. ७ में लिखा है "आवृतैव कुमार्यां" ॥ १ ॥

अनाकुला

[अथ कुमारस्यान्नप्राशनम्। तत् जन्मनोऽधि जननदिवसादारभ्य षष्ठे मासि कर्तव्यम्।] मासाश्च सौरचान्द्रमासादयः। तत्करिष्यन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा युग्मान् तैराशिषो वाचयति—पुण्याहं स्वस्ति ऋद्धिमिति। नात्र पूर्वे-द्युरभ्युदयश्राद्धं, (१) देवेज्याभावात्। यत्रापरेद्युः देवेज्या तत्र पूर्वेद्युः पितृभ्यः क्रियते। 'तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः क्रियते। उत्तरमहर्देवान् यजते' इति वचनात्। वाचयित्वाऽऽशिषः दध्यादि चतुष्टयं संसृज्य तेन कुमारं प्राशयेत्। उत्तरै-र्मन्त्रैश्चतुर्भिः 'भूरपां त्वे'त्यादिभिः। त्वौषधीनामिति मध्यमयोरनुषजति। अपामित्यस्य तु पाठो मन्त्रचतुष्टयप्रज्ञापनार्थः। असावित्यत्र नामग्रहणं सम्बुद्ध्या—'ओषधयस्सन्तु यज्ञशर्म'न्निति। प्रतिमन्त्रं प्राशनम्। सर्वान्त

---

* इदमग्रिमं च सूत्रं क. ख. पुस्तकानुसारेण एकसूत्रं हरदत्तमते।

[ ] एतच्चिह्नान्तर्गतग्रंथस्थाने 'जननदिवसादारभ्य षष्ठे मासि कुमारस्य अन्नप्राशनं कर्तव्यम्' अयं पाठः 'क ख' पुस्तकयोर्दृश्यते।

१ ग. घ. देवयज्ञा।

इत्यन्ये। कुमारं इति वचनात् कुमार्या विधिवदन्नप्राशनं न भवति— आवृतैव कुमार्या (आश्व०गृ. १-१४-७) इत्याश्वलायनवचनात् ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

जन्मनोऽधि जन्मन आरभ्य, दिवसगणनया षष्ठे मासि। तेन मार्गशीर्ष-शुक्ले द्वितीयायां जातस्य न मार्गशीर्षो मासः पूर्णो गण्यते। अत एव ज्योतिषे बृहस्पतिः—

"पञ्चाशद्दिवसात् त्रिघ्नात्पश्चात्त्रिहतषष्टिकात्।
अर्वागेवोत्तमा भुक्तिः" ......

इति। ब्राह्मणान् भोजयित्वेत्युक्तार्थम्। आशीर्वचनानन्तरं दध्यादिचतुष्टयं संसृज्य उत्तरैर्मन्त्रैः 'भूरपां त्वौषधीनां' इत्यादिभिश्चतुर्भिः कुमारं सकृदेव प्राशयेत्। सम्बुद्ध्या च नामग्रहणम्। द्वितीयतृतीययोरपि 'त्वौषधीनाम्' इत्यादेरनुषङ्गः ॥ १ ॥

तैत्तिरेण[1] माँसेनेत्यके ॥ २ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि तित्तिरि पक्षी के मांसद्वारा अन्नप्राशन करावे ॥ २ ॥

अनाकुला

तित्तिरेः पक्षिणः मांसेन तदन्नप्राशनं कर्तव्यमित्येके आचार्या मन्यन्ते। मांसं व्यञ्जनमोदस्य। अन्ये तु मांसमेव मन्त्रवत् प्राश्यं मन्यन्ते। मांसग्रहणं शोणितादेः प्रतिषेधार्थम् ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

व्यक्तार्थमेतत् ॥ २ ॥

* जन्मनोऽधि तृतीये वर्षे चौलं पुनर्वस्वोः ॥ ३ ॥

अनु०—जन्म के तीसरे वर्ष में पुनर्वसु नक्षत्रों के समय कुमार का चौल (चूडाकरण) संस्कार करे ॥ ३ ॥

टि०—जिस कर्म में केशों को पहली बार काटा जाता है उसे चौल कर्म कहते हैं। यह कर्म जन्म के बाद तीसरे वर्ष में किया जाता है। यह कर्म पुनर्वसु नक्षत्र में किया

---

१ ङ. ग.—तैतिरीयेण.

* इदमग्रिमं च सूत्रं क. ख, पुस्तकरीत्या एकसूत्रं हरदत्तमते।

जाता है। पुत्र के लिए ही यह कर्म होता है, पुत्री के लिए विधिवत् नहीं होता। गर्भ के वर्ष की गणना इस संबंध में नहीं की जाती है ॥ ३ ॥

अनाकुला

अथ चौलविधिः—यस्मिन् कर्मणि केशाः प्रथमं खण्ड्यन्ते तत् चौलम्। चूडा प्रयोजनमस्येति। डलयोरविशेषः। तत् जन्मनः प्रभृति तृतीये वर्षे पुनर्वस्वोर्नक्षत्रे कर्तव्यम्। कुमारं प्राशयेदिति विहितत्वात् पुंस एवेदं विधिवच्चौलम्। कुमार्यास्त्वावृतैव। एवञ्चेत्कृत्वा अपरेणाग्निं प्राञ्चमिति पुंलिङ्गमुपपद्यते। जन्मग्रहणं गर्भादारभ्य तृतीये वर्षे मा भूदिति ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

जन्मनोऽधीति पूर्ववत्। ततश्च 'गर्भादिस्सङ्ख्या वर्षाणां' इति गर्भवर्षं न गण्यते। चौलमिति कर्मनामधेयम्। यस्मिन् कर्मणि चूडासन्निधानं तच्चौलम्, लडयोरभेदात्। पुनर्वस्वोः; कर्तव्यमिति शेषः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां भोजनमुपायनवत् ॥ ४ ॥

अनु०—उपनयन की क्रिया के समान ही ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ४ ॥

टि०—उपनयन की तरह बालक को भी भोजन कराया जायगा। ब्राह्मणों के भोजन कराने तथा उनसे आशीर्वाद कहलाने का नियम भी उपनयन के समान होता है। ४ ॥

अनाकुला

उपनयने ब्राह्मणभोजने विशेषाभावात् आदिपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। ब्राह्मणभोजनादीति। ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा कुमारं भोजयित्वेत्येतावदिह द्रष्टव्यम्। अनुवाकस्य प्रथमेनेत्यादिपरस्तादतिदेक्ष्यते ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्र च 'ब्राह्मणाना भोजनम्' इति ग्रहणमाशीर्वचनकुमारभोजनयोरपि प्रदर्शनार्थम्। भोजनादीत्यादिशब्दो वा द्रष्टव्यः; उपायनवदिति वचनात्। उपनयनमेवोपायनम् ॥ ४ ॥

सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि ॥ ५ ॥

अनु०—सीमन्तोन्नयन कर्म की तरह ही अग्नि के उप समाधान से लेकर (अग्नि के परिषेचन तक का कर्म करे) ॥ ५ ॥

टि०—सीमन्तोन्नयन की तरह अग्नि के उपसमाधान से लेकर, परिषेचन तक का कर्म किया जाता है। पहले दिन नान्दीश्राद्ध होता है, साही का काँटा, तथा शमी

का भी प्रयोग होता है। 'अन्वारब्धायां से कुमार से संयुक्त होने का अर्थ है। शल्ली आदि को एक बार ही रखा जाता है ॥ ५ ॥

अनाकुला

अग्नेरुपसमाधानादिपरिषेचनान्तं सीमन्तवत् कर्तव्यम्। पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धं, सकृत्पात्राणि, शलल्यादिभिस्सह शम्याः। अन्वारब्धायां इत्यत्र कुमारस्यान्वारम्भः। परिषेचनान्तस्य चातिदेशः। यत्तु 'गायतमिति वीणागाथिनौ' इत्यादि न तस्यात्रातिदेशः। अपरेणाग्निं प्राञ्चमिति विधानात् पुनरुपवेशस्य॥५॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं सप्रधानहोमं परिषेचनान्तमिह सीमन्तवदिति। ततश्चान्वारब्धे कुमारे प्रधानहोमाः। पात्रप्रयोगकाले शलल्यादीनां सकृदेव सादनम् ॥ ५ ॥

*अपरेणाग्निं प्राञ्चमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभिर्दर्भपुञ्जीलैः शलालुग्लप्सेनेति तूष्णीं केशान् विनीय यथर्षि शिखा निदधाति ॥६॥

अनु०—बालक को अग्नि के पश्चिम ओर पूर्वाभिमुख बैठाकर उसके केशों को तीन दर्भ, और अनप के उदुम्बर फलों के गुच्छे सहित तीन सफेद चीह्नों वाले शल्ली (साही) के कांटे से सँवारे और अपने कुल के ऋषियों के अनुसार शिखा बनावे ॥ ६ ॥

टि०—जितने ऋषि प्रवर में होते हैं उतनी ही शिखाएँ होती हैं। तीन ऋषि वालों के लिए तीन शिखाएँ होती हैं, पंच ऋषि वालों के लिए पाँच शिखाएं होती हैं ॥ ६ ॥

अनाकुला

विनयनं पृथक्करणं वप्तव्यानां शिखार्थानाञ्च। तूष्णीमिति वाग्यमनार्थं न मन्त्रप्रतिषेधार्थम्, प्राप्त्यभावात्। यथर्षि यावन्त ऋषयो यस्य प्रवरे तावतीः शिखाः करोति-त्र्यार्षेयस्य तिस्रः पञ्चार्षेयस्य पञ्चेति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

प्राञ्चं प्राङ्मुखम्। तूष्णीं वाग्यतः। केशान् विनीय विविधं नीत्वा; वप्तव्यान् शिखार्थांश्च पृथक्पृथक्कृत्वेत्यर्थः। यथर्षि यावन्त ऋषयस्स्वप्रवरे तावतीश्शिखा निदधाति। एकार्षेयस्यैका शिखा द्व्यार्षेयस्य द्वे इत्यादि ॥ ६ ॥

यथा वैषा कुलधर्मस्स्यात् ॥ ७ ॥

---

* इत आरभ्य सूत्रत्रयमेकं सूत्रं क. ख. पुस्तकानुरोधेन हरदत्तमते।

अनु०—अथवा अपने कुल के धर्म के अनुसार उसकी शिखा बनावे ॥ ७ ॥

टी०—विकल्प दर्शाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार के कुमार के कुल में उत्पन्न लोगों की शिखा छोड़ी जाती हो उसी प्रकार छोड़नी चाहिए। कर्ता के कुलधर्म का अर्थ नहीं लिया जायगा, क्योंकि आवश्यक नहीं कि इस कर्म का कर्ता पिता हो ॥ ७ ॥

अनाकुला

अथवा यथा येन प्रकारेण एषां कुमारस्य कुलजानां कुलधर्मः प्रवर्तते तथा शिखां करोति। एषामिति वचनं कर्तुः कुलधर्मो मा भूदिति। तेनास्मिन् कर्मणि पितैव कर्तेति नियमो नास्ति। अन्यत्र तु सति सम्भवे कुमारकर्मसु तस्यैव नियमः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथवा-यथा येन प्रकारेण एषां कुलजानां कुलधर्मः प्रवर्तते, तथा शिखा कर्तव्या।

केचित्—एषामिति वचनात् पितुरन्योऽपि चौलकर्तेति ॥ ७ ॥

अपाँ संसर्जनाद्याकेशनिधानात्समानम् ॥ ८ ॥

अनु०—ठंढे जल में गरम पानी डालने के 'अपां संसर्जन' कर्म से लेकर केशों के रखने की क्रियाएँ यहाँ भी पहले के समान ही होती है ॥ ८ ॥

अनाकुला

'उष्णाश्शीतास्वानीये'त्यादि 'दर्भस्तम्बे वा निदधाती'त्येवमन्तं उपनयनवत् कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

व्याख्यातमेवैतत्समावर्तने ॥ ८ ॥

***क्षुरं प्रक्षाल्य निदधाति ॥ ९ ॥**

अनु०—छुरे को धोकर रख देता है।

अनाकुला

क्षुरस्य प्रक्षालनं विधीयते। निधानमर्थप्राप्तम्। यदा निदधाति तदा प्रक्षाल्येति ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्र प्रक्षालनमेव विधीयते; निधानं त्वर्थप्राप्तम् ॥ ९ ॥

तेन त्र्यहं कर्मनिवृत्तिः ॥ १० ॥

अनु०—उस छुरे से तीन दिन तक यह कर्म किया जाता है, तब यह क्रिया समाप्त होती है ॥ १० ॥

अनाकुला

तेनु क्षुरेण त्रिष्वहोरात्रेषु नापितकर्म न कर्तव्यम् ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तेन क्षुरेण त्र्यहं नापितकर्मनिवृत्तिस्स्यात् ॥ १० ॥

वरं ददाति ॥ ११ ॥

अनु०—पिता (किसी ब्राह्मण को जो इस संस्कार के सम्पादन में सहायक रहा हो) इच्छानुसार दक्षिणा प्रदान करे ॥ ११ ॥

अनाकुला

अस्मिन्कर्मणि समाप्ते कुमारस्य पिता ब्रह्मणे वरं ददाति । 'गौर्वै वर' इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

वरं गां पिता ददाति दक्षिणत आसीनाय ब्राह्मणाय । यद्यन्यश्चौलकर्ता तदा तस्मै ॥ ११ ॥

एवं गोदानमन्यस्मिन्नपि नक्षत्रे षोडशे वर्षे ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार सोलहवें वर्ष में और किसी दूसरे नक्षत्र में भी गोदान नाम का कर्म करना चाहिए ॥ १२ ॥

टि०—जिस प्रकार चौल कर्म होता है उसी प्रकार गोदान नाम का कर्म भी होता है, यह कर्म तीसरे वर्ष में न होकर सोलहवें वर्ष में होता है । किसी भी शुभ दिन को यह कर्म किया जाता है, पुनर्वसु नक्षत्र में किया जाय ऐसा अनिवार्य नियम नहीं है । शिखा को छोडकर सभी केशों का वपन किया जाना चाहिए । शिखा ऋषि की संख्या के अनुसार छोड़ी जानी चाहिए । चौल कर्म की तरह ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है तथा वरदान भी होता है ॥ १२ ॥

अनाकुला

यथा चौलं एवमस्य गोदानाख्यमपि कर्म कर्तव्यम् । तत्र तृतीयस्य वर्षस्यापवादः षोडशे वर्षे इति । अन्यस्मिन्नपि नक्षत्रे पुण्याह एव । पुनर्वसुनियमस्यापवादः ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

गोदानमिति कर्मनामधेयम्; यस्मिन्कर्मण्यङ्गभूतं गोदानयोश्शिरःप्रदेशविशेषयोर्वपनम्। यत्रापि पक्षे शिखावर्जितसर्वकेशवपनं यथर्षि च शिखाः; तत्रापि गोदनियोर्वपनं कर्मनामधेयप्रवृत्तिनिमित्तं विद्यत एव। तद्गोदानाख्यं कर्म। एवं यथाचौलम् ब्राह्मणभोजनादि वरदानान्तं कर्तव्यम्। तच्चान्यस्मिन्नपि नक्षत्रे रोहिण्यादौ, वर्षे च षोडशे भवति॥ १२॥

अत्र पक्षान्तरमाह—

अग्निगोदानो वा स्यात्॥ १३॥

अनु०—अथवा अग्नि देवता के लिए गोदान कर्म करे॥ १३॥

टि०—अग्निगोदान का नियम बौधायन गृह्यसूत्र में किया गया है। कुछ लोग इस कर्म के आरंभ में तथा अन्त में भी ब्राह्मणों के भोजन का विधान करते हैं। आरंभ में तथा अन्त में भी नान्दीश्राद्ध का विधान किया जाता है, किन्तु कुछ आचार्य ऐसा नहीं मानते हैं॥ १३॥

अनाकुला

अग्निर्देवता यत्र गोदाने तदग्निगोदानं यस्य सोऽग्निगोदानः। (अग्निशब्देन तद्दैवत्यं गोदान लक्ष्यते। अग्निर्गोदानमस्येति विग्रहः।) एकस्य गोदानशब्दस्य लोपः, उष्ट्रमुखवत्। तत्र बौधायनः—षोडशे वर्षे गोदानम्। तस्य चौलवत् तूष्णीं प्रतिपत्तिरवसानं च। ·····अग्निगोदानो वा भवति। तस्य काण्डोपाकरणकाण्डसमापनाभ्यां प्रतिपत्तिरवसानं च (बौ. गृ.३-२-५२-५८) इति। किमुक्तं भवति? आग्नेयानां काण्डानां उपाकरणसमापनयोर्यः कल्पः तत्र चौलधर्माः प्रवर्तन्त इति। षोडशे वर्षे भवति। सकृत् पात्राणि न शम्याः। अस्यास्मिन् गृह्येऽनुपदिष्टत्वात् यत् गोदानमुपदिष्टं तत्रैव शम्याविधिः। तत्र प्रयोगः—ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा तूष्णीं केशश्मश्रु वापयित्वाग्नेरुपसमाधानादि परिषेचनान्तानि आग्नेयकाण्डोपाकरणवत् कृत्वा शुक्रियवद्देवतोपस्थानं "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इति। अन्ये संवत्सरे व्रतचर्या। अन्ते विसर्गः। एवमेवाचारिषमित्यादि विकारः शुक्रियव्रत् दैवतम्। केशश्मश्रुवपनम्। अन्ते ब्राह्मणभोजनम्। उभयत्र नान्दीमुखश्राद्धं केचित् कुर्वन्ति। अपरे न॥ १३॥

( ) एतत्कुण्डकान्तर्गतो भागः 'क' 'ङ' पुस्तकयोरधिको दृश्यते।

तात्पर्यदर्शनम्

अग्नये गोदानं यस्य सोऽग्निगोदानो ब्रह्मचारी। पुल्लिङ्गनिर्देशाच्चैवं विग्रहः। अस्मिन् पक्षे आज्यभागान्ते कृते 'अग्नये काण्डर्षये स्वाहा' इत्याज्येनैवैका प्रधानाहुतिः। ततो जयादि (१) क्षुरप्रक्षालनान्तम् ॥ १३ ॥

संवत्सरं गोदानव्रत(२)मेक उपदिशन्ति ॥ १४ ॥

अनु०—कुछ आचार्य पूरे वर्ष भर गोदान व्रत धारण करने का विधान करते हैं ॥ १४ ॥

अनाकुला

कृतगोदानस्यापि तच्छेषतया संवत्सरं व्रतचरणमेक आचार्या उपदिशन्ति। चौलगोदानेऽयं विकल्पः। अग्निगोदाने तु काण्डोपाकरणातिदेशात् नित्यमेव यदा व्रतचर्या तदा वरदानादूर्ध्वं देवतोपस्थानं पूर्ववदन्ते, विसर्गश्च पूर्ववदेव ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अधीतेऽपि वेदे, अवश्यं संवत्सरे गोदानव्रतं ब्रह्मचर्यं चरितव्यमित्येक उपदिशन्ति; वैकल्पिकमित्यर्थः ॥ १४ ॥

उभयोरपि गोदानयोश्चौलाद्विशेषमाह—

एतावन्नाना सर्वान् केशान् वापयते ॥ १५ ॥

अनु०—(चौल और गोदान कर्म में) अन्तर यह होता है कि इसमें सभी केशों का (शिखा सहित) वपन किया जाता है ॥ १५ ॥

टि०—इस चौलगोदान कर्म में यह विशेषता होती है कि इसमें शिखासहित सभी केशों को मुंडा दिया जाता है जब कि चौल कर्म में ऋषि के अनुसार शिखा छोड़ी जाती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है: "केशश्मश्रुलोमनखान्युदक्संस्थानि संप्रेष्यति"। १. १८. ६. आचार्य ही गोदान कर्म का कर्ता होता है। 'वापयते' प्रेरणार्थक क्रिया रूप से स्पष्ट है। आपस्तम्बधर्म सूत्र में केवल सूत्रों में शिखा के वपन का निर्देश किया गया है. "सूत्रेषु तु वचनात् वपनं शिखायाः।" १. १०. ९ अतः शिखावपन का निषेध समझना चाहिए ॥ १५ ॥

अनाकुला

अस्मिन् चौलगोदाने तु एतावन्नाना पृथग्भावश्चौलात्। अत्र सर्वान् केशान् वापयते सशिखान् चौले तु यथर्षि शिखा निदधाति। अन्ये श्मश्वादीनां

---

१ ख–ग–च–वरदानान्तम्। २ 'मित्येके' इति 'ख' पुस्तके।

प्राप्त्यर्थं सर्वग्रहणं वर्णयन्ति। तेषां केशशब्दः उपलक्षणार्थः। तथा चाश्वलायनः-केशश्मश्रुलोमनखान्युदक्संस्थानि संप्रेष्यति। (आश्व. गृ. १-१८-६) इति ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एतावन्नाना एतावान् भेदः। यदपिधानार्थयापि शिखया सह सर्वान् केशान् वापयत इति। ततश्चेह विनयनाभावाच्छल्ल्यादीनां निवृत्तिः। अत्र च वापयत इति णिजन्तनिर्देशादाचार्य एव गोदानकर्मणः कर्ता। वरदानश्चाचार्यायैव। तथात्र शिखाया अपि वपनं 'एतावन्नाना सर्वान् केशान्वापयते' इत्यस्मादेव वचनात्; (१)सत्रवत्।

अन्य आहुः—'रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुडस्तस्यैतदपिधानं यच्छिखेति। सत्रेषु तु वचनात् वपनँ शिखायाः' (आप. ध. १-१०-८,९) इति सत्रेभ्योऽन्यत्र शिखाया वपनप्रतिषेधात् इहापि नैव शिखाया वपनमिति ॥ १५ ॥

उदकोपस्पर्शनमिति छन्दोगाः ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने षोडशः खण्डः ॥

समाप्तष्षष्ठश्च पटलः ॥

अनु०—सामवेदियों के अनुसार उसे जल का स्पर्श करना चाहिए ॥ १५ ॥

टि०—गोदानव्रत धारण करने पर प्रतिदिन जल का स्पर्श करना चाहिए, ऐसा सामवेदियों के अनुसार नियम है ॥ १६ ॥

अनाकुला

अस्मिन् गोदानव्रते अहरहरुदकोपस्पर्शनं (२)कर्तव्यमिति छन्दोगा उपदिशन्ति। त्रिषवणमिति केचित् ॥ १६ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामनाकुलायां गृह्यसूत्रवृत्तौ षोडशः खण्डः ॥

षष्ठः पटलश्च समाप्तः ॥

तात्पर्यदर्शन

सांवत्सरिकगोदानव्रतपक्षे अहरहरुदकोपस्पर्शनं छन्दोगा उपदिशन्ति; विकल्प इत्यर्थः ॥ १६ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने षोडशः खण्डः ॥

षष्ठश्च पटलस्समाप्तः ॥

---

१ 'दीक्षिष्यमाणास्सन्निवपेरन्' (आप. श्रौ. २१-२-१४.) इति वचनेन सशिखवपनं विहितं सत्रे वचनबलादेव क्रियते तद्वत् अत्रापीत्यर्थः।

२ उपस्पर्शनमित्यनन्तरं सकृत् स्नानं इति क, ख, पुस्तकयोरधिकम्।

सप्तमः पटलः

सप्तदशः खण्डः

यज्ञेष्वधिकरिष्यमाणस्य पुरुषस्य देहसंस्कारा व्याख्याताः। ते च 'शालीनस्योदवसाय' इति वचनाभावे गृह एव कर्तव्याः। विधिवच्च निर्मिते गृहे। विधिवत् प्रवेशादपेक्षितायुर्यज्ञधनादिफलसिद्धिः। अतो मन्त्राम्नानक्रमप्राप्तो गृहनिर्माणप्रवेशयोर्विधिर्व्याख्यायते—

* दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणमगारावकाशमुद्धत्य पलाशेन शमीमयेन वोदूहेनैतामेव दिशमुत्तरयोदूहति ॥ १ ॥

अनु०—घर बनाने के लिए भूमि दक्षिण-पश्चिम की चुनना चाहिए। उस भूमि के धरातल को कुदाल से खोदे और पलाश या शमी की टहनियों से धूल को 'यद्भूमेः क्रूरम्' आदि मन्त्र का पाठ करते हुए झाड़कर ऊँचे स्थान से निम्न धरातल वाले स्थान की ओर उसी उत्तर या पश्चिम दिशा की ओर करे ॥ १ ॥

टि०—इस कर्म को गृहसम्मान कर्म कहा जाता है। यह सभी यज्ञों की तरह नित्य नहीं होता और न ही यह नैमित्तिक कर्म के अन्तर्गत आता है। यह काम्य है। अतएव यदि इसे न किया जाय तो कोई दोष नहीं होता। यदि किया जाय तो उदगयन आदि का ध्यान रखना पड़ता है ॥ १ ॥

अनाकुला

अथ गृहसम्मानविधिः। गृहसम्मानं च न सर्वयज्ञादिवन्नित्यम्। नाप्यद्भुतकर्मप्रायश्चित्तादिवन्नैमित्तिकम्। किं तर्हि? काम्यम्। अतोऽक्रियायां न दोषः। क्रियायां चोदगयनादिनियमः। तत्र यस्मिन् प्रदेशेऽगारं चिकीर्षितं सोऽगारावकाशः स दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणो भवति। दक्षिणाप्रतीच्योरन्तराले निम्ना भवति। एवंविधे देशे अगारं कर्तव्यमित्यर्थः। तमगारावकाशं उद्धन्ति खनित्रेण खनति यथा पांसव उत्पद्यन्ते। उद्धृत्य तान् पांसून पालाशेन शमीमयेन वोदूहेन एतामेव दिशं प्रति उत्तरर्चा 'यद्भूमेः क्रूर'मित्येतया उदूहति उन्नतात् प्रदेशात् अवनते प्रापयति। उदूह्यतेऽनेनेत्युदूहः ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

योऽगारार्थत्वेनाभिप्रेतोऽवकाशो भूमिभागो दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणः दक्षिणा-

---

* क 'ख' पुस्तकानुसारेण इदमग्रिमं च सूत्रमेकं हरदत्तमते।

प्रतीच्यां नैर्ऋत्यां दिशि निम्नस्तमुद्धृत्य खनित्रादिना पांसू[1]नुत्खाद्य पालाशेन शमीमयेन वोदूहेन, उदूह्यन्ते देशान्तरं प्राप्यन्ते पांसवोऽनेनेत्यदूदूहः; [2]वादुलूक इत्यर्थः। तेनैतामेव कोणदिशं उत्तरया 'यद्भूमेः क्रूरम्' इत्येतयोदूहति ॥ १ ॥

एवं त्रिः ॥ २ ॥

अनु०—इसी प्रकार तीन बार करे ॥ २ ॥

अनाकुला

एवं त्रिरुद्धृत्य उदूहति ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उदूहतीति सम्बन्धः। अत्र द्वितीयतृतीययोरप्युदूहयोः मन्त्रावृत्तिः, एवमिति वचनात्। अन्यथा उत्तरया त्रिरुदूहतीत्येव ब्रूयात्, 'एवं त्रिः' इति सूत्रान्तरं नारभेत ॥ २ ॥

* क्लृप्तमुत्तरयाऽभिमृश्य प्रदक्षिणँ स्थूणागर्तान् खानयित्वाऽभ्यन्तरं पांसूनुदूप्योत्तराभ्यां दक्षिणा द्वारस्थूणामवदधाति ॥ ३ ॥

अ०—इस प्रकार तैयार की गयी भूमि को 'स्योना पृथिवी' आदि मन्त्रों द्वारा स्पर्श करे; तब बायें से दाहिने की ओर खम्भों के लिए गड्ढे खोदे उसे गड्ढे से मिट्टी निकालकर उसे भवन के लिए बनायी गई भूमि के भीतर फेंके और अगले दो मन्त्रों 'इहैव तिष्ठ' आदि द्वारा दाहिनी ओर के द्वार स्तम्भ को गड्ढे में बैठावे ॥ ३ ॥

टि०—उपर्युक्त विधि से मिट्टी को खींचकर ऐसा बना दिया जायगा कि वह भूमि चौरस, समतल हो जाय। खम्भों के लिए गड्ढे बाहर से खोदने आरंभ किए जायगें अर्थात् पहले बाहर के खंभों के लिए, तब भीतर के खंभों के लिए गड्ढे खोदे जाते हैं ॥ ३ ॥

अनाकुला

एवमुदूह्य ततस्तं भूमिभागं कल्पयन्ति यथा सर्वतस्समं सम्पद्यते। ततः तं क्लृप्तं उत्तरयर्चा 'स्योना पृथिवी'त्येतयाभिमृशति। ततः प्रदक्षिणं स्थूणागर्तान् खानयति नकारश्छान्दसः। अभ्यन्तरं च बहिरारभ्य मध्ये यथा समाप्यते तथेत्यर्थः। तत्र मध्यस्थूणासु वंशधारणार्थासु प्रदक्षिणमिति चाभ्यन्तरमिति

---

१ ख ग—नुत्पाट्य।

२ ग—पालक. घ-ङ—पादूलक. छ पादुलक, ख—प्रापक, ज-वधूलक,

* इदमग्रिमं च सूत्रमेकं पठितं हरदत्तमते—क्लृप्तमुत्तरयाभिमृश्य ॥ ३ ॥ प्रदक्षिण.........—एवमितराम् ॥ ४ ॥ इति क. ख. पुस्तकयोः।

च विशेषणस्यासम्भवात् पर्यन्तास्वेव भवति । तत्र प्राग्द्वारेऽगारे दक्षिणद्वारस्थूणागर्तमारभ्य प्रदक्षिणमोत्तरस्मात् द्वारस्थूणागर्तात् खानयित्वा ततो यावत्यो मध्यमस्थूणाः तावतीनां दक्षिणादारभ्योदगपवर्गः । एवमन्यथाद्वारेऽप्यगारे यथासम्भवं प्रदक्षिणमभ्यन्तरत्वं च सम्पाद्यम् । एवं खानयित्वा गर्तेभ्यः पांसूनुदूप्य उद्धृत्य तत उत्तराभ्यां 'इहैव तिष्ठे'त्येताभ्यां दक्षिणाद्वारस्थूणां गर्ते अवदधाति ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

क्लृप्तमुदूहेन प्रागुदक्प्रवणं उत्तरया 'स्योना पृथिवि' इत्यनयाभिमृश्य स्थूणागर्तान् स्थूणानां [1]विभागार्थान् गर्तान् कर्मकरैः प्रदक्षिणं खानयित्वाभ्यन्तरमारभ्य, न बहिः, पांसूनुदुप्य उत्तराभ्यां 'इहैव तिष्ठ' इत्येताभ्यां दक्षिणां निष्क्रामत एव, न प्रविशतः, द्वारस्थूणामवटे अवदधाति । अत्र प्रादक्षिण्यस्य चाभ्यन्तरत्वस्य च विधानं पर्यन्तीयास्वेव स्थूणासु; न तु मध्यमासु ॥ ३ ॥

एवमितराम् ॥ ४ ॥

अनु०—इसी प्रकार दूसरे द्वार स्तम्भ को लगावे ॥ ४ ॥

अनाकुला

एताभ्यामेव द्वाभ्यामृग्भ्यां इतरां उत्तराञ्च द्वारस्थूणां अवदधातीत्यर्थः । इह दक्षिणामितरामिति निष्क्रमतः सव्यदक्षिणे प्रत्येतव्ये; न प्रविशतः ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इतरां सव्यां द्वारस्थूणां एवं 'इहैव तिष्ठ' इत्येताभ्यामेवावदधाति ॥ ४ ॥

यथाखातमितरा अन्ववधाय वँशमाधीयमानमुत्तरेण यजुषाऽभिमन्त्रयते ॥ ५ ॥

अनु०—द्वार स्तम्भों को लगाने के बाद दूसरे स्तम्भों को उसी क्रम में लगावे जिस क्रम में गड्ढे खोदे गये हों और उन खम्भों के ऊपर बाँस की बल्ली रखकर उसे अगले यजुस मन्त्र "ऋतेन स्थूणो" आदि द्वारा अभिमन्त्रित करे ॥ ५ ॥

टि०—हरदत्त ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि बीच के खंभों पर जब मजदूर बल्ली रखें तब गृहपति ऋतेन स्थुणा आदि मन्त्रों से अभिमन्त्रण करता है ॥ ५ ॥

अनाकुला

द्वारस्थूणयोः यथाखातं अवधानं मन्त्रवच्च । इतरासां तु यथाखातं येन

---

[1] ङ—निखानार्थान् . छ—निखननार्थान् .

क्रमेण गर्ताः खाताः तेनावधानं तूष्णीम् । एवं सर्वास्ववहितासु मध्यमस्थूणासु वंश[1]मादधति कर्मकर्तारः । तैराधीयमानं वंशमुत्तरेण यजुषा "ऋतेन स्थूणा" वित्यनेनाभिमन्त्रयते । वंशग्रहणेन च पृष्ठवंशो गृह्यते, मुख्यत्वात् । व्यक्तञ्चैतत् भारद्वाजके "ऋतेन स्थूणे'ति पृष्ठवंशमधिरोपयती"ति । तत्रमन्त्रे स्थूणाविति छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः । द्विवचनञ्च यथासम्भवं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यथाखातं खननक्रमेण इतराः स्थूणाः तूष्णीमन्ववधाय वंशं स्तूपं स्थूणास्वाधीयमानं उत्तरेण यजुषा 'ऋतेन स्थूणावधिरोह' इत्यनेनाभिमन्त्रयते ॥५॥

सम्मितमुत्तरैर्यथालिङ्गम् ॥ ६ ॥

अनु०—घर का निर्माण हो जाने पर 'ब्रह्म च ते क्षत्रम्' आदि अगले छः मन्त्रों का (मन्त्रों में निर्दिष्ट) वस्तु के अनुसार अभिमन्त्रण करे ॥ ६ ॥

अनाकुला

ततस्तदगारं सम्मितं संक्लृप्तं उत्तरैर्मन्त्रैः 'ब्रह्म च ते क्षत्र'मित्यादिभिष्षड्भिः। किम् ? अभिमन्त्रयते इत्येव । यथालिङ्गमिति यस्यागाराङ्गस्य लिङ्गं यस्मिन् मन्त्रे दृश्यते तेन तदभिमुखोऽगारमभिमन्त्रयत इत्यर्थः । यदापि पूर्वस्थूणा बद्धा तदापि द्वे एवाभिसन्धायाभिमन्त्रणम् । अगारस्य द्विवचनसंयोगात् । एवं सर्वत्र अगारमध्ये यः स्थूणाराजः स्तूपः । पृष्ठवंशः । अत्रैके स्थूणालिङ्गेषु चतुर्षु मन्त्रेषु 'स्थूणे अभिरक्षतु' इत्यवमनुषङ्गमिच्छन्ति । यज्ञश्च दक्षिणाश्च दक्षिणे स्थूणे अभिरक्षतु इति । अन्ये 'ते' शब्दस्यापि-यज्ञश्च ते दक्षिणाश्चेति। [2]साकांक्षत्वान्मन्त्राणाम्, नेति वयम् । दक्षिणा इषश्चोर्जश्चेति बहुवचनान्तैः अभिरक्षत्वित्यकवचनान्तस्य सम्बन्धानुपपत्तेः, ऊहस्य चाविधानात् अभ्यातानवत् पाठाभावाच्च सर्वानुषङ्गेषु दृष्टस्यान्ते पुनः पाठस्याभावाच्च । यत्तु साकांक्षत्वमुक्तं तदपि नानुषङ्गहेतुः । सन्निधिमात्रेणाकाङ्क्षाया निवर्तनात् । यदि वा धर्मस्ते स्थूणाराज श्रीस्ते इत्यत्राभिरक्षत्वित्यस्य नापेक्षा, द्वयोरपि प्रथमान्तत्वात् । एवं दक्षिणा इत्यादिक प्रथमान्तं द्रष्टव्यम् । तस्मादाकाङ्क्षैव नास्ति । सन्निधानाच्च स्थूणाप्रतिपत्तिः ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सम्मितं निर्मितमगारं उत्तरैः 'ब्रह्म च ते क्षत्रं च' इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः यथालिङ्गं मन्त्रलिङ्गावगतदिङ्मुखोऽभिमन्त्रयते । तत्र पञ्चमेन मध्यमाभिमुखः;[3] अनन्वितत्वात् ।

---

१ ख आदधाति कर्मकरः । तेनाधीयमानं, २ ग. साकांक्षकत्वात् ।

३ ख, ग, घ,—अनन्वितत्वादिति नास्ति,

केचित्—षड्भिः। तत्र 'धर्मस्ते स्थूणाराजः' इति मध्यमश्च 'श्रीस्ते स्तूपः' इति पृष्ठवंशमिति।

अत्र यद्यपि मन्त्रैरगारावयवास्थूणाः स्तूयन्ते; तथाप्येभिः स्थूणावदगारमेव स्तूयते, यथा पादवन्दनेन पादवानेव वन्द्यते।

अत्र केचित्—द्वितीयादिषु त्रिषु मन्त्रेषु वाक्यसमाप्त्यर्थं 'स्थूणे अभिरक्षतु' इत्याद्यनुषङ्गं मन्यन्ते।

अन्ये 'ते'शब्दस्यापि। तथा 'धर्मस्ते' इत्यादौ अभिरक्षत्वित्यस्य च।

अपरे तु—नैवेह कस्यचित्क्वचिदप्यनुषङ्गः; अनुषज्यमानस्य वैरूप्यात्, अन्तेऽपि च पाठाभावाच्च। वाक्यसमाप्तिस्तु प्रकृततया बुद्धिस्थपदार्थान्वयात्सिध्यति, यथा[1] 'इषे त्वा' (तै.सं. १-१-१.) इति मन्त्रस्य बुद्धिस्थच्छेदनान्वयात् छिनद्मीति वाक्यसमाप्तिरिति ॥६॥

अथ गृहप्रवेशविधिमाह—

पालाशं शमीमयं वेध्ममादीप्योत्तरयर्चाऽग्निमुद्धृत्योत्तरेण यजुषाऽगारं प्रपाद्योत्तरपूर्वदेशेऽगारस्योत्तरयाऽग्निं प्रतिष्ठापयति ॥ ७ ॥

अनु०—शमी या पलाश का इंधन जलाकर आगे की 'उद्भ्रियमाण' आदि पाँच पदों वाली ऋचा द्वारा अग्नि को (एक पात्र में लेकर) अगले यजुस 'इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनः' आदि का उच्चारण करते हुए घर में ले जावे और 'अमृताहुतिम्' आदि का पाठ करते हुए घर की उत्तरपूर्व दिशा में स्थापित करे ॥ ७ ॥

टि०—इस सूत्र में घर प्रवेश की विधि बतायी गयी है। दूसरे प्रकार के घर में भी प्रवेश की यही विधि होती है। कुछ लोग गृह-प्रवेशन के समय के लिए भी उदगयन का नियम मानते हैं, किन्तु लोग यह नियम नहीं स्वीकारते।" "अगारस्य अग्निं प्रतिष्ठापयति" से भोजन बनाने के लिए अभिप्रेत है, इस कारण यह अग्नि औपासन अग्नि से नहीं ली जायगी। कुछ लोगों के अनुसार यह अग्नि लौकिक अग्नि ही होती है। किन्तु कुछ लोग इसे औपासन अग्नि ही मानते हैं, क्योंकि इसमें होम करने का विधान बताया गया है। किन्तु होम कर्म भोजन पकाने वाली अग्नि में भी होता है जैसे वैश्वदेव के होम। भार्या

---

१ दर्शयागे सायं दोहसम्पादनार्थं अमावस्यायां प्रातः वत्सापाकरणं कर्तव्यम्। तच्च पलाशशाखया। सा च शाखा पलाशवृक्षादानेया। तस्याः छेदनार्थोऽयं मन्त्रः इषे त्वा' इति तत्रैतावानेव मन्त्रः तत्र वाक्यसमाप्तिस्तु 'छिनद्मि' इति बुद्धिस्थच्छेदनान्वयेन क्रियते, तद्वदिहापीति।

आदि उस घर में उसी समय प्रवेश करें जब औपासन अग्नि का उस घर में प्रवेश हो। हरदत्तमिश्र ने अनेक तर्कों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस अग्नि को "अगारस्य अग्निम्" कहा गया है वह सामान्य भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त अग्नि ही है। किन्तु सुदर्शनाचार्य यह मानते हैं कि श्रौताग्नियों का भी इसी समय विधिवत् नये गृह में आधान करना चाहिए। चूँकि शिष्ट जनों में यह कर्म रात्रि को किया जाता है, इस कारण यह कर्म रात्रि को ही किया जाता है। हरदत्तमिश्र के ठीक विपरीत सुदर्शनाचार्य ने अगारस्य अग्नि औपासन अग्नि को सिद्ध किया है। वे कहते हैं। "अगाराग्निः, शालाग्निः, गृह्याग्निः, औपासनाग्निरित्येकार्थतया याज्ञिकानां प्रयोगादौपासन एव प्रतिष्ठाप्यः, न पचनाग्निः"॥ ७॥

अनाकुल।

अथ प्रवेशनविधिः। अन्यथा सम्मितस्याप्यगारस्य प्रवेशे विधिरयं भवति। उदगयनाद्यपेक्षितमिति केचित्। नेत्यन्ये। बीजवतो गृहान् प्रतिपद्यते (आश्व. गृ. २-१०-२) इत्याश्वलायनः। बीजग्रहणं सर्वेषामेव गृहोपकरणानामुपलक्षणम्। तत्र प्रवेक्ष्यन् पालाशं शमीमयं वा इध्मं अग्नावादीपयति। इध्मश्चात्रार्थलक्षणो न नियतपरिमाणः। आदीप्य तमग्निपात्रं उद्धरत्युत्तरयर्चा 'उद्ध्रियमाण' इत्येतया पञ्चपादया। यद्यहनि प्रवेशो रात्रिलिङ्गोऽविवादः प्रयोक्तव्यः। तथा रात्रावहर्लिङ्गो निर्विवादः प्रयोक्तव्यः। विभज्यविनियोगाभावात्। येषां तूदगयनापेक्षा ते रात्रौ प्रवेशं नेच्छन्ति। अहःकृतस्य रात्रिकृतस्य च पाप्मनो विनियोगः प्रपाद्यत इत्यर्थः। विरोधोऽपि नास्ति। यथा"यदापो नक्तं दुरितं चरामे"ति। तमुद्धृतमग्निं उत्तरेण यजुषा 'इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनः' इत्यनेन अगारं प्रपादयति। प्रपाद्य अगारस्य उत्तरपूर्वे देशे तमग्निं प्रतिष्ठापयति उत्तरयर्चा 'अमृताहुति'मित्यनया। अत्रगारस्येति न वक्तव्यं, अग्निमिति च। कस्मात्? उभयोरप्यत्रैव वाक्ये श्रुतत्वात्। एवं तर्हि नायमगारशब्दो देशविशेषणार्थः। किं तर्हि? अग्निविशेषणार्थः-अगारस्याग्निं प्रतिष्ठापयतीति। कः पुनरगारस्याग्निः? यः पचनाग्निः। तस्मादौपासनादुद्धरणमस्याग्नेर्न भवति। लौकिकादेव भवतीति केचित्। अपरे तु होमसंयोगादौपासन एवायमग्निरिति स्थिताः। तेषामगारस्येत्यग्निमिति च पदद्वयं व्यर्थम्। होमाश्च पचनेऽपि दृष्टा वैश्वदेवे। तस्मात् पचनाग्निरेवायम्। यद्यप्येवं तथापि देशसंस्कारो भवत्येव। होमसंयोगात्। अथौपासनस्य वैहारिकाणां च तदैव प्रवेशनं प्रतिष्ठापनं च स्वे स्वे स्थाने। भार्यादीनां च तदैव प्रवेशः॥ ७॥

तात्पर्यदर्शनम्

पालाशं शमीमयं वेध्मं काष्ठमौपसनेऽग्नावादीपयति। इध्ममिति च

'अग्निषु महत इध्मानादधाति' इतिवदनियतं संख्यादिकं विवक्षितम् । उत्तरया 'उद्ध्रियमाणः' इत्येतया । ततस्तमग्निमुद्धरति । अत्र च सानुषङ्गे चतुष्पदे त्रिष्टुभौ द्वे ऋचौ पञ्चभिः पादैराम्नाते । तयोरेकैवोद्धरणार्था । अन्या तु विकल्पार्था । उत्तरया इत्येकवचनेन विनियोगात् । व्यवस्थितश्चायं विकल्पोऽभिप्रेतः, अग्निहोत्रवत् । यद्यहनि प्रवेशस्तदा रात्रिलिङ्गया, रात्रौ चेदहर्लिङ्गया । रात्रौ च प्रवेशश्शिष्टाचारप्रसिद्ध इति पूर्वमेवोक्तः । उत्तरेण 'इन्द्रस्य गृहाः' इति यजुषा । उद्धृतमग्निमगारं प्रपाद्य अनन्तरं विधिवत्संस्कृते उत्तरपूर्वदेशेऽगारस्य 'तमग्निमुत्तरया अमृताहुतिम्' इत्येतया प्रतिष्ठापयति । तथा श्रौताग्ननोपि विधिवदानीतानस्मिन्नेव काले अगारं प्रपाद्याग्न्यगारे यथाविधि प्रतिष्ठापयति ।

केचित्–इहाग्निमुद्धृत्य अगारं प्रपाद्येति प्रकृतेऽपि पुनरुक्तयोरेतयोरर्थवत्त्वाय अगारस्याग्निमित्यन्वयादादोपनादिप्रतिष्ठापनान्तं पचनार्थस्य लौकिकाग्नेरेव, नौपासनस्येति । तेषामेतत्तुल्यसूत्रे विवाहाङ्गे प्रविश्य होमे पचनाग्नेरेवोपसमाधानादि स्यात् । अथागारशब्दस्य शयनस्थानवाचित्वात् गृहशब्दस्य चान्यथात्वात् न तत्र तुल्यसूत्रतेति चेत्–न; गृहागारशब्दयोरेकार्थत्वे विवादाभावात् । इह च 'इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तः' इति मन्त्रस्थगृहशब्देनागाराभिधानात्, प्रत्युत धर्मशास्त्रे 'मध्येऽगारस्य दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गम् । उत्तरपूर्वदेशेऽगारस्योत्तरैश्चतुर्भिः । शय्यादेशे कामलिङ्गेन' (आप.ध.२-३-२२,२३;२-४-१.) इति शयनस्थानस्यागारादन्यत्वाभिधानाच्च । पुनरुक्तिः स्फुटार्थत्वापि निर्वाह्या । किञ्चागारस्याग्निमित्यन्वयेऽपि अगाराग्निः शालाग्निः, गृह्याग्निरौपासनाग्निरित्येकार्थतया याज्ञिकानां प्रयोगादौपासन एव प्रतिष्ठाप्यः, न पचनाग्निः॥ ७ ॥

तस्माद्दक्षिणमुदधानायतनं भवति ॥ ८ ॥

अनु०—उस अग्नि के दक्षिण में जल रखने का स्थान बनाना चाहिए ॥ ८ ॥

अनाकुला

एवं प्रतिष्ठितस्याग्नेः दक्षिणमुदधानायतनं कर्तव्यम् । उदकं धीयते यत्र तत् उदधानं मणिकाख्यम् ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तस्मात् प्रतिष्ठिताग्नेर्दक्षिणमुदधानस्य मणिकस्यायतनं भवति ॥ ८ ॥

तस्मिन् विषूचीनाग्रान् दर्भान् सँस्तीर्य तेषूत्तरया व्रीहियवान् न्युप्य तत्रोदधानं प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥

अनु०—वहाँ पर दर्भ इस प्रकार बिछावे कि उसके अग्रभाग सभी दिशाओं की ओर पड़े; उन दर्भों के ऊपर चावल और जौ अगले मन्त्र 'अन्नपते' आदि का उच्चारण करते हुए बिखेरे और उसके ऊपर उदधान स्थापित करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

तस्मिन्नायतने [1]विषूचीनाग्रान् सर्वतोदिक्कान् दर्भान् संस्तीर्य तेषु व्रीहीन् यवांश्च संयुक्तान् निवपति उत्तरयर्चा 'अन्नपत' इत्येतया [2]ततस्तस्मिन्नायतने उदधानं प्रतिष्ठापयति यथा निश्चलं भवति तथा स्थापयति ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तस्मिन् उदधानस्थाने विषूचीनाग्रान् नानादिगग्रान् दर्भान् संस्तीर्य, तेषु दर्भेषु उत्तरया 'अन्नपतेऽन्नस्य' इत्येतया व्रीहियवांश्च संयुक्तान् न्युप्य तेषूदधानं प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥

तस्मिन्नुत्तरेण यजुषा चतुर उदकुम्भानानयति ॥ १० ॥

अनु०—अगले मन्त्र 'अरिष्टा अस्माकम्' द्वारा उस उदधान में चार घड़े पानी डाले (प्रत्येक घड़ा डालने के साथ मन्त्र की आवृत्ति करे) ॥ १० ॥

टि०—प्रत्येक कलश को लाते समय मन्त्र की आवृत्ति की जायगी। किन्तु जब मधुपर्क के प्राशन आदि की विधि होती है, वहाँ मन्त्रका उच्चारण केवल एक बार किया जाता है, ऐसा सुदर्शनाचार्य का मत है ॥ १० ॥

अनाकुला

उत्तरेण यजुषा 'अरिष्टा अस्माक'मित्यनेन। प्रतिकुंभ मन्त्रावृत्तिः। तत्र चतुर्भिर्वा कुम्भैः पृथगानयनमेकेनैव वाऽथ पुनः पूरयित्वा, यथा-'तिस्रः स्रुच उत्सिच्ये'ति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तस्मिन् उदधाने उत्तरेण 'अरिष्टा अस्माकं' इत्यनेन यजुषा चतुर उदकुम्भानानयति। प्रतिकुम्भं मन्त्रावृत्तिः, द्रव्यभेदेन प्रकाश्यक्रियाभेदात्। यत्र पुनर्मधुपर्कप्राशनादौ आवृत्तिविधिस्तस्या एव क्रियायाः, तत्र सकृदेव मन्त्रः ॥ १० ॥

दीर्णमुत्तरयानुमन्त्रयते ॥ ११ ॥

अनु०—यदि उदधान टूट जाय तो 'भूर्मभूमि' मन्त्र से अभिमन्त्रित करे ॥ ११ ॥

---

१ क. ख. 'विषूचीनाग्रान्' इति नास्ति। २. न्युप्य तत्रोदधानमिति क. ख. पुस्तकयोः पाठः।

अनाकुला

अथ यदि तदुदधानं दीर्येत भिद्येत तत् उत्तरयर्चा 'भूमिर्भूमि'मित्येतया अनुमन्त्रयते। कालान्तरे दीर्णे एतद्भवति उदधानान्तरेऽपि तत्स्थानापन्ने॥११॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि दीर्णं मणिकं स्यात्तदा उत्तरया 'भूमिर्भूमिमगात्' इत्येतयानुमन्त्रयते। एतच्च प्रकरणात्कर्माङ्गमेव ॥ ११ ॥

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते उत्तरा आहुती-र्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

अनु०—अग्नि के उपसमाधान (इंधन रखने के) कर्म से लेकर आज्य-भाग की आहुतियों तक के कर्म करके आगे की चार प्रधान आहुतियाँ ("वास्तो-ष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया, वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि, अमीवहा वास्तोष्पते)करके जया आदि आहुतियाँ करे ॥ १२ ॥

टि०–पुनः इस सूत्र की व्याख्या में हरदत्तमिश्र ने होम के लिये इस कर्म में प्रयुक्त अग्नि को पचनाग्नि ही बताया है। जयादि आहुतियों का विधान करके स्थालीपाक का निषेध किया गया है। स्विष्टकृत् की आहुति का यहाँ विधान नहीं है, जैसा कि स्थालीपाक के प्रसंग में होता है। किन्तु सुदर्शनाचार्य इस मत पर दृढ़ हैं कि इस कर्म में प्रयोग में लायी जाने वाली अग्नि औपासन अग्नि ही है। इस संबन्ध में वे याज्ञवल्क्यस्मृति का उद्धरण देते हैं। "कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।"॥१२॥

अनाकुला

चतस्रः उत्तराः प्रधानाहुतयः "वास्तोष्पते प्रतिजानीहि, वास्तोष्पते शग्मया, वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि, अमीवहा वास्तोष्पत" इति। तत्राज्यभागान्तवच-नेनैव तन्त्रप्राप्तिरसिद्धा, यथा 'पार्वणवदाज्यभागान्ते' इत्यत्र। किमग्नेरुपसमा-धानादिवचनेन ? अग्निनियमार्थं तु–योऽगारे पचनार्थं प्रतिष्ठापितोऽग्निः तस्यैव होमार्थमुपसमाधानं यथा स्यादिति। अन्यथा सर्वपाकयज्ञार्थे औपासन एव होमः स्यात्। जयादिवचनं स्थालीपाकप्रतिषेधार्थम्। का पुनः प्राप्तिः स्थालीपाकस्य ? कल्पान्तरे दर्शनात्। कथं पुनः जयादिवचनेन स्थालीपाकस्य प्रतिषेधः ? उच्यते–स्विष्टकृत्प्रतिषेधस्तावत् गम्यते–उत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते न स्विष्टकृतमिति। स च स्थालीपाकेषु भवति। अतस्तत्प्रतिषेधद्वारेण स्थालीपाकप्रतिषेध एवायं सम्पद्यते ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरा आहुतीश्चतस्रः प्रधानाहुतीः। ताश्च 'वास्तोष्पते प्रतिजानीहि' (तै.

सं.३-४-१०) इति द्वे, 'वास्तोष्पते प्रतरणो नः' इति द्वे । आज्यहविष्ट्वाच्च तन्त्रविधानम् । आज्यभागान्त इति वचनं त्वाज्यभागानन्तरमेव प्रधानहोमाः, नान्यदर्थकृत्यमपीदि क्रमार्थम् ।

केचित्—'पार्वणवदाज्यभागान्ते' (आप.गृ.१८-६) इतिवदाज्यभागान्त इत्यनेनैव तन्त्रप्राप्तौ सिद्धायां 'अग्नेरुपसमाधानादि' इति वचनं स्वमतेन प्रतिष्ठितः पचनाग्निरेवेह होमार्थ इत्येवमर्थमिति । तदयुक्तम्,

'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।' (या.स्मृ. १-९७) इति सर्वस्मार्तहोमानामविशेषेण औपासनविधानात्, अस्य सूत्रस्योक्तविधयान्यार्थत्वात्, अस्मदीयानां गृह्यान्तरीयाणां चौपासन एव वास्तुहोमाचाराच्च ॥ १२ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वोत्तरेण यजुषोदकुम्भेन त्रिः प्रदक्षिणमन्तरतोऽगारं निवेशनं वा परिषिच्य ब्राह्मणान् भोजयेदपूपैरस्सक्तुभिरोदनेनेति ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने सप्तदशः खण्डः ॥

अनु०—अग्नि के चारो ओर परिषेचन का कर्म करके एक घड़े से घर के चारो ओर अथवा भीतर की ओर विश्रामागार के चारो ओर अगले यजुस् मन्त्र 'शिवं शिवम्' आदि से जल छिड़के और फिर ब्राह्मणों को पुआ, सक्तु, भात खिलावे ॥१३॥

टि०—सम्पूर्ण क्रिया समाप्त करके भवन का परिषेचन किया जाता है । उस प्रकार का परिषेचन नहीं किया जाता, जैसा कि वैश्वदेव कर्म में किया जाता है । परिषेचन एक ही बार उठाये गये जल के घट से अविच्छिन्न होना चाहिए । अन्तरत शब्द से यह सिद्ध है कि भवन के बाहर परिषेचन होता है । भीतर ही परिषेचन होता है । युग्म संख्या में ब्राह्मणों को भोजन करावे । सुदर्शनाचार्य ने यह टिप्पणी की है "सत् का भोजन से पहले ही उपयोग होता है, बीच में उपयोग की प्रसिद्धि नहीं है" ॥ १३ ॥

अनाकुला

परिषेचनान्तवचनं आनन्तर्यार्थम् । तन्त्रशेषं समाप्यागारस्य परिषेचनमेव कर्तव्यम् । नान्यद्वैश्वदेवादिकमिति । उत्तरेण यजुषा 'शिवं शिव'मित्यनेन । उदकुम्भेन न हस्तेन । परिभाषयैव सिद्धे प्रदक्षिणमिति वचनात् परिषेचनमिदमेकमेव प्रदक्षिणं त्रिगुणीभूतं सकृदुपात्तेनैवोदकुम्भेन संततमविच्छिन्नं

कर्तव्यम् । मेखलया परिव्याणवत् त्रीणि परिषेचनानीति सिद्धं भवति । अन्तरंत इति वचनमगारात् बहिः परिषेचनं मा भूत् । अभ्यन्तरमेव यथा स्यादिति । अगारं गृहं, निवेशनं शयनदेशः । ब्राह्मणान् युग्मान् भोजयेदपूपादिभिः । इतिशब्दः समुच्चयार्थः ॥ १३ ॥

इति हरदत्तविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां सप्तदशः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

परिषेचनान्तमुत्तरेण 'शिवँ शिवम्' इत्यनेन यजुषा उदकुम्भेन सकृदुपात्तेन अगारं निवेशनं वान्तरतो न बहिः त्रिः प्रदक्षिणं परिषिच्य ब्राह्मणान् भोजयेदपूपादिभिः । इतिशब्दस्समुच्चयार्थः । सक्तूनां तु भोजनात्प्रागेव उपयोगः, मध्ये लोकप्रसिद्ध्यभावात् । 'शुचीन् मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध.२-१५-११) इति सिद्धस्य भोजनस्य पुनर्वचनमपूपादिगुणविध्यर्थम् ॥१३॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने सप्तदशः खण्डः ।

अथाष्टादशः खण्डः ॥

अथोत्तरेषां मन्त्राणां विनियोगमाह—

श्वग्रहगृहीतं कुमारं तपोयुक्तो जालेन प्रच्छाद्य कँसं किङ्किणिं वा ह्लादयन्नद्वारेण सभां प्रपाद्य सभाया मध्येधिदेवनमुद्धत्यावोक्ष्याक्षान्युप्याक्षेषूत्तानं निपात्य दध्ना लवणमिश्रेणाञ्जलिनोत्तरैरवोक्षेत्प्रातर्मध्यन्दिने सायम् ॥ १ ॥

अनु०—यदि बालक श्वग्रह (पिशाच) से गृहीत हो तो पिता (या कर्म करने वाला कोई भी व्यक्ति) उपवास आदि व्रत करके उस बालक को एक जाल से ढँके; तब कंस या घण्टी बजवावे और बालक को मुख्य द्वार से भिन्न द्वार से बालक को जुए के खेलवाले सभा भवन को ले जावे और जिस स्थान पर जुआ खेलनेवाले खेलते हों उसके बीच में मिट्टी ऊँचा करके उस पर जल छिड़ककर उसपर गोटियाँ डाले, बालक को उन गोटियों पर उत्तान लिटावे और अगले ग्यारह "कूर्कुरस्सुकूर्कुरः" से लेकर 'श्वानमिच्छवादन्न पुरुषं छत्' तक के मन्त्रों का पाठ करते हुए नमक मिले हुए दही को अञ्जलि में लेकर छिड़के और यह कर्म प्रातः दोपहर तथा शाम को करे ॥ १ ॥

टि०—जिस रोग से ग्रस्त होने पर बालक कुत्ते की तरह चेष्टा करने लगता है उसे श्वग्रह कहते हैं। कुछ भाष्यकार के अनुसार पिशाच से ग्रहीत होने पर, अथवा कुत्ते से काटे जाने पर। यहां सूत्र में पुलिंग का प्रयोग है, इस कारण पुत्र के लिए यह कार्य नहीं किया जाता है। इसका कर्ता पिता होता है अथवा कोई दूसरा व्यक्ति भी हो सकता है। यह ब्रह्मचर्य का व्रत उस समय तक धारण किया जाता है जब तक कार्य की सिद्धि न हो इस कर्म में प्रयुक्त जाल मछली पकड़ने वाला जाल होता है ॥ १ ॥

अनाकुला

बहवो बालग्रहाः दिवसमासमादिकाः। तत्र येन गृहीतः श्ववच्चेष्टते स श्वग्रहः। तेन कुमारं, पुल्लिङ्गनिर्देशात् कुमार्या न भवतीत्येके। तपोयुक्तः कर्ता पितेत्येके। यः कश्चिदित्यन्ये। तपो ब्रह्मचर्यादि। यावता तपसा सिद्धिं मन्यते तावत् कृत्वेत्यर्थः। जालं मत्स्यग्रहणं तेन प्रच्छाद्य। कंसं प्रसिद्धम्। किङ्किणिः घण्टाविशेषः। तयोरन्यतरं ह्लादयन् अन्यतरस्य ध्वनिं कारयन् केन-

चिदन्येन। स्वयं कुमारं गृहीत्वा सभां प्रपादयति अद्वारेण छदीरपोह्य मार्गं कृत्वा तेनेत्यर्थः। किं तत् स्थानम्? सभा, तस्या मध्येऽधिदेवनं स्थानं यत्र कितवा दीव्यन्ति तं प्रदेशं उद्धत्याद्भिरवोक्ष्य तत्राक्षान्निवपति। अक्षाश्शाराः। विभीतका इत्यन्ये। तान् पृथु प्रथयित्वाप्वेनमुत्तानं निपातयति। शाययति। ततो दध्ना लवणमिश्रेणावोक्षेदञ्जलिना उत्तरैर्मन्त्रैः 'कूर्कुरस्सुकूर्कुर' इत्यादिभिः। 'श्वानमिच्छादन्न पुरुषं छत्' इत्यन्तैः। प्रतिमन्त्रमवोक्षणम्। तत्रादितस्तिस्र ऋचः, ततो यजुषी द्वे 'तत्सत्यं, विगृह्य बाहू' इति, ततः पञ्चर्चो 'बिभ्रन्निष्कञ्च' त्याद्याः, ततो यजुरेकं 'श्वान' मिति, एवमेकादशैते मन्त्राः। यावत् कर्म समाप्यते तावत् कंसकिङ्कण्योरन्यतरस्य ह्लादनम्। एवमेतत्कर्म जालप्रच्छादनादवोक्षणान्तं त्रिसन्ध्यं कर्तव्यम् ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

येन गृहीतः कुमारः श्वेव नदति, श्ववद्वा चेष्टते स श्वग्रहः। तेन गृहीतः श्वग्रहगृहीतः, पिशाचिशुना वा दष्टः। तपोयुक्तः यावन्मनस्तोषमनशनादियुक्तः पित्रादिः कर्ता। जालं मत्स्यग्रहणसाधनम्। कंसं किङ्किणिं। लोहघण्टां ह्लादयन् पुरुषान्तरेण ध्वानयन् अद्वारेण कुडयाद्यपोह्य मार्गं कृत्वा। अधिदेवनं यत्र दीव्यन्ति कितवाः। अक्षान् बिभीतकफलानि। केचित्—शारा इति।

उत्तरैर्मन्त्रैः 'कूर्कुरस्सुकूर्कुरः' इत्यादिभिर्यजुर्दशमैः। यद्वैकादशभिः। तस्मिन् पक्षे आदितस्तिस्र ऋचः ततः 'तत्सत्यं यत्त्वेन्द्रः' विगृह्य बाहू इति द्वे रतो 'बिभ्रन्निष्कम्' इति पञ्चर्चः। ततः 'श्वानम्' इत्येकादशं यजुरेवेति विभागः। अवोक्षणं च सर्वेषां मन्त्राणामन्ते सकृदेव।

केचित्—दृष्टोपकारकत्वात् प्रतिमन्त्रमिति।

एवमेतज्जालप्रच्छादनाद्यवोक्षणान्तं प्रातरादिषु त्रिषु पुण्याहविशेषेषु कर्तव्यम्। अवोक्षणपर्यन्तं च ह्लादनम् ॥ १ ॥

अगदो भवति ॥ २ ॥

अनु०—इससे रोग ठीक हो जायगा ॥ २ ॥

टि०—यह कर्म तीनों समय किया जाता है। इससे कुमार स्वस्थ हो जाता है। यदि स्वस्थ न हो तो पुनः यह कर्म करना चाहिए। किन्तु सुदर्शनाचार्य का मत है कि पुनः नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

अनाकुला

अगदः अरोगः, रोगनिवृत्तिरस्य प्रयोजनमित्यर्थः। किं सिद्धं भवति?

यदि भैषज्येन कुमारोऽगदः स्यात् न तत्रेदं कर्तव्यमिति। अन्यथा कुमारस्यास्मिन् रोगे पितुर्नैमित्तिकमिदमवश्यं कर्तव्यं विज्ञायेत 'गृहदाहेष्ट्यादिवत्[1]। एवं ब्रुवतां दोषः यक्ष्मगृहीतामन्यां वेत्येतत्प्रकारान्तरेण रोगशान्त्वावापि कर्तव्यं स्यात्। तस्मादिदमन्यत् प्रयोजनम्। एवमेतस्मिन् कर्मणि त्रिषु कालेषु कृते कुमारोऽगदो भवति। यदि न भवति पुनरपि तपोयुक्तेन कर्तव्यमिति ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

इह च 'शङ्खिनम्' इत्यत्र च फलवचनं, सर्वत्र श्रुतितोऽर्थतो वावगतस्य कामिनः कर्मोपदेशः सामर्थ्यात्फलसिद्ध्यवगमपर्यन्त इति प्रदर्शयितुम्। तेन 'यक्ष्मगृहीताम्' (आप.गृ.९-१०) इत्यादौ फलवचनाभावेऽप्युपदेशः काम्यसिद्धिपर्यन्त एव।

केचित्—एवमेतस्मिन् कर्मणि त्रिसन्ध्यं कृते, अगदो भवति। यदि न भवति तदा पुनरप्येतत्कर्म कर्तव्यं, यावदगदो भवति। नैतत्, स्वाभिमताभ्यासबोधकशब्दाभावात् ॥ २ ॥

शङ्खिनं कुमारं तपोयुक्त उत्तराभ्यामभिमन्त्र्योत्तरयोदकुम्भेन शिरस्तोऽवनयेत्प्रातर्मध्यन्दिने सायम् ॥ ३ ॥

अनु०—शंख नाम के रोग से पीडित बालक के ऊपर 'एते ते प्रतिदृश्येते' आदि आगे के दो मन्त्रों द्वारा व्रत और ब्रह्मचर्य धारण करने के बाद (पिता या कर्म करनेवाला कोई भी व्यक्ति) अभिमन्त्रण करे फिर एक जलपात्र में जल लेकर अगले मन्त्र "ऋषिर्बोधः प्रबोधः' आदि मन्त्र का पाठ करते हुए सिर पर गिरावे। यह क्रिया प्रातः दोपहर तथा सायंकाल करे ॥ ३ ॥

टि०—इस रोग में बालक शंख की तरह आवाज करता है। तीन कालों में अभिमन्त्रिण करने का नियम है ॥ ३ ॥

अनाकुला

शङ्खो नाम ग्रहः कुमाराणां भयङ्करः, येन गृहीतः शङ्खवन्नदतीति। तेन

---

१ 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' (तै. सं २-२-४) इति वाक्येन विहितेष्टिर्गृहदाहेष्टिः। अत्र च आहिताग्नेः गृहेऽग्निना दग्धे सति तेन तत्कारणभूतपापाहितत्वसूचनात् तन्निर्घातार्थं क्षामवदग्निदेवताका पुरोडाशद्रव्यकेष्टिर्नैमित्तिकतया विधीयते। सा चावश्यं कर्तव्या, नैमित्तिकत्वात्, तद्वदिदमपीत्यर्थः।

गृहीतं शङ्खिनमुत्तराभ्यां एते ते प्रतिदृश्येते इत्येताभ्यामृग्भ्यां अभिमन्त्र्य तत उदकुंभेन शिरस्तोऽवनयेत्, अभिषिञ्चेदुत्तरयर्चा 'ऋषिर्बोधः प्रबोध' इत्येतया एवमेतदभिमन्त्रणादि त्रिषु कालेषु कर्तव्यम् ।। ३ ।।

तात्पर्यदर्शनम्

शङ्खोऽपि ग्रहः; येन गृहीतः शङ्खवन्नदति तद्गृहीतश्शङ्खी। उत्तराभ्यां 'एते ते प्रतिदृश्येते' इत्येताभ्यां उत्तरया 'ऋषिर्बोधः प्रबोधः' इत्येतया शिरस्तोऽवनयेत् शिरस्यभिषिञ्चेत्, उदकुम्भेन त्रिसन्ध्यम् ।। ३ ।।

अगदो भवति ।। ४ ।।

अनु०— इससे वह नीरोग हो जायगा ।।४।

अनाकुला

पूर्ववदस्य प्रयोजनम् ।। ४ ।।

तात्पर्यदर्शनम्

उक्तार्थम् ।। ४ ।

अथ सर्पबलेर्यस्मिन् काले येन विधिनोपक्रमस्तमाह—

* श्रावण्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकः ।। ५ ।।

अनु०—श्रावण महीने की पौर्णमासी को सूर्य का अस्त हो जाने पर स्थालीपाक करना चाहिए ।। ५ ।।

टि०—सर्पबली नामका कर्म नित्यकर्म होता है। इसे प्रत्येक वर्ष करना चाहिए। श्रावण की पौर्णमासी को यह कार्य आरंभ किया जाता है तथा मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को उत्सर्ग करना होता है। सूर्य के अस्त होने पर स्थालीपाक होता है। नक्षत्रों का योग न हो तो भी श्रावण मास की पौर्णमासी को यह कर्म आरम्भ किया जाता है ।। ५ ।।

अनाकुला

अथ सर्पबलिर्नाम कर्म नित्यं संवत्सरे संवत्सरे कर्तव्यमुपदिश्यते तस्य श्रावण्यां पौर्णमास्यामारम्भः मार्गशीर्ष्यामुत्सर्गः। तस्योपक्रमे श्रावण्यां पौर्णमास्यां अस्तमिते आदित्ये स्थालीपाको भवति। असत्यपि नक्षत्रयोगे श्रावणस्य मासस्य पौर्णमासी श्रावणीत्युच्यते लक्षणया। तत्र श्लोकौ—

मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते।
चान्द्रमासास्तदन्ताश्च चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ।।

---

* एतत्प्रभृति सूत्रपञ्चकमेकं सूत्रं क. ख. पुस्तकानुसारतो हरदत्तमते।

तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्रादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः ॥ इति ॥

तत्र सायमाहुतिं हुत्वा स्थालीपाककर्म प्रतिपद्यते पार्वणेनातोऽन्यानीत्युक्तं, पौर्णमास्यां पौर्णमासीति च । श्रावण्यै पौर्णमास्यै सङ्कल्पितान् व्रीहीन् यवान् वा निरुप्य प्रतिष्ठिताभिघारणान्तं कृत्वाग्नेरुपसमाधानादि द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि किंशुकपुष्पैरारग्वधमयसमिद्भिश्च सह ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

श्रवणेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी श्रावणी । अयुक्तापीह विवक्षिता, नित्यत्वात्सर्पबलेः । श्रावणमासस्य पौर्णमासीत्यर्थः । न तु श्रावणमासस्य श्रवणनक्षत्रम्, श्रवणस्य पौर्णमासीविशेषणार्थत्वात्, 'पौर्णमास्यां (आप.प.२-२०) इति वचनाच्च ।

अथ चान्द्रमसमासानां चैत्रादीनां, पौर्णमासीनां च चैत्र्यादीनां निर्णयार्थौ श्लोकौ—

"मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते ।
चान्द्रा मासास्तत्तदन्ताश्चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ॥
तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः" ॥ इति ।

तस्यां श्रावण्यां पौर्णमास्यां, अस्तमिते आदित्ये, सायं होमान्ते 'पल्यवहन्ति' (आप.गृ.७-२.) इति ।विधिना प्रतिष्ठिताभिघारणान्तस्थालीपाकः कर्तव्यः ॥ ५ ॥

पार्वणवदाज्यभागान्ते स्थालीपाकाद्धुत्वाञ्जलिनोत्तरैः प्रतिमन्त्रं किंशुकानि जुहोति ॥ ६ ॥

अनु०—पार्वण यज्ञों की तरह आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म करके स्थालीपाक से अंश ग्रहण करके अञ्जलि से हवन करे, फिर आगे के 'अग्धो मशक' इत्यादि तीन मन्त्रों के साथ किंशुकफूलों का हवन करे ॥ ६ ॥

टि०—इसमें पहले स्थालीपाक से पार्वण होम की तरह होम का विधान है। तदुपरान्त प्रत्येक मन्त्र के साथ किंशुक फूलों को समिध् की तरह होम किया जायगा। किंशुक-पलाश के काँटेदार फूल होते हैं ॥ ६ ॥

अनाकुला

सर्वं पार्वणवदित्युच्यते-स्थालीपाकादेव पार्वणवज्जुहोति, न किंशुकानीति। तेन तेष्ववदानकल्पो न भवति। स्विष्टकृतश्चावदानं तेभ्यो न भवति।

किंशुकैः समिधो व्याख्याताः। आज्यभागान्तवचनं तन्त्रप्राप्त्यर्थम्। श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहेति [1]स्थालीपाकाद्धोमः। उत्तरैर्मन्त्रैः 'जग्धो मशक' इत्यादिभिस्त्रिभिः। [2]किंशुकानि। पलाशपुष्पाणि। पलाशानां कण्टकिनां पुष्पाणीत्यन्ये। प्रतिमन्त्रमित्युच्यते प्रतिमन्त्रं किंशुकानां बहुत्वं यथा स्यादिति। अन्यथा एकैकस्य किंशुकस्य होमाः प्राप्नोति, यथा समिधाम्॥ ६॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततः पार्वणवदग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते अग्निमुखान्त इत्यर्थः; सर्वेष्वौषधहविष्केषु तन्त्रवत्सु कर्मसु अग्निमुखस्य विहितत्वात्। स्थालीपाकाद्विधिवदवदाय 'श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा' इति हुत्वा 'जग्धो मशकः' इत्यादिभिस्त्रिभिः उत्तरैः प्रतिमन्त्रं किंशुकानि पलाशस्य पुष्पाणि जुहोति।

केचित्—पलाशसदृशस्य कण्टकिनः पुष्पाणीति॥

एतानि च वसन्त एव सङ्गृहीतव्यानि। अत्र चाञ्जलेस्संस्कारः उपस्तरणादिरवदानधर्मः, किंशुकशेषादपि स्विष्टकृते समवदानम्। अञ्जलेरपि दर्व्या सह लेपाञ्जनं च भवत्येव; मुख्येन धर्मप्रवित्तेरुक्तत्वात्। विप्रतिषिद्धं त्वन्यः कुर्यात्।

केचित्—अञ्जलिहोमा लाजहोमवद्यावदुक्तधर्माण एवेति॥ ६॥

उत्तराभिस्तिसृभिरारग्वधमय्यस्समिधः॥ ७॥

अनु०—'इन्द्रजहि दन्दशूकम्' आदि आगे की तीन ऋचाओं से आरग्वध वृक्ष के इंधन रखे॥ ७॥

अनाकुला

आरग्वधो राजवृक्षः। यस्य सुवर्णवर्णानि पुष्पाणि अरत्निमात्राणि फलानि। उत्तराभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'इन्द्र जहि दन्दशूकं' इत्यादिभिः। समिध आदधाति जुहोति वा। सर्वथा स्वहाकारान्ता मन्त्राः॥ ७॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथोत्तराभिस्तिसृभिः 'इन्द्र जहि दन्दशूकं' इत्यादिभिः प्रत्यृचम्। आरग्वधमय्यस्समिधः, आरग्वधविकारास्समिधः। किम्? जुहोतीति सम्बन्धः। तेनात्र समिधां मान्त्रवर्णिकदेवतोद्देशेन त्यागः कर्तव्य एव॥ ७॥

आज्याहुतीरुत्तराः॥ ८॥

---

१ ख. स्थालीपाकवद्धोमः। २ क. ख. किंशुकपुष्पाणि।

अनु०—फिर आगे के चार मन्त्रों ('तत्सत्यं यत्तेऽमावस्यायाम्' और 'नमो अस्तु सर्पेभ्यः आदि तीन मन्त्रों) से आज्य की आहुतियाँ करे ॥ ८ ॥

अनाकुला

उत्तराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति तत्सत्यं यत्तेऽमावास्यायां, 'नमो अस्तु सर्पेभ्य' इति तिस्रः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तराश्चतस्रः 'तत्सत्यं यत्तेऽमावास्यायाम्' इत्येका, 'नमो अस्तु सर्पेभ्यः' इति तिस्रश्च ॥ ८ ॥

जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

अनु०—फिर जया आदि आहुतियाँ की जाती है ॥ ९ ॥

अनाकुला

एवमेता एकादश प्रधानाहुतीर्हुत्वा सौविष्टकृतं च स्थालीपाकादेव हुत्वा ततो जयादि प्रतिपद्यते किंशुकप्रभृतीनामप्याहुतीनां प्राधान्यज्ञापनार्थमिदं वचनम्। अन्यथा पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाक इति विहितत्वात् पौर्णमास्यां पौर्णमासीति च तस्य देवताभिधानादर्थकर्मकत्वाच्च किंशुकादिनां होमः प्राप्नोति ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एतच्च वचनं जयादिप्राप्त्यर्थम्, स्थालीपाककिंशुकसमिदाज्याहुतीनामेकादशानां प्राधान्यज्ञापनार्थं च। जयाद्यनन्तरं स्विष्टकृदित्युक्तमेव ॥९॥

* परिषेचनान्तं कृत्वा वाग्यतस्सम्भारानादाय प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थण्डिलं कल्पयित्वा तत्र प्राचीरुदीचीश्च तिस्रस्तिस्रो लेखा लिखित्वाऽद्भिरुपनिनीय तासूत्तरया सक्तून्निवपति ॥ १० ॥

अनु०—अग्नि के चारो ओर परिषेचन तक के कर्म करके चुपचाप ही किये जाने वाले कर्म की सामग्रियों (धान लावा, अञ्जन आदि) को ग्रहण करे और पूर्व या उत्तर की ओर जाकर भूमिभाग को ऊँचा बनाकर उस उन्नत भूपीठ पर तीन रेखाएँ पूर्व की ओर खींचकर तथा तीन रेखाएं उत्तर की ओर खींचकर उन पर जल डाले और फिर उनके ऊपर अगले मन्त्र 'नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये पार्थिवा' आदि द्वारा (हाथ से या दर्वी से) सक्तु की बलि दे ॥ १० ॥

---

* इतः प्रभृति सूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं क. ख. पुस्तकयोः।

टि०—जिन सामग्रियों को साथ ले जाना है, वे हैं। धाना, लाजा, अंजन, अभ्यंजन, स्थगरोशीर, उदपात्र। भूमि के भाग को लीप कर पूजा का स्थान बनावे। लीपने का कार्य स्वयं होता है, दूसरे द्वारा नहीं कराया जाता है। सक्तू, हाथ से या दर्वी से गिराया जाता है। आश्वलायन गृह्य सूत्र में इसका निर्देश किया गया है। स्वाहा शब्द का प्रयोग नहीं होता है ॥ १० ॥

अनाकुला

परिषेचनान्तवचनमानन्तर्यार्थम्। परिषेचानान्ते उपनिष्क्रमणमेव नान्यदिति [1]किं सिद्धं भवति? तेन 'सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजयेत्' इत्यादेरुत्कर्षसिद्धो भवति। वाग्यतः शब्दमकुर्वन् धानाः लाजाः अञ्जनाभ्यञ्जने स्थगरोशीरमुदपात्रमिति संभाराः। उपलिप्तो भूमिभागः स्थण्डिलम्। कल्पयित्वेति वचनात् स्वयमेव कल्पनं नान्यैः कल्पितस्य परिग्रहः। तत्रेति वचनात् स्थण्डिलस्य मध्ये बलेरायतनं भवति। श्लोकश्च भवति—

प्राचीः पूर्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत्।
अथोदीचीः पुरस्संस्थं पश्चिमारंभमालिखेत् ॥

अपरे तु प्राचीनानां दक्षिणत आरम्भमिच्छन्ति। (प्राचीः प्रागायताः एवमुदीचीः उदगायताः क्रमस्य विवक्षितत्वात्।)प्रथमं प्राचीस्तत उदीचीः। एकं चेदं [लेखाकरणं नाम कर्म 'पुरस्तादुदग्वोपक्रमस्तथापवर्गः' इत्युक्तम्। तत्रेह प्रागुपक्रमस्यासंभवात् उदगुपक्रमः प्रागपवर्गः एतेन 'यत्र क्वचाग्नि' मिति ।]तल्लेखाकरणं व्याख्यातम्। एवं लेखा लिखित्वाऽद्भिरुपनिनयति तासां समीपे अपो निनयति सर्वदेवजनेभ्यो ददाति यथापितृभ्यः पिण्डदाने। ततस्तासु लेखासूत्तरयर्चा 'नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये पार्थिवा' इत्येतया सक्तून्निवपति हस्तेन दर्व्या वा, आश्वलायनके दर्शनात्। तास्विति वचनं ताः सर्वा लेखाः यथा बलिर्व्याप्नुयादित्येवमर्थम् ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ तन्त्रशेषं समाप्य, सम्भारानुत्तरत्रोपयोक्ष्यमाणान् सक्त्वादीनादाय, वाग्यतः प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य, स्थण्डिलं पीठं कल्पयित्वा तत्र पीठे दक्षिणस्या आरभ्य प्राचीस्तिस्रः,प्रतीच्या आरभ्य उदीचीस्तिस्रश्च रेखा लिखित्वाऽद्भिरुपनिनीय तासु षट्सु लेखासु लेखनक्रमेणोत्तरया 'नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये पार्थिवाः' इत्यादिकया 'बलिं हरिष्यामि' इत्यन्तया सक्तून्निवपति। सकृदेव मन्त्रः। न च स्वाहाकारः; अजुहोतिचोदितत्वात्, नमस्कारस्यापि प्रदानार्थत्वादित्युक्तत्वाच्च।

---

१ घ. इति स्थितं भवति। [ ] एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागो घ पुस्तके नास्ति।

केचित्—सर्वासु रेखासु यथा युगपत्प्राप्नुयाद्बलिः तथा निवपति ॥ १० ॥

तूष्णीं सम्पृक्ता धाना लाजानाञ्जनाभ्यञ्जने स्थगरोशीरमिति ॥ ११ ॥

अनु०—विना मन्त्र के ही उन रेखाओं के ऊपर विना कुटा हुआ धान, लावा, अञ्जन, अभ्यञ्जन, स्थगर, उशीर आदि छोड़े ।

टि०—सभी वस्तुएँ उन रेखाओं पर एक साथ ही डाली जाती हैं। इसमें मन्त्र का प्रयोग नहीं होता। इस कर्म के अन्त में भी ब्राह्मणों को भोजन कराने तथा उनसे आशीर्वचन का उच्चारण कराने का विधान है ॥ ११ ॥

अनाकुला

संपृक्ता अक्षता अखण्डितैस्तण्डुलैः कृताः स्थगरञ्चोशीरञ्च गन्धद्रव्ये एतानि षट् द्रव्याणि तासु निवपति। इति शब्दः समुच्चयार्थः। तेन सर्वत्र पूर्वेण मन्त्रेणैव निवपने प्राप्ते तूष्णीमिति मन्त्रप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सम्पृक्ताः सम्पुष्टा इति धानाविशेषणं अखण्डिततण्डुलैः कृता धाना इत्यर्थः। स्थगरमापणस्थं गन्धद्रव्यम्। अन्यानि प्रसिद्धानि। इतिशब्दस्समुच्चयार्थः। एतानि षट् द्रव्याणि तूष्णीं रेखास्वेव निवपति ॥ ११ ॥

उत्तरैरुपस्थायापः परिषिच्याप्रतीक्षस्तूष्णीमेत्या 'पश्वेत पदे'-त्येताभ्यामुदकुम्भेन त्रिःप्रदक्षिणमन्तरतोऽगारं निवेशनं वा परिषिच्य ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने अष्टादशः खण्डः ॥

अनु०—'तक्षक वैशालेय' आदि अट्ठारह मन्त्रों से सर्पों की पूजा करे, उन बलियों के चारो ओर जल छिड़के और चुपचाप वापस लौटे, उस ओर मुड़कर न देखें; जल के घड़े से घर के चारो ओर अथवा रहने के स्थान के चारो ओर 'अपश्वेत पदा' आदि दो मन्त्रों से जल छिड़के और फिर ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १२ ॥

अनाकुला

एवमेवैतं बलिं सप्तभिर्द्रव्यैर्दत्त्वा ततस्तां बलिदेवतामुपतिष्ठते। उत्तरैर्मन्त्रैः 'तक्षक वैशालेये' त्यादिभिः अष्टादशभिः तेभ्य इमं बलिमहार्षमिति पूर्वस्या

एवोत्तरस्य पादस्य सन्नामः न मन्त्रान्तरम्। वक्ष्यति च 'बलिमन्त्रस्य सन्नामः' इति। एवमुपस्थाय अपः परिषिञ्चति सर्वतस्सिञ्चति। न्युप्तस्य बलेः प्रकृतत्वात्। ततोऽप्रतीक्षः पृष्ठतः अप्रतीक्षमाणस्तूष्णीं वाग्यतः प्रत्येति। प्रत्येत्य 'अपश्वेत पदा' इत्येताभ्यां ऋग्भ्यां उदकुम्भेन अन्तरतोऽगारं निवेशनं वा परिषिच्य ब्राह्मणान् युग्मान् भोजयते स्थालीपाकशेषादिभिः॥ १२॥

इति श्रीहरदत्तविरचितयां गृह्यवृत्तावनाकुलायामष्टादशः खण्डः॥ १८॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ उत्तरैर्मन्त्रैः 'तक्षक वैशालेय' इत्यादिभि[1]रष्टादशभिः मान्त्रवर्णिकीं बलिदेवतामुपतिष्ठते। तत्र च 'ओजस्विनो नामासि' इत्यादिषु चतुर्षु पर्यायेषु दशभ्यः पदेभ्य ऊर्ध्वं रक्षिता यक्ष्माधिपतिः' इत्यादेरनुषङ्गः। तथा 'हेतयो नाम स्थ' इत्यादिष्वपि पञ्चस्वेकादशभ्य ऊर्ध्वं 'वातनामं तेभ्यो वो नमः' इति तत्पूर्वस्या एव बलिहरणार्थाया ऋचः उत्तरभागस्योत्मर्जनार्थः सन्नामः। वक्ष्यति हि तत्र 'अहार्षमिति बलिमन्त्रस्य सन्नामः' (आप.गृ. १८-४) इति। अथ न्युप्तं बलिमद्भिः परिषिच्य तमप्रवीक्षमाणः तूष्णीं वाग्यतो गृहान्प्रत्येत्य 'अप श्वेत पदा' इत्येताभ्यामित्यादि यथासूत्रं करोति। तत्रापि ब्राह्मणभोजनवचनं क्रमार्थम्। उपनयनवद्भुक्तवद्भिराशीर्वचनम्॥ १२॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचते गृह्यतात्पर्यदर्शने अष्टादशः खण्डः॥

---

१. ख-भिः पञ्चभिः। ख-ग-ङ—भिः पञ्चदशभिः।

अथैकोनविंशः खण्डः

धानाः कुमारान् प्राशयन्ति ॥ १ ॥

अनु०—बलिहरण से बचे हुए धान को बालकों को खिलावे ॥ १ ॥

टि०—कुछ लोगों का मत है कि दोनों ही कालों में बलिहरण होना चाहिए। आश्वलायन ने इसे स्पष्ट कर दिया है "सर्वदेवजनेभ्यस्स्वाहेति सायं प्रातर्बलिं हरेदाप्रत्यवरोहणात्" २. १. १४। प्रथम बलिहरण में द्रव्य वे ही होते हैं जिनका पहले निर्देश किया गया है। बाद के बलिहरण में द्रव्य के विषय में विकल्प हो सकता है। दोनों समय बलिहरण के नियम के विषय में आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ही कहा गया है 'कालयोभजनम्' ॥ १ ॥

अनाकुला

बलिहरणशिष्टाः धानाः कुमारान् प्राशयन्ति ये प्राशने समर्थाः। कुमारीणामपि प्राशनमेकशेषनिर्देशात् ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

धानाः या बलिहरणशिष्टाः कुमारान् प्राशयन्ति। के ? शिष्टास्सामर्थ्यात् ॥१॥

*एवमत ऊर्ध्वं यदशनीयस्य सक्तूनां वैतं बलिं हरेदामार्गशीर्ष्याः ॥ २ ॥

अनु०—इसके बाद भी जिस किसी भोज्य पदार्थ की अथवा सक्तु की बलि इसी विधि से मार्गशीर्ष की पौर्णमासी तक अर्पित करे ॥ २ ॥

अनाकुला

यदिदं बलिहरणं वाग्यतस्संभारानादायेत्याद्यप्रतीक्षमाणस्तूष्णीमित्येतदन्तं (आप.गृ.१८-१८-१७) तदस्मात् कर्मण ऊर्ध्वमामार्गशीर्ष्याः पर्वणश्चतुर्षु मासेषु यदशनीयस्यान्नविशेषस्य सक्तूनां वाऽहरहः कर्तव्यम्। यद्यदन्नमशनार्थं गृहे क्रियते तदशनीयम्। अगारपरिषेचनादिस्तु स्थालीपाकस्यैव शेषः, न बलेः। तेनैतदिह विधीयते। यद्यप्याञ्जनादीन्यलङ्करणार्थानि नाभ्यवहार्याणि तथापि "तासूत्तरया सक्तून् निवपति। तूष्णीं संपृक्ताः धाना" इत्यादि सर्वेषां तुल्या चोदना। मन्त्रे च तुल्यवदभिधानं तेभ्य इमं बलिं हरिष्यामि इति। तस्मात्

---

* एतत्प्रभृति सूत्रचतुष्टयं हरदत्तमते एकसूत्रमिति 'ख' पुस्तके। 'क' पुस्तके यद्यपि प्रथमत एकत्वेन पठितं परन्तु पुनस्तत्र तत्र व्याख्यानावसरे पृथक् पृथगपि लिखितम्।

सप्तापि बलिद्रव्याणि। तेषां सर्वेषामयं प्रत्याम्नायो नादितस्त्रयाणामेव। अपां तु न भवति, चोदनाभेदात्। उपनिनीय परिषिच्येति। एवंशब्दः कालविधानार्थः। यथात्रास्तमिते बलिहरणं, एवमत ऊर्ध्वमप्यस्तमिते कर्तव्यमिति। एतंशब्दस्तु धर्मविधानार्थः। एतं बलिमेवंधर्मकमिति। नाचन्यतरेणैवोभयसिद्धिः। यदि ह्येवंशब्द उभयार्थस्स्यात् रात्रौ पार्वणः प्राप्नोति। कथम्? रात्रावाग्नेयस्थालीपाक उत्पन्नः एवमत ऊर्ध्वमिति पार्वणः। तथा यद्येतच्छब्द उभयार्थस्स्यात् "परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्ध्वं एतत्कार्य"मिति रात्रावपचितिः प्राप्नोति; समावर्तने रात्रावुत्पन्नत्वादपचितेः। तस्मादुभयार्थमुभयं वक्तव्यम्। एवं ताव त् रात्रौ सकृद्बलिहरणमिति।

अपर आह—उभयोः कालयोः बलिहरणमिति। कथम्? यदशनीयस्येति वचनात् यद्यदन्नमशनार्थं यदा क्रियते तस्य तस्य तदा कर्तव्यमिति हि तस्यार्थः। 'द्वयोश्च कालयोरशनम्, कालयोर्भोजनमिति वचनात्। ततश्च यदा गृहमेधिनो यदशनीयस्य होमा बलयश्चेत्युत्पन्नस्य वैश्वदेवस्य द्वयोः कालयोः प्रवृत्तिः एवमस्यापि। स्पष्टञ्चैतदाश्वलायनके "सर्पदेवजनेभ्यस्स्वाहेति सायं प्रातर्बलिं हरेदा प्रत्यवरोहणात्" (आश्व२-१-१४.) इति। अस्मिन् पक्ष एवंशब्द उत्तरार्थः। अत ऊर्ध्वमिति वचनमस्मिन् प्रथमे बलिहरणे द्रव्यविकल्पो मा विज्ञायीति। आमार्गशीर्ष्या इति बलिहरणस्यावसानकालोपदेशः। यद्येवं नार्थ एतेन। अत्रैनमुत्सृजतीति (आप.गृ.१९-५.) वक्ष्यति। प्रयोजनमस्य तत्रैव वक्ष्यामः ॥२॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत ऊर्ध्वं अस्माच्छ्रावण्यां कृतात्कर्मण ऊर्ध्वम्। आमार्गशीर्ष्याः यावन्मार्गशीर्षीं यावदुत्सर्जनं तावदित्यर्थः। एतमनन्तरचोदितं सक्तूनां सम्बन्धिनं बलिम्। एवं 'सम्भारानादाय वाग्यतः प्राचोमुदोचीं वा' इत्यादि 'अप्रतीक्षस्तूष्णीमेत्य' (आप.गृ.१८-१०···१२) इत्येवमन्तेतिकर्तव्यताकमहरहः सायङ्काले बलिं हरेत्। यदशनीयस्य वा सम्बन्धिनमिति वाशब्दस्य व्यवहितेन सम्बन्धः, यदशनीयस्येत्यस्य पदस्य धानादीनां निवृत्त्यर्थत्वात्। अगारपरिषेचनादिकं तु स्थालीपाकस्यैव शेषो न बलिहरणस्य, भिन्नदेवत्वात्।

केचित्—उभयोः कालयोर्बलिहरणम्, यदशनीयस्येति वचनात्, वैश्वदेववत् अशनस्य च 'कालयोर्भोजनम्' (आप.ध.२-१-२) इति वचनेनोभयकालिकत्वात्, 'सायं प्रातर्बलिं हरेदा प्रत्यवरोहणात्' (आश्व.२-१-१५.) इत्याश्वलायनवचनाच्च। तथा एतमितिशब्दस्यैव अपेक्षितकृत्स्नधर्मप्रापकत्वात् एव-

---

१. ग. उभयोश्च.

मिति शब्द उत्तरसूत्रार्थ इति । तन्न; समभिव्याहृतसकलपदानां सम्भूयैकार्थ-[1]प्रत्ययविरोधात् ॥ २ ॥

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकः ॥ ३ ॥

अनु०—मार्गशीर्ष की पौर्णमासी के दिन सूर्य के अस्त हो जाने पर पहले की तरह ही स्थालीपाक अर्पित किया जाता है ॥ ३ ॥

टि०—जिस प्रकार श्रावण मास की पौर्णमासी को कर्म किया गया था, उसी प्रकार मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को भी कर्म किया जाता है। इस सूत्र में 'अस्तमिते' कह कर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि यह कर्म दिन में नहीं किया जाता है ॥ ३ ॥

अनाकुला

श्रावण्यां पौर्णमास्यामित्यनेनैतत् व्याख्यातम्। एवंशब्दश्चात्रानुवर्तते। यथेदं श्रावण्यां कर्म कृतं एवं मार्गशीर्ष्यामपीति। तेन 'पार्वणवदाज्यभागान्त' इत्यादेः धानाः 'कुमारान् प्राशयन्तो'त्यन्तस्य कृत्स्नस्य कल्पस्यात्र प्रवृत्तिः। एतावन्नाना मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहेति स्थालीपाकस्य होमः। [2]श्रावण्यां पौर्णमास्यां इति प्रकृते पुनः पौर्णमास्यामित्युच्यते ज्ञापनार्थम्, तत्पौर्णमासीग्रहण-मस्मिन् प्रकरणे नानुवर्तते इति। तेन पूर्वसूत्रे आमार्गशीर्ष्यां इति कर्मावधित्वेन न गृह्यते। यत्तत्र चोदितमनेन सूत्रेण न कालः, तेन मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्या-महनि यदशनीयस्य बलिहरणं भवति। कालवाचित्वे तु न प्राप्नोति यदि च मर्यादायामाकारः। अथ त्वभिविधौ, अस्तमितेऽपि यदशनीयं तस्यैव प्राप्नोति। इष्यते चास्तमिते स्थालीपाककर्मणि सर्पभिद्र्व्यैर्बलिहरणमहनि च यदशनी-यस्य। तस्मात् पूर्वत्र कर्मव्यपदेशो यथा स्यात्, कालस्य व्यपदेशो मा भूदिति पौर्णमास्यामिति विशेषणम्। एवञ्च यदशनीयवचनेनोभयोः कालयोर्बलिहरण-मिति यदुक्तं तदेव स्थितं भवति। अस्तमित इत्युच्यते—अहनि मा भूदिति। एवमित्यस्य धर्मप्रापणे कालविधौ चोभयत्र शक्तिर्नास्तीत्युक्तम् ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

साकाङ्क्षत्वादेवंशब्दोऽनुवर्तते। यथा श्रावण्यां स्थालीपाकः कृतः, एवं मार्गशीर्ष्यामप्यस्तमिते कर्तव्यः। पत्न्यवहन्तीत्यादि धानाप्राशनान्तं कृत्स्नं कर्मा-नुष्ठेयमित्यर्थः। स्थालीपाकहोमे तु 'मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहे'ति विशेषः ॥३॥

अहार्षमिति बलिमन्त्रस्य सन्नामः ॥ ४ ॥

---

१. घ—र्थप्रत्युत्पत्ति,

२. ङ श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहेति प्रकृते.

अनु०—बलिहरण के मन्त्र में 'हरिष्यामि' के स्थान पर 'अहार्षम्' (मैंने बलिहरण किया है) रख कर उच्चारण करे ॥ ४ ॥

टि०—बलि का उपक्रम करते समय मन्त्र के साथ हरिष्यामि का प्रयोग किया गया था, किन्तु उत्सर्ग के समय 'अहार्षम्' का प्रयोग किया जाता है। यह उत्सर्ग सदा के लिए नहीं होता। क्योंकि यह कर्म प्रति संवत्सर किया जाता है॥ ४ ॥

अनाकुला

सन्नामः ऊहः—हरिष्यामीत्यस्य स्थाने अहार्षमिति। यद्यप्ययं सन्नामस्तस्मिन्नेव मन्त्रे पठितः तथाप्यसत्यस्मिन् वचने बलिहरणमन्त्रे चतुर्थपादस्य पृथग्विनियोगाभावात् चतुष्पादा सा विज्ञायेत। तस्मात् सन्नामविधिरारभ्यते। त्रिपदैव सा तस्या एव तृतीयस्य पादस्य सन्नामोऽयमुत्तमः पठितः तस्यैव विनियोगकालो न प्रागिति।

किञ्च कृत्स्नमेवैतत् कर्म धानाप्राशनान्तं स्थालीपाकशब्देन गृह्यते। एतच्च दर्शितं भवति। बलिहरणस्योत्तरसूत्रे प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उक्तार्थमेतत् ॥ ४ ॥

अत्रैनमुत्सृजति ॥ ५ ॥

अनु०—उसके बाद बलिहरण न करे ॥ ५ ॥

अनाकुला

अत्र मार्गशीर्षसंज्ञके कर्मण्येनं बलिमुत्सृजति। एवमित्यनेन वचनेन श्रावणीविधानस्य कृत्स्नस्यातिदिष्टत्वादस्यापि स्थालीपाकस्य शेषत्वेन बलिहरणप्राप्तिः। तत्र श्रावण्यामित्यवधिः कल्पेत। तस्मात् मार्गशीर्षशेषस्य अहार्षमित्येव विधिः। शिष्टस्य बलेः प्रतिषेधार्थमिदम्। आमार्गशीर्ष्या इत्येतत्तु श्रावणशेषस्य बलेरवसानविधानार्थम् ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्रास्मिन्नुत्सर्जने कृते, एनमहरहः क्रियमाणं बलिमुत्सृजति। न चायमात्यन्तिक उत्सर्गः, नित्यत्वेन सर्वबलेस्संवत्सरे संवत्सरे कर्तव्यत्वात् ॥ ५ ॥

यस्मिन् कर्मण्युत्तरस्य यजुषो विनियोगस्तदाह—

***अनाहिताग्नेराग्रयणम् ॥ ६ ॥**

अनु०—अब उनके लिए, जिन्होंने श्रौत अग्नि का आधान नहीं किया है, आग्रयण (प्रथम फलों से अंश ग्रहण करने के) कर्म का विधान बताते हैं ॥ ६ ॥

---

* 'ख' पुस्तकानुसारेण सूत्रद्वयमिदमेकसूत्रं हरदत्तमते।

टि०—इस कर्म को आग्रयण कर्म कहा जाता है, इससे नवान्नप्राशन होता है। इस कर्म को करने के बाद ही नये अन्न को ग्रहण किया जा सकता है "यत्कर्म कृत्वैव वाग्रयणं प्रथमायनं नवान्नप्राशनप्राप्तिभर्वति" ॥ ६ ॥

अनाकुला

एतिरत्र प्राशनार्थः। अग्रे प्रथमे अयनं यत्र तत् आग्रयणम्। अग्रायणमिति प्राप्ते छान्दसो दीर्घव्यत्ययः। तत् कर्म वक्ष्यते—तत्र अनाहिताग्निग्रहणमाहिताग्नेरौपासनवतः श्रौतेनाग्रयणेन सह समुच्चयप्रतिषेधार्थम्। तेन पार्वणादिषु समुच्चयो भवति। तत्र स्मार्तस्य करणेऽभ्युदयः। अकरणे न प्रत्यवायः। आग्रयणमिति नाम्ना श्रौताग्रयणस्य धर्माः प्राप्यन्ते। नानिष्ट्वाग्रयणेनाहिताग्निर्नवस्याश्नीयादिति। (आप.श्रौ.६–२९–२.) वर्षासु श्यामाकैर्यजेत, शरदि व्रीहिभिः, वसन्ते यवैः, यथर्तु वेणुयवैरिति च ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

उपदिश्यत इति शेषः। अत्रानाहिताग्नेर्ग्रहणं सर्वाधानिनोऽप्याहिताग्नेर्नेदं स्मार्तमाग्रयणं श्रौतेन समुच्चेतव्यमित्यर्थम्। औपासनहोमादेस्तु अग्निहोत्रहोमादिना समुच्चय एव। पिण्डपितृयज्ञो मासिश्राद्धं च आहिताग्नयनाहिताग्नयोरुभयोरपि समुच्चेतव्ये। 'सोऽयमेवंविहित एवानाहिताग्नेरौपासने' (आप. श्रौ.६.२८.) इति वचनात्,

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ (म.स्मृ.३–१२२)

इति मनुवचनाच्च। सर्वाधानिनोऽपि मासिश्राद्धं होमवर्जं कर्तव्यमेव। उपदेशमतं तु—सशेषाधानिनश्चाहिताग्नेः पार्वणयोरौपासनहोमस्य च निवृत्तिः; दर्शपूर्णमासाभ्यामग्निहोत्रेण च कृतार्थत्वात्, कालैक्येन विरोधाच्चेति।

आग्रयणमिति कर्मनामधेयम्, येन कर्मणा अग्रे नवद्रव्यं देवान् प्रापयतीति। यत्कर्म कृत्वैव वाग्रयणे प्राथमायने नवान्नप्राशनप्राप्तिर्भवतीति ॥ ६ ॥

नवानां स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यो हुत्वा तण्डुलानां मुखं पूरयित्वा गीर्त्वाचम्यौदनपिण्डं संवृत्योत्तरेण यजुषागारस्तूप उद्विद्धेत् ॥ ७ ॥

अनु०—नये अन्नों का स्थालीपाक बनाकर उसे (श्रौत) आग्रयण यज्ञ के देवों को, चौथे स्थान पर स्विष्टकृत् देवता को रखते हुए, हवन करे। मुँह में हवन से शेष बचे स्थालीपाक को मुख में भरकर फिर उन्हें निगले, जल से आचमन करे; उबाले

गये स्थालीपाक के अन्न का लड्डू बनाकर मकान के ऊपर अगले यजुस् मन्त्र 'परमेष्ठ्यसि' का पाठ करते हुए फेंके ॥ ७ ॥

टि०—'तण्डुलानां मुखं पूरयति' से चावल के बने हुए पुलाक से तात्पर्य है। शेष हवि को ग्रहण कर पुलाक को भरने का अर्थ समझना चाहिए। दूसरे लोग शुद्ध ओदन को ही ग्रहण करते हैं और इस नियम से आदनपिण्ड बनाने का निर्देश करते हैं। चारों आहुतियों में पहली आहुति 'इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा, अग्नीन्द्राभ्यां वा स्वाहा'। दूसरी आहुति 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा'। तीसरी आहुति 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा'। अग्नि इस कर्म में प्रधान देवता नहीं होता ॥ ७ ॥

अनाकुला

नवानां व्रीहीणां यवानां वा औपासने श्रपयित्वा प्रतिष्ठितमभिघार्याग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य तूष्णीं समन्तं परिषिच्य दर्वीं संमृज्य स्थालीपाकादुपघातं चतस्र आहुतीर्जुहोत्याग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यः—इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा। अग्नीन्द्राभ्यामिति वा। ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यः, ततो द्यावापृथिवीभ्यां, अग्नये स्विष्टकृत इति। पूर्ववत् परिषेचनम्। एतावदेव कर्म नान्यत् किञ्चित्, प्रापकाभावात्। केचित् सर्वं कुर्वन्ति। ततः तण्डुलानां मुखं पूरयति। अत्र तण्डुलशब्दः ओदनावयवेषु पुलाकेषु वर्तते। यथा मेक्षणे तण्डुला इत्यत्र। तेन हविषश्शेषादवयवेषु पूरणम्। अन्ये शुद्धानेव तण्डुलानिच्छन्ति। तान् गीर्त्वा भक्षयित्वाऽऽचम्य तत ओदनपिण्डं संवर्तयति प्रयत्नेन सम्पादयति। यथा स्तूपे उद्विध्यमानो न संशीर्यति तथा संवर्त्य तमगारस्तूपे उद्विध्येत्—उत्तरेण यजुषा 'परमेष्ठ्यसी' त्यनेन ऊर्ध्वं विध्येत् यथा स्तूपे निपतति। स्तूपः पृष्ठवंशः। विद्धेदित्यपपाठः, छान्दसो वा। आग्रयणवचनादेव विद्धे नवानामिति वचनमनाहिताग्नेर्नवानां स्थालीपाक एव यथा स्यात्। अन्ये कल्पा श्रौतदृष्टा मा भूवन्निति। स्विष्टकृच्चतुर्थवचनं सोमनिवृत्त्यर्थम्। तेन श्यामाकानां वेणुयवानां चाग्रयणं अनाहिताग्नेर्भवति ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

नवानां व्रीहीणां यवानां वा सम्बन्धिनां पत्न्यवहन्तीत्यादिविधिना स्थालीपाकमेव [1]श्रपयित्वाग्नेरुपसमाधानाद्यग्निमुखान्ते कृते आग्रयणप्रधानदेवताभ्यः श्रौते चोदिताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थो यासां ताभ्यो जुहोति। तत्र प्रथममिन्द्राग्निभ्यां अग्नीन्द्राभ्यां वा स्वाहेति जुहोति। ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्स्वाहेति। ततश्च द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेति। सर्वत्र च स्वेनैवावदानधर्मेण। अथ लेपयोरित्यादितन्त्रशेषसमाप्तिः।

---

१. क. ख—मेवमेव. ङ—मेव-नास्ति।

ननु—श्रौते 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति पुराणानां व्रीहीणां' इत्यग्निः प्रथमदेवता। तत्कथमिन्द्राग्निभ्यामग्नीन्द्राभ्यां वा प्रथमाहुतिः ? सत्यं; स तु तत्राग्निरङ्गदेवता, न प्रधानदेवता; आग्रयणदेवताभ्य इति च प्रधानदेवतानामेव सम्प्रत्ययः; अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। अप्राधान्यं चाग्नेः 'आग्रयणं भवति हुताद्याय' इत्यत्रैन्द्राग्न्यादनीमेवोपदेशात् ऐन्द्राग्नस्य मुख्यप्रधानत्वे चामावास्यातन्त्रमिति तन्त्रनियमस्योपपत्तेः, 'दशहविषां द्वे स्विष्टकृतः' इत्यत्राग्नेययोर्याज्यानुवाक्ययोरभावाच्च।

अत्र च स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्य इति वचनं श्रौतवदिह व्रीह्याग्रयणेन श्यामाकाग्रयणस्य पाक्षिकी समानतन्त्रता मा भूदित्येवमर्थम्। तेनानाहिताग्नीनां नानातन्त्रमेव वर्षासु पर्वणि सोमाय श्यामाकाग्रयणं कर्तव्यम्, द्रव्यदेवताकालानामनुक्तानामप्याग्रयणनामधेयादवगतानां आकाङ्क्षितानां स्वीकारे विरोधाभावात्। अत एव न्यायाच्छरदि व्रीहीणामाग्रयणं वसन्ते च यवानां पर्वण्येव।

केचित्—स्विष्टकृच्चतुर्थवचनादनाहिताग्नेः श्यामाकादीनां [1]वेणुयवानां चाग्रयणमेव न भवतीति। तन्न; अकृताग्रयणस्य नवश्यामाकाद्यशनाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, स्विष्टकृच्चतुर्थवचनस्योक्तार्थत्वाच्च।

ततस्तन्त्रशेषे समाप्ते तण्डुलानां मुखमास्यं पूरयति। तण्डुलाश्चाशृताः, प्रसिद्धत्वात्। शृता इत्यपरे। 'ये मेक्षणे तण्डुलाः' इति दर्शनात्।

शृतपक्षे हुतशेषात्प्रतिपत्त्यपेक्षादुपादाय मुखपूरणम्। ततो निगीर्य तण्डुलानाचामति अपस्सकृत् पिबतीत्यर्थः। कर्माङ्गतया चेदमाचमनविधानं, प्रकरणात्। शुद्ध्यर्थाचमनमपि 'आसीनस्त्रिराचामेत्' (आप.ध.१.१६.२) इत्याद्यनेकपदार्थान्वितं शास्त्रान्तरप्राप्तं कर्तव्यमेव। तत ओदनेन हुतशेषेण पिण्डं संवर्तयति यथा उद्विध्यमानो न शीर्यति तथा सुदृढं करोति। ततस्तं पिण्डमुत्तरेण यजुषा 'परमेष्ठ्यसि' इत्यनेन उद्विद्धेत् ऊर्ध्वं विक्षिपेत्। यथागारस्तूपे पृष्ठवंशे पतति तथा विद्धेत्। यकारलोपश्छान्दसः॥ ७॥

*हेमन्तप्रत्यरोहणम् ॥ ८ ॥

---

१. ख—वेणु इति नास्ति.

* 'ख' पुस्तकानुसारेण–हेमन्त··· रुह्य ॥ उत्तरैर्दक्षि°° विशन्ति ॥ इति सूत्रद्वयरूपेण छेदः। 'क' 'ङ' पुस्तकानुसारेण–'हेम—णम् ॥ उत्तरेण··· रुह्य। उत्तर विशन्ति ॥ इति सूत्रत्रयात्मकतया छेदो हरदत्तमते। ग.घ.पुस्तकयोस्तु 'हेमन्तेत्यादिसंविशन्ति' इत्यन्तमेकं सूत्रम्।

उत्तरेण यजुषा प्रत्यवरुह्योत्तरैर्दक्षिणैः पार्श्वैर्नवस्वस्तरे संविशन्ति ॥ ९ ॥

अनु०—अब हेमन्त ऋतु में चारपाई पर सोना छोड़कर (पुआल आदि बिछाकर) भूमि पर सोना आरम्भ करने की विधि बताते हैं ॥ ८ ॥

अनु०—'प्रतिक्षत्र' आदि पांच मन्त्रों से चारपाई से उतर कर नये पलाश से बनाये गये बिस्तर पर दाहिनी करवट सोये ॥ ९ ॥

टि०—हेमन्तप्रत्यवरोहण कर्म प्रति संवत्सर होता है। यह कर्म है चारपाई छोड़कर भूमि पर पुआल बिछाकर सोने का कर्म। जिस रात्रि में शरद् समाप्त होता है और हेमन्त आरम्भ होता है उसी रात को यह कर्म किया जाता है। किन्तु कुछ लोगों ने यह समय मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को सूर्यास्त होने के बाद का समय निर्धारित किया है। इस अवसर पर स्थालीपाक होम का विधान किया गया है ॥ ८ ॥

अनाकुला

हेमन्तप्रत्यवरोहणं नाम कर्म नित्यं संवत्सरे संवत्सरे कर्तव्यम्, तदुपदिश्यते—हेमन्ते प्राप्ते खट्वां विहाय पलालस्वस्तरे शेते। हेमन्तं ऋतुं प्रति खट्वाया अवरोहणं हेमन्तप्रत्यवरोहणं, तदुत्तरेण यजुषा कर्तव्यं 'प्रत्यवरूढो नो हेमन्त' इत्यनेन। कः पुनरस्य कालः? यस्यां व्युष्टायां हेमन्तः प्रवर्तते शरन्निवर्तते, सा रात्रिरस्य कालः।

(अपर आह-मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकान्ते प्रत्यवरोहणं, नाम सर्वेषां प्रसिद्धत्वादिति। अन्ये—मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामित्यनुवर्तयन्ति।)

तत्र प्रत्यवरुह्य तत उत्तरैर्मन्त्रैः 'प्रतिक्षत्र' इत्यादिभिः पञ्चभिः नवस्वस्तरे नवैः पलाशैः कल्पिते शयनीये दक्षिणैः पार्श्वैः दक्षिणानि पार्श्वान्यधः कृत्वा संविशन्ति शेरते। गृहमेधिनः अमात्याश्च पुत्रादयः कुमार्यश्चाप्रत्ताः। नित्यस्यैव संवेशनस्य नियमविधिरयम्—निशायां यत्संवेशनं स्वप्नार्थं तदस्यां निशायामेव। प्रत्यवरोहणमन्त्रोऽपि तस्मिन्नेव काले वक्तव्यः ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यस्मिन् कर्मणि हेमान्ते खट्वातः प्रत्यवरोहणं तद्धेमन्तप्रत्यवरोहणं नाम कर्मोपदिश्यत इति शेषः। अस्मादेव च यौगिकान्नामधेयात् 'प्रत्यवरूढो नो हेमन्तः' इति मन्त्रलिङ्गाच्चेदं कर्म हेमन्ते प्रथमायां रात्रौ कर्तव्यमिति विधिः कल्प्यते।

() एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागः 'क' 'ख' 'ङ' पुस्तकेषु नास्ति।

केचित्। 'मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामस्तमिते' (आप.गृ.१९-३) इत्यनुवर्तनात्तत्रेदं कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

उत्तरेण यजुषा 'प्रत्यवरूढो नो हेमन्तः'इत्यनेन गृहस्थः पत्न्यादयश्च नवस्वस्तरे आरुह्य खट्वातो हेमन्ते प्रत्यवरोहन्ति यावद्धेमन्तस्तावत्खट्वां शय्यां विमुच्य[1]नवस्वस्तर एव शयीमहीति बुद्धिं कुर्वन्तीत्यर्थः। न पुनः पूर्वमदृष्टार्थं खट्वामारुह्य मन्त्रेण स्वस्तरे प्रत्यवरोहन्तीति। अनन्तरमुत्तरैर्मन्त्रैः 'प्रतिक्षत्रे' इत्यादिभिः प्रथमैः पञ्चभिः। नवस्वस्तरे नवैः पलाशैः कल्पिते शयनीये दक्षिणैः पार्श्वैः दक्षिणानि पार्श्वान्यधः कृत्वा प्राक्छिरसः संविशन्ति ॥९॥

पुनरपि सूत्रद्वयेन संवेशनमेव विशिनष्टि—

*दक्षिणतः पितोत्तरा मातैवमवशिष्टानां ज्येष्ठो ज्येष्ठोऽनन्तरः ॥ १० ॥

अनु०—पिता दक्षिण की ओर सोवे और माता उत्तर की ओर और इसी प्रकार और लोगों में ज्येष्ठ दक्षिण की ओर और कनिष्ठ उत्तर की ओर क्रमशः सोवे ॥१०॥

टि०—अन्य लोगों के सोने का क्रम इस प्रकार है। सबसे ज्येष्ठ पुत्र या पुत्री पिता की दक्षिण ओर हो, उसके बाद वाला माता की उत्तर ओर हो, तीसरा पुत्र या पुत्री पहले की दक्षिण ओर हो, चौथा दूसरे के उत्तर हो, कुछ लोग माता के उत्तर ओर ही सोने का विधान करते हैं ॥ १० ॥

अनाकुला

तेषां संविशतां यः पिता स दक्षिणश्शेते माता सोत्तरा। तयोरन्योन्यापेक्षं दक्षिणोत्तरत्वं "सामात्यः प्राक्शिरा उदङ्मुखः" (आश्व.गृ.२-३-६) इत्याश्वलायनः। "मन्त्रविदो मन्त्रान् जपेयुः" (आश्व. गृ.२-३-९) इति च ॥ ९ ॥

अवशिष्टा अमात्यास्तेषां यो यो ज्येष्ठः कुमारः कुमारी वा स पितुर्दक्षिणतः तदनन्तरो मातुरुत्तरतः। तृतीयः प्रथमस्य दक्षिणतः। चतुर्थो द्वितीयस्योत्तरत इत्यादि। अन्ये [2]मातुरेवोत्तरतोऽनुज्येष्ठं संवेशनमिच्छन्ति। सर्वे प्राक्शिरसः उदङ्मुखाः मन्त्रविदश्च मन्त्रान् जपेयुः। अनन्तरवचनं संश्लेषार्थम् ॥ १० ॥

---

१ ख—नवस्वस्तरमेव संविशे।

* दक्षिणः पितोत्तरा माता ॥ अवशिष्टानां ज्येष्ठा ज्येष्ठाऽनन्तरः ॥ संहायोत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति ॥ एवं संवेशनादि त्रिः ॥ इति 'ग' 'घ' पुस्तकयोः पाठः। 'क' 'ख' 'ङ' पुस्तकेषु तु—दक्षिणः ··संहाय ॥ उत्तराभ्यां···नादि त्रिः ॥ इति छेदो दृश्यते ॥

२ 'ङ'पितुरेव।

तात्पर्यदर्शनम्

दक्षिणतः पितोत्तरा मातेति दक्षिणोत्तरत्वमन्योन्यापेक्षम्। अवशिष्टाना पुत्रादीनां मध्ये यो यो ज्येष्ठः पुत्रो दुहिता वा स स दक्षिणोऽनन्तरश्च, यो यः-कनीयान् स स उत्तरोऽनन्तरश्चः, एवमित्यतिदेशात्। एतदुक्तं भवति-यस्सर्वज्येष्ठस्स मातुरुत्तरोऽनन्तरः; यो द्वितीयो ज्येष्ठस्स सर्वज्येष्ठस्य उत्तरोऽनन्तर इत्यादि।

केचित्—सर्वज्येष्ठः पितुर्दक्षिणस्तदनन्तरज्येष्ठो मातुरुत्तर इत्यादीति ॥१०॥

सँहायोत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति ॥ ११ ॥

अनु०—उठने के बाद अगले दो मन्त्रों 'स्योना पृथिवि' 'बहित्था' आदि दो मंत्रों से पृथ्वी का स्पर्श करे ॥ ११ ॥

अनाकुला

एवं च संविश्य किञ्चत् सुप्त्वा संहाय सम्पूर्वो जहातिः शयनादुत्थायासने दृष्टः, 'कलिश्शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापर' इति। (ऐतरेय ब्रा. पं. ७.) उत्थायाचम्योत्तराभ्यां ऋग्भ्यां 'स्योना पृथिवि' 'बडित्थे' त्येताभ्यां पृथिवीमभिमृशेयुः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

संहाय सङ्गता एव शयित्वा, न पुनः पृथक्पृथक्। ततस्स्वस्तरादवरुह्य उत्तराभ्यामृग्भ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति। अत्र च मन्त्रोच्चारणयोग्यानामेव, न त्वमन्त्रवतामपि वचनम्॥ ११ ॥

एवं संवशनादि त्रिः ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार सोने का कार्य तीन बार किया जाता है ॥ १२ ॥

टि०—मन्त्रों के साथ तीन बार यह कर्म करे। आश्वलायन गृह्यसूत्र में दूसरे दिन उठकर सूर्य-सम्बन्धी स्वस्त्ययन और जप करने तथा ब्राह्मणों को भोजन कराने का भी नियम है। 'उदित आदित्ये सौर्याणि स्वस्त्ययनानि च जपित्वान्नं संस्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयित्वा'।

यह कर्म उदगयन में ही पूर्व पक्ष में शुभ दिन को किया जाता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी इस कर्म के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन कराने का विधान है।

अनाकुला

एवं संवेशनं संहायाभिमर्शनं च मन्त्रवत् त्रिरावर्तनीयमित्यर्थः। प्रत्यवरोहणं तु सकृदेव। "उदित आदित्ये सौर्याणि स्वस्त्ययनानि च जपित्वाऽन्नं

संस्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयित्वे" (आश्व. गृ. ४-६-१८) त्याश्वलायनः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एवमेतत्संवेशनादि समन्त्रकमेव त्रिरावर्तनीयम् । कथं पुनः उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु कार्याणि (आप. गृ. १-२) इत्यहःपुण्याहविधाने सति, तद्विरुद्धरात्राविदं कर्तव्यमित्युपदिश्यते ? उच्यते-नैवात्र संवेशनं विधीयते, येनेदमह्नि पुण्याहे स्यात् । किं तर्हि ? यदेव रागप्राप्तं रात्रौ संवेशनं तदादृत्य मन्त्रा नियमाश्च विधीयन्ते; यथा रागप्राप्तं भोजनमाश्रित्य उपस्तरणप्राणाग्निहोत्रादयः । यथा वा 'पयस्वतीरोषधय इति पुरा बर्हिष आहर्तोर्जायापती अश्नीतः' (आप. श्रौ. ४ २-३.) इत्यादि । तेन रात्रावेवेदं कर्मेत्युपपन्नम् । अन्ते च ब्राह्मणभोजनम्-'शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २-१५-११) इति वचनात् ॥ १२ ॥

अथेशानबलिर्नाम नित्यः पाकयज्ञो मन्त्राम्नानक्रमप्राप्तो व्याख्यायते । तस्य च सामान्यविधिसिद्धोदगयनादिरेव कालः; इह सर्पबलिवत्कालविशेषस्यानुपदेशात् । ततश्च प्रतिसंवत्सरमिदं कर्म नावर्तनीयम्; 'सकृत्कृते कृतश्शास्त्रार्थः' इति न्यायात् ।

केचित्—शास्त्रान्तरात् प्रतिसंवत्सरमावृत्तिः सकृत्प्रयोगश्च विकल्प्यते । तथा शास्त्रान्तरादेव गवां शान्त्यर्थः पुत्रादिकामार्थश्च प्रयोगः प्रत्येतव्य इति ।

ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा क्षैत्रपत्यं च प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थण्डिलं कल्पयित्वाऽग्नेरुपसमाधानादि ॥ १३ ॥

अनु०—ईशान के लिए स्थालीपाक पकाकर तथा क्षेत्रपति के लिए स्थालीपाक करके पूर्व या उत्तर दिशा की ओर निकाल कर भूमि का उच्च पीठ बनाकर उस पर अग्नि के उपसमाधान आदि की क्रियाएं करे ॥ १३ ॥

टि०—ईशानबलि नित्य पाककर्म होता है । इसका भी समय उदगयन में ही होना चाहिए । सर्पबलि की तरह इसके लिए समय का निर्देश नहीं किया गया है । यह कर्म प्रतिवर्ष नहीं करना होता है । किन्तु कुछ आचार्य प्रति संवत्सर करने का नियम बताते हैं, फिर भी इस कर्म करने के विषय में यह विकल्प है कि इसे चाहे तो प्रतिवर्ष किया जाय अथवा केवल एक बार ॥ १३ ॥

अनाकुला

अथ इशानबलिर्नाम[1] पाकयज्ञो वक्ष्यते शूलगव इति यस्य प्रसिद्धिः ।

---

१. 'क०' स्थालीपाको. ।

गवालम्भनं च तत्र शाखान्तरे चोदितमस्माकं तु स्थालीपाक एव। एतावत् गोरालम्भस्थानमिति नियमात्। नित्यश्चायं पुरुषसंस्कारः न काम्यो नैमित्तिको वा। कामनिमित्तयोरश्रुतत्वात्। सकृच्च कर्तव्यः। कालसंयोगाभावात्। कालसंयोगे ह्यभ्यावृत्तिर्भवति। तस्य कालस्य पुनःपुनस्सम्बन्धात्। कः पुनरस्य कालः? शरदि वसन्ते वेति शाखान्तरम्। आर्द्रया कर्तव्यमिति च। उदगयनादिनियमश्चास्माकम्। तत्र फाल्गुने मासि पूर्वपक्षे अष्टम्यार्द्रया सम्पद्यते सोऽस्य मुख्यः कालः। तेन यक्ष्यमाणो गृहे स्थालीपाकं श्रपयति औपासने ईशानाय देवाय सङ्कल्पितमेकं, क्षेत्रपतये चापरम्। उद्वासनान्ते प्रतिष्ठिताभिघारणं कृत्वा ताभ्यामौपासनेन येन चान्येनार्थः तैस्सह प्राचीमुदीचीं वा दिशं ग्रामात् बहिरुपनिष्क्रम्य यत्र यक्ष्यमाणो भवति तत्र देवयजनाय देवगृहयोश्च पर्याप्तमेकं स्थण्डिलं कल्पयित्वा तस्य पूर्वार्धे अग्न्यायतनमुल्लिख्याग्निं प्रतिष्ठाप्योपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। द्वन्द्वं पात्राणि, परिधयः॥ १३॥

तात्पर्यदर्शनम्

'ईश ऐश्वर्ये' इति धात्वर्थस्मृतेः निरतिशयमैश्वर्यं यस्य स ईशानः प्रणवोपासनादिभिरुपास्यो महेश्वर इत्यर्थः। तस्मै ईशानाय स्थालीपाकं होमादिभ्यः पर्याप्तं पार्वणवदौपासने श्रपयित्वा, प्रतिष्ठिताभिघारणान्तं करोति।

केचित्—त्रीनोदनान् कल्पयित्वाग्निमभ्यानीय ततो बहिः प्रतिष्ठाप्य त्रयाणामभिघारणमिति।

तेन क्षेत्रपत्यं च स्थालीपाकं लौकिकाग्नौ श्रपयति, तस्यानग्नौ प्रदेयत्वात्। अथ यथार्थं सम्भारानादाय ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्याग्निकुट्यादिभ्योऽलं स्थण्डिलादि कल्पयित्वा, तस्मिन् 'यत्र क्वचाग्नि' (आ. ध. ३-१३) मिति विधिनाग्निं प्रतिष्ठाप्य, अग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। तन्त्रविधानं च क्रमार्थमित्युक्तमेव॥ १३॥

अपरेणाग्निं द्वे कुटी कृत्वा॥ १४॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकोनविंशः खण्डः॥

अनु०—अग्नि के पश्चिम में दो झोपड़ियाँ बनावे॥ १४॥

टि०—ईशानबलि को ही शूलगव भी कहते हैं। अन्य गृह्य में इस अवसर पर गो का आलंभन भी विहित है, किन्तु आपस्तम्बगृह्य के आचार्यों के मतानुसार इस कर्म में

केवल स्थालीपाक ही होना चाहिए। यह पुरुष का संस्कार है तथा काम्य या नैमित्तिक कर्म न होकर नित्य है। इसके समय के विषय में अन्य गृह्यों में शरद् या वसन्त ऋतु का समय माना गया है। फाल्गुन महीने के पूर्व पक्ष में अष्टमी को आर्द्रा नक्षत्र में इस कर्म को करने का मुख्य समय होता है। इस कर्म में औपासन अग्नि पर एक स्थालीपाक ईशान के लिए तथा दूसरा क्षेत्रपति के लिए बनावे। पात्र जोड़ों में होते हैं तथा शमी का प्रयोग न करके लकड़ी की परिधि का प्रयोग किया जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार क्षेत्रपति के लिए स्थालीपाक लौकिक अग्नि में बनाया जाता है ॥ १४ ॥

अनाकुला

तत अग्नेः पश्चात् द्वे कुटी करोति देवाय देव्यै च। प्रत्यग्द्वारे प्राग्द्वारे वा। दक्षिणोत्तरे उदगपवर्गः। तयोर्देवस्य देव्याश्च प्रतिकृती कृत्वा ॥ १४ ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायां
एकोनविंशः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अग्निमुखान्ते कृते अपरेणाग्निं द्वे कुटी प्राग्द्वारे उदगपवर्गे कृत्वा ॥ १४ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने
एकोनविंशः खण्डस्समाप्तः ॥

अथ विंशः खण्डः

* उत्तरया दक्षिणस्यामीशानमावाहयति ॥ १ ॥

अनु०—अगले मन्त्र 'आ त्वा वहन्तु' आदि द्वारा दक्षिण की ओर की झोपड़ी में ईशान का आह्वान करे ॥ १ ॥

अनाकुला

मध्ये जयतस्य प्रतिकृतिमाकाश एव कृत्वा दक्षिणस्यामीशानमावाहयति उत्तरयर्चा 'आ त्वा वहन्त्वि' त्येतया। अग्नेरुपसमाधानादेरत्युक्तत्वात् प्रधानाहुतीनां च वक्ष्यमाणत्वात् आज्यभागान्ते कुटीकरणमेव भवति ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथोत्तरया 'आ त्वा वहन्तु' इत्येतया दक्षिणस्यां कुट्यामीशानमावाहयति। '¹मूर्तिमानिहागच्छेति ध्यायेत् ॥ १ ॥

*लौकिक्या वाचोत्तरस्यां मीढुषीम् ॥ २ ॥

मध्ये जयन्तम् ॥ ३ ॥

अनु०—लौकिक वाणी से मीढुषी देवी का उत्तर वाली कुटी में आह्वान करे ॥ २ ॥

अनु०—दोनों कुटियों के बीच में जयन्त का आह्वान करे ॥ ३ ॥

अनाकुला

उत्तरस्यां लौकिक्या वाचा मीढुषीं देवीं आवाहयति। मध्ये जयन्तमावाहयति। लौकिक्या वाचा—आयाहि जयन्त, जयन्तमावाहयामीति वा। जयन्तः स्कन्दः। लौकिक्येत्यनुच्यमाने पूर्वेण मन्त्रेणावाहनं प्राप्नोति ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तथोत्तरस्यां कुट्यां लौकिक्या वाचा 'आयाहि मीढुषि' इति मीढुषीमीशानस्य पत्नीं आवाहयतीत्येव ॥ २ ॥

कुट्योर्मध्ये आकाशे जयन्तमिन्द्रसूनुं स्कन्दं वा 'आयाहि जयन्त' इत्यावाहयति। अत्र सूत्रे अनुक्तमप्यौचित्यादावाहितेभ्य आसनानि ददाति ॥ ३ ॥

---

* एतदादिसूत्रत्रयमेकं सूत्रं हरदत्तमते इति 'ख' 'ङ' पुस्तकयोः।

¹ ग. ख. मूर्तिमन्नि।

* इदं सूत्रद्वयमेकसूत्रं हरदत्तमते ग. घ. पुस्तकानुसारतः।

❀ यथोढमुदकानि प्रदाय त्रीनोदनान् कल्पयित्वाऽग्निमभ्यानीयोत्तरैरुपस्पर्शयित्वा उत्तरैर्यथास्वमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषाग्निं स्विष्टकृतम् ॥ ४ ॥

अनु०—उन्हें जिस क्रम में आहूत किया गया था उसी क्रम में जल दे, (ईशान के लिए बनाये गये स्थालीपाक के) भात में तीन भाग करके उन भागों को अग्नि के समीप लावे, आगे के तीन मन्त्रों 'उपस्पृशतु मीढ्वान' आदि द्वारा तीनों देवों से स्पर्श करावे और आगे के ('भवाय देवाय' आदि आठ मन्त्रों से ईशान को, 'भवस्य देवस्य पत्नै' आदि आठ मन्त्रों से मीढुषी देवी के लिए तथा 'जयन्ताय स्वाहा' द्वारा जयन्त के लिए) सत्रह मन्त्रों द्वारा उपर्युक्त तीन देवों के लिए स्थालीपाक के अंश का हवन करे। सभी विभागों में से अवदान निकाल कर अगले यजुस् मन्त्र 'अग्नये स्विष्टकृते सुहुत' आदि द्वारा अग्नि स्विष्टकृत के लिए हवन करे ॥ ४ ॥

टि०— अर्घ्य होने के कारण वह फूल और अक्षत से युक्त होगा। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप से पूजा करके स्थालीपाक से तीन भाग करे, ईशान की पत्नी मीढुषी के लिए, स्कन्द के लिए, तथा ईशान देव के लिए। स्थाली में बहुत सा भोजन ब्राह्मणों के लिए शेष बच जाता है। "भवाय देवाय" आदि आठ मन्त्रों से ईशान देव के लिए कल्पित ओदन से होम होगा, "भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा" आदि आठ मन्त्रों से मीढुषी देवी के लिए हवन होगा, जयन्ताय स्वाहा" कहकर जयन्त के लिए हवन होगा। ये ही प्रधान आहुतियां होती हैं। अन्त में अग्नि स्विष्टकृत के लिए हवन किया जाता है। "अग्नये स्विष्टकृते सुहुत" मन्त्र द्वारा ॥ ४ ॥

अनाकुला

(येन शब्देन येषु स्थानेषु येन क्रमेणावाहनं चोदितं तद्देवताकान्यर्घ्याणि प्रयच्छति) पृथक्पात्रैः कल्पितानि अर्घ्यत्वात् पुष्पाक्षतैस्संयुक्तानि। ईशानेदं ते अर्घ्यम्, जयन्तेदं अर्घ्यमिति ततो गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्य ततः स्थालीपा-

---

❀ इदमग्रिमं च सूत्रं सूत्रपञ्चकतया विभक्तं हरदत्तमते 'क' 'ख' पुस्तकयोः। विभागक्रमश्चैवः—यथोढमुदकानि प्रदाय ॥ त्रीनोदनान् कल्पयित्वा ॥ अग्निमभ्यानीय ॥ उत्तरैरुपस्पर्शयित्वा ॥ उत्तरैर्यथास्वमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषाऽग्निं स्विष्टकृतं···दशोत्तराभ्यः ॥ इति ॥ 'ङ' पुस्तके तु 'यथोढ···दाय ॥ त्रीनोद···यित्वा ॥ अग्निमभ्या हुत्वा सर्वत···कृतम् ॥ उत्तरै···स्थाय ॥ उत्तरैस्सहो··· तराभ्यः ॥ इति षोढा विभागः कृतः ॥

() एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागः 'क' 'ख' 'ङ' पुस्तकेषु नास्ति। तत्स्थाने यथावाहनमुदकानि अर्घ्याणि प्रयच्छति ॥

कादुद्धृत्य त्रीनोदनान् कल्पयति त्रिषु पात्रेषु देव्यै स्कन्दाय च देवाय होमार्थं उपहारार्थं च । स्थाल्यां च भूयांसमोदनमवशिनष्टि ब्राह्मणभोजनार्थम् । ततस्तानोदनानग्निसमोपमानीय्यापरेणाग्निं बर्हिषि प्रतिष्ठापयति दक्षिणत उत्तरतो मध्ये च । अत्र प्रतिष्ठिताभिघारणम् । तत उत्तरैर्मन्त्रैस्त्रिभिर्यथोढं त्रीनोदनानुपस्पर्शयति । स्वस्वाभिसम्बन्धं कारयति । उत्तरैर्मन्त्रैः 'उपस्पृशतु मीढ्वान्' इत्यादिभिः । यथादेवतमभिमृशति 'इदमग्नेरित्याग्नेय'मितिवत् । एवमुपस्पर्शयित्वा तत उत्तरैर्मन्त्रैस्सप्तदशभिः प्रधानाहुतीर्जुहोति यथास्वमोदनेभ्यः येनौदनेन यस्यै देवतायै स्वत्वसम्बन्ध उपस्पर्शनेनोपलक्षितः तस्मात् तस्य जुहातीत्यर्थः । तत्र 'भवाय देवाये'त्यादिभिरष्टाभिः देवस्यौदनात् । 'भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहे'त्यष्टाभिः मीढुष्याः । 'जयन्ताय स्वाहे'ति जयन्तस्य । एवं प्रधानाहुतीर्हुत्वा ततस्सर्वतः समवदायोत्तरेण यजुषा 'अग्नये स्विष्टकृते सुहुत' इत्यनेनाग्निं स्विष्टकृतं यजति । सर्वतस्समवदायेत्युच्यते यथा स्वमोदनेभ्यः पृथक्पृथक् स्विष्टकृन्मा भूदिति ।

यद्यपि स्विष्टकृतोऽनन्तरमिदमुक्तमुपस्थानादि, तथापि 'जयादीनुपजुहोति' इत्यत्रोपशब्दश्रवणात् प्रधानहोमानन्तरं जयादयः । परिषेचनान्ते उपस्थानादि ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ यथोढं येन क्रमेणोढा आवाहितास्तेन क्रमेण । उदकानि पाद्यादीनी प्रत्येकं स्वैस्वैर्नामभिर्नमोन्तैः प्रददाति प्रकर्षेण भक्तिपुरस्सरं ददाति । उदकग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात् दीपान्तं प्रददातीत्युपदेशः । अथेशानस्थालीपाकादुद्धृत्य त्रीनोदनान् त्रिषु पात्रेषु कल्पयति ईशानमीढुषीजयन्तेभ्यो होमार्थम् [1]बल्यर्थञ्च । स्थाल्यां च ब्राह्मणानां भोजनानार्थं भूयांसमोदनमवशिनष्टि । ततस्तानोदनानग्नेस्समीपमानोय अपरेणाग्निं प्रतिष्ठापयति । अथैतानुत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैः 'उपस्पृशतु मीढ्वान्' इत्यादिभिर्यथासङ्ख्यं यथादेवतमुपस्पर्शयति । अस्य चोपस्पर्शनविधेर्द्वितीयतृतीययोरोदनयोरपनीतेशानदेवताकयोर्मीढुषीजयन्ताख्यदेवतान्तरसम्बन्धविज्ञाने तात्पर्यम्, [2]अभ्युदयेष्टयादिवत् ।

---

१. क-ख—होमबल्यर्थम् ।

२. "यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् ये मध्यमास्स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात् । ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधँश्चरुं येऽणिष्ठास्तान् विष्णवेशिपिविष्टाय शृते चरुम्" (तै.सं. २-५-९) इति श्रूयते अस्यार्थः—यस्य यजमानस्य दर्शादिकमनुतिष्ठतः चतुर्दश्यामेव प्रातरमावास्याभ्रान्त्या दर्शप्रयोगः प्रक्रान्तः, निरुप्तं चाग्न्यादिदेवतार्थं हविः, ततश्चन्द्रोदये दृष्टे नाद्य दर्श

प्रथमे त्वीशानसम्बन्धस्थापने मीढ्वच्छब्दस्येशानवाचकत्वात्। अथोत्तरैर्मन्त्रैः 'भवाय देवाय' इत्यादिभिस्सप्तदशभिः यथास्वमोदनेभ्यः यो य ओदनो यस्या यस्या देवतायास्स्वभूतस्तस्मात्तस्माद्यथालिङ्गं पार्वणवदवदानधर्मेणावदाय प्रधानाहुतीर्जुहोति। तत्र'भवाये'त्यष्टभिरीशानस्यौदनात्। युक्तं[1] चैतत भवशर्वादिशब्दानां ईशानवाचकत्वादिति। 'भवस्य देवस्ये'त्यष्टाभिस्तु मीढुष्यास्स्वात्। 'जयन्ताये'ति जयन्तस्य स्वात्। ततस्सर्वतस्सर्वेभ्यस्त्रिभ्य ओदनेभ्यः स्विष्टकृतोऽवदानधर्मेण समवदाय सहावदाय उत्तरेण यजुषा 'अग्नये स्विष्टकृते सुहुत हुत' इत्यनेनाग्निं स्विष्टकृतं जुहोति। अतः सवतस्समवदायेति वचनं आग्रयणमासिश्राद्धादिवत् सकृदेवावदाय स्विष्टकृदिति शङ्कानिरासार्थम् ॥ ४ ॥

उत्तरेण यजुषोपस्थायोत्तरैस्सहोदनानि पर्णान्येकैकेन द्वे द्वे दत्वा दश देवसेनाभ्यो दशोत्तराभ्यः ॥ ५ ॥

अनु०—आगे के यजुस् मन्त्र 'स्वस्तिनः पूर्णमुखः' आदि द्वारा ईशान की पूजा करने के बाद आगे के 'गृहपोपस्पृश' आदि सात मन्त्रों से ओदनयुक्त दो-दो पत्ते अर्पित करे फिर दस देवसेना के लिए और फिर दस अगले मन्त्र 'या आख्याता' आदि में उल्लिखित देवों के लिए अर्पित करे ॥ ५ ॥

टि०—परिषेचन के अन्त में पर्णदान होता है। एक-एक मंत्र से दो-दो पत्ते दिये जाते हैं। देवसेना अर्थात् देव के साथ चलने वाले गणों के लिए दस पत्ते दोनों कुटियों में दिये जाते हैं। दस पत्ते दक्षिण की कुटी में और फिर दस पत्ते उत्तर की कुटी में। इस स्थल पर देव ईशान की सेना ही देवता होती है, किन्तु इससे ईशान के देवता होने में कोई विरोध नहीं उपस्थित होता ॥ ५ ॥

इत्यवगम्यते तदा अकाले कर्मारम्भनिमित्तप्रायश्चित्तमनुष्ठाय श्वोभूते दर्शेष्टिरनुष्ठेया। सा च प्रायश्चित्तार्थेष्टिरभ्युदयेष्टिरित्युच्यते। तत्र पूर्वं अग्न्यर्थं ये निरुप्तास्तण्डुलाः तान् स्थाविष्ठादिभेदेन त्रिधा विभज्य मध्यमैस्तण्डुलैः पुरोडाशं सम्पाद्य तेनाग्नये जुहुयात्। स्थविष्ठान् दधनि पक्त्वा तेन चरुणेन्द्रं यजेत। अणिष्ठान् पयसि पक्त्वा तेन चरुणा विष्णुं शिपिविष्टं यजेत इति। अत्र त्रेधा तण्डुलान्' इत्यनेन न तण्डुलानां विभागोऽभिधीयते, उत्तरेषु वाक्यशेषु 'ये स्थविष्ठाः' इत्याद्यनुवादबलादेव तत्सिद्धेः। किन्तु पूर्वं निर्वापसमये योऽग्न्यादिभिस्सह सम्बन्धो हविषामवबोधितः सोऽनेनापनीयते। ये मध्यमा इत्यादिभिस्तु वाक्यैः अपनीतपूर्वदेवतासम्बन्धानां हविषां देवतान्तरसम्बन्धो बोध्यते इति मीमांसकसिद्धान्तः (पू.मी.६-५.१)। अतश्च यथा मध्यमादिवाक्यैः देवतान्तरसम्बन्धो बोध्यते, एवं उपस्पर्शनविधिनाऽपि अपनीतेशानसम्बन्धयोः हविषोः मीढुष्यादिदेवतासम्बन्धोऽवबोध्यत इति।

1. क–उक्तं।

अनाकुला

उत्तरेण यजुषा 'स्वस्तिनः पूर्णमुख' इत्यनेन उपस्थानं च महादेवस्य, तत्प्रधानत्वात्कर्मणः। 'पूर्णमुख' इत्यपि तस्यैव निर्देशः। पूर्णाहुतिभिः पूर्णमुखः। उपस्थाय तत उत्तरैर्मन्त्रैः "गृहपोपस्पृशे, त्यादिभिः अष्टादशभिः सहौदनानि पर्णानि मन्त्रप्रतीताभ्यो देवताभ्यो ददाति। तत्र चादितस्सप्तभिः प्रतिमन्त्रं द्वे द्वे पर्णे ददाति। अष्टमेन दशदेवसेनाभ्य इति वदन् मन्त्रप्रतीता देवता दर्शयति। तत्र गृहप इति महादेवाभिधानं मन्यते गृहान् पातीति। 'नमो रुद्राय वास्तोष्पतय' इति च मन्त्रान्तरम्। तस्मादनेन देवाय पर्णद्वयं तस्यैवोदनात्। गृहपी देवी, तस्मादनेन मन्त्रेण देव्यै दातव्य तस्या एवौदनात्। घोषिणी इत्यादयः, सर्वंगणा देवस्यानुचराः। तेभ्योऽपि देवकुटीसमीपे तस्यैवोदनात् पर्णद्वयानि। देवसेना भूतगणाः। तेभ्योऽपि सर्पगणवत्। दशोत्तराभ्यः"या आख्यता" इत्यस्मिन्नुत्तरे मन्त्रे प्रतीता उत्तरा देवताः। ताभ्यो दश पर्णानि तेनैव मन्त्रेण देवस्यैवौदनात्॥ ४॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरेण यजुषा 'स्वस्ति नः पूर्णमुख' इत्यनेन अग्निमीशान [1]वोपतिष्ठते। इदं च यथापाठं स्विष्टकृताऽनन्तरम्। ततो लेपयोरित्यादितन्त्रशेषसमाप्तिः, 'परिषेचनान्तं कृत्वापर्णदानम्' इति भाष्यकारवचनात्।

केचित्—उपस्थानादि [2]तन्त्रशेषसमाप्तिरिति।

ततो यथास्वमोदनेभ्य एव यज्ञियेषु पर्णेष्ववदाय तानि सहौदनानि ओदनसहितानि पर्णान्युत्तरैः 'गृहपोपस्पृश' इत्यादिभिस्सप्तभिर्ददातीति सामान्येन विधाय विशिनष्टि एकैकेन मन्त्रेण द्वे द्वे पर्णे इति। अथ द्वे द्वे इत्येतदपवदति—दशेत्यादिना। देवस्येशानस्य सेनाः देवसेनाः, ताभ्यो दश पर्णानि दक्षिणस्यां कुट्यां देवस्यैवौदनादवदाय ददाति। तथा दशैव पर्णान्युत्तराभ्यो देवसेनाभ्यः। उत्तरस्मिन् मन्त्रे 'या आख्याता याश्चानाख्याता' इति गुणद्वयवत्यस्ता उत्तरा देवसेनाः॥ ५॥

* पूर्ववदुत्तरैः॥ ६॥

'द्वारापोपस्पृशे' आदि आगे के चार मन्त्रों से भी पहले की तरह दो दो ओदन युक्त पत्ता प्रत्येक मन्त्र पर प्रदान करे॥ ६॥

---

१. ड—चो। २ क–दिकं।

* एतदादि सूत्रत्रयमेकं सूत्रं हरदत्तमत इति 'क' ख' पुस्तकयोः।

अनाकुला

पूर्ववदुत्तरैर्मन्त्रैः 'द्वारापोपस्पृशे' त्यादिभिः चतुर्भिः पर्णानि देयानि पूर्ववदेकैकेन द्वे द्वे इत्यर्थः। अत्र द्वारापो देवः द्वारपालः। द्वारापी देवी च द्वारपाला। अभ्यासारिणोऽपि देव्या अनुचराः। निषङ्गिन्निति जयन्तस्याभिधानम। तेभ्यो यथा स्वमोदनैस्तत्र तत्र दानम् ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पूर्वं यथा 'गृहपोपस्पृश' इत्यादिभिर्दक्षिणोत्तरकुटयोर्मध्ये च स्वेभ्य एवौदनेभ्यो द्वे द्वे पर्णे प्रतिमन्त्रं दत्ते, एवं उत्तरैः द्वारापोपस्पृश' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्दद्यात् ॥

अथ प्रयोगः—परिषेचनान्ते कृते 'गृहपोपस्पृश' इति दक्षिणस्याम। 'गृहप्युपपृशे'त्युत्तरस्याम्। 'घोषिणः' इति मध्ये। ततश्च 'श्वासिनः' इति दक्षिणस्याम्। 'विचिन्वन्तः' इत्युत्तरस्याम्। 'प्रपुन्वन्तः' इति मध्ये। ततः 'समश्नन्तः' इति दक्षिणस्याम्। एतदन्तं द्वे द्वे पर्णे। ततो दक्षिणस्यामेव 'देवसेनाः' इति दश पर्णानि। तथैव 'या आख्याताः' इति दश पर्णानि। तस्यामेव ततः पुनरपि तत्रैव 'द्वारापोपस्पृश' इति द्वे पर्णे। 'द्वारापि'इत्युत्तरस्याम्। 'अभ्यासारिणः' इति मध्येद्वे। 'निषङ्गिन्' इति दक्षिणस्यां द्वे इति।

अत्र यद्यपि केचन मन्त्रा अव्यक्तलिङ्गका बहुवचनलिङ्गकाश्च, तथापीशानमीढुषीजयन्ता एव देवताः। प्रमाणं च 'गृहपि' 'द्वारपि' 'निषङ्गिन्' इति मन्त्रलिङ्गदर्शनम्। 'दश देवसेनाभ्यो दशोत्तराभ्य, इत्यत्र तु सूत्रकारवचनाद्देवस्येशानस्य सेना देवसेना एव देवताः। ममकारास्पदीभूतस्य च पुत्रभृत्यादेः पूजापि पितृस्वाम्यादिपूजैव, पुत्रादिपूजायां सत्यां पित्रादेरहमेव पूजित इति मनसप्रत्यक्षोदयात्। अत एव च 'जातेष्टेरसंवलिताधिकारत्वम्। तस्मादिह देवस्यौदनाद्देवसेनाभ्यो दानं न विरुध्यते।

केचित्—मान्त्रवर्णिक्य एव देवताः। तेन गृहपेति देवाय; 'रुद्रः खलु वै वास्तोष्पतिः' (तै सं.३-४-१०) इति श्रुतेः। 'गृहपो'ति देव्यै। 'घोषिण'

---

१. "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत पुत्रे जाते" (तै स. २-२-५.) इत्यने। आहिताग्नेः पुत्रजनने निमित्ते कर्तव्यतया विहितेष्टिः जातेष्टिः। तस्याश्च "यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव (स) तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति" इत्यर्थवादोक्तं पुत्रगतपूतत्वादिकं फलम्। एवं च पितः साक्षात् फलाभावेऽपि पुत्रगतपूतत्वादिनैवाहमेव पूत इत्याद्यभिमानसम्भावात् तेनैव च पितुस्तत्राधिकारस्सिध्यतीति भावः।

इति तु पञ्चभिर्देवस्यानुचरेभ्यः सर्पगणेभ्यः । आश्वलायनीये स्पष्टत्वात् । ततो 'देवसेनाः' इति द्वाभ्यां देवसेनाभ्यः । 'द्वारापे' ति देवस्य द्वारपालाय । 'द्वारापी' ति देव्यै द्वारपालायै । 'अन्वासारिण' इति देव्या एवानुचरेभ्यः । 'निषङ्गिन्' इति जयन्ताय' तस्याप्यावाहितस्य बलिना भाव्यत्वादिति ॥ ६ ॥

ओदनपिण्डं संवृत्य पर्णपुटेऽवधायोत्तरेण यजुषा वृक्ष आसजति ॥ ७ ॥

अनु०— इसी भात से (दोनों हाथें द्वारा एक) पिण्ड बनाकर पत्ते के दोने में रखकर आगे के यजुस् मन्त्र 'नमो निषङ्गिण इषुधिमते' द्वारा वृक्ष के ऊपर रखे ।

अनाकुला

अथ तस्यैवौदनात् पिण्डं उभाभ्यां हस्ताभ्यां संवृत्य दृढं कृत्वा पर्णैस्यूतैः कृते पुटेऽवधाय तं शिक्ये कृत्वोत्तरेण यजुषा 'नमो निषङ्गिण इषुधिमते, इत्यनेन वृक्ष आसजति अवलम्बयति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ होमबलिशेषेभ्यः त्रिभ्य ओदनेभ्य उपादाय पिण्डं संवर्तयति सुदृढं करोति । शेषाणां प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात् ।

केचित्— जयन्तस्योदनादिति ।

ततस्तं पिण्डं पर्णपुटेऽवधायोत्तरेण यजुषा 'नमो निषङ्गिण इषुधिमते' इत्येतावतैव मन्त्रसमाम्नायगतेन वृक्षे कस्मिंश्चिदासजति शिक्ये कृत्वावलम्बयति ॥ ७ ॥

अत्र रुद्रान् जपेत् ॥ ८ ॥

अनु०—इस अवसर पर 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' आदि ग्यारह अनुवाकों का जप करे ॥ ८ ॥

अनाकुला

अत्र अस्मिन्काले रुद्रान् "नमस्ते रुद्र मन्यव" इत्यादीनेकादशानुवाकान् जपेत् । एतैरेव देवमुपतिष्ठेतेत्यर्थः । (तत्रोत्तमस्यानुवाकस्यादितो दशस्वृक्षु

---

१. "श्वासिनीर्घोषिणीर्विचिन्वतीस्समश्नुतीस्सर्पा एताद्वोऽत्र तद्धरध्वम्' (आश्व.-गृ. ४-९-२५, इति आश्वलायनगृह्ये देवानुचरीणां घोषिण्यादीनां पक्षानां स्पष्टमुपादानादिति भावः ।

() एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागो— ङ. च. पुस्तकयोरुत्तरसूत्रस्यादौ पठितः ।

'तेषाँ सहस्रयोजन' इत्यनुषङ्गः। अन्ततस्रयो मन्त्राः 'नमोरुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः' 'नमो रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातः' 'नमो रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवस्तेभ्यः' इत्यादि सर्वत्रानुषङ्गः ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्रास्मिन्काले। अन्ये तु—अत्र वृक्षसमीप इति।

रुद्रान् 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' (तै. सं. ४–५–१.) इत्येकादशानुवाकान् जपेत् चातुस्स्वर्येण तत्रोत्तमानुवाके 'अस्मिन् महति' इत्यादिष्वष्टसु 'तेषाँ सहस्रयोजने' (तै. सं ४–५–११,) इत्याद्यनुषङ्गः। तथा 'नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवस्तेभ्यः' 'नमो रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवस्तेभ्यः' 'नमो रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा' इत्याद्यनुषङ्गः ॥ ८ ॥

*प्रथमोत्तमौ वा ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा प्रथम और अन्तिम अनुवाक का जप करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

अथवा प्रथमोत्तमाभ्यामेवानुवाकाभ्यामुपस्थानं कर्तव्यम् ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ वा[1] रुद्राणां प्रथमोत्तमावेवानुवाकौ जपेत् ॥ ९ ॥

अथ प्रधानहोमकाल एव यत्कर्तव्यं तदाह—

अभित एतमग्निं गास्स्थापयति यथै-
ना धूमः प्राप्नुयात् ॥ १० ॥

अनु०—अपनी गायों को उस आग के चारों ओर इस प्रकार बाँधे कि धुआँ गायों के पास पहुँचे ॥ १० ॥

अनाकुला

एतं हूयमानमग्निमभितो गाः आत्मीयाः यथा स्थापयति स्थापने एना गाः धूमः प्राप्नुयात्। अनुवातं समीप इत्यर्थः। प्रधानहोमकाले च ··· तदर्थमेवैतमित्युक्तं एतं हूयमानमग्निमिति ॥ ९ ॥

---

* एतत्प्रभृति आखण्डसमाप्ति एकसूत्रतया परिगणितं क. ख. ङ. च, पुस्तकेषु हरदत्तमते।

1. ठ. रुद्राणामेव।

तात्पर्यदर्शनम्

एतं होमार्थमग्निमभितः होमाग्नेस्समीप इत्यर्थः । गाः स्वकीयास्स्थापयत्यनुवातं, यथैना गा होमधूमः प्राप्नुयात् ।

केचित्—गोशान्त्यर्थमपीदं कर्मेत्यत्रैतत् ज्ञापकमिति ॥ १० ॥

ता गन्धैर्दर्भग्रमुष्टिनाऽवोक्षति वृषाणमेवाग्रे ॥ ११ ॥

अनु०—दर्भ घास को मुट्ठी में कसकर पकड़े और मुट्ठी से ही उन गायों के ऊपर जल छिड़के । सबसे पहले सांड़ के ऊपर जल छिड़के ॥ ११ ॥

अनाकुला

ता गन्धैस्सुरभिचन्दनादिभिरवोक्षति दर्भग्रमुष्टिना, न हस्तेन । गुरुमुष्टिः ग्रमुष्टिः छान्दस उकारलोपः । सन्नखेन दर्भमुष्टिनेत्यर्थः । तत्र होम कालवचनं प्रोक्षणं तस्मिन् काले ॥ १० ॥

वृषाणं वृषभं तमेवाग्रे प्रोक्षति । यद्यप्यसावुपक्रमे न तिष्ठेत् तथापि अङ्गत्वात् तस्यवावोक्षणम् । अग्रे तदर्थ एव कालः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ता गन्धैश्चन्दनादिना युक्तैः । दर्भग्रमुष्टिना दर्भाणां गुरुमुष्टिर्दर्भग्रमुष्टिः । उकारलोपश्छान्दसः । सन्नखो दृढमुष्टिरित्यर्थः । तेनावोक्षति । तत्र विशेषः—वृषाणं, वृषभमेवाग्रेऽवोक्षति । एवकारात्तस्मिन्नवोक्ष्यमाणे ऽन्या का चिद्गौर्नावोक्ष्यते । ततो गोचराय गाः प्रस्थापयति ॥ ११ ॥

गवां मर्गेऽनग्नौ क्षेत्रस्य पतिं यजते ॥ १२ ॥

अनु०—गायों के रास्ते में क्षेत्रपति के लिए बिना अग्नि जलाये ही (भूमिपर) बलिप्रदान करे ॥ १२ ॥

अनाकुला

अथ क्षैत्रपत्यस्थालीपाकस्य विधिः—मर्गे मार्गे छान्दसो ह्रस्वः । अनग्नौ भूमावेव । गवामपगच्छन्तीनां कस्याश्चित् गोः पथि यागविधानात् अग्नौ प्राप्ते प्रतिषेधः ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततः प्रस्थितानां गवां मर्गे मार्गे । छान्दसो ह्रस्वः । अग्नौ भूमावेव क्षेत्रस्य पतिं यजते ॥ १२ ॥

ईशानवदावाहनम् ॥ १३ ॥

अनु०—ईशान के आवाहन की तरह ही क्षेत्रपति का भी आवाहन करना चाहिए ॥ १३ ॥

अनाकुला

तस्य क्षेत्रपतेरावाहनं ईशानवत् कर्तव्यम् । 'आ त्वा वहन्त्विव' त्यनयर्चेत्यर्थः । शर्वशब्दोऽपि तस्य पर्यायनाम द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

क्षेत्रस्य पतेरावाहनमोशानवत्, 'आ त्वा वहन्तु' इत्येतयेत्यर्थः ॥ १३ ॥

चतुर्षु सप्तसु वा पर्णेषु नामादेशं दधाति ॥ १४ ॥

अनु०—देवों का नाम निर्देश करके चार या सात पत्तों पर भात रखे ॥ १४ ॥

अनाकुला

आवाह्यार्घ्यं दत्वा गन्धादिभिरभ्यर्च्य स्थालीपाकमासाद्याभिघार्य चत्वारि सप्त वा पर्णानि देवस्य समीपे कृत्वा तेषु नामादेशं[1] नामादिश्यौदनपिण्डं दधाति स्थालीपाकात् । तत्र पूर्वेषु पर्णदानमन्त्रेषु स्वाहाकारान्तत्वनिगमात् इहापि क्षेत्रस्य पतये स्वाहेति पर्णदानम् । एष एवास्य यागः ॥ १४ ।

तात्पर्यदर्शनम्

चत्वारि सप्त वा पर्णानि भूमौ स्थापयित्वा तेषु क्षैत्रपत्यात् स्थालीपाकादोदनमादाय नामादेशं नाम चतुर्थ्यन्तमादिश्य 'क्षेत्रस्य पतये त्वां ददामि, इति [2]दधाति । 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इति स्मरणात् ।

केचित्—क्षेत्रस्य पतये स्वाहेति ददाति । पूर्वत्र बलिमन्त्रेषु स्वाहाकारस्य दृष्टत्वादिति ।

अत्र तु न[1] सहौदनानि पर्णानि देयानि; पर्णेष्विति सप्तमीनिर्देशात् ॥१४॥

क्षिप्रं यजेत पाको देवः ॥ १५ ॥

अनु०—शीघ्र बलि अर्पित करे, क्योंकि क्षेत्रपति बालक की तरह गमनशील देवता होता है ॥ १५ ॥

टि०—पाको देवः के अर्थ के विषय में कुछ भिन्नता देखने को मिलती है। क्षेत्रपति बालक की तरह चंचल होता है, शीघ्र उठकर चल देता है, अतः उसके लिए शीघ्र बलि देनी चाहिए । अथवा पाकः देव अल्पः देवः अर्थ लगाया है ॥ १५ ॥

---

१. 'ङ' नाम निर्दिश्यम् । २. क—ददाति ।

१. ख ग—न इति नास्ति ।

अनाकुला

पाको बालस्तद्वत् गमनशीलोऽयं देवः तस्माच्छीघ्रं यजेतेत्यर्थः ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अयं चौदनदानात्मको यागः क्षिप्रमावहनानन्तरमुदकमेव प्रदाय कर्तव्यः। गन्धादिप्रदानं तु यागोत्तरकालमेव; यतः पाक अल्पो देवः। एतदुक्तं भवति—अनित्यदर्शनत्वात् क्षेत्रस्य पतेः शीघ्रमेव बलिर्देय इति।

केचित्—पाकः बालः बालवद्गमनशीलः। तथा गन्धादि दत्त्वैवात्रापि बमिरिति ॥ १५ ॥

उत्तराभ्यामुपतिष्ठते। १६ ॥

अनु०—'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' आदि दो मन्त्रों से क्षेत्रपति की पूजा करे ॥१६॥

अनाकुला

उत्तराभ्यां 'क्षेत्रस्य पतिना वय' मिति द्वाभ्याम् ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' इति द्वाभ्यामृग्भ्यामुपतिष्ठते ॥ १६ ॥

'ओदनपिण्डं संवृत्य' इत्यादिना होमबलिशेषाणां प्रतिपत्तिरुक्ता। इदानी-मीशानस्थालीपाकशेषस्य प्रतिपत्तिमाह—

स्थालीपाकं ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १७ ॥

अनु०—ब्राह्मणों को स्थालीपाक का भोजन करावे ॥ १७ ॥

अनाकुला

'तेन सर्पिष्मता' इति पार्वणातिदेशेनैव सिद्धे बहुत्वविधानार्थं वच-नम् ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अयं च प्राकृतप्रतिपत्त्यनुवादो ब्राह्मणबहुत्वं विधातुम्, सर्पिष्मत्त्वं निवर्त-यितुं वा ॥ १७ ॥

क्षैत्रपत्यस्य प्रतिपत्तिमाह—

क्षैत्रपत्यं प्राश्नन्ति ये सनाभयो भवन्ति ॥ १८ ॥

अनु०—क्षेत्रपति के अन्न को उसके सपिण्ड सम्बन्धी खाएं ॥ १८ ॥

अनाकुला

सनाभयस्समानयोनयः पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्च। सनाभय इत्येव सिद्धे ये

भवन्ति इति वचनं दौहित्रादीनामपि सम्बन्धिनां प्रतिग्रहार्थम् ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सनाभयस्सपिण्डाः ॥ १८ ॥

यथा वैषां कुलधर्मस्स्यात् ॥ १८ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने विंशः खण्डः ॥

समाप्तस्सप्तमश्च पटलः ॥

अनु०—अथवा उसके कुल में जिस प्रकार का आचार प्रचलित हो उसके अनुसार भोजन कराये ॥ १९ ॥

अनाकुला

एषां यजमानकुलजातानां यथा कुलधर्मः तथा वा प्राशनम्—यदि पुत्राणामेव, तथा प्राशनम् । अथ सर्वेषां स्वकुलजातानां, तथा प्राशनम् । अथ स्वस्त्रीयादीनामपि, तथा प्राशनमिति ॥ १९ ॥

इत्यानाकुलायां हरदत्तमिश्रविरचितायां गृह्यवृत्तौ विंशः खण्डः ॥

सप्तमश्च पटलः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यद्येषामनुष्ठातॄणां असपिण्डकर्तृकप्राशनमपि कुलधर्मस्तर्हि तथा वा स्यात् ॥ १९ ॥

सप्तमे पटलेऽप्येवं कृतं भाष्यानुसारतः ।
श्रीमत्सुदर्शनार्येण गृह्यतात्पर्यदर्शनम् ॥ १ ॥
अत्रानुक्तं दुरुक्तं वा यत्प्रमादादिहेतुकम् ।
वेदमार्गानुवर्तित्वात्[1] तत्क्षन्तव्यं मनीषिभिः ॥ २ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने विंशः खण्डः ॥

समाप्तस्सप्तमश्च पटलः ॥

---

१. ख. ग—तत्क्षमध्वं विपश्चितः ।

अथाष्टमः पटलः

एकविंशः खण्डः

पुनरपि पाकयज्ञान्तरं पुरुषत्रयसम्प्रदानकं सादृशानामष्टकादीनां प्रकृतिभूतं मासिश्राद्धसंज्ञिकं पित्र्यं कर्मोपदिश्यते—

मासिश्राद्धस्यापरपक्षे यथोपदेशं कालाः ॥ १ ॥

अनु०—मासिक श्राद्धकर्म के लिये उत्तरपक्ष में जैसा विधान किया गया है उसके अनुसार समय होता है ॥ १ ॥

टि०—मासिश्राद्ध नामक कर्म पितरों के लिये किया जाता है। इस कर्म को प्रत्येक महीने में किया जाता है। महीने के अपरपक्ष में अर्थात् कृष्णपक्ष में ही करने का विधान है, जैसा कि इन सूत्रों में स्पष्ट कहा गया है "सर्वेष्वेवापरपक्षस्याहस्सु क्रियमाणे पितॄन् प्रीणाति।" कर्तुस्तु कालाभिनियमात् फलविशेषः" आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. १६. ७। "अपरपक्षे यथोपदेशं कालाः" "अपरपक्षे पित्र्याणि" जिस तिथि को पहली बार श्राद्ध का उपक्रम किया जाय उसी तिथि को अन्य मास में सभी श्राद्धकर्म किया जाना चाहिए इस प्रकार का नियम नहीं है किन्तु दूसरी तिथि को भी किया जाता है ॥ १ ॥

अनाकुला

मासिश्राद्धं नाम पित्र्यं कर्म मासि मासि कर्तव्यम्। तत्र येऽपरपक्षे कालविशेषाः सामयाचारिकेषूपदिष्टाः "प्रथमेऽहनि क्रियमाणे (आप. ध.२–१६–७ इत्यादयः अपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान्' (आप श्रौ.२–१६–४) निति च ते सर्वे यथोपदेशं यथा तत्रोपदिष्टाः तथैव मासि मासि प्रत्येतव्याः। यद्यपि ते विशेषाः तस्मादेव वचनात् सिद्धाः तथापि तस्य कर्मणः प्रयोगविधानमित उत्तरं क्रियते इति ज्ञापनार्थमिदं वचनम्। अन्यथा ज्ञापयेत शुचीन् मन्त्रवतः इत्यादि कस्मिन् कर्मणि विधीयत इति। एवं तर्हि मासिश्राद्धस्यैतदेवाधिकारार्थमस्तु। तस्मादिदमस्य प्रयोजनम्—मासपरिमाणमनपेक्ष्यापरपक्षवशेन पर्वं काला यथोपदेशं यथा स्युरिति। तेन पूर्वस्मिन् पक्षे पञ्चदश्यामकृतश्राद्धस्यापरस्मिन् पक्षे प्रथमादिषु सर्वासु तिथिषु क्रिया भवति तत्तत्कामस्य ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

मासिश्राद्धस्य मासे मासे श्रद्धया कर्तव्यस्य। अपरपक्षे कृष्णपक्षे। यथोपदेशं 'सर्वेष्वेवापरपक्षस्याहस्सु क्रियमाणे पितॄन् प्रीणाति। कर्तुस्तु कालाभिनियमात् फलविशेषः' (आप. ध.२-१६-७.) इत्यादिधर्मशास्त्रसिद्धोपदेशानुसारेण काला भवन्ति। 'अपरपक्षे यथोपदेशं कालाः, इति पुनर्वचनस्य प्रयोजनं 'अपरपक्षे पित्र्याणि' (आप. गृ. १-७.) इत्यत्रोक्तम्।

केचित्—यस्यां तिथौ प्रथममुपक्रमस्तस्यामेवोत्तरे प्रयोग इति नियमो नास्ति; किन्तु [1]पूर्णेऽपि मासे अपरपक्ष एव यथोपदेशं तिथ्यन्तरेऽपि नित्यः काम्यश्च प्रयोग इति ॥ १ ॥

शुचीन् मन्त्रवतो योनिगोत्रमन्त्रासम्बन्धानयुग्मांस्त्र्यवराननर्थावेक्षो भोजयेत् ॥ २ ॥

अनु०—पवित्र वेदाध्ययनसंपन्न ब्राह्मणों को, जो श्वशुर, मात्रा आदि योनिसंबंध वाले, समानगोत्रवाले, ऋत्विग्, आचार्य, अन्तेवासी आदि मन्त्रसंबंधवाले न हों, विषम संख्या में, कम से कम तीन को, बिना किसी प्रयोजन के भोजन कराये ॥ २ ॥

टि०—ब्राह्मण पवित्र ब्राह्मण हों, मन्त्रों के ज्ञाता हों, वेदाध्ययन से संपन्न हों किन्तु कुल गोत्र से संबन्धित न हों, कम से कम तीन ब्राह्मणों का विधान है किन्तु दुर्भिक्ष में एक ब्राह्मण को भी भोजन कराया जा सकता है। यद्यपि स्त्रियाँ भी पिण्डदान कर सकती हैं तथापि वे ब्राह्मण भोजन कराने की अधिकारिणी नहीं होती। योनि संबंध के लोगों में मामा, श्वशुर आदि आते हैं। गोत्र संबंध में अपने ही गोत्र के ब्राह्मण आते हैं और मन्त्र सबन्ध में आचार्य तथा शिष्य अथवा यजमान तथा यज्ञ कराने वाला, अथवा अध्येता और अध्यापक। इन सबका निषेध किया गया है। सुदर्शनाचार्य के अनुसार यद्यपि माता आदि पृथक् पिण्डदान करती हैं तथापि उनकी ओर से ब्राह्मणों को पृथक् भोजन नहीं कराया जाता। मातामह के श्राद्ध के विषय में सुदर्शनाचार्य ने विष्णुस्मृति, विष्णुपुराण, याज्ञवल्क्यस्मृति के वचनों को उद्धृत किया है। इस प्रकार मातामह श्राद्ध भी नित्य कर्म है। लौगाक्षि में भी ऐसा ही कहा है ॥ २ ॥

अनाकुला

शुचीन् शुद्धान् मन्त्रवतः श्रुताध्ययनसम्पन्नान् 'शुचीन् मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २-१५-९) इत्येव सिद्धे पुनर्वचनमादरार्थम्। ब्राह्मणान्

---

१. ख. ग—अपूर्णेपि।

योनिसम्बन्धाः श्वशुरमातुलादयः, गोत्रसम्बन्धाः समानगोत्राः 'मन्त्रसम्बन्धाः' ऋत्विगाचार्यान्तेवासिनश्च। गुणहान्यां तु परेषामिति वक्ष्यति । अयुग्मानिति युग्मप्रतिषेधार्थम्। त्र्यवरानिति एकप्रतिषेधार्थम्। "नत्वेवैकं सर्वेषाम्। काममनाद्ये" । (आश्व. गृ. ४-७-३) इत्याश्वलायनः। [1]'अनाद्ये आमश्राद्धे दुर्भिक्षे वा कुले एकमपि भोजयेदित्यर्थः । यद्यपि स्त्रीभ्योऽपि पिण्डदानं दृश्यते तथापि ब्राह्मणभोजनमिह ताभ्यो न भवति। होमाभिमर्शनयोरदर्शनात्। विप्रतिषेधाच्च युग्मवचनस्य । तस्मात् पितृपितामहप्रपितामहेभ्य एव त्रिभ्यो ब्राह्मणभोजनम्। एकैकस्मै त्रयः पञ्च वा, कल्पान्तरे धर्मशास्त्रेषु च दर्शनात्। विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्राह्मणभोजनं युग्मसंख्यया।

"मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविक" (या. स्मृ. १-२२८.) मिति याज्ञवल्क्यः ॥ २॥

तात्पर्यदर्शनम्

शुचित्वादिगुणयुक्तान् ब्राह्मणान्, अनर्थावेक्षः प्रत्युपकारादिदृष्टप्रयोजनानवेक्षो, भोजयेदिति वाक्यार्थः। पदार्थस्तु—शुचयो वाङ्मनः कायशुद्धाः। न च वाच्यं धर्मशास्त्रे 'शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप. ध. २-१५-९) इति सर्वार्थमुक्तत्वादिह पुनश्शुचित्ववचनमनर्थकमिति; यतोऽल्पविद्यानपि शुचीनेव भोजयेत्, तदभावे वरं क्रियालोपो, न त्वशुचीनित्येवं शुचित्वादरार्थम्। मन्त्रवतो मन्त्रब्राह्मणवतः योनिगोत्रमन्त्रासम्बन्धानित्यत्र 'द्वन्द्वात्परं श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायेन, योन्या असम्बन्धाः, गोत्रेणासम्बन्धाः, मन्त्रेणासम्बन्धाः, इत्यर्थो भवति। तत्र योनिसम्बन्धाः श्वशुरमातुलमातुलेयादयः। गोत्रसम्बन्धा एकगोत्रास्सपिण्डादयः । मन्त्रसम्बन्धाः याज्ययाजकाध्येत्रध्यापयितारः । यत्तु धर्मशास्त्रे 'मन्त्रान्तेवास्यसम्बन्धान्' (आप. ध २-१६-४) इति मन्त्रसम्बन्धव्यतिरेकेणान्तेवास्यसम्बन्धानित्युक्तं तदङ्गाध्येतृश्रोतृलक्षणमन्त्रसम्बन्धनिषेधाभिप्रायम्।

ननु-सामयाचारिकेष्वेव ब्राह्मणानां मन्त्रवत्त्वं योनिगोत्रमन्त्रासम्बन्धत्वं च सिद्धम्; तदिह किमर्थं पुनरुक्तम्? उच्यते—नित्ये मासिश्राद्धे गृह्योक्तगुणानपि भोजयेत्, [2]नावश्यं धर्मोक्तान् ब्रह्मविदोऽन्तेवास्यसम्बन्धानित्येवमर्थम्। अयुग्मा विषमसङ्ख्याकाः। त्र्यवराः त्रित्वमवरं सङ्ख्या येषां ते त्र्यवराः।

---

१. "आद्यं सपिण्डीकरणं, अनुद्दिश्य क्रियमाणश्राद्धमध्ये तदेव हि प्रथमम्। तद्वर्जितेषु सर्वेषु श्राद्धेषु कामं त्रयाणामेकं भोजयेत् इति गार्ग्यनारायणः"।

२. ब. ङ. भोजयेत् अलाभे नावश्य।

एतच्च पितृपितामहप्रपितामहविषयम्। ततश्च पित्रादीनां त्रयाणां प्रत्येकं त्रीन् पञ्च वा, [1]न पुनस्सप्तादीन्,

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे॥ (म० स्मृ० ३-१२५.)

इति मनुवचनात्।

नन्वस्मिन् मनुवचने 'पितृकार्ये त्रीन्' इत्युक्त्वा 'न प्रसज्येत विस्तरे' इत्युक्तं, तत्किमिति 'पञ्च वा' इत्युक्तम्? उच्यते-अयुग्मांस्त्र्यवरानिति सूत्रवचनात्। एवं तर्हि 'एकैकमुभयत्र वा' इति विरुद्धः। न; तस्यानुकल्पत्वात्। अत्र यद्यपि मात्रादिभ्यः पृथगेव पिण्डदानदर्शनं, तथापि तासां पृथग्ब्राह्मणभोजनं न भवति, होमाभिमर्शनयोः पृथक्त्वादर्शनात्, पितृमात्रर्थब्राह्मणसङ्ख्यासङ्कलनं सत्ययुग्मत्वविरोधात्, आचाराभावाच्च।

अपि च—

[2]अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेऽहनि।

मातुश्श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥

इति मनुवचनादष्टकादिभ्योऽन्यत्र मासिश्राद्धादौ पृथक्त्वाभावस्स्पष्ट एवावगम्यते। इह च सूत्रकारभाष्यकाराभ्यामनुक्तमपि विश्वेदेवार्थं युग्मानां भोजनं कर्तव्यम् 'द्वौ दैवे' इति मनुयाज्ञवल्क्याभ्यामुक्तत्वात्,

पिशाचा राक्षसा यक्षा भूता नानाविधास्तथा।

विप्रलुम्पन्ति सहसा श्राद्धमारक्षवर्जितम्।

तत्पालनाय विहिता विश्वेदेवास्स्वयम्भुवा॥

इत्यादि छागलेयवचनात्, अविगीतशिष्टाचाराच्च। यदा त्वेक एव ब्राह्मणो लभ्यते, तदा तं पित्राद्यर्थमेव भोजयेत्, प्रधानत्वात्। अङ्गभूतस्य तु वैश्वदेवस्य—

यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवं तत्र कथं भवेत्।

अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च॥

देवतायतने कृत्वा तत्र श्राद्धं प्रकल्पयेत्।

प्रास्येदग्नौ तदन्नं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे॥ (व. ११-३०, ३१)

इति वसिष्ठोक्तविधिनानुष्ठानम्।

ननु च—

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदैविकम्। (या. स्मृ. १-२२८),

---

१. ख-अथवा सर्वेषां त्रीन्पञ्च वा इत्यधिकम्।

२. इदानीन्तनेषु मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषु श्लोकोऽयं नोपलभ्यते।

तथा—

मातामहानामप्येवं श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः।
मन्त्रोहेन यथान्यायं शेषं मन्त्रविवर्जितम् ॥ (वि.स्मृ.७५)

तथैव—

पृथङ्मातामहानां च वैश्वदेवसमन्विम्।
कुर्वीत भक्तिसम्पन्नं तन्त्रं वा वैश्वदैविकम् (वि.पु.३-१५-१६)

इति याज्ञवल्क्यविष्णुस्मृत्योः विष्णुपुराणे च विधिदर्शनात् मातामहश्राद्धमपि नित्यमेवावगम्यते। तत्किमिति सूत्रकारभाष्यकारौ न ब्रूतः?

उच्यते—नैव तत्रापि स्मृत्यन्तरेषु पित्र्यवत्सर्वस्यैव जीवतो द्विजस्यावश्यं मातामहश्राद्धमपि नियमेन कर्तव्यमिति विधित्सितम्। कृते अभ्युदयः, अकरणे न प्रत्यवाय इति। कस्य तर्हि नियमेन कर्तव्यमिति विधिरिति चेत्; यः पुत्रिकाकृताया आसुरादिविवाहोढाया वा पुत्रो मातामहेन सह मातुस्सापिण्ड्यं करोति, तस्य मातामहश्राद्धं नियतमेव, अकरणे च प्रत्यवायः। मासिश्राद्धे तु मातुः पृथक् श्राद्धाभावान्मातामहश्राद्धांशभागित्वोपपत्तेः। अथ वा यो दौहित्रोऽपुत्रस्य मातामहस्याखिलार्थहारो तस्यैतच्छ्राद्धं नियतम्। यथाह लौगाक्षिः—

श्राद्धं मातामहानां च अवश्यं धनहारिणा।
दौहित्रेण विधिज्ञेन कर्तव्यं विधिवत्सदा ॥

इति। इममेवार्थं भारुचिरप्याह—

'यस्मिन् पक्षे अपुत्रो मातामहः, पुत्रिकासुतश्चाखिलद्रव्यहारी, तस्मिन् पक्षे तस्य पिण्डदाननियमः' इत्यादिना ग्रन्थेन। मातामहश्राद्धप्रयोगश्च स्मृत्यन्तरेभ्यो न्यायतश्च प्रत्येतव्यः। तस्मात् सर्वस्य दौहित्रस्य पित्र्यवत् कर्तव्यमेवेति नियमाभावात्सूत्रकारभाष्यकारौ न ब्रूतः ॥ २ ॥

*अन्नस्योत्तराभिर्जुहोति ॥ ३ ॥

अनु०—'यन्मे माता' इत्यादि अगले सात ऋचाओं द्वारा ब्राह्मणों के लिए पकाये गये अन्न से हवन करे ॥ ३ ॥

टि०—ब्राह्मणों के भोजन के लिये बनाये गये भोजन में से निकालकर हवन किया जायगा। 'अमुष्मा' की जगह पिता का, पितामह का तथा अन्त में प्रपितामह का नाम लिया जायगा। अन्त में स्वाहा शब्द का प्रयोग होगा। कुछ लोग मातामह के लिये भी होम का विधान करते हैं ॥३॥

---

* सूत्रद्वयमिदं क. ख. ङ. च. पुस्तकानुसारेण एकं सूत्रं हरदत्तमते।

अनाकुला

उत्तराभिः 'यन्मे माते' त्यादिभिः स्त्रीलिङ्गनिर्देशादृग्भिस्सप्तभिः अन्नस्यैकदेशं जुहोति। ब्राह्मणभोजनार्थं कल्पितादन्नादुद्धृत्य जुहोतीत्यर्थः। तत्र 'अमुष्मा' इत्यस्य स्थाने आदितो द्वयोः पितुर्नामनिर्देशः। मध्यमयोः पितामहस्य। अन्त्ययोः प्रपितामहस्य। "यदि द्विपिता स्यादेकैकस्मिन् पिण्डे द्वौ द्वावुपलक्षयेत्"(आप.श्रौ.१-२७.) इति न्यायेन द्विपितुर्द्वयोरुपलक्षणम्-अमुष्मा अमुष्मा इति। अन्ते स्वाहाकारः। केचित् 'पितरौ वृञ्जेता' मित्यूहं कुर्वन्ति। (ऋग्विकल्पं कुर्वन्ति) एतेन पितामहप्रपितामहौ व्याख्यातौ। तथा 'स्वाहा पित्र' इत्यत्रापि केचिदूहं कुर्वन्ति। अपरे न-पितृत्वमत्र विवक्षितं एकत्वमविवक्षितमिति। केचित् मातामहानामप्यूहेन होमं कुर्वन्ति-'यन्मे मातामही, यन्मे मातुः पितामही, यन्मे मातुः प्रपितामही, तन्मे रेतो मातामही वृङ्क्तां' इत्यादि ॥३॥

तात्पर्यदर्शनम्

अत्रान्नशब्देन ब्राह्मणभोजनार्थमन्नं विवक्षितम्, षष्ठ्या चापादानापादेयभावः। तेनायमर्थः-ब्राह्मणभोजनार्थात्सर्वस्माद्धविष्यजातादोदनापूपादेर्होमार्थमेकस्मिन्पात्रे सहोद्धृत्य, तस्मात् पार्वणवदवदानधर्मणावदायोत्तराभिः 'यन्मे माता' इत्यादिभिस्सप्तभिः प्रत्यृचं प्रधानाहुतीर्जुहोति। न तु बहुमन्त्रक एको होमः, 'एतद्वा विपरीतम्' (आप.गृ.२१-५.) इति बहुत्वलिङ्गात्। लिङ्गं च 'एतद्वे'ति सूत्रव्याख्याने व्यक्तं भविष्यति। अत्र प्रथमाद्वितीययोर्मन्त्रयोरमुष्मा इत्यस्य स्थाने विष्णुशर्मण इति चतुर्थ्या पितुर्नामग्रहणम्। एवं तृतीयचतुर्थयोः पितामहस्य, पञ्चमषष्ठयोः प्रपितामहस्य। सप्तमे त्वदश्शब्दाभावान्नास्ति नामग्रहणम्। अनूह्श्चात्र द्विपित्रादिकस्यापि 'तस्मादृचं नोहेत्' (आश्व. श्रौ.) इति ऋगूहप्रतिषेधश्रुतेः, 'न प्रकृतावूहो विद्यते' (आप. प. ३-५०) इति प्रकृतावूहनिषेधाच्च। तस्मात् 'पिता वृङ्क्ताम्' इत्याद्येकवचनं पित्रादिसामान्यपरम्। अत एव प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोरनेकपत्नीकस्यापि 'पत्नीं सन्नह्य' इत्येकवचनेनैव सम्प्रैषः।

ऊह इत्युपदेशः। प्रकृतावेव द्वादशाहे "अद्य सुत्यामित्यालेखनः" इत्यूहदर्शनात्।

'एष ते तत मधुमान्' इत्यादिष्वेष एव न्यायः। जीवपित्रादिकस्तु पित्रादेः पित्रादीनां त्रयाणां मृतानां नामानि गृह्णाति। यस्तु प्रमीतपितृकोऽयं ध्रियमाणपितामहस्स्यात्, स स्वपितुश्च तत्पितामहप्रपितामहयोश्च नामानि गृह्णीयात्।

१. ख-ग—पित्रादिस्व-च—पित्रादिद्वित्व.

तथा मन्त्रेषु प्रतियोगिभेदेऽपि पितृपितामहप्रपितामहशब्दानामेव प्रयोगः। ऊहपक्षे तु तत्तत्प्रतियोगिनिर्देशपूर्वकः 'पितुः पिता वृङ्क्ताम्' पितुः पितामहो वृङ्क्ताम्' इत्यादिकः प्रयोगः। न च जीवपित्रादिकस्य मासिश्राद्धं नास्तीत्याशङ्कनीयम्,

म्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
पूर्वेषु त्रिषु दातव्यं जीवेच्चेत्त्रितयं यदि ॥ (म. स्मृ. ३-२२०)

इत्यादिवचनजातात्।

नन्वेवमपि व्युत्क्रमप्रमीतपित्रादिकस्य नैव घटते,

'व्युत्क्रमाच्च प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता।'

इति व्युत्क्रममृतानां सपिण्डीकरणनिषेधेन सपिण्डीकृतपितृसम्प्रदानके श्राद्धे तत्पुत्रादीना[1] मधिकाराभावात्।

मैवम;

पिता यस्य तु वृत्तस्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुस्स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः॥

(म. स्मृ. ३-२२१, २२२)

इति मनुवचनेन व्यत्क्रमप्रमीतपित्रादिकस्यापि श्राद्धविधानात्। ततश्च व्युत्क्रमाच्चेति निषेधः पाक्षिक इति निश्चयादधिकारोऽपि पाक्षिकोऽवगम्यते ॥ ३ ॥

आज्याहुतीरुत्तराः ॥ ४ ॥

अनु०—इसके बाद छः आज्य आहुतियाँ करे ॥ ४ ॥

टि०—छः आज्य आहुतियाँ होती हैं। आरम्भ में स्वाहा शब्द का उच्चारण होता है, अन्त में नहीं। मासिश्राद्ध में ब्राह्मणभोजन प्रधान कर्म होता है और पिण्ड कर्म उसका अंग होता है। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार श्राद्ध में तीनों ही प्रधान होते हैं। अग्नि कर्म ब्राह्मणभोजन तथा पिण्डदान। आज्य आहुतियों के पहले सात अन्य आहुतियाँ होती हैं ॥४॥

अनाकुला

षडाज्याहुतीर्जुहोति-स्वाहा पित्र इत्याद्याः। तत्र 'स्वाहा पित्र' इति पुरस्तात् स्वाहाकारत्वान्नान्ते स्वाहाकारः। अत्राहुः—मासिश्राद्धे ब्राह्मणभोजनं प्रधानकर्म तदङ्गमग्नौकरणं पिण्डश्च। तेन जीवपितृश्राद्धक्रिया न भवति। 'यदि जीव-

---

१. ख. क. ब तत्पित्रादीना।

पिता न दद्यात्' इति निषेधात्। 'आहोमात् कृत्वा विरमेत्' इत्ययमपि विधिर्न भवति। होमस्य भोजनाङ्गत्वात् पिण्डपितृयज्ञे तु होमस्य प्रधानत्वादिति। अन्ये तु येभ्य एव पिता दद्यात् तेभ्य एव पुत्रोऽपीत्याहुः।

अपर आह—त्रीणि श्राद्धे प्रधानानि—अग्नौकरणं भोजनं पिण्डदानमिति तेना 'होमात् कृत्वा विरमे' दित्यस्यापि विधेरयं विषय इति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

एवमन्नहोमान् हुत्वा, अनन्तरमुत्तराः 'स्वाहा पित्रे' इत्याद्याष्षडाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ४ ॥

एतद्वा विपरीतम् ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा इसके विपरीत तीसरे सूत्रों के मन्त्रों से आज्य आहुतियाँ करे और चौथे सूत्र में निर्दिष्ट मन्त्रों से अन्न की आहुतियाँ करे ॥ ५ ॥

टि०—किन्तु इसका विकल्प भी है। पहले सात आज्य आहुतियाँ करने बाद के में छः अन्न आहुतियाँ भी की जा सकती हैं ॥ ५ ॥

अनाकुला

पूर्वास्सप्ताज्याहुतयः उत्तराष्षडन्नाहुतय इत्यर्थः। मन्त्रास्तु यथाम्नातमेव। प्रयोगः—पूर्वेद्युर्निवेदनं सायं भोजनानन्तरं श्वः श्राद्धं भविष्यतीति। तत आरभ्य व्रतचर्या सर्वेषाम्। (वयं तु ब्रूमः पूर्वेद्युः सायं भोजनं न भवति। "यदनाश्वानुपवसेत् पितृदेवत्यस्या" दिति लिङ्गादिति।) अथापरेद्युः प्रातः द्वितीयं निवेदनम्—अद्य क्रियत इति। अथाभ्यङ्गस्ततोऽपराह्णे स्नातान् कृतपच्छौचान् तानामन्त्रयते। पूर्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यो यज्ञोपवीती युग्मान् द्वौ चतुरो वा 'मासि श्राद्धे विश्वेभ्यो देवेभ्यः क्षणः कर्तव्य' इति। 'ओं तथे'ति प्रतिवचनम्। 'प्राप्नोतु भवा'निति यथासनं प्रापणम्। 'प्राप्नवानी'ति प्रतिवचनम्। देवेभ्यः प्राङ्मुखाः ब्राह्मणाः प्राङ्मूलेषु दर्भेषु। पितृभ्य उदङ्मुखाः द्विगुणभुग्नेषु दक्षिणाग्रेषु युवानः पित्रे। वृद्धाः पितामहाय। वृद्धतमाः प्रपितामहाय। एकैकस्य [1]त्रयस्त्रयो वा। शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे श्राद्धागारं सर्वतः परिश्रितमुदग्द्वारं तस्य पूर्वोत्तरे देशे अग्निरौपासनः। तस्या दक्षिणतः पिण्डदानार्थं स्थण्डिलम्। तस्य दक्षिणतः उदङ्मुखाः पित्रर्थाः पश्चात् प्राङ्मुखाः देवार्थाः। तस्मिन्नेव स्थण्डिले यथावकाशं त्रिषु पात्रेषु पितृभ्य उदकान्यर्घ्याणि दक्षिणापवर्गाणि तिलवन्ति। देवेभ्य एकस्मिन्यवमति। तानि पुष्पैरवकीर्य

१. 'त्रयः पञ्च वा' इति ङ. पुस्तके।

दर्भेषु सादयित्वा दर्भैः प्रच्छाद्य आसनगतानां ब्राह्मणानां हस्तेषु स्वस्मात्स्वस्मात् उदपात्रात् पात्रान्तरेणाप आदाय 'विश्वे देवा इदं वोऽर्घ्यं' 'पितः इदं तेऽर्घ्यं' 'पितामह इदं तेऽर्घ्यं' 'प्रपितामह इदं तेऽर्घ्यं' इत्यर्घ्याणि ददाति तूष्णीं वा। पुरस्तादुपरिष्टाच्च शुद्धोदकम्। ततो गन्धादिभिः वासोभिश्च द्विजानभ्यर्च्य। 'उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियता' मित्यामन्त्रयते। 'काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियतां' इति प्रतिवचनम्। ततो ब्राह्मणार्थं संस्कृतादन्नादुद्धृत्यापरेणाग्निं बर्हिषि प्रतिष्ठाप्याभिघार्याग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते त्रयोदश प्रधानाहुतीर्जुहोति ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यद्वा-विपरीतमेतद्भवति, 'यन्मे माता' इत्याद्याः पूर्वास्सप्ताज्याहुतयः, 'स्वाहा पित्रे' इत्याद्या उत्तराष्षडन्नाहुतय इति ॥ ५ ॥

सर्वमुत्तरैरभिमृशेत् ॥ ६ ॥

अनु०—आगे के 'एष ते तत मधुमान्' आदि तीन मन्त्रों द्वारा पूरे भोज्यान्न का स्पर्श करे ॥ ६ ॥

टि०—प्रधान आहुतियाँ करने के बाद स्विष्टकृत के लिये हवन करे। उसके बाद जयादि आहुतियाँ होती हैं। इन सभी कर्मों को करते समय प्राचीनावीत धारण करने का नियम है। कुछ लोगों के अनुसार जयादि आहुतियाँ नहीं की जाती हैं। तीन मन्त्रों का जप करके ब्राह्मणों के लिये पकाये गये अन्न का छुवे। चूंकि एक बार में सबका स्पर्श नहीं किया जा सकता, अतः मन्त्र की आवृत्ति की जायगी ॥ ६ ॥

अनाकुला

एवं प्रधानाहुतीर्हुत्वा सौविष्टकृतं हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते। साङ्गे प्रधाने सर्वत्र प्राचीनावीतम्। न जयादय इत्यन्ये। परिषेचनान्तं कृत्वा प्रणीताश्च विमुच्य ततस्सर्वमन्नं होष्यं च समुपनिधाय हुतशेषं च तस्मिन् उत्सृज्य तमुत्तरैस्त्रिभिः अभिमृशेत् 'एष ते तत मधुमानि' त्येतैः। अत्राप्यूहः 'एष ते मातामह मधुमा'नित्यादि ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ ब्राह्मणभोजनार्थं हविष्यमहविष्यं च सर्वमन्नं उत्तरैः 'एष ते तत मधुमान्' इत्येतैस्त्रिभिर्मन्त्रैः अभिमृशेत्। एकयत्नेन सर्वस्याभिमर्शनासम्भवे मन्त्रावृत्तिः; शेषिपरतन्त्रत्वाच्छेषाणाम् ॥ ६ ॥

क्लृप्तान्वा प्रतिपूरुषम् ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक व्यक्ति के लिए भोजनपात्र में रखे गये भोजन का एक-एक मन्त्र द्वारा स्पर्श करे ॥ ७ ॥

टि०—प्रत्येक व्यक्ति के लिये परोसे गये भोजन का स्पर्श करे। भोजन का स्पर्श एक-एक मन्त्र से करे और मन्त्र में के यथालिङ्गनिर्देश के साथ स्पर्श करे। पिता आदि एक-एक के लिये अनेक ब्राह्मण होने से मन्त्र की आवृत्ति की जायेगी ॥७॥

अनाकुला

अथ वा भोजनपात्रेषु कल्प्तानोदनविशेषान् प्रतिपुरुषं पृथगभिमृशेत् यथालिङ्गम्। तत्र यावन्तः पित्रर्थे भोज्यन्ते तावत्सु प्रथमस्य मन्त्रस्यावृत्तिः, एवमुत्तरयोः। ततः पात्रेषु कल्पितानन्नशेषान् ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथवा–पित्राद्यर्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपूरुषं भोजनपात्रेषु क्लृप्तान् प्रकल्पितान् भोज्यपदार्थान् एकैकेन मन्त्रेण यथालिङ्गमभिमृशेत्। अत्रापि पित्रादेरेकैकस्य ब्राह्मणबहुत्वे युगपदभिमर्शनासम्भवे च तत्तन्मन्त्रावृत्तिः ॥ ७ ॥

उत्तरेण यजुषोपस्पर्शयित्वा ॥ ८ ॥

अनु०—आगे के 'पृथिवी ते पात्रम्' आदि यजुस् मन्त्र से उन ब्राह्मणों द्वारा भोजन का स्पर्श कराकर (भोजन करावे) ॥ ८ ॥

टि०—उन्हें तृप्त समझ कर मधुमती सुनवावे। भूमि पर अन्न बिखेरे। आचमन कर लेने के बाद पुनः जल देकर पितरों के लिए 'स्वदितम्' आदि का तथा विश्वेदेव के लिए 'रोचते' आदि का वाचन करावे। श्रद्धा के अनुसार दक्षिणा देकर शेष अन्न से पिण्ड और प्राशन के लिए निकालकर शेष प्रस्तुत करे तथा पूछे। "अन्नशेषैः किं क्रियताम्"। ब्राह्मण उत्तर में कहे "इष्टैस्सहोपभुज्यताम्" ॥ ८ ॥

अनाकुला

उत्तरेण यजुषा 'पृथिवी ते पात्र' मित्यनेन ब्राह्मणैः स्पर्शयित्वा भोजयेदिति शेषः। तत्र च 'ब्राह्मणानां त्वा, 'मैषां क्षेष्ठाः' इति बहुत्वं दृश्यते तथापि प्रतिपुरुषं मन्त्रावृत्तिः[1] उपरवमन्त्रवत्, वत्सापाकरणमन्त्रवच्च। तत्र पूर्वं देवाना-

१. ज्योतिष्टोमे दक्षिणहविर्धानस्य शकटस्याधोभागे द्रोणकलशाख्यपात्रविशेषस्याधस्तात् चत्वारि बिलानि खन्यन्ते। तेषामुपरव इति संज्ञा। तत्खननार्थं मन्त्राः "रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामि" इति। तत्रैकैकस्याप्युपरवस्य खनने मन्त्रः पठ्यते। तत्र यथा मन्त्रे "वैष्णवान्" इति बहुवचनान्तत्वेऽपि यथा मन्त्रावृत्तिः तद्वदित्यर्थः ॥ एवं दर्शयागे सायं दोहनार्थं अमावास्यायां प्रातः वत्साः स्वस्वमातृतः अपाक्रियन्ते "वायवस्थोपायवस्थ" इति मन्त्रेण तत्र 'वायवः' इति बहुवचनान्तत्वेऽपि एकैकवत्सापकरणेऽपि मन्त्रः प्रयुज्यते। प्रतिवत्सापकरणं च मन्त्रावृत्तिः क्रियते तद्वच्चेत्यर्थः ॥

रुपस्पर्शनं 'विश्वे देवास' इत्यनयर्चा, स्मृत्यन्तरे दर्शनात्। वैष्णव्येत्यपरे। इदं विष्णुरित्यन्ते विष्णो हव्यं रक्षस्वेति। तथा पित्र्येष्वप्यन्ते विष्णो कव्यं रक्षस्वेति। भुञ्जानेषु पराङावर्तते। रक्षोघ्नान् पित्र्यान् वैष्णव्यानन्यांश्च पवित्रान् धर्म्यान् मन्त्रान् धर्मशास्त्रमितिहासपुराणांश्चाभिश्रावयति।

ततस्तृप्तान् ज्ञात्वा मधुमतीः श्रावयेत् 'अक्षन्नमीमदन्ते'ति च। अथ भूमावन्नं विकिरति—'ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा ये वा जाताः कुले मम। भूमौ दत्तेन पिण्डेन तृप्ता यान्तु परां गति मि'ति। अथाचान्तेषु पुनरपो दत्वा 'स्वदित' मिति पित्र्यर्थान् वाचयति 'रोचत' इति वैश्वदेवार्थान्। ततो यथाश्रद्धं दक्षिणां दत्वा सर्वेभ्योऽन्नशेषेभ्यः पिण्डार्थं प्राशनार्थञ्चोद्धृत्य शेषं निवेदयेत्-अन्नशेषैः किं क्रियतां इति। इष्टैःसहोपभुज्यतामिति प्रतिवचनम्।

'दातारो नोऽभिवर्धन्तां' वेदास्सन्ततिरेव नः[1]।
श्रद्धा च नो मा व्यपगात् बहुदेयं च नोऽस्तु'॥ इति प्रार्थयते।

'दातारो वोऽभिवर्धन्ता'मित्यूहेन प्रतिवचनम्। भुक्तवतः प्रदक्षिणीकृत्य, नमस्कारः। ओं स्वधेति पितृभ्यः। विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति विश्वेषां देवानाम्। तत्र सर्वकर्मणां वैश्वदेवेषु पूर्वं प्रवृत्तिः पश्चात् पित्र्येषु। विसर्जने विपर्ययः। अभिश्रवणादि यज्ञोपवीती प्राचिदण्डेभ्यः; कल्पान्तरदर्शनात् ॥८॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरेण 'पृथिवी ते पात्रम्' इत्यनेन यजुषा, क्लृप्तानन्न विशेषान् ब्राह्मणान् हस्ते गृहीत्वोपस्पर्शयित्वा, तं भोजयेदिति शेषः। अत्र च मन्त्रे यद्यपि ब्राह्मणानामिति बहुवचनं तथापि युगपत् स्पर्शयितुमशक्यत्वात् प्रतिपुरुषं मन्त्रावृत्तिः, यथा—'वान्वसथ' (तै. सं-१-१-१.) इति मन्त्रः प्रतिवत्सम्। एवंविधेषु बहुवचनं प्रयोगसाधुत्वार्थं, एकप्रयोगवचनप्रयोज्यानेकव्यक्त्यभिप्रायं वा ॥८॥

भुक्तवतोऽनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य द्वैधं दक्षिणाग्रान् दर्भान् सँस्तीर्य तेषूत्तरैरपो दत्वोत्तरैर्दक्षिणापवर्गान् पिण्डान्दत्वा पूर्ववदुत्तरैरपो दत्वोत्तरैरुपस्थायोत्तरयोदपात्रेण त्रिः प्रसव्यं परिषिच्य न्युब्ज्य पात्राण्युत्तरं यजुरनवानं त्र्यवरार्ध्यमावर्तयित्वा प्रोक्ष्य पात्राणि द्वन्द्वमभ्युदाहृत्य सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषा शेषस्य ग्रासवरार्ध्यं प्राश्नीयात् ॥ ९ ॥

अनु०—जब वे लोग भोजन करके जावें तो उनके पीछे चले, प्रदक्षिणा करे, दो

[1] ड. वेदसन्ततिरेव च।

परत में कुशों को उनका अग्रभाग दक्षिण की ओर करते हुए बिछावे; उनके ऊपर 'मार्जयन्तां मम पितरः' आदि मन्त्रों से जल गिरावे, फिर 'एतत्ते ततासौ' और 'एतत्ते मातरसौ' आदि मन्त्रों से यथालिङ्ग पिण्डदान करे और सबसे अन्त में दक्षिण की ओर के पिण्ड दे, फिर पहले की तरह आगे के छः मन्त्रों से जल देवे। इसके बाद आगे के 'ये च वोऽत्र' आदि मन्त्रों से पूजन करे। आगे के मन्त्र 'पुत्रान् पौत्रान्' आदि द्वारा तीन बार दाहिने से बायें की ओर पिण्डों के चारो ओर जलपात्र से तीन बार जल गिरावे, पात्रों को उलट कर और अगले यजुस् 'तृप्यत तृप्यत तृप्यत' की एक ही साँस में कम से कम तीन बार आवृत्ति करे' पात्रों का जल से प्रोक्षण करे। फिर उलटे हुए पात्रों को दो-दो करके सीधा करें। सम्पूर्ण अन्न में से अवदान अंश निकाले और 'प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि' आदि अगले यजुस्मन्त्र से उस अवशिष्ट अन्न में से कम से कम एक कौर का भक्षण करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

ततस्तान् भुक्तवतोऽनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यावृत्य प्राचीनावीती पिण्डप्रदानदेशे दक्षिणाग्रान् दर्भान् संस्तृणाति द्वैधं द्वैधा द्वयोः स्थानयोरसंभिन्नानित्यर्थः। तत्र पितृभ्यः पुरस्तात् स्तृणाति, मातृभ्यः पश्चात्। तथा चाश्वलायनः— कर्षूष्वेके द्वयोष्षट्सु वा, पूर्वासु पितृभ्यो दद्यात्, अपरासु स्त्रीभ्यः (आश्व. गृ. १-५-६,७,८) इति। 'दक्षिणाग्रैः पित्र्येषु' (आप. गृ. १.७) इत्यस्य परिस्तरणविषयत्वादिह दक्षिणानीत्युक्तम्। संस्तीर्य तेषूत्तरैर्मन्त्रैः 'मार्जयन्तां मम पितर' इत्यादिभिरपो ददाति। पूर्ववदिति वक्ष्यमाणमन्त्रा अप्यपकृष्यन्ते। पिण्डं पूर्ववत् ददाति पिण्डपितृयज्ञे यत् पिण्डदानं तदित्यर्थः। तेन त्रीनुदकाञ्जलीनित्येवमादयो विशेषा इहापि भवन्ति। तत्र पितृलिङ्गैः पितृभ्यः स्तीर्णेषु, मातृलिङ्गैर्मातृभ्यः स्तीर्णेषु।

एवमपो दत्वा तत उत्तरैर्मन्त्रैः 'एतत्ते ततासा'वित्यादिभिस्तेषु दर्भेषूभयेषु दक्षिणापवर्गान् पिण्डान् ददाति यथालिङ्गं पितृभ्यश्च मातृभ्यश्च। असावित्यत्र सर्वत्र नामग्रहणं यथालिङ्गम्। अत्रापि पूर्ववदित्यस्य सम्बन्धात् सव्यं जान्वाच्यावाचीनपाणिरित्यादि विधानमिहापि भवति। अनेकपितृकस्योह इति पैङ्गिसूत्रम्। 'एतद्वां ततौ यज्ञशर्मविष्णुशर्माणौ ये च युवामनु' 'एतद्वां पितामहा' वित्यादि। 'एतद्वां मातरावसौ याश्च युवामनु' इत्यादिदक्षिणापवर्गानित्युच्यते— उभयेषां पिण्डानां पृथक् दक्षिणापवर्गता यथा स्यादिति। तेन पितृपिण्डानां दक्षिणतो मातृपिण्डा न भवन्ति। किं तर्हि? पश्चात्।

एवं पिण्डान् दत्वा पूर्ववदुत्तरैरपो ददाति पितृभ्यश्च मातृभ्यश्च। मन्त्रसमाम्नाये 'मार्जयन्तां मम पितर इत्येते' इति मन्त्राणां पुनरादिष्टत्वात्। 'उत्तरै-

रपो दत्वा' इत्येव सिद्धे पूर्ववदित्यतिदेशः पिण्डपितृयज्ञप्रत्यवमर्शनार्थः—पिण्डेषु चोदकाञ्जलिषु च। तत उत्तरैर्मन्त्रैः तानुपतिष्ठते यथालिङ्गं 'ये च वोऽत्रेति पितॄन्, याश्च वोऽत्रेति मातॄः' ते च 'वहन्तामिति पितॄन्' ताश्च 'वहन्तामिति मातॄः' तृप्यंतु भवंत इति पितॄन्, तृप्यंतु भवत्यः इति मातॄः, तृप्यत तृप्यत तृप्यत इत्युभयान्।

तत उत्तरयर्चा 'पुत्रान् पौत्रानि'त्येतया त्रिः प्रसव्यमुदपात्रेण पिण्डान् परिषिञ्चति। उभयांस्तर्पयन्त्विति लिङ्गात् पिण्डानां सहपरिषेचनम्। उदपात्रवचनं हस्तेन मा भूदिति। प्रसव्यवचनमनुवादः प्रसव्यं त्रिगुणीभूतमेकमेव परिषेचनं सन्ततं यथा स्यात्, न पिण्डपितृयज्ञवत् त्रीणि परिषेचनानि पृथगिति। एवं परिषिच्य ततः पात्राणि यान्यत्र प्रकृतानि त्रीण्यर्घ्यपात्राणि परिषेचनपात्रमुदकुम्भः यस्मिन् पिण्डार्थमन्नमुद्धृतं तच्चेति तानि न्युब्ज्य न्यञ्चि कृत्वा तत उत्तरं यजुः 'तृप्यत तृप्यत तृप्यते' त्येतत् अनवानमनुच्छ्वसन् त्र्यवरार्ध्यमावर्तयति त्रिरभ्यावृत्तिः अवरा मात्रा यस्यावर्तनस्य तत् त्र्यवरार्ध्यम् यजुर्ग्रहणं 'तृप्यते' त्यस्य त्रिरावृत्तस्य पठितस्यैकयजुष्ट्वज्ञापनार्थम्। तस्य त्रिरावृत्तौ नवकृत्वोऽभ्यावृत्तिर्भवति। एवमावृत्य न्यक्कृतानि पात्राणि प्रोक्ष्य द्वन्द्वमभ्युदाहरति उद्दानयति। अभीति वचनात् उत्तरं कर्म प्रत्युदाहरतीत्यर्थः। तेनोत्तरस्मिन्नपि श्राद्धकर्मणि तान्येव पात्राणीत्येके। नेत्यन्ये। एवमभ्युदाहृत्य शेषस्यान्नस्य ग्रासवराध्यं ग्रासोऽवरार्ध्यो अवमा मात्रा यस्य तत् ग्रासवरार्ध्यम् छान्दसो ह्रस्वः। तत्प्राश्नीयात् उत्तरेण यजुषा 'प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि' इत्यनेन सर्वतस्सर्वेभ्यः श्राद्धशेषेभ्य अन्नशेषेभ्य इत्यर्थः। श्राद्धाङ्गमिदं प्राशनं, न नित्यस्याशनस्य नियमविधिः। तस्मात् तत्रापि प्राचीनावीतमेव। आचमने तु यज्ञोपवीतमनङ्गत्वात्। ततः पञ्चमहायज्ञानां प्रवृत्तिः ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ भुक्तवतो व्रजतो ब्राह्मणानागृहसीमान्तमनुव्रज्य प्रदक्षिणीकरोति। एतयोश्च यज्ञोपवीतम्। कथम्? प्रदक्षिणे तावत् 'यज्ञोपवीतिना प्रदक्षिणम्' इति साहचर्यात्। अनुव्रजनेऽप्यनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्येति प्रदक्षिणसाहचर्यात्। तन्त्रेण चैतदुभयं, सम्भवात्[1]। यदि तु कारणवशात्तन्त्राभावः, तदा पृथक्पृथक्। अथ प्रत्येत्य प्राचीनावीती पिण्डदानदेशे दक्षिणाग्रान् दर्भान्, द्वैधं द्वेधा संस्तृणाति। तत्र पुरस्तात्पित्राद्यर्थं, पश्चान्मात्राद्यर्थम्; आश्वलायने दर्शनात्, आचाराच्च। ततस्तेषु दर्भेषूत्तरैः 'मार्जयन्तां मम पितरः' इत्यादिभिस्त्रिभिः, 'मार्जयन्तां मम मातरः' इत्यादिभिश्च यथार्हं दक्षिणापवर्गमपो

१. ङ—चैतदुभयं भवति।

दत्वा अनन्तरमुत्तरैः 'एतत्ते ततासौ' इत्यादिभिः' एतत्ते मातरसौ 'इत्यादिभिश्च यथालिङ्गं त्रींस्त्रीन् दक्षिणापवर्गान् पिण्डान् ददाति। पिण्डाश्च हुतशेषात् भुक्तशेषाच्च समवदाय कर्तव्याः। अत्र पूर्वेषु त्रिषु मन्त्रेष्वसावित्यस्य स्थाने पितृ पितामहप्रपितामहानां नामानि सम्बुद्ध्या यथाक्रमं गृह्णाति। उत्तरेषु तु त्रिषु मातृपितामहीप्रपितामहीनाम्। 'दक्षिणतोऽपवर्गः' (आप. गृ. १-१०) इति सामान्यविधिसिद्धस्येह पुनर्वचनं, पिण्डदान एव दक्षिणापवर्गः, द्वैधं दर्भास्तरणेषु तु पश्चिमापवर्ग इति ज्ञापनार्थम्, तथोभयेषां पिण्डानां प्रत्येकं दक्षिणापवर्गसिद्ध्यर्थं च। अथ पूर्ववत् 'मार्जयन्ताम्' इत्यादिभिरेवापो ददाति।

केचित्—'तेषूत्तरैरपो दत्वा उत्तरैर्दक्षिणापवर्गान् पिण्डान् दत्वा' इत्येतयोरपि 'पूर्ववत्' इति पदमपकृष्य त्रिष्वपि सूत्रेषु चोद्यमानं पूर्ववत् पिण्डपितृयज्ञवत्कर्तव्यमिति व्याचक्षते। प्रयोजनं तु "त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयति" (आप. श्रौ. १-८-१०) 'सव्यं जान्वाच्यावाचीनपाणिः' (आप. श्रौ. १-९-१) इत्यादिविधानमिहापि भवतीति। तन्न; अपकर्षस्यैवायुक्तत्वात्, पूर्ववदित्यस्य पिण्डपितृयज्ञवदित्येवंबुद्ध्यनुदयाच्च। यदि त्वाचारबलात् 'सव्यं जान्वाच्य' इत्यादीहापि कर्तव्यमेवेत्युच्येत, तदा न कश्चिद्दोषः।

अथोत्तरैः 'ये च वोऽत्र' इत्यादिभिष्षड्भिर्मन्त्रैर्यथा क्रमं यथालिङ्गं पितॄन् मातृश्च त्रिस्त्रिरुपतिष्ठते। तृप्यतेत्यनेन त्रिरावृत्तेन उभयांस्तन्त्रेण॥

केचित्—चत्वारो मन्त्राः न षट्। तत्र प्रथमो मन्त्रो 'ये च वोऽत्र' इत्यादिः 'ताश्च वहन्ताम्' इत्यन्तः उभयेषामुपस्थानार्थः। 'तृप्यन्तु भवन्तः' इति पितॄणाम्। 'तृप्यन्तु भवत्यः' इति मातृणाम्। 'तृप्यत' तृप्यत तृप्यत' इत्युभयेषामिति।

तत उत्तरया 'पुत्रान्पौत्रान्' इत्येतया उभयेषां पिण्डान्युगपदुदपात्रेण त्रिः प्रसव्यमविच्छिन्नं परिषिञ्चति। सामान्यविधिसिद्धस्य प्रसव्यस्येह पुनर्वचनं "प्रदक्षिणीकृत्य" इति वचनादिहापि प्रादक्षिण्यं स्यादिति शङ्कानिरासार्थम्। अनन्तरं पात्राणि होमार्थानि पिण्डदानार्थानि च।

केचित्—भोजनार्थानि वोददानार्थानि च, न तु होमार्थानीति।

न्युब्ज्य अधोबिलानि कृत्वा। तत उत्तरं यजुः 'तृप्यत तृप्यत तृप्यत' इत्याम्नानत एवं त्रिरभ्यस्तम्। अनवानं अनुच्छ्वसन्[२] त्र्यवरार्ध्यं त्रिरभ्यावृत्तिवरा मात्रा यस्यावर्तनस्य तत्त्र्यवरार्ध्यम् यथा भवति तथावर्तयति। ततश्चावमायामपि मात्रायां तृप्यतेति नवकृत्वोऽभ्यसितव्यं भवति। एवमनवानं

---

१. ख.ग.घ—तृप्यत इति त्रिरावृत्तेनो,   २. ख.ग—अनुच्छ्वासं,

यावच्छक्त्यावर्त्य, ततः पात्राणि त्यागभूतानि प्रोक्ष्य, द्वन्द्वमभ्युदाहरति। अत्राभ्युपसर्गादुत्तरं कर्म प्रत्युदाहरति। तेषां पात्राणां [1]निरिष्टिकदोषो नास्तीति भावः। अथ शेषस्यान्नस्य ग्रासवराध्र्यं ग्रासावराध्र्यम्। छान्दसत्वाद्ध्रस्वः। उत्तरेण यजुषा 'प्राणे निविष्टः' इत्यनेन प्राश्नीयात्। एतच्च सर्वतस्सर्वेभ्योऽन्नशेषेभ्यस्समवदाय कार्यम्। इदं च प्राशनं भोजनेच्छायामसत्यामपि ग्रासवराध्र्यमवश्यं प्राश्यं; कर्मांगत्वात्। एवं प्राश्य, ततश्शुद्ध्यर्थं यज्ञोपवीत्याचामेत्॥

अथात्र सूत्राणामपूर्णत्वादन्यतस्सिद्धानपि पदार्थानुपसंहृत्य यथाप्रतिभासं प्रयोग उच्यते—पूर्वेद्युस्सायमौपासनहोमं हुत्वा प्राचीनावीती कृतप्राणायामः श्वो मासिश्राद्धं कर्तास्मीति सङ्कल्प्य शुचित्वादिगुणसम्पन्नेभ्यः श्वित्रादिदोषवर्जितेभ्यः कृतसायमाह्निकेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत्। तत्र प्रथमं यज्ञोपवीती भूत्वा 'श्वो मासिश्राद्धं भविता, तत्र भवद्भिर्विश्वेदेवार्थे क्षणः कर्तव्यः' इति विश्वेदेवार्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत्। ततः प्राचीनावीती 'पित्रर्थे क्षणः कर्तव्यः' इति पित्रर्थेभ्यः। 'पितामहार्थे क्षणः कर्तव्यः' इति पितामहार्थेभ्यः। 'प्रपितामहार्थे क्षणः कर्तव्यः' इति प्रपितामहार्थेभ्यः। एकब्राह्मणपक्षे तु 'पितृपितामहप्रपितामहार्थे क्षणः कर्तव्यः' इति मातामहश्राद्धकारी चेत्, ऊहेन 'मातामहार्थे क्षणः' इत्यादिना निवेदयेत्। तत्र 'चाघारयोस्तदर्थसमिधोराज्यभागयोरग्निमुखाहुतौ स्विष्टकृति प्रायश्चित्ताहुतौ च तथा विश्वेदेवार्थेषु सर्वेषु पदार्थेषु च प्रदक्षिणानुव्रजनयोश्च यज्ञोपवीतमेव। एभ्योऽन्यत्रासमाप्तेस्सर्वत्र प्राचीनावीतमेव। एतच्च प्रागेवोपपादितम्। कर्तुश्चात्र सङ्कल्पादारभ्य आसमाप्तेर्ब्रह्मचर्यादिव्रतचर्या अनशनं च भवति। भोक्तृणामपि मनूक्तोऽक्रोधत्वादिः। अथापरेद्युः प्रातस्तान् ब्राह्मणान् गृहमानीय आचान्तानासनेषूपवेश्य पूर्ववद्द्वितीयमामन्त्रणम्। अत्र त्वद्य श्राद्धं भविष्यतीति भेदः। 'पूर्वेद्युर्निवेदनं अपरेद्युर्द्वितीयं तृतीयं चामन्त्रणम्' इति वचनात्। अथ तेषां पादान् कुण्डेषु सकूर्चतिलेष्ववनिज्याचमय्य, कृसरताम्बूलादीनि दत्वा अभ्यज्य स्नानार्थं प्रस्थापयेत्। ते च स्नायुः। ततस्स्वयं च स्नातो ब्राह्मणभोजनार्थादन्नादन्येनान्नेन वैश्वदेवं पञ्चमहायज्ञांश्च कुर्यात्। केचित् समाप्ते श्राद्धे इति।

ततोऽपराह्णे प्राचीनावीती ब्राह्मणान् प्रक्षालितपाणिपादानाचान्तानासनेषूपवेशयति। तत्र विश्वेदेवार्थान् प्राङ्मुखान् प्राक्कूलेषु दर्भेषु पित्राद्यर्थानुदङ्मुखान् द्विगुणभुग्नेषु दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु। श्राद्धागारं च शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे सर्वतः परिश्रितमुदग्द्वारं च भवति। तस्योत्तरपूर्वदेशेऽग्निरौपासनः। अग्नेर्द-

१. उपयुक्तस्य पुनश्चपयोगो निरिष्टिक इत्युच्यते।

क्षिणतः पिण्डप्रदानार्थं स्थण्डिलम्। तस्य दक्षिणतः पित्राद्यर्थानामासनम्। पश्चात्तु विश्वेदेवार्थानामासनम्। स्थण्डिलेषु यथावकाशं पित्रादिभ्यस्त्रिषु पात्रेषु एकस्मिन् वा शास्त्रान्तरोक्तविधिनाऽर्घ्यार्थमुदकग्रहणम्। विश्वेभ्यो देवेभ्यश्च यथाविधि पात्रान्तरे। तानि गन्धादिभिरभ्यर्च्य, दर्भेषु सादयित्वा दर्भैः प्रच्छाद्याथासनगतानां ब्राह्मणानां हस्तेषु स्वस्मात्स्वस्मादुदपात्रात्पात्रान्तरेणाप आदाय 'विश्वे देवाः इदं वो अर्घ्यं' 'पितरिदं ते अर्घ्यं' 'पितामहेदं ते अर्घ्यं' 'प्रपितामहेदं ते अर्घ्यं' 'पितृपितामहप्रपितामहा इदं वो अर्घ्यं' इति वाऽर्घ्याणि ददाति। इदमेवार्घ्यदानं श्राद्धे स्वधानिनयनमुदपात्रानयनमिति चोच्यते। पुरस्तादुपरिष्टाच्चार्घ्यदानाद्धस्तेषु शुद्धोदकदानम्। ततो गन्धादिभिर्वासोभिरङ्गुलीयकादिभिश्च यथाविभवं ब्राह्मणानामभ्यर्चनम्। ततस्तान् 'उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियताम्' इत्यामन्त्रयते। ते च 'काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियताम्' इति प्रतिब्रूयुः। 'उदीच्यवृत्तिस्त्वासनगतानां हस्तेषूदपात्रानयनम्। उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियतामित्यामन्त्रयते। काममुद्धियतामग्नौ च क्रियतामित्यतिसृष्ट उद्धरेज्जुहुयाच्च' (आप. ध. २-१७-१७, १८, १९.) इति धर्मशास्त्रवचनात्। एतच्चोदपात्रानयनं उद्धियतामित्यामन्त्रणं च पाक्षिकम्, भाष्यकारेणानुक्तत्वात्, उदीच्यवृत्तिरित्यस्य समासस्य उदीच्यानां वृत्तिरुदीच्येषु वृत्तिरित्युभयथापि विग्रहाभ्युपगमाच्च। अथ ब्राह्मणभोजनार्थादन्नात् हविष्यमोदनापूपादिकं एकस्मिन् पात्रे समुद्धृत्य अहविष्यं क्षारादिसंसृष्टमन्यस्मिन् पात्रे उद्धृत्याथ हविष्यं प्रतिष्ठितमभिघार्य अग्नेरुपसमाधानाद्यग्निमुखान्तं कृत्वा 'यन्मे माता' इत्यादिभिस्त्रयोदश प्रधानाहुतीर्हुत्वा स्विष्टकृतं च तत उदीचीनमुष्णं भस्मापोह्य अहविष्यं स्वाहाकारेण हुत्वाथ 'लेपयोः' इत्यादि तन्त्रशेषं समाप्य ततः 'एष ते तत' इत्यादिभिस्सर्वमन्नमभिमृश्य अथ पृथक्पृथक्तृतीयमामन्त्रणं पूर्ववदेव कृत्वा त्रिष्वपि चामन्त्रणेषु 'ओं तथा' इति प्रतिवचनं ब्राह्मणानाम्। ततः कर्तुः प्रार्थनं 'प्राप्नोतु भवान्' इति। ततः 'प्राप्नवानि' इत्यङ्गीकारो भोक्तृणाम्।

अपरे क्रमान्तरमाहुः—वैश्वदेवपञ्चमहायज्ञानन्तरं अपराह्णे प्राचीनावीती अग्नेरुपसमाधानादि करोति। तत्र स्वधानिनयनपक्षे पात्रसंसादनकाले स्वधापात्राणामपि सादनम्। प्रणीताः प्रणीय विधिवत् स्वधाग्रहणम्। ततो 'ब्राह्मणं दक्षिणतो निषाद्य' इत्याद्यग्निमुखान्ते कृते पादप्रक्षालनादि। उद्ध्रियतामित्यामन्त्र्य, अन्नमुद्धृत्य प्रधानहोमादय इति। इहापि पक्षे स्वधानिनयनं पाक्षिकमेव।

१. ख—सहो.

अन्ये तु—मासिश्राद्धे शास्त्रान्तरानुसारान्मन्त्रवन्नियमवद्भोजनदेशसंस्कारं, विश्वेषां देवानां पित्रादीनां चावाहनं, भोजयित्वोद्वासनं चेच्छन्ति । अत्र च पदार्थेषु क्रमे च शिष्टाचारादेव निर्णयः, सूत्रकारभाष्यकाराभ्यामनुक्तत्वात् ॥

अथ प्रकृतमुच्यते—भोजनपात्रक्लृप्तानन्नविशेषान् यथास्वं ब्राह्मणानुपस्पर्शयति 'पृथिवी ते पात्रं' इत्येतया 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्येतया च । तस्याश्चान्ते 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' इति विश्वेषां देवानां, 'विष्णो कव्यं रक्षस्व' इति पित्रादीनाम् । एवं स्पर्शयित्वाथ भोजयेत् । विभवे सति सर्पिर्मांसादीनि विशिष्टानि दद्यात्; अभावे तैलं शाकमिति । भुञ्जानान् ब्राह्मणानाहवनीयार्थेन ध्यायेत्, पित्रादीन् देवतात्वेन, अन्नं चामृतत्वेन, आत्मानं ब्रह्मत्वेन । भुञ्जानेषु च पराङावृत्य राक्षोघ्नान् पित्र्यान् वैष्णवानन्यांश्च[1] पावमानमन्त्रान् धर्मशास्त्रमितिहासपुराणानि चाभिश्रावयति । तृप्तांश्च ज्ञात्वा मधुमतीश्श्रावयति, 'अक्षन्नमीमदन्त' इति च । अथ भूमावन्नं[2] परिकिरति—

ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा ये वा जाताः कुले मम ।
भूमौ दत्तेन पिण्डेन तृप्ता यान्तु परां गतिम् ॥ इति ॥

अथाचान्तेषु पुनरपो दत्वा 'स्वदितम्' इति पित्राद्यर्थान् वाचयति, 'रोचयते' इति विश्वेदेवार्थान् । ततो यथाशक्ति दक्षिणां दत्वाथ सर्वेभ्योऽन्नशेषेभ्यः पिण्डार्थं प्राशनार्थं चोत्धृत्य[3] 'अन्नशेषः किं क्रियताम् ?' इति शेषं निवेदयेत् । ते च 'इष्टैस्सह भुज्यतां' इति प्रतिब्रूयुः । अथ कर्ता—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदास्सन्ततिरेव[4] नः ।
श्रद्धा च नो मा व्यपगाद्बहु देयं च नोऽस्तु ॥

इति प्रार्थयते ।

दातारो वोऽभिवर्धन्तां वेदास्सन्ततिरेव वः[5] ।
श्रद्धा च वो मा व्यगमद्बहु देयं च वोऽस्तु ॥

इति तेषां प्रतिवचनम् । अथ,

अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च नस्सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ॥

इति च प्रार्थयते ।[6] 'अन्नं च वो बहु भवेत्' इत्यूहेनैव प्रतिवचनम् । अन-

---

१. ख.ग-पवित्रान्, २. ख ग-प्रकिरति, ३. अन्नशेषैः । ४. ख.ग-वैः ५. ख.ग-च.
६. ख.ग.झ—अतिथींश्च लभध्वम् । याचितारश्च वस्सन्तु मा च याचध्वं कञ्चन । इत्यधिकम् ।

न्तरं 'ओं स्वधा' इत्याह। 'अस्तु स्वधा' इति प्रतिवचनम्। अथ ब्राह्मणानां पित्राद्यर्थानां पूर्वं विसर्जनम्। विश्वेषां देवानां पश्चाद्विसर्जनम्। पूर्वोक्तेषु निवेदनादिषु सर्वेषु पदार्थेषु दैवपूर्वत्वमेव। अथ यज्ञोपवीती भुक्तवतोऽनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य, प्राचीनावीती 'द्वैधं दक्षिणाग्रान्' इत्यादि; 'शेषस्य ग्रासवराध्यं प्राश्नीयात्' इत्येवमन्तं यथासूत्रं करोति॥

अत्र चेदं वक्तव्यम्–ब्राह्मणभोजनं होमः पिण्डदानं च त्रीण्यपि मासिश्राद्धे प्रधानानि। अग्न्याधेये [1]धूर्तस्वामिनोक्तत्वात्, वैश्वदेवे विश्वेदेवा इत्यत्र कपर्दिस्वामिनोक्तत्वाच्च।

केचित्—इह ब्राह्मणभोजनमेव प्रधानम्, होमः पिण्डदानं च तदङ्गम्, अनर्थावेक्षो भोजयेदिति प्रकृत्य तयोर्विधानात् इति।

अथास्य मुख्यकल्पासम्भवे आमश्राद्धविधिरनुकल्पतयोच्यते—

आपद्यनग्नौ तीर्थे च चन्द्रसूर्यग्रहे तथा।
आमश्राद्धं द्विजैः कार्यं शूद्रः कुर्यात्सदैव हि॥

इति[2] बृहत्प्रचेतोवचनात्।

अत्र व्यासः—

आवाहनं च कर्तव्यमर्घ्यदानं तथैव च।
एष एव विधिर्यत्र [3]यत्र श्राद्धं विधीयते॥
यद्यद्ददाति विप्रेभ्यः शतं वा यदि वाऽशतम्।
तेनाग्नौ करणं कुर्यात्पिण्डांस्तेनैव निर्वपेत्॥ इति।

अत्र षट्त्रिंशन्मतम्—

आमश्राद्धं यदा कुर्यात् पिण्डदानं कथं भवेत्।
गृहादाहृत्य पक्वान्नं पिण्डान् दद्यात्तिलैस्सह॥ इति।

प्रयोगसंक्षेपस्तु—पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा ब्राह्मणान्निमन्त्र्य, पूर्वाह्णे स्नात्वा ब्राह्मणानाहूय, पादप्रक्षालनाद्यर्घ्यदानान्तं कृत्वा, यथाविभवं गन्धवस्त्रादिभिश्च यथार्हमभ्यर्च्य, 'अग्नौ करिष्यामो' त्यामन्त्र्य अथाग्निमुखान्ते तण्डुलाद्यामद्रव्येण होमकरणम्। ततस्तन्त्रशेषं समाप्य, तण्डुलाद्यामद्रव्यं श्राद्धार्थं ददाति। चरोरभावात्तद्धर्माणामभावः। भोजनाभावाच्च तत्सम्बन्धिनामप्यभावः। ततः

---

१. ङ.च—भाष्यकारेणेत्यधिकम्।

२. छ—बृहस्पतिवचनात् बृहत्प्रचेतोवचनाच्च। ज—बृहस्पतिप्रचेतसोर्वचनात्,

३. ङ—अत्र. छ—आम.

पिण्डदानमामेन, गृहादाहृतेन पक्वेन वेति। अत्यन्तापदि तु 'अपि ह वा हिरण्येन 'प्रदानमात्रं,' अपि वा मूलफलैः प्रदानमात्रम्, इत्यादिबोधायनादिवचनाद्धिरण्यादेर्वा प्रदानमात्रं समस्तधर्मरहितं कुर्यात्। एवं सर्वथापि श्राद्धमवश्यं कर्तव्यम्। न तु कस्यांचिदप्यवस्थायां लोपः। अत्र च श्राद्धविषये यद्यपि,

वसवः पितरो ज्ञेयाः रुद्राश्चैव पितामहाः।
प्रपितामहास्तथादित्याश्श्रुतिरेषा सनातनी॥

इत्यादिशास्त्रान्तरसिद्धं बहु वक्तव्यमस्ति; तथापि विस्तरभयादुपरम्यते॥ ९॥

एवं प्रकृतिभूतं मासिश्राद्धं व्याख्यायेदानीं तद्विकृतिभूतं प्रतिसंवत्सरमनुष्ठेयं अष्टकाख्यं पाकयज्ञान्तरं व्याख्यास्यन्, तस्य कालविधिमाह—

या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद्व्यष्टका तस्यामष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते तानेकाष्टकेत्याचक्षते॥ १०॥

अनु०—माघ महीने की पौर्णमासी के बाद जो अष्टका नाम का यज्ञ किया जाता है उसे ज्येष्ठा नक्षत्र की अष्टमी को करना चाहिए, इसे ही एकाष्टका कहा जाता है॥ १०॥

टि०—अष्टका नाम कर्म मासिश्राद्ध का ही विकृत रूप है। यह कर्म प्रतिवर्ष किया जाता है। माघ महीने के कृष्णपक्ष की अष्टमी को यदि ज्येष्ठा हो तो उस दिन अष्ट का कर्म होता है। ये दोनों ही योग होते हैं। अन्यथा पौर्णमासी के बाद जब अष्टमी ज्येष्ठा से संयुक्त हो तो वह एकाष्टका होती है। ज्येष्ठा का संयोग न होने पर भी एकाष्टका होती है। एकाष्टका में वपाहोम आदि प्रधान होता है। एकाष्टका में जिन कर्मों का विधान किया गया है, वे सभी अष्टमी को ही किये जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार जब अष्टमी दो दिन की हो, अथवा जिस वर्ष में दो माघ महीने पड़ते हों उस अष्टमी को यह कर्म किया जाना चाहिए॥ १०॥

अनाकुला

व्याख्यातः श्राद्धविधिः। अथाष्टका नाम पाकयज्ञः पित्र्यः संवत्सरे संवत्सरे कर्तव्यः स उपदिश्यते। तस्य कालविधिरयं या माघी तस्या उपरिष्टाद्व्यष्टका कृष्णपक्षः। तस्यां या अष्टमी तामेकाष्टका इत्याचक्षते सा यदि ज्येष्ठया सम्पद्यते सङ्गच्छते तामप्येकाष्टकेत्याचक्षते इति द्वाविमौ योगौ। अन्यथा पौर्णमास्या उपरिष्टादष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्याचक्षत इत्येतावता सिद्धम् किं व्यष्टका तस्यामिति। तस्मादसत्यपि ज्येष्ठासंयोगे भवत्यष्टम्या

1. ख-ग-ङ—प्रधानमात्रं एवमुत्तरत्रापि।

एकाष्टकत्वम् । द्व्यष्टकाग्रहणस्य प्रयोजनं मृग्यम् । किमर्थं[1] ज्येष्ठया सम्पद्यत इति ? यदा द्वयोरह्नोरष्टमी तथा ज्येष्ठासंयुक्तायां क्रिया यथा स्यादिति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

माघ्याः माघमासस्य सम्बन्धिन्याः पौर्णमास्याः उपरिष्टादूर्ध्वं[1] या व्यष्टका कृष्णपक्ष इत्यर्थः । तस्यां व्यष्टकायां या अष्टमी तिथि ज्येष्ठया ज्येष्ठानक्षत्रेण सम्पद्यते सङ्गच्छते तामष्टमीमेकाष्टकेत्याचक्षते कथयन्ति ब्रह्मवादिनः । तस्यामष्टका कर्तव्येति शेषः । एकाष्टकायां वपाहोमादि प्रधानं कर्तव्यमित्यर्थः । तामेकाष्टकेत्याचक्षत इति वचनं यान्यन्यान्यप्येकाष्टकायां विहितानि, [1]यथा गवामयनदीक्षा[2] यथा च दीर्घसत्रेषु विज्ञानार्थमपूपेन कक्षस्योपोषणं, यथैव चोखासम्भरणं, तानि च सर्वाणि यथोक्तलक्षणायामेवाष्टम्यां कार्याणीत्येवमर्थम् । अत्रायमभिप्रायः-यद्यपि माघमासस्य सर्वा कृष्णपक्षाष्टमी ज्येष्ठया न सम्पद्यते; तथापि तस्यामेकाष्टका कर्तव्यैव ; पाकयज्ञत्वेन नित्यत्वात, 'व्यष्टका तस्यां' इत्यधिकग्रहणाच्चेति । ज्येष्ठया सम्पद्यत इति तु प्रायिकाभिप्रायम् । तेनायुक्तायामपि गवामयनदीक्षादीनि लभ्यन्ते ॥

केचित्—यदा द्वयोरह्नोरष्टमी, यस्मिन्वा संवत्सरे द्वौ माघमासौ, तत्र या अष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते तस्यामेव कर्म नास[3]म्पन्नायामित्येवमभिप्राय इति ॥ १० ॥

---

१. सवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकायां दीक्षेरन्नेषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका (तै.सं.७-४-८) इति विहिता गवामयनदीक्षेत्यर्थः ।

२. अह्नां विधान्यामेकाष्टकायामपूपं चतुश्शरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपोषेद्यदि दहति पुण्यसमं भवति यदि न दहति पापसमेतेन ह स्म वा ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुपयन्ति । (तै.सं.३-१-८) अस्यायमर्थः-गवामयनस्य संवत्सरसत्रमिति संज्ञा । तस्यैकषष्ट्यधिकशतत्रयदिनसाध्यत्वात् । तत्सम्बन्धिनामह्नां विधानी विधात्री या एकाष्टका माघकृष्णाष्टमी । तस्यामेव गवामयनदीक्षायाः प्रारम्भविधानात् । तस्यामेकाष्टकायां, प्रस्थद्वयं शराव इत्युच्यते । तच्चतुष्टयपरिमितद्रव्येणापूपं निष्पाद्य तेन सह श्वोभूते सूर्योदयानन्तरमरण्यं गत्वा तस्यापूपस्योपरि उल्मुकं निक्षिप्य तेन कक्षं तृणगुल्मं दहेत् । यदि सोऽग्निः कृत्स्नं कक्षं दहति तदा पुण्यसमं भवति । यत्कार्यमुद्दिश्येदं दहनं कृतं तत्कार्यं विघ्नं विना समाप्तिमेति । यदि न भवति दाहः; तदा विघ्नेनाभिभूतिं तत् कर्म मध्ये विनश्यति । प्राचीना महर्षयोऽनेनैव निर्विघ्नपरिसमाप्तिसूचकेनानेकदिनसाध्यं सत्रादिकं कर्मारभन्ते स्म इति तदर्थः ।

३. ख. ग.—नामसम्प ।

*तस्यास्सायमौपकार्यम् ॥ ११ ॥

* अपूपं चतुश्शरावं श्रपयति ॥ १२ ॥

अनु०—उस दिन के पूर्व सन्ध्या को आरम्भिक कर्म करे ॥ ११ ॥

अनु०—चार शराव की मात्रा के चावल का अपूप बनावे ॥ १२ ॥

टि०—सप्तमी तिथि की सन्ध्या को, सूर्यास्त होने पर अपूप तथा हवि का कर्म किया जाता है, इसे ही औपकार्य कर्म किया जाता है, इसे ही औपकार्य कर्म कहा गया है। यह कर्म अष्टका का अंगभूत होता है। नवमी को वपाहोम आदि कर्म प्रधान होते हैं ॥१२॥

अनाकुला

[1]उप समीपे क्रियत इत्युपकारः। तत्र भवमौपकार्यम्। तस्या औपकार्यमित्यन्वयः। तस्याः एकाष्टकायाः समीपे यत्कर्म क्रियते पूर्वेद्युस्सप्तम्याम्, तत्र चतुश्शरावमपूपं श्रपयति। सायं सप्तम्यामस्तमिते आदित्ये अपूपहविष्कं कर्म कर्तव्यमित्यर्थः। तदेवमौपकार्यशब्दः कालविधानार्थः। तस्यास्सायमित्यन्वये अष्टम्यामस्तमितेऽपूपं प्राप्नोति, नवम्यां पशुः, 'दशम्यामन्वष्टका', तच्छास्त्रे[2]ष्वप्रसिद्धम्। औपकार्यशब्दश्चानर्थकः ॥ ११-१२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

त्रिपदमिदं सूत्रम्। तस्या अष्टकाया औपकार्यमुपकारकम्। उपकारं करोतीति कर्तरि यत्प्रत्ययः छान्दसः। अष्टकाया अङ्गभूतं कर्मेत्यर्थः। सायं पूर्वेद्युस्सप्तम्याः। सोमयागस्याग्नीषोमीयपशुयागवत्तस्या अष्टकाया अङ्गभूतं कर्म पूर्वेद्युस्सप्तम्यास्सायङ्काले कर्तव्यमिति सूत्रार्थः। न त्विह तस्या [3]अष्टकाया इति सम्बन्धः; नवम्यां वपाहोमादि प्रधानप्रसंगात्। न चैतद्युक्तम्; या माघ्या इति कालविधानस्योपकार्यार्थत्वोपपत्तौ 'प्रकरणात्प्रधानस्य' इति न्यायविरोधात् शास्त्रान्तरेष्वप्रसिद्धत्वाच्च ॥ ११ ॥

अथास्यौपकार्यस्य विधिमाह—

व्रीहीणां चतुश्शरावं तूष्णीं निरुप्य पार्वणवत् पत्न्यवहन्तीत्यादिविधिना-

---

* हरदत्तमते इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रत्वेन परिगणितं 'घ' पुस्तके।

* इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रं हरदत्तमत इति 'क.ख' पुस्तकयोः।

१. तस्याः सायमौपकार्यमित्यन्वयः। समीपे क्रियत इत्युपकारः, तत्र भव औपकार्यः। इति 'क' 'ङ' पुस्तकयो पाठः।

२. घ. एव प्रतिषिद्धम्। ३ ख—एकाष्टकायाः।

ऽपूपं श्रपयति। अपूपः प्रथितावयवः प्रसिद्धः। प्रतिष्ठिताभिघारणान्तं च करोति ॥ १२ ॥

अष्टाकपाल इत्येके ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकविंशः खण्डः ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि यह अपूप आठ पात्रों में पुरोडाश की तरह बनाना चाहिए ॥ १३ ॥

टि०—आठ कपालों में अपूप बनाया जाता है। औपासन अग्नि में ही श्रपण का कार्य होता है। यह कर्म प्राचीनावीत होकर नहीं किया जाता ॥ १३ ॥

अनाकुला

सायमपूपाष्टाकपालो हविः इत्येके मन्यन्ते। अष्टसु कपालेषु संस्कृतोऽष्टाकपालः। अस्मिन् पक्षे पुरोडाशस्यावृता श्रपणम्। पूर्वस्य तु लौकिक्यापूपस्यावृता। द्वयोरपि पक्षयोः औपासने श्रपणम्। एतच्च पित्र्यस्याङ्गमपि कर्म स्वयं पित्र्यं न भवति, 'तेन' प्राचीनावीतादि न भवति ॥ १३ ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां गृह्यसूत्रवृत्तावनाकुलायामेकविंशः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशोऽष्टाकपालः। सः श्रपयितव्य इत्येके। पुरोडाश इति च प्रसिद्ध आकृतिविशेषः। तेन लौकिकेन प्रकारेण पाक औपासने एव ॥ १३ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने एकविंशः खण्डः ॥

द्वाविंशः खण्डः

पार्वणवदाज्यभागान्तेऽञ्जलिनोत्तरयाऽपूपाज्जुहोति ॥ १ ॥

अनु०—पार्वण यज्ञों के समान ही आज्यभाग की आहुतियों तक के कर्म कर लेने के बाद अपनी अञ्जलि से 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' आदि अगली ऋचा से अपूप में से लेकर हवन करे ॥ १ ॥

टी०—अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक का कर्म करके पर्वों पर किया जाने वाले पार्वण कर्म की तरह अगली ऋचा का जप करते हुए अपूप से निकाल कर अंजलि से हवन किया जाता है। यह कर्म पित्र्य कर्म नहीं होता। स्विष्टकृत के लिए दर्वी से ही हवन किया जाता है, अंजलि से नहीं ॥१॥

अनाकुला

प्रतिष्ठिताभिघारणान्ते कृते अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तं कृत्वा पार्वणवदवदानकल्पेनापूपादुत्तरयर्चा अञ्जलिना जुहोति 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ती' त्येतया। सामर्थ्यादुपस्तरणाभिघारणयोरवदानस्य चान्यः कर्ता। आज्यभागान्तवचनं तन्त्रविधानार्थम्। एतदेव ज्ञापकं न पित्र्यमेतत्कर्मेति। अन्यथा यथा मासिश्राद्धेऽष्टकायां च यत्नाभावेऽपि तन्त्रं प्रवर्तते, पित्र्येषु यत्नाभावेऽपि तन्त्रं प्रवर्तते इत्युक्तत्वात्, तथात्रापि सिद्धं स्यात्। पार्वणवद्वचनं अञ्जलिहोमानामधर्मग्राहकत्वात्, अवदानकल्पप्राप्त्यर्थं अञ्जलिनापि जुह्वत् पार्वणवदवदानकल्पेन जुहोतीति। सादनप्रोक्षणसंमार्जनान्यञ्जलेर्न भवन्ति ॥१॥

तात्पर्यदर्शनम्

ततः पार्वणवदग्नेरुपसमधानाद्यग्निमुखान्ते, स्वकीयेनावदानधर्मेणापूपात्परोडाशाद्वाऽवदाय उत्तरयर्चा 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' इत्येतया अञ्जलिना जुहोति। अञ्जलेस्तु 'येन जुहोति' इत्यादिसंस्कारलेपाञ्जनमुपस्तरणाभिघारणहविरवदानानि च विप्रतिषेधादन्यः कुर्यात्। स्विष्टकृतं तु दर्व्यैव जुहोति, नाञ्जलिना; विकृतौ चोद्यमानो धर्मः प्रधानार्थो भवतीति न्यायात्। न च वाच्यमौपकार्यस्याङ्गत्वात् प्राधान्यमेव नास्तीति; यतोऽस्यापि स्वाङ्गापेक्षया प्राधान्यमस्त्येव। अत एव 'मन्द्रं दीक्षणीयायामनुब्रूयात्' (आप. श्रौ. १०-४-११) इति वाङ्नियमस्सोमाङ्गभूतदीक्षणीयाप्रधानमात्रार्थः न तदङ्गप्रयाजाद्यर्थोऽपि। तथा 'ततस्तूष्णीमग्निहोत्रं जुहोति' (आप.श्रौ.५-१७-६) इति तूष्णीकत्वमाधानाङ्गभूतस्य नैयमिकाग्निहोत्रविकृतेः प्रधानस्यैव धर्मः

न तदङ्गानामपोति । औपकार्यस्य चौषधिहविष्कत्वादेव सिद्धस्य पुनर्वचनं एतत्स्थानापन्नदधिहोमेऽपि प्राप्त्यर्थमित्युक्तमेव ॥ १ ॥

*सिद्धश्शेषस्तमष्टधा कृत्वा ब्राह्मणेभ्य उपहरति ॥ २ ॥

अनु०—शेष बने हुए अपूप में आठ भग करके (उनमें घी मिलाकर) ब्राह्मणों के सामने खाने के लिए प्रस्तुत करे ॥ २ ॥

टि०—स्विष्टकृत् के लिए दर्वी से होम करने के बाद एक विंशति समिधों का आधान किया जाता है । दूसरे दिन जिन ब्राह्मणों को भोजन कराना हो उनको भक्षण के लिए निवेदन कर स्वयं उपवास करे । शेषः से हरदत्त ने शेष विधि से लिया है । सुदर्शनाचार्य के अनुसार शेष अपूप से तात्पर्य है ॥ २ ॥

अनाकुला

तन्त्रस्य शेषस्सिद्धो भवति अविकृत इत्यर्थः । अञ्जलिना जुहोतीत्युभयं विशेषः स्विष्टकृति न भवतीत्यर्थः । तेन स्विष्टकृतमवदानकल्पेन दर्व्या हुत्वा समिधमेकविंशतिमाधाय जयादि प्रतिपद्यते ।

'तेन सर्पिष्मता ब्राह्मण'मित्येकस्य भक्षणे प्राप्तेऽष्टाभ्य उपहारो विधीयते । तत्र ये ब्राह्मणाः श्वोभूते भोक्तारः तेभ्यो निवेद्योपवसति ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अपूपस्य शेषस्सिद्धः उपहरति प्राशनार्थमिति चानुवादः, तं शेषं सर्पिष्मन्तमष्टधा कृत्वा अष्टभ्यो ब्राह्मणेभ्य इति विधातुम् । तेनेह ब्राह्मणैकत्वबाधः ।

केचित्—सिद्धः शेषः इति सूत्रच्छेदः । सिद्धोऽविकृतस्तन्त्रस्य शेषः । तेन दर्व्या होमस्स्विष्टकृतः, जयादि प्रतिपद्यत इति च सिद्धमिति-तेषां तमष्टधेत्यत्र तमपूपमिति व्यवहितस्य परामर्शो भवेत् ।

एवमौपकार्यं कृत्वा मासिश्राद्धवद्धोक्तृभ्यो ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् । श्वोऽष्टकाश्राद्धं भविष्यतीति भेदः ॥ २ ॥

श्वोभूते दर्भेण गामुपाकरोति पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमीति ॥३॥

अनु०—अगले दिन दर्भ से गाय को 'पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमि' मन्त्र से छुवे (मैं पितरों के लिए प्रिय तुम्हें छूता हूँ) ॥ ३ ॥

टि०—इस कर्म में भी मासिश्राद्ध की तरह ब्राह्मणों को अन्न देने का नियम है ॥ ३ ॥

* 'सिद्धश्शेषः' इत्येकं सूत्रम् । 'तमष्टधा' इत्याद्यपरं सूत्रं क. घ. पुस्तकानुसारेण हरदत्तमते ।

अनाकुला

दर्भेणेत्येकत्वमविवक्षितम्। गां स्त्रियं, जुष्टामिति लिङ्गात्। पुरस्तात्प्रतीचीं तिष्ठन्तीं, श्रौते तथा दर्शनात्। पित्र्यं चाष्टकाकर्म, पितृभ्यस्त्वा जुष्टामिति दर्शनात्। पित्र्येषु यत्नमन्तरेणापि तन्त्रं प्रवर्तते इति पुरस्तादुक्तम्। तत आज्यभागान्ते तन्त्रे कृते उपाकरणादेः प्रवृत्तिः। अत्र प्रमाणं वक्ष्यामः। 'अपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयानि'त्येष च कालः। सर्वत्र प्राचीनावीतम्॥ ३॥

तात्पर्यदर्शनम्

अथ श्वोभूते अष्टम्याम्। ब्राह्मणान् गृहमानीयेत्याद्यग्निमुखान्तं सर्वं मासिश्राद्धवत् कृत्वा, अथ दर्भेणैकेन गां स्त्रियां 'पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमि' इत्यनेन मन्त्रेणोपाकरोति॥ ३॥

तूष्णीं पञ्चाज्याहुतीर्हुत्वा तस्यै वपा श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति॥ ४॥

अनु०—मौन होकर पाँच आज्य की आहुतियाँ करके, उस गौ की वपा को पकाकर और आज्य को नीचे तथा ऊपर फैलाकर बीच से या किनारे से एक पलाश का पत्ता लेकर उससे अगली ऋचा 'वह वपाम्' आदि के साथ हवन करे॥ ४॥

टि०—गाय की वपा के श्रपण का विधान किया गया है, तथा ओदन के साथ वपा का श्रपण दूसरी अग्नि के ऊपर किया जाय, ऐसा व्याख्याकार का मत है। आज्यभाग आहुतियों के अन्त में पशु का उपाकरण सिद्ध होता है। "उपाकृत्य पंच जुहोति" तै० सं० ३. १. ५। संज्ञपन का कर्म चुपचाप, बिना मन्त्र के किया जायगा। वपा भी बिना मन्त्र के निकाली जायगी, उसे औपासन अग्नि पर पका कर, अभिघारण करके, बर्हिस् के ऊपर रखकर, पुनः अभिघारण करके, पलाश के बीच के अन्त के पत्ते से हवन करने का नियम बताया गया है। पत्ते को वपा श्रपणियों के साथ रखा जायगा और सादन कर्म भी होगा॥ ४॥

अनाकुला

तूष्णीमित्यनुच्यमानो सम्प्रदानाभावे होमानिवृत्तेः देवताकल्पनायां प्राप्तायां या एताः पाशुबन्धिक्यः पञ्चाहुतयः 'उपाकृत्य पञ्च जुहोती'ति विहिताः ता एता इति विज्ञायेत। ततश्च मन्त्रेष्वपि प्राप्तेषु तूष्णीं इत्युक्तम्। एवं ब्रुवन् एतद्दर्शयति श्रौतस्य पशोरावृताऽस्यापि पशोस्संस्कार इति। तेन 'पुरस्तात् प्रत्यञ्चं तिष्ठन्त' मित्येवमादयो विशेषा इहापि भवन्ति। तस्या इति वचनं तस्या वपाया एवात्र चोदितो विशेषो यथा स्यात् श्रपणादि, नावदानमित्येवमर्थम्, तेन मांसौदनादेर्मासिश्राद्धवदन्यस्मिन्नग्नौ संस्कारः। आज्यग्रहणमन-

र्थकम् । अपि वोत्तरया जुहोतीतिवत् सिद्धम्, तत् क्रियते ज्ञापकार्थम्, एतत् ज्ञापयति–आज्यभागान्ते तन्त्रे कृते पशोरुपाकरणादिति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? सर्वत्र प्रधानाहुतिषु तान्त्रिकस्य हविषस्सधर्मकस्यानेकत्वे सति विशेषणं दृश्यते–स्थालीपा कादन्नादाज्याहुतिरिति, तदिहापि दृष्टम् । तत् ज्ञापयति–तान्त्रिकेणैवाज्येना हुतयो हूयन्त इति । उपाकरणस्य चैतासां चानन्तर्यं दृश्यते "उपाकृत्य पञ्च जुहोती" (तै.सं.३–१–५)ति । तस्मादाज्यभागान्ते पशोरुपाकरणमिति सिद्धं भवति । एवं पञ्चाज्याहुती र्हुत्वा तूष्णीं संज्ञप्य वपाञ्च वपाश्रपणीभ्यां तूष्णीमुद्धृत्य औपासने श्रपयित्वाभिघार्य बर्हिषि प्रतिष्ठाप्य पुनरभिघार्य ततस्तामुपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेन जुहोति उत्तरयर्चा 'वह वपा' मित्येतया । पर्णस्य वपाश्रपण्योश्च पात्रैस्सह सादनादि भवति ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तूष्णीं स्वाहाकारेणापि विना पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति, मन्त्रप्राप्त्यभावात् । देवता चासां प्रजापतिरेव । तस्यै वपामित्यादि व्याख्यातम् । उत्तरया 'वह वपाम्' इत्येतया ॥ ४ ॥

माँसौदनमुत्तराभिः ॥ ५ ॥

अनु०—(गाय के) मांस से युक्त भात की आहुति 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' आदि सात ऋचाओं से करे ॥ ५ ॥

टि०—मांस से युक्त ओदन को मांसौदन कहा गया है । होम के समय इन दोनों को मिलाया जाता है, पकाते समय नहीं, क्योंकि इन दोनों को एक साथ पकाना कठिन है । इस कर्म में होम के अठारह मन्त्र बताये गये हैं । जिनमें दस ऋचायें तथा आठ यजुस् मन्त्र हैं। पहली ऋचा अपूप के लिए और उसके बाद वाली वपाहोम के लिए । सात ऋचाओं से मांसौदन का होम किया जाता है । गौ के आलंभन के पूर्व ही होम के लिये अन्न निकाल लिया गया रहता है, अतः ओदन तथा मांस के एक साथ पकाने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥ ५ ॥

अनाकुला

(हुतायां वपायां पशोर्विशसनं कारयित्वा अन्वष्टकार्थ......गृहेषु श्रपयित्वा अन्यानि च हविष्यौदनादीनि तान्यभिघार्य बर्हिषि प्रतिष्ठाप्य पुनरभिघार्य दर्व्या जुहोत्यवदानकल्पेन । नात्र सकृदुपघातकल्पः । स्विष्टकृति विप्रतिषेधात् । आज्येऽभावात् मांसपिष्टौदनयोश्च भावात् तत्र) मांसौदन-

( ) एतत्कुण्डकान्तर्गतो भागो नास्ति 'ग' पुस्तके ।

मुत्तराभिः 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' इत्येताभिः सप्तभिः। मांसमिश्र ओदनो मासौदनः। होमकाले च मिश्रणम्। न श्रपणकाले। पक्तिवैषम्यात्। अस्मिन् कर्मणि अष्टादशहोममन्त्राः समाम्नाताः। ऋचो दश यजूंष्यष्टौ। तत्राद्या ऋगपूपार्था। वपार्थोत्तरा। उत्तरादिभिरिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। पिष्टान्नमुत्तरयेति वक्ष्यति। तेन सप्तभिर्ऋग्भिर्मांसौदनस्य होमः॥ ५॥

तात्पर्यदर्शनम्

मांसमिश्र ओदनो मांसौदनः। तं उत्तराभिः 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' इत्यादिभिस्सप्तभिर्जुहोति। इदं चेह वक्तव्यम्—वपाहोमान्ते गोर्विशसनं कारयित्वाऽन्वष्टकाब्राह्मणभोजनव्यञ्जनार्थं मांसमवशिष्य, इतरत् कृत्स्नं लौकिकप्रकारेण श्रपयित्वा, तदेकदेशं मासिश्राद्धवत् ब्राह्मणभोजनार्थादन्नाद्धोमार्थमुद्धृतेऽन्ने संसृज्य, तेनैव मांसमिश्रेणौदनेन जुहोतीति। न च मांसौदनयोस्सहपाकश्शङ्कनीयः, गोरालम्भात् प्रागेव होमार्थान्नस्योद्धृतत्वात्, मांसौदनयोः पक्तिवैषम्याच्च॥ ५॥

पिष्टान्नमुत्तरया॥ ६॥

अनु०—'उक्थ्यश्च' आदि अगली ऋचा से पीसकर बनाये गये अन्न की आहुति करे॥ ६॥

टि०—पिष्टान्न दूध में बनाया जाता है। यहाँ इसका निर्देश होने से ब्राह्मणों को खिलाने के लिये पिष्टान्न अवश्य बनाना चाहिये। पलाश के पत्ते का प्रयोग केवल वपा होम के लिये किया जाता है॥ ६॥

अनाकुला

पिष्टेन कृतमन्नं तस्य पयसि श्रपणमुत्तरयर्चा 'उक्थ्यश्चे'त्येतया जुहोति॥ ६॥

तात्पर्यदर्शनम्

पिष्टेन कृतमन्नं पिष्टान्नं पयसि शृतं प्रसिद्धम्। तदुत्तरया 'उक्थ्यश्च' इत्यनया जुहोति। इह च ब्राह्मणभोजनाद्यर्थमवश्यं पिष्टान्नं श्रपयितव्यम्। शृताच्च होमार्थं भेदेन पूर्वमेवोद्धरणम्। मांसौदनस्य पिष्टान्नस्य च पार्वणवत्स्वकीयोऽवदानधर्मः। पलाशपर्णं चेह वपाहोममात्रे। अन्यद्धव्यैव॥ ६॥

आज्याहुतीरुत्तराः॥ ७॥

अनु०—तब अगले 'भूः पृथिव्यग्निनर्चा' आदि आठ मन्त्रों से आज्य की आहुतियाँ करे॥ ७॥

अनाकुला

उत्तरैर्मन्त्रैः 'भूः पृथिव्यग्निनर्चे'त्यादिभिः अष्टाभिराज्यस्य जुहोतीत्यर्थः॥ ७॥

तात्पर्यदर्शनम्

उत्तरमन्त्रकरणिका आज्याहुतीरष्टौ जुहोतीत्यर्थः। ते च 'भूः पृथिव्यग्निना' इत्यादयः यजूरूपाः ॥ ७ ॥

स्विष्टकृत्प्रभृति समानमापिण्डनिधानात् ॥ ८ ॥

अनु०—स्विष्टकृत् से लेकर पिण्ड रखने तक के कार्य उसी प्रकार किये जाते हैं जैसे श्राद्ध में ॥ ८ ॥

अनाकुला

स्विष्टकृत्प्रभृति पिण्डनिधानान्तं कर्म कृत्स्नं मासिश्राद्धवदिहापि कर्तव्यमित्यर्थः। अत्र मांसौदनात् पिष्टाच्च स्विष्टकृत्, ततो जयादि। अथ ब्राह्मणानामुपवेशनं हस्तेषूदपात्रानयनमलङ्कारः। ततः 'सर्वमुत्तरैरभिमृशे' दित्यादि 'ग्रासवराध्यं प्राश्नीयात्' इत्येवमन्तम्। एतदेवास्मिन्नहनि भोजनं, नान्यत्। आरब्धे चाभोजनमासमापनादिति। पञ्चयज्ञाश्च लुप्यन्ते ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

स्विष्टकृदादि तन्त्रशेषं सर्वाभिमर्शनादि च प्रदक्षिणीकृत्येत्यवमन्तं ब्राह्मणभोजनं, पिण्डनिधानं ग्रासवराध्यं प्राश्नीयादित्येवमन्तं, सर्वं पदार्थजातं मासिश्राद्धवदिहापि कर्तव्यमेवेत्यर्थः। तत्र च मांसौदनात् पिष्टान्नाच्च स्विष्टकृते सहावदानमिति भेदः ॥ ८ ॥

अन्वष्टकायामेवैके पिण्डनिधानमुपदिशन्ति ॥ ९ ॥

अनु०—कुछ आचार्य पिण्डदान का कार्य अष्टका के बाद वाले दिन विहित करते हैं। (अष्टका के दिन पिण्डदान का विधान नहीं करते) ॥ ९ ॥

टि०—यह विकल्प विधि है। आचार्यों का मत है कि पिण्डदान अन्वष्टका, अर्थात् अष्टका के बाद वाले दिन को हो, अष्टका को न हो। इस कर्म को करते समय प्राचीनावीत हो या यज्ञोपवीत हो, इस विषय में सुदर्शनाचार्य ने व्यवस्था दी है कि मांसोदनहोम में, पिष्टान्न होम में, आज्य होम में दधिहोम तथा आधार आदि में यज्ञोपवीत होवे। अन्यत्र प्राचीनावीत होवे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि अब कलियुग में गाय का वध निषिद्ध है। अतः मांस के अभाव में केवल ओदन ही हवि होता है। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि भाष्यकार ने धर्मज्ञ समय के निषेध को भी श्रुति के निषेध के समान माना है। 'क्वचित्श्रुतिर्निषेधिका, क्वचिद्धर्मज्ञसमय इति। धर्मज्ञसमयोऽपि वेदवत् प्रमाणम्। अथवा वपा और मांस के स्थान पर बकरे का ही वध होना चाहिये। भरद्वाजसूत्र में भी इस प्रकार का विधान किया है।

किन्तु कलियुग में दधिहोम ही व्यवस्थित है, ऐसा सुदर्शनाचार्य का निष्कर्ष है। 'प्रमाणन्तु त्रैविद्यवृद्धाः शिष्टा एव' ॥ ९ ॥

अनाकुला

न पिण्डनिधानमित्युच्यमानेऽन्वष्टकायामपि पिण्डनिधानं न स्यात्। अष्टका प्रकृता। तत्र कः प्रसङ्गो यदन्वष्टकायां न स्यात्। एवं तर्हि एतत् ज्ञापयति-विकल्पोऽत्र विधिरयम्। अतः कृत्स्नस्य कर्मणो विषयो भवति सापूपस्य सान्वष्टकस्येति। तेन दध्यञ्जलिः कृत्स्नैकाष्टकाकरणात् विकल्प्यते सापूपेन सान्वष्टकेनेति केचित्। वयं तु ब्रूमः—अष्टकायामकृतायां भोजनमस्य न भवतीत्येतदर्थमेव वचनमन्वष्टकायां यत् पिण्डदानं तदिह······नास्मिन् कर्मणि पृथक् कर्तव्यमिति ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

या श्वोभूतेऽन्वष्टकेति विधास्यते तस्यामन्वष्टकायामेव पिण्डनिधानं पिण्डप्रदानं नाष्टकायामित्येक आचार्या उपदिशन्ति।

केचित्—न पिण्डनिधानमेके इति वक्तव्ये अन्वष्टकायामेवैक इत्येवं वचनमेतज्ज्ञापयति-विकल्पोऽत्र विधीयमानः कृत्स्नस्य कर्मणः सापूपहोमस्य सान्वष्टकस्य विषये भवतीति। तेन दधिहोमः कृत्स्नेनान्वष्टकान्तेनाष्टकाकर्मणा विकल्प्यत इति।

केचित्तु—अन्वष्टकायां यत्पिण्डनिधानं तदेवास्य, न पुनस्तदस्मिन् प्रदेशे पृथक्कर्तव्यमिति वचनव्यक्त्या कर्मणोऽसमाप्तत्वसूचनम्। तेनान्वष्टकायामकृतायां न कर्तुर्भोजनं, नापि पञ्च महायज्ञा इति।

वस्तुतस्तु भाष्यकारेणात्रार्थविशेषस्यानुक्तत्वात्, 'अन्वष्टकोभयोरपि पक्षयो' रिति वक्ष्यमाणत्वात्, अवान्तरप्रयोगस्य समाप्तिस्पष्टत्वाच्च 'अन्वष्टकायामेवैक' इत्येषोऽन्वष्टकायामेव पिण्डनिधानं नाष्टकायामिति फलाभिप्रायो व्यपदेश इति मन्तव्यम् ॥

अथ यज्ञोपवीतप्राचीनावीतयोर्विवेकः—औपकार्ये च मांसौदनहोमेषु चादितश्चतुर्षु, षष्ठे च पिष्टान्नहोमे च, आज्यहोमेषु चादितष्षट्सु, दधिहोमे चाघारादिषु च[1] यज्ञोपवीतं, मन्त्राणां देवलिङ्गत्वात्। अन्यत्र प्रकृतिवत् प्राचीनावीतमेव।

ननु चात्र कलियुगे धर्मज्ञसमयाद्गोरालम्भो निषिद्धः। तेन यद्यपि 'मांसौदनमुत्तराभिः' इत्यत्र हविरुपसर्जनीभूतमांसाभावेऽपि केवलौदनहविष्कहोमैः

1. घ. एव प्रतिषिद्धम्।

प्रधानान्तरसहितैः अष्टकाधिकारसिद्धेरुपपत्तिः; तथापि वपाहोमे स्वरूपस्यैवाभावान्न युयते। मैवम्, प्रमाणबलेन कस्मिंश्चित् प्रधाने निषिद्धेऽपि प्रधानान्तरैरेव विषयप्रत्यभिज्ञानादधिकारसिद्धेरुपपन्नत्वात्। अत एव दर्शपूर्णमासयोः 'नासोमयाजी सन्नयेत्' (तै. सं. २-५-५.) 'नासोमयाजिनो ब्राह्मणस्याग्नीषोमीयः पुरोडाशो विद्यते' (आप. श्रौ.) इति निषिद्धयोरपि साम्नाय्याग्नीषोमीययोस्तद्व्यतिरिक्तैरेव प्रधानैरधिकारसिद्धिः। इयांस्तु भेद–क्वचिच् श्रुतिर्निषेधिका, क्वचिद्धर्मज्ञसमय इति। धर्मज्ञसमयोऽपि वेदवत् प्रमाणम्। अथवा-आज्यमेव वपामांसयोस्स्थाने प्रयोक्तव्यम्। 'आज्येन शेषं संस्थापयेत्' इति पत्नीवते दर्शनात्, 'आज्यस्य प्रत्याख्यायमवद्येत्' (तै. सं. ३-१-३.) इति दर्शनाच्च। प्राप्तिस्तु नित्यत्वादेवाष्टकायाः कृत्स्नायाः।

यद्वा—गोस्थाने छाग एवालब्धव्यः प्रस्तुतसमानयोगक्षेमे 'ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत' (तै. सं. २-१-१०.) इत्यत्र 'गोः पुनरुत्सृष्टस्य स्थाने पुनरुत्सृष्टश्छागः' इति भरद्वाजसूत्रदर्शनात्। अपि वात्यन्तलघुरपि दधिहोमपक्षः कलियुगे व्यवस्थितो द्रष्टव्यः। प्रमाणं तु त्रैविद्यवृद्धाश्शिष्टा एव ॥ ९ ॥

एवं मुख्यकल्पमुपदिश्य, अथानुकल्पमुपदिशन्ति—

अथैतदपरं दध्न एवाञ्जलिना जुहोति यथाऽपूपम् ॥ १० ॥

अनु०—इसकी दूसरी विधि भी है। जिस 'यां जना' आदि मन्त्र से अपूप का हवन किया जाता है, उसी मन्त्र से अञ्जलि द्वारा दही का हवन करे ॥ १० ॥

टि०—अष्टका की मुख्य विधि को स्पष्ट करने के बाद उसकी गौण विधि की व्यवस्था इस सूत्र में की गई है। यह कर्म भी अष्टमी को ही किया जाता है प्रातः कालीन होम के बाद औपासन अग्नि में उपसमाधान करके चारो ओर परिस्तरण करने के बाद बिना मन्त्र के ही परिषेचन करके, अंजलि में दही लेकर हवन करे, किन्तु स्विष्टकृत के लिये हवन नहीं होता। बिना मन्त्र के पुनः परिषेचन कर्म किया जाता है। कुछ लोग स्विष्टकृत् के लिये भी होम का विधान करते हैं, किन्तु जयादि की व्यवस्था नहीं करते। ब्राह्मण भोजन तथा पिण्डदान तो होगा ही। यह दधिहोम अष्टमी को पूर्वाह्न में किया जाता है। दोनों ही पक्षों में नवमी को अन्वष्ट कर्म होता है। दधि होम करने पर अन्वष्टका नहीं होता, यह कथन निर्मूल है। यह दधिहोम की विधि तो होम के स्थान पर ही होती है।

अनाकुला

एवमष्टकायां मुख्यः कल्पो दर्शितः। अथानुकल्पः यया ऋचा जुहोति 'यां जना' इत्येतया तया दध्नः पूर्णनाञ्जलिना जुहोति। तन्त्रस्य विधानात्

अञ्जलिना होमत्वाच्चापूर्वो दध्यञ्जलिः । अञ्जलिनेति वचनात् दर्व्या निवृत्तिः । 'तन्त्रद्वयञ्च न भवति । कः पुनरस्य कालः ? अष्टमी । पूर्वाह्णे च क्रिया, दैवत्वात् । प्रातर्होमानन्तरं औपासनमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्य तूष्णीं समन्तं परिषिच्य दध्नाऽञ्जलिं पूरयित्वा 'यां जना' इति जुहोति । न स्विष्टकृत् । पुनरपि तूष्णीं परिषेचनम् । अन्ये तु पुरस्तात्तन्त्रं स्विष्टकृतं चेच्छन्ति, न जयादीन् । अत्र मूलं मृग्यम् । एष कालः, आचार्यप्रवृत्तित्वात् । एषा ह्येवानुकल्पेष्वाचार्यस्य प्रवृत्तिः । तद्यथा-समावर्तने तूष्णीमेव तीर्थे स्नात्वेति । दध्यञ्जलिश्चायमष्टकायां ये होमास्तेषां निवर्तकः, तदनन्तरमभिधानात्, नापूपहोमस्य । नान्वष्टकायाः । ब्राह्मणभोजनपिण्डनिर्वापणे च भवतः । होममात्रस्यैवायं दध्यञ्जलिर्निवर्तकः । एवं तर्ह्यत्र वचनं व्यज्यते यज्जुहोति तद्दध्न एवाञ्जलिनेति । (अपर आह—अपूपाष्टकयोर्द्वयोरपि निवर्तकम् । नान्वष्टकायाः । यदि तस्या अपि प्रत्याम्नायः स्यात् तामभिधायायमनुकल्पो वक्तव्यः स्यादिति ।) अन्ये तु सापूपस्य सान्वष्टकस्य कृत्स्नस्याष्टकाकर्मणो निवर्त्तको दध्यञ्जलिरिति ॥ १० ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यया 'यां जनाः' इत्येतया अपूपं जुहोति, तया ऋचा दध्नस्त्वावदानधर्मेणावदायाञ्जलिना जुहोति । पार्वणवच्चाग्निमुखान्ते दधिहोमः, अपूपहोमवच्चावदानम् । 'येन जुहोति तदग्नौ प्रतितप्य' इत्यादिकं लेपाञ्जनं चान्येन कारयितव्यम् । अयं च दधिहोमोऽष्टम्यां पूर्वाह्णे ।

केचित्—अञ्जलिहोमास्सर्वे अपूर्वाः नैव तत्र पुरस्तादुपरिष्टात्तन्त्रमिति । अयं चानुकल्पोऽपूपहोमाद्याज्याहुतीरुत्तरा इत्येवमन्तानामेव स्थाने वेदितव्यः, नान्वष्टकाया अपि; आज्याहुत्यन्तं कर्म विधायान्वष्टकायाः प्रागेवानुकल्पस्य विधानात् । तेनोभयोरपि पक्षयोर्नवम्यामन्वष्टका नित्यैव । तेन दधिहोमपक्षेऽन्वष्टका नास्तीति निर्मूलम् । अयं च दधिहोमविधिर्होमानामेव स्थाने; 'दध्न एवाञ्जलिना जुहोती'ति जुहोतिशब्दस्य स्वारस्यात् । तेनास्मिन्नपि पक्षे ब्राह्मणभोजनपिण्डप्रदानयोरावृत्तिः । तस्मात् सप्तम्यां रात्रौ ब्राह्मणान्निमन्त्र्याष्टम्यां होमस्थाने दधिहोमः, ततोऽपराह्णे भोजनादि सर्वमविकृतं, नवम्यामन्वष्टकापीति सिद्धम् ॥ १० ॥

अत एव यथार्थं मांसं शिष्ट्वा श्वोभूतेऽन्वष्टकाम् ॥ ११ ॥

अनु०—(अष्टका में आलब्धा गाय के) मांस में प्रयोजन के अनुसार मात्रा शेष छोड़कर दूसरे दिन (नवमी को) अन्वष्टका के कर्म करे ॥ ११ ॥

---

१. क. ख. पुरस्तात्तन्त्रमुपरिष्टात्तन्त्रं च कृत्स्नं न भवति ।

अनाकुला

अत एवास्या एव गोरेकाष्टकायामालब्धायां मांसं यस्य यथार्थं यावत्प्रयोजनं शिष्ट्वा श्वोभूते नवम्यामन्वष्टका नाम कर्म कर्तव्यम् । भूयांसमतो माहिषेणेत्यादीनां निवृत्त्यर्थ एवकारः ॥ ११ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

श्वोभूते नवम्यामन्वष्टकाख्यं कर्तव्यम् । अत एव गोरष्टकामालब्धायाः मांसं यथार्थ यथाप्रयोजनं शिष्ट्वा इत्येतत्प्रथमपक्षविषयम् ॥ ११ ॥

तस्या मासिश्राद्धेन कल्पो व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अनु०—इस क्रिया की व्याख्या मासिक श्राद्ध का विवेचन करते समय की गयी है ॥ १२ ॥

टि०—प्रतिमास कृष्ण पक्ष में किए जाने वाले श्राद्ध की तरह अन्वष्टका भी किया जाता है । इसमें द्रव्य तथा देवता भी मासिश्राद्ध की तरह से माना जाता है । मांस मिश्रित अन्न का होम किया जाता है । जहां मासिश्राद्ध में मांस का होम किया जाता है, वहां अन्वष्टका में भी मांस का होम होना चाहिए । कुछ लोग दध्यंजलि का होम किये जाने के पक्ष में भी अन्वष्टका कर्म का विधान करते हैं । मृत व्यक्ति में जब किसी एक को उद्दिष्ट करके श्राद्ध किया जाता है तब वह एकोद्दिष्ट कहलाता है । इसमें ब्राह्मणों की संख्या युग्म नहीं होती, अर्थात् एक, तीन, पांच सख्या होती है । अग्नि में किए जाने वाले कर्म नहीं होते । न तो अभिश्रावण होता है, न ही पहले से निमन्त्रण दिया जाता है । धूप, दीप, स्वधा नमस्कार आदि नहीं होता । ब्राह्मण उत्तर की ओर मुख करके बैठते हैं । पिण्डदान भोजन के स्थान पर ही होता है । यह एकोद्दिष्ट कर्म सभी वर्णों के लिए किया जाता है । नवश्राद्ध तीन पक्ष के भीतर, या छः महीने में एकबार अथवा वर्ष में एक बार किया जाता है । नवश्राद्ध सभी वर्णों के लिये बताये गये हैं, कुछ लोग इनके लिये अलग-अलग समय का विधान मानते हैं, किन्तु कुछ लोग सबके लिये सब समय मानते हैं ॥ १२ ॥

अनाकुला

मासिश्राद्धवदन्वष्टका कर्तव्येत्यर्थः । कल्पातिदेशात् द्रव्यदेवतादि सर्वमिह प्राप्यते । तत्रान्नस्योत्तराभिर्जुहोती'त्यत्र मांससंसृष्टस्यान्नस्य होममिच्छन्ति । अष्टकायां दर्शनात् । इह च यथार्थं मांसमिति वचनात् । अन्ये मासिश्राद्धातिदेशादन्नस्यैव होममिच्छन्ति । यत्रैव तु कार्ये मासि श्राद्धे मांसं इहापि तत्रैवेति ।

अत्र केचित्—दध्यञ्जलिपक्षेऽप्यन्वष्टकामिच्छन्ति । मध्ये तस्य विधा-

नात् । यदि ह्यसावन्वष्टकाया अपि प्रत्याम्नायः स्यात् तामप्यभिधाय वक्तव्यं स्यादिति । अत एव यथार्थं मांसं शिष्ट्वा श्वोभूतेऽन्वष्टका तस्या मासि श्राद्धेन कल्पो व्याख्यातः इति पूर्वत्र सम्बन्धः ॥

अथैकोद्दिष्टविधिः शास्त्रान्तरात् । प्रेतमेकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धं क्रियते तदेकोद्दिष्टम् । अयुग्मा ब्राह्मणाः एकः त्रयः पञ्चेति । बृध्या फलभूयस्त्वम् । तत्र नाग्नौ करणं, नाभिश्रावणं, न पूर्वं निमन्त्रणं, न दैवं, न धूपो, न दीपो, न स्वधा, न नमस्कारः, उदङ्मुखाः ब्राह्मणाः । सर्वस्मादन्नात्सकृत्सकृदवदाय दक्षिणतो भस्ममिश्रानङ्गारान्निरूह्य तेष्वेव जुहुयात् प्रेतायामुष्मै यमाय च स्वाहेति । प्रेतायेति वचनं प्रेतस्य नामनिर्देशार्थम्—यज्ञशर्मणे यमाय च स्वाहेति प्रयोगमिच्छन्ति । यज्ञशर्मणे प्रेताय यमाय चेत्यन्ये । अमुष्मै तृप्तिरस्त्विति अपां प्रतिग्रहणं विसर्जनं च । अस्ति तृप्तिरिति प्रतिवचनम् । अमुष्मा उपतिष्ठत्वित्यनुदेशनं, आशयेषु च पिंडदानं भोजनस्थान इत्यर्थः । तृप्यस्वेति संक्षालनम् । एतदेकोद्दिष्टं सर्ववर्णानां स्वाशौचान्ते प्रसिद्धम् ॥

अथान्यानि नवश्राद्धमासिकानि त्रैपक्षिकं षाण्मासिकं सांवत्सरिकमिति । यत्प्रथमं क्रियते तन्नवश्राद्धम् । नवं च तच्छ्राद्धञ्चेति कृत्वा । तस्य वर्णानुपूर्व्येण कालः—

> चतुर्थे पञ्चमे चैव नवमैकादशे तथा ।
> यदत्र दीयते जन्तोः तन्नवश्राद्धमुच्यते ॥ इति ॥

सर्वेषामपि वर्णानां चत्वार्यपि नवश्राद्धानीत्यन्ये । तेषां द्वितीयादिषु नवशब्दो घटते । मासिकानि द्वादश प्रतिमासं मृताहे कर्तव्यानि । आद्यं तु स्वाशौचान्ते । अन्त्यं च सपिण्डीकरणेन सह मृताह एव त्रैपक्षिकं षाण्मासिकं द्वितीयादिषु संवत्सरेषु प्रतिसंवत्सरं मृताह एव सांवत्सरिकमिति षोडशैतान्येकोद्दिष्टानि । सांवत्सरिके च क्षेत्रजजारजयोः एकोद्दिष्टकल्पस्य च विकल्पः । इतरेषामेकोद्दिष्टमेव । ये नवश्राद्धानां समुच्चयमिच्छन्ति तेषां षोडशैकोद्दिष्टानीत्येषापि प्रसिद्धिर्दुरुपपादा ।

अत्र पठन्ति—

> नित्यश्राद्धं मासि मासि अपर्याप्तावृतुं प्रति ।
> द्वादशाहेन वा भोज्या एकाहे द्वादशापि वा ॥

अथ सपिण्डीकरणं संवत्सर एकादशे चतुर्थे तृतीये वा मासि त्रिपक्षे अर्धमासे द्वादशे वाऽहनि उपनयनाभ्युदयप्राप्तौ वा । तत्र एकोद्दिष्टस्य मासिश्राद्धस्य च समुच्चयः । प्रेतस्यैकोद्दिष्टं तस्य ये पित्रादयः तेभ्यो मासिश्राद्धं मन्त्रेषु च न कश्चिद्विकारः । यन्मे मातेत्यादिषु यथैव ते पित्रा प्रेतेन पूर्वं

प्रयुक्तास्तथैव पुत्रेणापि प्रयोक्तव्याः। पुत्रादन्यस्य च सपिण्डीकरणे नाधिकारः, मासिश्राद्धाभावात्। सपिण्डीकरणस्य च मासिश्राद्धप्रयोगविकारत्वात्। तस्मादपुत्रस्य प्रेतस्य भार्या यावज्जीवमेकोद्दिष्टकल्पेनैव पत्ये मासिश्राद्धं ददाति। पुत्रोऽप्यकृतविवाह एवमेव। विवाहादूर्ध्वं यदा मासिश्राद्धमारभते तदा पितुः सपिण्डीकरणेन सहारभते।

अन्ये त्वेतदनुष्ठानं अन्यथापि भवति। तत्र पित्रे प्रेताय पूर्ववद्भस्मनि होमः। इतरेभ्योऽन्नदाज्याच्च मासिश्राद्धवत्। पिण्डदाने—मासिश्राद्धवत्पिण्डान् दत्वा तत्समीपे पृथक् स्तीर्णेषु दर्भेषु प्रेताय पिण्डः। पूर्ववदपो दत्वा तस्यान्ते अर्घ्यार्धं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् 'ये समाना' इति द्वाभ्यां पिण्डं पिण्डेषु ससृजेत्। एतत्सापिण्डीकरणम्। एतस्मिन्कृते प्रेतः पितृत्वमापद्यते। चतुर्थश्चानुज्ञापित उत्सृष्टो भवति।

अत्र विप्रतिपत्तिः-केचित्प्रपितामहस्य पात्रं पिण्डं चेतरेषु संसृजन्ति। प्रेतशब्देन स एवोच्यते प्रकर्षेण इतः प्रेत इति। स ह्यत्रानुज्ञातो भवति। प्रसिद्धस्त्वाचारः यस्य सपिण्डीकरणं स प्रेतः, तस्यैव च पात्रपिण्डयोरितरेषु संसर्गः। एवमपि प्रपितामहस्यैवानुज्ञेति।

मातृसपिण्डीकरणे सा यदि पुत्रिका, आसुरादिविवाहोढा वा ततो मातामहादीनां पिण्डेषु संसर्गः। तत्पिण्डस्येतरत्र श्वश्रवादिपिण्डेन एकचित्यारूढायास्तु भर्तृपिण्डेनेति केचिद्व्यवस्थापयन्ति। प्रयोगस्तु प्रसिद्धाचारानुरोधेन कर्तव्यः। अत्र केचित्पठन्ति—

> भ्राता वा भ्रातृपुत्रो वा सपिण्डः शिष्य एव वा।
> सहपिण्डक्रियाः कृत्वा कुर्यादभ्युदयं ततः॥ इति॥

तथा—

> अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्सपिण्डतामिति॥

अथ नान्दीश्राद्धम्—तत्र बोधायनः-अथाभ्युदयिकेषु प्रदक्षिणमुपचारो यज्ञोपवीतं प्रागग्रान् दर्भान्, युग्मान् ब्राह्मणान्, यवैस्तिलार्थः, पृषदाज्यं हविः। सोपयामेन पात्रेण नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यपां प्रीयन्तामित्यपां प्रतिग्रहणं, संसर्जनं च। नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहेत्यग्नौकरणमनुदेशनं च। आशयेषु परिसमूढेषु प्रागग्रेषु दर्भेषु पृषदाज्येनानुप्रदानं नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः इति सर्वं द्विर्द्विरिति (बौ. गृ. ३-१२-२...५.) तत्रैव प्रदेशान्तरे "तेषु भुक्तवत्सु स्वधायै स्थाने 'मधु मनिष्ये मधु जनिष्ये' इत्येतद्यजुर्जपित्वा नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यपो निनयति स्वधैवेषोक्ता भवति।

नैकेनाह्ना दैवं पित्र्यं च कुर्वन्ति यस्यैकाह्ना पित्र्यं दैवं च कुर्वन्ति प्रजा ह्यस्य प्रमायुका भवति, तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः क्रियते, परेद्युर्देवानामिति" (बौ. गृ. प. १-३-१०, ११) तथा पुष्पफलाक्षतमिश्रैर्यवैः तिलार्थे उपलिप्य दध्योदनं सम्प्रकीर्येति।

तत्र मासिश्राद्धं सर्वेषां पित्र्याणां प्रकृतिः। अस्माकं विशेषास्तु शाखान्तरादागमयितव्याः। तेन 'पूर्वेद्युर्निवेदन' मित्यादिसर्वमिहापि भवति। युग्मा ब्राह्मणाः अष्टौ षोडश वा। यद्यष्टौ द्वौ देवेभ्यः पितृभ्यो द्वौ द्वौ। यदि षोडश देवेभ्यश्चत्वारो द्वादश पितृभ्यः इत्यादि। यवैस्तिलार्थः मासि श्राद्धे यत् तिलकृत्यमर्घ्यादिषु तदत्र यवैः कर्तव्यम्। पुष्पादिभिश्च मिश्रणम्, प्रदेशान्तरे वचनात्। पृषदाज्य हविः। मांसौदनवत्पृषदाज्यमिश्रमित्येके, केवलमेवेत्यन्ये। सोपयामेनेति येनार्घ्यं प्रदीयते तत्पात्रमन्येन पात्रेणोपयम्येत्यर्थः। नान्दीमुखाः प्रीयन्तामिति। देवेभ्यस्तु विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति। तत्र पितृणामेकपात्रं, न त्रीणि, पितृपितामहप्रपितामहविशेषस्यानुपदेशात्, सर्वेषु मन्त्रेषु नान्दीमुखाः पितर इत्युपदेशात्। तस्मादेकमेव पात्रं पितृणां, देवानां चैकम्। तत्र ब्राह्मणानुपवेश्याग्नेः प्रतिष्ठापनं अर्घ्यपात्रयोश्च। अग्निश्चौपासन एव। विवाहेष्वसंभवात्। अर्घ्यं प्रदाय गन्धादिभिश्चालङ्कृत्यानुज्ञातो हविरुद्धृत्य पृषदाज्येन संसृज्याभिघार्याज्यभागान्ते नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहेत्येकां प्रधानाहुतिं जुहोति केवलेन पृषदाज्येन सौविष्टकृतं द्वितीयं जुहुयादिति। तन्त्रशेषं समाप्य कल्पान्वा प्रतिपूरुषमिति न्यायेनानेन नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण पितृभ्योऽनुदिशति, देवेभ्यस्तु विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति। मासिश्राद्धे ये होममन्त्राः अनुदेशनमन्त्राश्च तेषां निवृत्तिः। उपस्पर्शनं तु भवत्येव प्रत्याम्नायाभावात्। पृथिवी ते पात्रमित्याशयेषु च परिसमूढेष्विति आशयेषु भोजनस्थानेषु परिसमूढेषु परिसमूहनेन शोधितेषु पृषदाज्यमिश्रेण हविषा पृषदाज्येनैव तावत्पिण्डस्यानुप्रदानं नान्दीमुखेभ्यः स्वधा नम इत्यनेन। एवं सर्वं द्विर्द्विरिति। आसनप्रदानादिषु द्विर्द्विः प्रयत्नः कर्तव्य इत्यनेन। उपलिप्य दध्योदनं सम्प्रकीर्य तत् 'ये अग्निदग्धा' इत्यस्मिन् स्थाने भवति। अथ दक्षिणां दत्वा विसर्जनं नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामिति। तत उदपात्रसमीपे 'मधु मनिष्य' इति यजुर्जपित्वा विसर्जनमन्त्राभ्यां बर्हिषि पात्रे निनीय न्युब्जमिति। एवमेतन्नान्दीश्राद्धं तत्र कर्तव्यं यत्रापरेद्युर्देवयज्यानुष्ठानम्।

केचित्त्वन्यथा पठन्ति च—

मातुश्श्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणां तदनन्तरम्।
ततो मातामहानां तु वृद्धौ श्राद्धत्रयं विदुः॥ इति।

अस्मिन् पक्षे मात्रादीनां द्वौ द्वौ। एवं पित्रादीनां, एवं मातामहादीनां, देवार्थे द्वाविति विंशतिर्द्विजाः। तथा च मनुनान्यपरे वाक्ये दर्शितम्—

'प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिर्द्विजे' इति। (म. स्मृ. ८-३९२)

यत्राभ्युदयश्राद्धं भवति तद्विंशतिद्विजं कल्याणं भवति।

पुनश्च पठंति—

पुंसि जातान्नचौलोपस्नानपाणिग्रहेषु च।

अग्न्याधाने तथा सोमे दशस्वभ्युदयस्स्मृतः॥ इति।

प्रयोगश्च-पार्वणश्राद्धवदेव। एतावदत्र नाना युग्मा ब्राह्मणाः प्रदक्षिणमुपचारो यज्ञोपवीतं यवैस्तिलार्थ इति ॥ १२ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तस्या अन्वष्टकायाः कल्पो मासिश्राद्धवत् कर्तव्य इत्यर्थः। कल्पातिदेशात् सर्वमिह द्रव्यदेवतादिकं प्राप्यते। तस्मान्निमन्त्रणादि ग्रासप्राशनान्तं सर्वं मासिश्राद्धवदविकृतं कर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

अथावशिष्टानां मन्त्राणां येषु विनियोगस्तानि कर्माणि व्याचष्टे—

सनिमित्वोत्तरान् जपरित्वाऽर्थं ब्रूयात् ॥ १३ ॥

अनु०—यदि कोई वस्तु माँगने (भिक्षा या अप्राप्त धान माँगने जावे तो आगे के 'अन्नमिव ते दृशे भूयासम्' आदि सात मन्त्रों का जप करके अभीष्ट वस्तु को बतावे ॥ १३ ॥

टि०—दाता के पास जाकर भिक्षा द्वारा प्राप्त धन सनिः कहलाता है। सातवें मन्त्र में "असौ" के स्थान पर देने वाला का नाम सम्बोधन में लिया जायगा। आपस्तम्बधर्म सूत्र में भिक्षा के निमित्त का उल्लेख किया गया है। "भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो मातापित्रोर्बुभूर्षार्हतश्च नियमविलोपः। "तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्" । आ० ध० सू० २-१०-१, २। भिक्षा के निमित्तों में विवाह का निमित्त प्रधान है ॥ १३ ॥

अनाकुला

सन्यर्थं दातारं गत्वा। भिक्षणलभ्यं धनं सनिरित्युच्यते। सनिमित्वा उत्तरामन्त्रान् "अन्नमिव ते दृशे भूयास" मित्यादीन् सप्त जपित्वा। तमर्थं प्रब्रूयात् यदर्थमागतः सप्तमे मन्त्रे असावित्यत्र प्रदातुर्नाम ग्रहणं सम्बुद्ध्या ॥ १३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सनिर्याच्ञा भिक्षणम्। केचित्—भिक्षणलब्धं धनमिति।

या सनिः 'भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो मातापित्रोर्बुभर्षार्हतश्च नियमविलोपः' 'तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्'(आप. ध. २-१०-१,२) इति धर्मशास्त्रेऽवगता, तामुद्दिश्य इत्वा गत्वा । उत्तरान् मन्त्रान् 'अन्नमिव ते दृशे भूयासम्' इत्यादीन् सप्त जपित्वा तमर्थं प्रयोजनं ब्रूयात्, यं भिक्षेत तं बोधयति 'आचार्यार्थं भिक्षामि भवन्तम्' इति । एवमुत्तरेष्वपि भिक्षणनिमित्तेषु प्रयोगेषु विशेषः विवाहार्थमित्यादिः । सप्तमे च मन्त्रे 'असा' वित्यत्र सम्बुद्धया दातुर्नामग्रहणम् ॥ १३ ॥

इदानीं यदि याच्ञया रथादीनि लब्धानि, तदा केन विधिना स्वीकारः ? इत्युत्तरे विधय आरभ्यन्ते—

रथं लब्ध्वा योजयित्वा प्राञ्चमवस्थाप्योत्तरया रथचक्रे अभिमृशति पक्षसी वा ॥ १४ ॥

अनु०—यदि रथ प्राप्त हुआ हो तो उसमें घोड़ों या बैलों को लगाकर उसे पूर्वाभिमुख करके 'अङ्क्षौ न्यङ्क्षावभित' आदि अगली ऋचा का जप करते हुए रथ के दोनों पहियों का अथवा दोनों किनारे के भागों का स्पर्श करे ॥ १४ ॥

टी०—दोनों हाथों से स्पर्श करने का विधान है । मन्त्र का प्रयोग केवल एक बार किया जायगा और दोनों रथचक्रों का साथ स्पर्श किया जायगा । इस विषय में आश्वलायन गृह्य में भी वचन आता है । "रथमारोक्ष्यन्नाना पाणिभ्यां चक्रे अभिमृशेत्" २. ६. १ ॥ १४ ॥

अनाकुला

यदि रथो लभ्यते ततस्तं लब्ध्वा योजयति कर्मकरैर्युगधुरोः करोति । तं प्राङ्मुखमवस्थाप्य उत्तरयर्चा 'अङ्क्षौ न्यङ्क्षावभित' इत्येतया । रथचक्रे उभे सहाभिमृशति पाणिभ्यामुभाभ्याम् । अथवा पक्षसी अभिमृशति । पक्षसी रथस्येति शेषः । पार्श्वे फलके इत्यन्ये । नेमी इत्यपरे सकृदेव मन्त्रः । पाणिभ्यामुभाभ्यामभिमर्शनम् । तथा चाश्वलायनः—'रथमारोक्ष्यन्नाना पाणिभ्यां चक्रे अभिमृशेत्' (आश्व. गृ. २-६-१) इति ॥ १४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

रथश्चेल्लब्धः तं कर्मकरैर्वाहाभ्यां योजयित्वाथ तं प्राञ्चं प्राङ्मुखमवस्थाप्य उत्तरया 'अङ्क्षौ न्यङ्क्षौ' इत्येतया रथचक्रे उभे पाणिभ्यां युगपदभिमृशति । अपि वा पक्षसी ईषे ।

अन्यथापि पदार्थमाहुः ॥ १४ ॥

उत्तरेण यजुषाधीरुह्योत्तरया प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिप्रयाय यथार्थं यायात् ॥ १५ ॥

अनु०—'अध्वनामध्वपते' आदि अगले यजुस् का पाठ करते हुए रथ पर चढ़े और अगली ऋचा 'अयं वामश्विना रथ' आदि द्वारा पूर्व या उत्तर दिशा की ओर हाँके और तब जिस कार्य के लिए जाना हो उसके लिए यात्रा करे ॥ १५ ॥

टी०—खरीदकर प्राप्त हुए रथ के विषय में भी यही विधान समझना चाहिए। किन्तु सुदर्शनाचार्य को यह विधि केवल मांगनेपर मिले हुए रथ के सन्दर्भ में ही लागू समझनी चाहिए। इस प्रकार अश्व, हाथी के भी मिलने पर या खरीदने पर तत्तत् मन्त्र का प्रयोग करके उनका उपयोग करना चाहिए, ऐसा हरदत्तमिश्र का दृष्टिकोण है, जबकि सुदर्शनाचार्य केवल मांगने पर मिले हुए अश्व तथा हाथी के संबन्ध में ही निर्दिष्ट नियम को विहित करते हैं ॥ १५ ॥

अनाकुला

ततः उत्तरेण यजुषा 'अध्वनामध्वपत' इत्यनेन। रथं स्वमधिरोहति। ततः उत्तरयर्चा 'अयं वामश्विना रथ' इत्येतया। प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिप्रयाय यथार्थं यायात् यत्र प्रयोजनं तत्र गच्छेत्। अधीरुह्येति दीघपाठश्छान्दसः। एतद्विधानं क्रयादिलब्धस्यापि रथस्य प्रथमारोहणेभवति। द्वितीयादिषु तु न भवति। लब्ध्वेति वचनात् ॥ १५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तेन उत्तरेण 'अध्वनामध्वपते' इत्यनेन यजुषा रथं स्वयमधीरुह्य। दीर्घश्छान्दसः। उत्तरया 'अयं वामश्विना' इत्येतया। प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिप्रयाय प्रस्थायादृष्टार्थं, ततो यथार्थं प्रयोजनानुसारेण यायात् गच्छेत् ॥१५॥

केचित्—लब्ध्वेति वचनात् क्रयादिलब्धस्यापि रथादेः प्रथमारोहणे विधिरयं भवतीति। नैतत्, प्रकृतयाच्ञादिना लब्धरथादिविषयत्वेनैवास्य वाक्यस्यार्थवत्त्वोपपत्तेः, 'याच्ञया रथादीनि लब्ध्वा' इति भाष्यविरोधाच्च ॥ १५ ॥

अश्वमुत्तरैरारोहेत् ॥ १६ ॥

अनु०—(यदि घोड़ा मिले तो) 'अश्वोऽसि हयोऽसि' आदि ग्यारह मन्त्रों का पाठ करके घोड़े पर चढ़े ॥ १६ ॥

अनाकुला

लब्ध्वेत्यनुवर्तते। उत्तरैरेकादशभिः 'अश्वोऽसि हयोऽसि' इत्यादिभिः। रथलाभवदश्वलाभो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

अश्वश्चेद्याच्ञया लब्धः तमुत्तरैर्मन्त्रैः 'अश्वोऽसि' इत्यादिभिरारोहेत्॥१६॥

हस्तिनमुत्तरया ॥ १७ ॥

अनु०—(यदि हाथी मिले तो) 'हस्तियशसमसि' आदि अगली ऋचा द्वारा हाथी पर चढ़े ॥ १७ ॥

अनाकुला

लब्ध्वाऽऽरोहेदिति वर्तते । उत्तरया 'हस्तियशसमसी'त्येतया । तत्रासाविति हस्तिनो नामग्रहणम् । अभिनिदधामि नामेन्द्रेति । आरुह्य तूष्णीमङ्कुशाभिधानम् । मन्त्रे चाभिनिदधामीति द्रष्टव्यः । तेन मन्त्रे लिङ्गस्याविरोधः ॥ १७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

पूर्ववद्व्याख्यानम् । उत्तरया 'हस्तियशस' इत्येतया । असावित्यत्र च सम्बुद्ध्या ऐरावतेति गजनामग्रहणम् । अत्र यद्यपि 'वज्रेणाभिनिदधाम्यसौ' इतिलिङ्गादङ्कुशाभिधानार्थता मन्त्रस्य; तथापि 'हस्तिनमुत्तरयाऽऽरोहेत्' इति वाचनिकविनियोगस्य बलवत्त्वात्तदनुसार्येव मन्त्रो व्याख्यातव्यः ॥ १७ ॥

ताभ्याँ रेषणे पूर्ववत् पृथिवीमभिमृशेत् ॥ १८ ॥

अनु०—यदि उन दोनों (अर्थात् घोड़े या हाथी के) द्वारा शरीर को चोट पहुँचे तो 'स्योना पृथिवी' तथा 'बडित्थ' आदि दो मन्त्रों से पृथ्वी का स्पर्श करे ॥१८

टी०—रेषण से हरदत्तमिश्र ने शरीर के कुचलने का अर्थ लिया है, जबकि सुदर्शनाचार्य के अनुसार मरण से तात्पर्य है, किन्तु उन्होंने हरदत्तमिश्र के अर्थ का भी उल्लेख किया है ॥ १८ ॥

अनाकुला

ताभ्यां अश्वहस्तिभ्यां, रेषणे शरीरोपमर्दे जाते पूर्ववत् हेमन्तप्रत्यवरोहणवत् पृथिवीमभिमृशेत् । 'स्योना पृथिवि' 'बडित्थे'त्येताभ्याम् । पूर्ववदिति न जातकर्म गृह्यते, व्यवधानात् ॥ १८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

ताभ्यां तयोरश्वहस्तिनोः रेषणे मरणे सति । पूर्ववत् हेमन्तप्रत्यवरोहणवत् 'स्योना पृथिवि' इत्येताभ्यां पृथिवीमभिमृशेत् ।

केचित्—ताभ्यां अश्वहस्तिभ्याम् । प्रमादाद् भूमौ पतितस्य रेषणे शरीरोपमर्दे जाते इति ॥ १८ ॥

संवादमेष्यन् सव्येन पाणिना छत्रं दण्डं चादत्ते ॥ १९ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वाविंशः खण्डः ॥

अनु०—यदि किसी धन आदि के सम्बन्ध में (मुकद्दमे आदि) संवाद में जा रहा हो तो छाता तथा छड़ी बाँए हाथ से पकड़े ॥ १९ ॥

टी०—संवाद का अर्थ है मुकद्दमा, जहां अर्थी, प्रत्यर्थी अर्थ के लिए संवाद करते हैं। ऋणादान संबन्धी व्यवहार। यह कर्म विजय की इच्छा से किया जाता है। फली-करण का हवन हाथ से ही किया जाता है। बाएँ हाथ में छाता तथा छड़ी लेकर दाहिने हाथ से फलीकरण होम किया जाता है ॥ १९ ॥

अनाकुला

यत्र स्थानेऽर्थादिनिमित्ते प्रत्यर्थिभिः संवदते स संवादः। तमेष्यन् तत्रापराजयाय सव्येन पाणिना छत्रं दण्डञ्चादत्ते। पाणिग्रहणमुत्तरार्थम्। इह तु आदानपरत्वादेव सिद्धम्। तेन फलीकरणहोमः पाणिनैव कर्तव्यः, न पात्रेण। अन्यथा मुष्टिशब्दस्य परिमाणवाचित्वस्यापि दर्शनादस्याप्रसङ्गः ॥ १९ ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां गृह्यवृत्तावनाकुलायां द्वाविंशः खण्डः ॥

तात्पर्यदर्शनम्

संवादः ऋणादानादिव्यवहारः। केचित्-यत्र स्थाने प्रत्यर्थिभिस्संवदत इति। ऋणादानादिव्यवहारं कर्तुमेष्यन् व्यवहारे जयमिच्छन्नित्यर्थः। शेषं व्यक्तम् ॥ १९ ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने द्वाविंशः खण्डस्समाप्तः ॥

त्रयोविंशः खण्डः

*दक्षिणेन फलीकरणमुष्टिमुत्तरया हुत्वा गत्वोत्तरां जपेत् ॥ १ ॥

अनु०—दाहिने हाथ से एक मुट्ठी भूसी का अग्नि में अगली ऋचा 'अवजिह्वका' आदि द्वारा हवन करके और जाकर (प्रतिपक्षी को देखकर) अगली ऋचा 'आ ते वाचमास्याम्' का जप करे ॥ १ ॥

टी०—होम करते समय 'असौ' के स्थान पर मन्त्र में प्रत्यर्थी के नाम का निर्देश प्रथमा विभक्ति में किया जायगा। प्रत्यर्थी को देखने पर भी जिस मन्त्र का जप किया जाता है उसमें प्रथम विभक्ति में उसके नाम का प्रयोग किया जाता है ॥ १ ॥

अनाकुला

छत्रदण्डौ सव्येन पाणिना धारयन्नेव दक्षिणेन पाणिना फलीकरणानां मुष्टिं जुहोति। उत्तरयर्चा "अव जिह्वके' त्येतया। तत्रासाविति प्रत्यर्थिनो नामनिर्देशः प्रथमया। होमश्चायमपूर्वः। उपसमाधानं परिस्तरणं तूष्णीमुभयतः पर्युक्षणं इत्येतावत्। ततस्संवादं गत्वा प्रत्यर्थिनं दृष्ट्वा जपेत्। उत्तरामृचं 'आ ते वाचमास्यां' इत्येताम्। अत्राप्यसाविति प्रत्यर्थिनो नामनिर्देशः सम्बुद्ध्या। अवाचीनेन मुष्टिना होमः।'अवयज इति' लिङ्गात्। दक्षिणेनेति वचनं होम-काले छत्रदण्डयोः सव्येन धारणार्थम्—सव्यस्य व्यापृतत्वात् दक्षिणेनैव होम इति ॥ १ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

सव्यपाणिधृतच्छत्रदण्ड एव दक्षिणेन पाणिना फलीकरणमुष्टिमुत्तरया 'अव जिह्वक' इत्येतया स्वाग्नौ जुहोति। 'असा'वित्यत्र सोमशर्मेति प्रथमया प्रत्यर्थिनो नामग्रहणम्। यावदुक्त[2]धर्मश्चायं होम इति पूर्वमेवोक्तम्।

केचित्—परिस्तरणमुभयतस्तूष्णीं पर्युक्षणं च कर्तव्यम्, मुष्टिना चावाची-नेन होम इति।

---

* एतदादिसूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तमते इति ख. ड. पुस्तकयोः।

१. ग. घ. अवजिह्वकेति लिङ्गदर्शनात्। २ धर्मा चायं।

ततस्संवाददेशं गत्वा प्रत्यर्थिनं पश्यन्नुत्तरां 'आ ते वाचं' इत्येतां जपेत्। इह च सम्बुद्धया नामनिर्देशः प्रत्यर्थिन एव ॥ १ ॥

क्रुद्धमुत्तराभ्यामभिमन्त्रयेत विक्रोधो भवति ॥ २ ॥

अनु०—क्रोधी व्यक्ति के समक्ष अगली दो ऋचाओं 'या त एषा रराट्या' आदि का जप करे तो उसका क्रोध शान्त हो जाता है ॥ २ ॥

टी०—इस कर्म का प्रयोग स्त्रियों के सम्बन्ध में भी होगा। शूद्रों के सम्बन्ध में भी होगा ऐसा कुछ लोग मानते हैं, किन्तु लोगों के अनुसार ऐसा नहीं होगा। सुदर्शनाचार्य के अनुसार यह क्रिया प्रत्यर्थी या व्यवहारद्रष्टा के क्रुद्ध होने पर करे ॥ २ ॥

अनाकुला

उत्तराभ्यां 'या त एषा रराट्या' इत्येताभ्याम्। तत्र मन्त्रयोर्लिङ्गे विशेषाभावात् क्रुद्धमिति लिङ्गमविवक्षितम्। तेन स्त्रियामपि भवति। शूद्रादिष्वपि भवति। नेत्यन्ये। क्रुद्धस्य दर्शने नैमित्तिकमिदं नियमेन कर्तव्यमिति प्राप्त आह—विक्रोधो भवतीति। यस्य क्रोधविगमं चिकीर्षति तत्र कर्तव्यमित्यर्थः। क्रोधश्चात्मविषयः परविषयो वा ॥ २ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यदि क्रुद्धः प्रत्यर्थी वा व्यवहारद्रष्टा वा, तत्क्रोधशन्ति चासाविच्छति, तदा उत्तराभ्यां 'या त एषा' इत्येताभ्यां क्रुद्धमितरं नाभिमन्त्रयेत। अनेन चाभिमन्त्रणेन क्रुद्धो विक्रोधो विगतक्रोधो भवति। फलविधिश्चायम् नार्थवादमात्रं, सूत्रकारेण बद्धत्वात् ॥ २ ॥

असम्भवेप्सुः परेषाँ स्थूलाढारिकाजीवचूर्णानि कारयित्वोत्तरया-सुप्तायास्सम्बाध उपवपेत् ॥ ३ ॥

अनु०—यदि यह चाहे की पत्नी पर पुरुष के साथ मैथुन की इच्छा न करे तो बड़ी जीवित आढारिका को पीसकर जब वह सोई हुई हो तो अगले मन्त्र 'अव ज्यामिव धन्वन' आदि का उच्चारण करते हुए उसे उसके गुप्तांग में डाले ॥ ३ ॥

टी०—आढारिका रेंगने वाला कीड़ा है। शतचरणा भी कहा जाता है। वह दो प्रकार की होती है। जंगलों में मोटी, किन्तु अन्यत्र पतले शरीरवाली। सुदर्शनाचार्यने इसका एक और नाम दिया है गोल्लिका ॥ ३ ॥

अनाकुला

(असम्भवेप्सुः अमैथुनेप्सुः)। सम्भवो मैथुनम्। श्रूयते च-'काममाविजनितोः सम्भवामेति' (तै.सं.२-५-५)। तदभावोऽसम्भवः। परेषां पुरुषाणां

असम्भवमिच्छन् आढारिका सरीसृपविशेषः। शतचरणा वा। सा च द्विविधा स्थूला तन्वी च। अरण्येषु स्थूला, अन्यत्र तन्वी। तत्र स्थूलायां जीवन्त्यां चूर्णानि कारयति कर्मकर्तैव। कारयित्वा तानि यदा भार्या स्वपिति तदा तस्यास्सम्बाधे उपस्थे उपवपेत्। उत्तरया 'अव ज्यामिव धन्वन' इत्येतया। एवं कृते संबाध उपभोगयोग्यो न भवति व्यभिचारशङ्कायामिदम्। वेश्याविषयं वा ॥ ३ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यः प्रवत्स्यन् गृहे वा प्रजातन्तुं रक्षितुं स्वभार्यायां परपुरुषशुक्लस्यासम्भवमिच्छति स परेषामसम्भवेप्सुः। तस्योपायोपदेशः—स्थूलाढारिकाया जीवन्त्याश्चूर्णान्यन्येन कारयति। आढारिका गौलिका सरीसृपविशेषः, या शतचरणा नाम। सा च द्विविधा, ग्राम्या आरण्या च। तयोरारण्या स्थूला ग्राम्या तन्वी। जीवचूर्णानि चाश्मादिना महता प्रहारेण मार्यमाणायां भवति। ततस्तानि चूर्णान्युत्तरया 'अव ज्यामिव धन्वनः' इत्येतया सुप्तायाः सम्बाधे योनावुपवपेत्। एवं कृते सम्बाध उपभोगयोग्यो न भवति ॥ ३ ॥

अथ यदा परपुरुषशङ्काऽपैति तदा स्वशुक्लसम्भवसिद्ध्यर्थं भैषज्यमुच्यते—

*सिद्ध्यर्थे बभ्रुमूत्रेण प्रक्षालयीत ॥ ४ ॥

अनु०—कार्य की सिद्धि के लिए (उपभोग योग्य बनाने के लिए) कपिला गौ के मूत्र से (पत्नी के गुप्तांग का) प्रक्षालन करे।

अनाकुला

सिध्यर्थे कार्यसिद्धेः प्रार्थनायां उपभोगयोग्यत्वे चिकीर्षित इत्यर्थः। तदा बभ्रुमूत्रेण सम्बाधस्य प्रक्षालनं कर्तव्यम्। इदमत्र भैषज्यमित्यर्थः। बभ्रुः कपिलवर्णा गौः ॥ ४ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

कपिलायाः गोमूत्रेण प्रक्षालयीत सम्बाधम् ॥ ४ ॥

अथ यस्य वैश्यस्य, वैश्यवृत्तेर्वा द्विजस्य यद्गृहे पण्यं पणनीयं धान्यरत्नाद्यप्राणिद्रव्य क्षारलवणाद्यपि, तस्य सिध्यर्थे व्यवहारसिद्ध्यर्थम् अर्घापकर्षादिना लाभार्थं कर्तव्यं कर्माह—

---

* इतः प्रभृति सूत्रपञ्चकं सूत्रद्वयरूपेण परिगणितं हरदत्तमते इति 'क' 'ख' पुस्तकयोः। विभागप्रकारश्चेत्थम्-सिध्यर्थे बभ्रु... ...पलायेरन्। तस्मिन्निण्वानि..... प्रक्षालयीत ॥ इति ॥

सिद्ध्यर्थे यदस्य गृहे पण्यँ स्यात्तत उत्तरया जुहुयात् ॥ ५ ॥

अनु०—(व्यापार आदि) कार्य की सिद्धि के लिए घर में जो भी विक्रयार्थ वस्तुएँ हों, उनमें से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर 'यदहं धनेन' आदि अगली ऋचा से हवन करे ॥ ५ ॥

टी०—इस कर्म में क्षार नामक आदि का भी होम होगा। जो द्रव पदार्थ हो उनके होम में दर्वी 'का प्रयोग किया जायगा, जो हाथ में उठाये जाने योग्य हों उनका होमहाथ से ही होगा। दूसरा व्यक्ति भी होम कर सकता है। मन्त्र में 'अहम्' शब्द के उच्चारण से कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि होम करनेवाला होम कराने वाले के स्थान पर होकर कार्य करता है। खेत आदि के विषय में यह कर्म नहीं होता है। जो प्राणिमान् द्रव्य हों उनमें से होम नहीं किया जायगा ॥ ५ ॥

अनाकुला

अस्य कुटुम्बिनो गृहे यत् द्रव्यं पण्यं क्रय्यं तस्य सिध्यर्थे अर्धापकर्षादिना सिद्धिस्स्यादित्येवमर्थम्। तस्मात् द्रव्यात् किञ्चिदादाय उत्तरयर्चा 'यदहं धनेने' त्येतया जुहुयात्। सिद्धिर्भवति। अत्र क्षारलवणादीनामपि होमो भवति। उक्तानि यथोपदेशं काम्यानि। तत्र द्रवद्रव्येषु दर्वी। इतरेषु हस्तः।[1]फलीकरणहोमवच्चापूर्वार्थम्। अस्येति वचनं अस्य गृहे यत् पण्यं तस्यान्येनापि तद्धितैषिणा होमो यथा स्यादिति। न च मन्त्रेऽहमित्यस्य विरोधः; स एव भूत्वा स करोतीति। गृहे पण्यमिति वचनात् क्षेत्रादिविषये न भवति। पुनः सिध्यर्थवचनं अस्य कर्मान्तरत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथा पूर्वस्यैव विकल्पविधिस्सम्भाव्येत ॥ ५ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

क्रय्यद्रव्यानुसारेणाज्यभागान्तमग्निमुखान्तं वा कृत्वा, तस्मात्पण्यादादायोत्तरया 'यदहं धनेन' इत्येतया जुहुयात्। अत्र तत इति वचनान्न प्राणिद्रव्याद्धोमः, ततोऽवदानेऽङ्गवैकल्यापत्तेः।

केचित्—अस्येति वचनादन्येन तद्धितैषिणा होतव्यम्। मन्त्रे चाहमित्यस्य न विरोधः, स एव भूत्वा स जुहोतीति ॥ ५ ॥

यं कामयेत नायं मच्छिद्यतेति जीवविषाणे स्वं मूत्रमानीय सुप्तमुत्तराभ्याँस्त्रिः प्रसव्यं परिषिञ्चेत् ॥ ६ ॥

---

१. घ. फलीकरणस्य चापूर्वत्वम्।

अनु०—यदि यह इच्छा करे कि कोई व्यक्ति उससे दूर होकर भाग न जावे तो जीवित पशु की सींग में अपना मूत्र डालकर अगली दो ऋचाओं 'परि त्वा गिरेः' आदि का जप करते हुए सोए हुए उस व्यक्ति के चारों ओर दाहिने से बायें की ओर घूमकर गिरावे ॥ ६ ॥

टी०—मन्त्र में परिषीत शब्द का प्रयोग है, अतः यह कर्म पुरुष भृत्य के लिये ही करने का नियम है, स्त्री के लिए नहीं। सुदर्शनाचार्य के अनुसार कोई स्त्री भी यह अपने पति को अपने वश में रखने के लिए कर सकती है। किन्तु प्रसंग से तथा अन्य सूत्रों के अनुसार यह कर्म भृत्य के लिए ही समझना चाहिए पति के वशीकरण का नियम अन्यत्र बताया जा चुका है ॥ ६ ॥

अनाकुला

यं भृत्यं मत्तोऽयं न छिद्येतेति कामयेत नापगच्छेदिति यावज्जीवं मदधीन एव स्यादिति तत्र तत्कामे जीवतो गोर्विषाणं स्वयं पतितमादाय स्वं मूत्रमानीय तेन तं भृत्यं सुप्तं उत्तराभ्यां 'परि त्वा गिरेर' मित्येताभ्यां त्रिः प्रसव्यं परिषिञ्चेत्। जीववचनं मृतस्य निवृत्त्यर्थम्। गौरित्युपदेशः। आनीयेति वचनात् पूर्वमन्यस्मिन् पात्रे मूत्रयित्वा शौचञ्च कृत्वा ततो विषाणोपनयनम्। परिषीतोऽसि इति मन्त्रलिङ्गात् स्त्रीष्विदं न भवति ॥ ६ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यं भर्तारं सपत्न्यामन्यस्यां वा इन्द्रियदौर्बल्यादनुरक्तं या स्त्री कामयेत अयं भर्ता मत् मत्तो न च्छिद्येत अस्य मय्यविच्छेदेन स्नेहस्स्यादिति सा स्त्री जीवविषाणे जीवन्त्या गोर्विषाणे बलात्पातिते स्वं मूत्रमानीय तेन भर्तारं उत्तराभ्यां 'परि त्वा गिरेरमहं' इत्येताभ्यां त्रिः प्रसव्यं परिषिञ्चेत्। अत्र चानीयेति वचनात्पूर्वमन्यस्मिन्पात्रे मूत्रयित्वा शौचं च कृत्वा ततो विषाणेऽवननम् ॥ ६ ॥

केचित्—भृत्यविषयमेतत् स्वामिनः कर्मेति।

अथ भृत्यादीनां पलायितानां पुनरागमनकामस्य कर्माह—

येन पथा दासकर्मकराः पलायेरन् तस्मिन्निण्वान्युप-समाधायोत्तरा आहुतीर्जुहुयात् ॥ ७ ॥

अनु०—जिस मार्ग से नौकर या काम करने वाले भागते जाते हों उस मार्ग में गरम यज्ञिय पात्र को पकड़ने के उपकरण इण्वों को रखकर 'आवर्तन वर्तन' आदि चार मन्त्रों से आहुति करे ॥ ७ ॥

टी०—यह कर्म भागे हुए नौकर या मजदूर को वापस करने के लिये बताया गया है। यद्यपि सूत्र में दासकर्मकराः बहुवचन में प्रयुक्त है तथापि एक या दो के पलायन करने पर भी इस विधि को समझना चाहिए ॥ ७ ।

अनाकुला

अथ भृत्यानां पलायितानां निवृत्तिमिच्छतः कर्म ये कुर्वन्ति दासा अन्ये वा ते दासकर्मकराः येन पथा पलायेरन् तस्मिन् पथि इण्वानि दारुमयानि-निगलानि उपसमाधाय प्रज्वाल्य तस्मिन्नग्नावुत्तराश्चतस्र आहुतीर्जुहुयात् 'आवर्तन वर्तय' इत्येताः। तत्र चतुर्णामिण्वानां मार्गे, क्रमेण भेदेनोपसमाधानं मन्त्राश्च क्रमेणेति केचित्। अन्ये सकृदेव बहूनामिण्वानामुपसमाधानं होमश्च तत्रैवेति। एकस्य द्वयोश्च पलायनेऽपि भवत्येवायं होमो न बहूनामेव। एकशेषनिर्देशात् दासकर्मकरश्च दासकर्मकरौ च दासकर्मकराश्च दासकर्मकरा इति। अनिश्चिते चार्थे बहुवचनं प्रयुज्यते, यथा-कति भवतः पुत्रा इति। मन्त्रेषु 'परिक्रोशो व' इत्यादिबहुवचनमविवक्षितम्, देवताभिधानपरत्वात्। अयमप्यपूर्वो होमः। सर्वेष्वेतेषु यथासम्भवमग्निरौपासन एव ॥ ७ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

दासाश्च भृतिकर्मकराश्च दासकर्मकराः। ते येन पथा पलायेरन तस्मिन्पथि भूमावेव इण्वानि लोकप्रसिद्धानि दारुमयान्युपसमाधाय निधाय तेष्वेवानग्नौ 'पदे जुहोति' इतिवत् उत्तराः 'आवर्तन वर्तन' इत्याद्युत्तरमन्त्रकरणिकाश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयात्। अपूर्वं चेदं कर्म। अत्र यद्यपि दासकर्मकरा इति बहुवचनं, तथाप्येकस्य द्वयोर्वा पलायनेऽपि भवत्येवेदं कर्म।

केचित्—पथीण्वान्यग्नौ प्रज्वाल्य, तत्राग्नावेव होम इति ॥ ७ ॥

यद्येनं वृक्षात्फलमभिनिपतेद्वयो वाऽभिविक्षिपेदवर्षतर्क्ये वा बिन्दुरभिनिपतेत्तदुत्तरैर्यथालिङ्गं प्रक्षालयीत ॥८॥

अनु०—यदि ऊपर किसी वृक्ष का फल गिर पड़े अथवा कोई पक्षी (सिर पर या किसी अन्य अंग पर) बीट कर दे अथवा जब वर्षा की सम्भावना न हो तब ऊपर जल की एक बूंद गिरे तब उसे अगले तीन 'यदि वृक्ष' आदि मन्त्रों से (जल से) जिस प्रकार मन्त्र में निर्देश हो उसके अनुसार धो डाले ॥ ८ ॥

अनाकुला

एनं स्नातं वृक्षात् प्रच्युतफलं यद्यभिनिपतेत् शिरसि प्रदेशान्तरे वा। वयः पक्षी काकादिः एनमभिविक्षिपेत् शिरसि प्रदेशान्तरे वा। यदि वा अव-

षतर्क्ये वर्षे यत्र न तर्क्येत तस्मिन् काले देशे वा बिन्दुः अपां स्तोकः अभिनिपतेत तदङ्गं उत्तरैः 'यदि वृक्षादि'त्यादिभिः यथालिङ्गं अद्भिः प्रक्षालयेत्। 'यदि वृक्षा' दिति फलस्य। 'यं पक्षिण' इति वयसः। 'दिवो नु मा बृहत' इति बिन्दोः। यथालिङ्गवचनं त्रयेऽपि मन्त्राः एकस्मिन्निमित्ते मा भूवन्निति। तीर्थाद्यतिक्रमवत् स्यात् प्रसङ्गः, विधेर्बलीयस्त्वात् ॥ ८ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

यद्येनं द्विजं वृक्षात्फलं अभि उपरि नीचैरकस्मात्पतेत्, यदि वा वयः पक्षी पक्षाभ्यामेनमभिविक्षिपेत् उपरि पक्षवातेन धुनुयात्, यदि वा अवर्षतर्क्ये अभ्रशून्ये नभसि तस्माद्बिन्दुरपां स्तोकः अभिनिपतेत्, व्याख्यातम्। तत्फलनिपातादिभिरुपहतं शरीराङ्गमुत्तरैर्मन्त्रैर्यथालिङ्गं प्रक्षालयीत। तत्र 'यदि वृक्षात्' इति फलाभिपाते, 'यं पक्षिणः' इति वयोऽभिविक्षेपे, 'दिवो नु मा बृहतः' इति बिन्द्वभिनिपाते। यथालिङ्गमिति तु वचनमेकैकस्मिन्निमित्ते त्रिभिस्त्रिभिः प्रक्षालनं मा भूदिति ॥ ९ ॥

अथाद्भुतप्रायश्चितम्—

*अगारस्थूणाविरोहणे मधुन उपवेशने कुप्त्वां कपोतपददर्शनेऽमात्यानां शरीररेषणेऽन्येषु चाद्भुतोत्पातेष्वमावास्यायां निशायां यत्रापां न शृणुयात्तदग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्त उत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

अनु०— यदि घर में लगाये गये खम्भे में कोपल फूटे, यदि मधुमक्खियों ने घर में मधु का छत्ता लगा दिया हो, रसोईघर में कबूतरों के पैरों का चिह्न दिखाई पड़े, पुत्र आदि के शरीर में रोग या मृत्यु हो, अन्य अद्भुत कार्यों तथा अपशकुनों के होने पर अमावस्या की आधी रात को जिस स्थान पर पानी का शब्द न सुनाई पड़ता हो वहाँ अग्नि के उपसमाधान से लेकर आज्यभाग की आहुतियों तक का कर्म करे और फिर आगे के 'इमं मे वरुण' 'तत्त्वा यामि' आदि ग्यारह मन्त्रों से एकादश आहुति करके जया आदि आहुति करे ॥ ९ ॥

अनाकुला

अथाद्भुतोत्पातप्रायश्चित्तम्। अद्भुतमपूर्वमदृष्टचरम्। तस्य (अद्भुतस्यादृष्टचरस्य) उत्पात उपजनः यद्वा ऊर्ध्वभवा अद्भुतविशेषा एवोत्पाताः

* इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं 'क' पुस्तके।

( ) कुण्डलान्तर्गतो भागः गन्त-पुस्तके नास्ति।

दिव्या आन्तरिक्ष्याश्च । रात्राविन्द्रधनुर्लोहिनी द्यौरादित्ये कीलदर्शनमित्यादयः । तस्मिन् पक्षेऽद्भुतशब्देन भौमान्युच्यन्ते गोबलीवर्दन्यायेन । द्वन्द्वश्च समासः । तत्रोदाहरणरूपेण कानिचिदद्भुतानि दर्शयति–अगारस्थूणेति । विरोहणं अङ्कुरोपजननम् । अगारग्रहणात् आत्मीयेष्वपि शूद्रगृहादिषु न भवति । मधुन उपवेशने अगार इत्येव । कुम्भः कुल्ली भ्राष्ट्रमित्यनर्थान्तरम् । कपोतस्य पक्षिण आरण्यस्य पददर्शने पचनागारे तस्मिन् प्रविष्ट इत्यर्थः । अमात्याः पुत्रादयः । तेषां बहूनां युगपत् शरीररेषणे व्याधौ मरणे च । अन्येषु चैवंप्रकारेषु वल्मीकादिषु इन्द्रधनुरादिषु च । अन्येष्विति वचनात् अमात्यानां शरीररेषणमप्यद्भुतरूपमेव गृह्यते । नैकस्य द्वयोर्वा रेषणे कालभेदे च न भवति । अत्र प्रायश्चित्तम्—अमावास्यायां निशायां चतुर्धा विभक्तायां रात्रेः द्वितीयो भागो निशा । यत्र प्रदेशे अपां कुम्भैरुदधानेष्वानीयमानानां शब्दं न शृणुयात् तत्र प्रदेशेऽग्नेरुपसमाधानाद्युत्तरा आहुतय एकादश इमं मे वरुण इत्यादयः । प्रजापत इति 'प्रजापते न त्वदेतानी' त्येषा गृह्यते । प्रसिद्धेः, न 'प्रजापते त्वं निधिपा' इत्येषा । प्रजापते नत्वदिति च हुत्वा प्रधानाहुतीर्जुहुयात् इति तन्त्रशेषं प्रतिपद्यते । आज्यभागान्त इत्येवं तन्त्रसमाप्तौ सिद्धायां अग्नेरुपसमाधानादिवचनं अग्निमात्रस्योपसमाधानार्थम् । तेन औपासनाभावे लौकिकेऽपि भवति । एवंप्रकाराणामेतेषां नैमित्तिकानां दृष्टफलानां च पण्यहोमादीनां अन्यस्मिन्नप्यग्नौ प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थं सर्वान्ते अग्निविधनार्थो यत्नः कृतः । जयादिवचनमानन्तर्यार्थम् । प्रधानाहुत्यनन्तरं जयाद्येव प्रतिपद्यते, न सूत्रान्तरदृष्टा आहुतयोऽस्मिन् तन्त्रे होतव्याः इति । काः पुनस्ताः ? कपोतश्चेदगारमुपहन्यादनुपतेद्वा देवाः कपोतः इति प्रत्यृचं जुहुयात् जपेद्वा । (आश्व. ३-७-७) इत्याश्वलायनः । जयादिवचनेनैव तन्त्रसमुच्चयप्रतिषेधः । ‥ ‥‥तदपि प्रायश्चित्तं विकल्पेन भवति पृथकतन्त्र इति । तत्रापि शम्याः परिध्यर्थे । अस्यापि प्रायश्चित्तस्यास्मिन्नेव शास्त्र उपदिष्टत्वात् ॥ ९ ॥

तात्पर्यदर्शनम्

तत्राद्भुताः स्वभावतः पूर्वमभूतास्सन्तो भवन्तीति । उत्पाता इति तु ऊर्ध्वं भवन्ति अव्यक्तावस्थायां प्राप्नुवन्ति । अद्भुताश्चोत्पाताश्चेति द्वन्द्वसमासः । शब्दभेदस्तु भौमदिव्यभेदाभिप्रायः । तत्र दिव्या उत्पाता रात्राविन्द्रधनु[1] रादित्यकील इत्यादयः । भौमांस्त्वद्भुतानगारस्थूणेत्यादिना स्वयमेवोदाहरति । अगारस्य स्थूणाः अगारस्थूणाः, तासां विरोहणे अङ्कुरोपजनने । स्थूणाग्रहणं चान्यस्यापि गृहसम्बन्धिनो वंशादेरनिखातस्यापि प्रदर्शनार्थम् ,[2] निमित्तगत-

१. आदित्यलोक । २ निमित्तस्याप्युद्देश्यत्वेन उद्देश्यविशेषणाविवक्षायाः ग्रहैकत्वाधिकरणसिद्धत्वादिति भावः ।

विशेषणत्वात्। मधुन उपवेशन इत्यगार एव। उपसर्जनस्याप्यगारशब्दस्य योग्यत्वेन बुद्ध्या विभज्य सम्बन्धः;आरामादिष्वनद्भुतत्वात्। कुपुः चुल्ली भ्राष्ट्रमम्बरीषमित्यनर्थान्तरम्। तस्यां कुप्त्वां पचनागार इत्यर्थः। कपोतस्याप्यारण्यस्य पक्षिविशेषस्य पददर्शने। कुप्त्वामित्यपि प्रदर्शनार्थम्; अन्तर्गृहेऽप्यस्याद्भुतत्वात्। अमा सह वसन्तीत्यमात्याः एकपात्रभोजनाः पुत्रभ्रात्रादयः तेषां बहूनां सन्ततं शरीररेषणे शरीरनाशने मरण इत्यर्थः।

केचित्—अमात्यानां युगपद्व्याधावपीति।

अन्येषु चाद्भुतोत्पातेषु उक्तेभ्योऽन्येषु गृहमध्ये वल्मीकजननादिष्वद्भुतेषु च दृष्टेषु सत्सु तत्सूचितदुरितशान्त्यादिकामोऽमावास्यायां निशायां रात्र्यां मुहूर्तद्वयादूर्ध्वम्। केचित्-द्वितीये याम इति। यत्रापां वहन्तीनां शब्दं न शृणुयात्।

केचित्—कुम्भैरुदधानेष्वानीयमानास्विति।

तथाभूते देशे अग्नेरुपसमाधानादि तन्त्रं प्रतिपद्यते। तन्त्रविधानं चास्य आज्यहविष्ट्वात्। आज्यभागान्ते इति त्वर्थकृत्यप्रतिषेधार्थम्। उत्तरा आहुतीः 'इमं मे वरुण' 'तत्त्वा यामि' इत्येकादशाहुतीर्हुत्वा वचनबलाज्जयादि प्रतिपद्यते। अत्र प्रजापतय इति प्रतीकेन 'प्रजापत्या व्याहृतीः' इतिवत् 'प्रजापते न त्वदेतानि' इत्येषैव गृह्यते॥ २॥

परिषेचनान्तं कृत्वाऽभिमृतेभ्य उत्तरया दक्षिणतोऽश्मानं परिधिं दधाति दधाति॥ १०॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने त्रयोविंशः खण्डः।

समाप्तस्तथाष्टमश्च पटलः।

समाप्तमिदमापस्तम्बगृह्यसूत्रम्।

अनु०—(अग्नि के चारों ओर) जल के परिषेचन तक के कर्म करके अगली ऋचा 'इमं जीवेभ्य' आदि का पाठ कर जिन लोगों में मरण की दुर्घटना हुई हो उनसे मृत्यु के भय को दूर करने के लिए दक्षिण की ओर सीमा बनाते प्रस्तर रखे॥१०॥

अनाकुला

अथ अमात्यानां शरीररेषणे इत्यस्मिन्नद्भुते कश्चिद्विशेषः येषां पूर्वापरा अन्वञ्चः प्रमीयन्ते अभिमृतास्तेभ्यस्तदर्थं तेषां मृत्युशमनार्थं उत्तरं कर्म होममिमं कृत्वा परिषेचनान्तेऽश्मानं परिधिं अन्तर्धानं मृत्युनिवारणार्थं प्रतिष्ठापयति उत्तरयर्चा 'इमं जीवेभ्य' इत्येतया। अभ्यासः प्रश्नसमाप्तिद्योतकः। परिधिमिति वचनात् तस्याश्मनः प्रच्यावनं कार्यम्, तत्रैव प्रतिष्ठितो भवति ॥ १० ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां गृह्यवृत्तावनाकुलायां त्रयोविंशः खण्डः।

समाप्तश्चोत्तमोऽष्टमः पटलः।

संपूर्णाऽनाकुला वृत्तिः

तात्पर्यदर्शनम्

ततः परिषेचनान्तं तन्त्रशेषं करोति। शम्याः परिध्यर्थे इति पूर्वमेवोक्तम्।

केचित्—आज्यभागान्त इत्यनेन तन्त्रप्राप्तौ सिद्धायामग्नेरुपसमाधानादिवचनमग्निमात्रस्योपसमाधानार्थम्। तेनौपासनशून्यस्येदं कर्म लौकिकेऽपि भवति। अन्यानि चैवंप्रकाराणि दृष्टफलानि नैमित्तिकानि पण्यहोमादीनि, अस्य सर्वान्तेऽग्निविधानस्य सर्वार्थत्वावगमादिति।

अभिमृतेभ्य इत्यादिना 'अमात्यानां शरीररेषणे' इत्यस्मिन्नद्भुते कश्चिद्विशेषोऽभिधीयते। अभिमृता आभिमुख्येन मृता योग्यतया जीवन्त एव अमात्यानां सन्ततमरणदर्शनेन स्वयमपि मरणाद्भीता इत्यर्थः। तेभ्यस्तदर्थं सन्ततमरणभयनिवृत्त्यर्थं उत्तरया 'इमं जीवेभ्यः' इत्यनया परिधिं मृत्योरन्तर्धानभूतं अश्मानं दक्षिणतो निदधाति। एतच्च तन्त्रशेषान्ते, कृत्वेति क्त्वाप्रत्ययबलात्।

केचित्—निदधाति प्रतिष्ठापयति। परिधिवचनाच्च तस्याश्मनः प्रच्यावनं न कर्तव्यमिति।

दधाति दधातीति द्विरुक्तिः प्रश्नसमाप्तिसूचनार्था ॥ १० ॥

इत्थं सुदर्शनार्येण गृह्यतात्पर्यदर्शनम् ।
कृतं भाष्यानुसारेण यथामति यथाश्रुतम् ॥
अत्रानुक्तं दुरुक्तं वा मतेर्मान्द्याच्छ्रुतस्य वा ।
सन्मार्गप्रवणानां नः क्षन्तुमर्हन्ति पण्डिताः ॥

इति श्रीसुदर्शनाचार्यविरचिते गृह्यतात्पर्यदर्शने त्रयोविंशः खण्डः ।

अष्टमश्च पटलस्समाप्तः ।

समाप्तेयं गृह्यसूत्रव्याख्या ।

ॐ नमश्शिवाभ्याम् ।

परिशिष्टम्

आपस्तम्बगृह्यसूत्रपाठः

अथ प्रथमः पटलः

प्रथमः खण्डः

(१) अथ कर्माण्याचाराद्यानि गृह्यन्ते ॥ १ ॥
उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु कार्याणि ॥ २ ॥
यज्ञोपवीतिना ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणम् ॥ ४ ॥
पुरस्तादुदग्वोपक्रमः ॥ ५ ॥
तथाऽपवर्गः ॥ ६ ॥
(२) अपरपक्षे पित्र्याणि ॥ ७ ॥
प्राचीनावीतिना ॥ ८ ॥
प्रसव्यम् ॥ ९ ॥
दक्षिणतोऽपवर्गः ॥ १० ॥
निमित्तावेक्षाणि नैमित्तिकानि ॥ ११ ॥
(३) अग्निमिध्वा प्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति ॥ १२ ॥
प्रागुदगग्रैर्वा ॥ १३ ॥
(४) दक्षिणाग्रैः पित्र्येषु ॥ १४ ॥
दक्षिणाप्रागग्रैर्वा ॥ १५ ॥
उत्तरेणाग्निं दर्भान्संस्तीर्य द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति देवसंयुक्तानि ॥१६॥
(५) सकृदेव मनुष्यसंयुक्तानि ॥ १७ ॥
एकैकशः पितृसंयुक्तानि ॥ १८ ॥
पवित्रयोस्संस्कार आयामतः परीमाणं प्रोक्षणीसंस्कारः पात्रप्रोक्ष इति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् ॥ १९ ॥
अपरेणाग्निं पवित्रान्तर्हिते पात्रेऽप आनीयोदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूय समं प्राणैर्हृत्वोत्तरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा दर्भैः प्रच्छाद्य ॥ २० ॥

---

(१) अत्र सूत्राणां विभागः सुदर्शनमतानुसारेण कृतः। यत्र चानयोर्वैमत्यं तत् तत्तत्सूत्राधोभाग एव सूचयिष्यते।

(२) हरदत्तमते एतदादिसूत्रचतुष्टयमपि एकसूत्रमिति 'क'. ख. पुस्तकयोः।

(३) सूत्रद्वयमपीतो हरदत्ताचार्यैरेकसूत्रतया परिगणितम्।

(४) सूत्रद्वयमप्येकं सूत्रं हरदत्तमते।

(५) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रं हरदत्तमते घ० पुस्तकानुसारेण।

ब्राह्मणं दक्षिणतो दर्भेषु निषाद्य ॥ २१ ॥

आज्यं विलाप्यापरेणाग्निं पवित्रान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यामाज्यं निरुप्योदीचोऽङ्गारान्निरूह्य तेष्वधिश्रित्य ज्वलताऽवद्युत्य द्वे दर्भाग्रे प्रत्यस्य त्रिः पर्यग्नि कृत्वोदगुद्वास्याङ्गारान् प्रत्यूह्योदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां पुनराहारं त्रिरुत्पूय पवित्रे अनुप्रहृत्य ॥ २२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने प्रथमः खण्डः ।

द्वितीयः खण्डः

येन जुहोति तदग्नौ प्रतितप्य दर्भैः संमृज्य पुनः प्रतितप्य प्रोक्ष्य निधाय दर्भानद्भिस्संस्पृश्याग्नौ प्रहरति ॥ १ ॥

शम्याः परिध्यर्थे विवाहोपनयनसमावर्तनसीमन्तचौलगोदानप्रायश्चित्तेषु ॥२॥

अग्निं परिषिञ्चत्य'दितेऽनुमन्यस्वे'ति दक्षिणतः प्राचीन'मनुमतेऽनुमन्यस्वे'ति पश्चादुदीचीनं 'सरस्वतेऽनुमन्यस्वे'त्युत्तरतः प्राचीनं 'देव सवितः प्रसुवे'ति समन्तम् ॥ ३ ॥

पैतृकेषु समन्तमेव तूष्णीम् ॥ ४ ॥

इध्ममाधायाघारावाघारयति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् ॥ ५ ॥

अथाज्यभागौ जुहोत्यग्नये स्वाहेत्युत्तरार्धपूर्वार्धे सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धपूर्वार्धे समं पूर्वेण ॥ ६ ॥

(१) यथोपदेशं प्रधानाहुतीर्हुत्वा जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृतः प्राजापत्यां व्याहृतीर्विहृताः सौविष्टकृतीमित्युपजुहोति-यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्त्सर्वँ॰स्विष्टं सुहुतं करोतु स्वाहेति ॥ ७ ॥

(२) पूर्ववत्परिषेचनमन्वमँ॰स्थाः प्रासावीरिति मन्त्रसन्नामः ॥ ८ ॥

लौकिकानां पाकयज्ञशब्दः ॥ ९ ॥

(३) तत्र ब्राह्मणावेक्षो विधिः ॥ १० ॥

द्विर्जुहोति द्विर्निमार्ष्टि द्विः प्राश्नात्युत्सृप्याचामति निर्लेढीति ॥ ११ ॥

(४) सर्वऋतवो विवाहस्य शैशिरौ मासौ परिहाप्योत्तमं च नैदाघम् ॥ १२ ॥

सर्वाणि पुण्योक्तानि नक्षत्राणि ॥ १३ ॥

तथा मङ्गलानि ॥ १४ ॥

आवृतश्चास्त्रीभ्यः प्रतीयेरन् ॥ १५ ॥

(५) इन्वकाभिः प्रसृज्यन्ते ते वराः प्रतिनन्दिताः ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वितीयः खण्डः ।

---

(१) हरदत्तमते 'उपजुहोति' इत्यन्तमेव सूत्रम् , यदस्येत्यारभ्य सूत्रान्तरं क. ख. पुस्तकानुसारतः कचित्पुस्तके यदस्येति स्वाहेत्यन्तं नास्त्येव ।

(२) हरदत्तमते 'परिषेचन' मित्यन्तमेकं सूत्रम् । ततोऽपरम् ।

(३) हरदत्तेन सूत्रद्वयमपीदं एकसूत्रतया परिगणितम् ।

(४) सर्वर्तवः इति हरदत्तपाठः ठ-पुस्तकपाठश्च ।

(५) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तस्येति क. ख. ङ. पुस्तकेषु ।

तृतीयः खण्डः

(१) मघाभिर्गावो गृह्यन्ते ॥ १ ॥
फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते ॥ २ ॥
(२) "यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति तां निष्ट्यायां दद्यात् प्रियैव भवति नेव तु पुनरागच्छती"ति ब्राह्मणावेक्षो विधिः ॥ ३ ॥
(३) इन्वकाशब्दो मृगशिरसि ॥ ४ ॥
निष्ट्याशब्दस्स्वातौ ॥ ५ ॥
विवाहे गौः ॥ ६ ॥
गृहेषु गौः ॥ ७ ॥
तया वरमतिथिवदर्हयेत् ॥ ८ ॥
योऽस्यापचितस्तमितरया ॥ ९ ॥
एतावद्गोरालम्भनमतिथिः पितरो विवाहश्च ॥ १० ॥
सुप्तां (४) रुदन्तीं निष्क्रान्तां वरणे परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥
दत्तां गुप्तां द्योतामृषभां शरभां विनतां विकटां मुण्डां मण्डूषिकां साङ्कारिकां रातां पालीं मित्रां स्वनुजां वर्षकारीं च वर्जयेत् ॥ १२ ॥
नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाच गर्हिताः ॥ १३ ॥
सर्वाश्च रेफलकारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥
(५) शक्तिविषये द्रव्याणि प्रतिच्छन्नान्युपनिधाय ब्रूयादुपस्पृशेति ॥ १५ ॥
नाना बीजानि संसृष्टानि वेद्याः पांसून् क्षेत्राल्लोष्टं शकृच्छ्मशानलोष्टमिति ॥१६॥
(६) पूर्वेषामुपस्पर्शने यथालिङ्गमृद्धिः ॥ १७ ॥
उत्तमं परिचक्षते ॥ १८ ॥
बन्धुशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत ॥ १९ ॥
बन्धुशीललक्षणसम्पन्नश्श्रुतवानरोग इति वरसम्पत् ॥ २० ॥
यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके ॥ २१ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यपक्षे तृतीयः खण्डः ।

समाप्तश्च प्रथमः पटलः

(१) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं ग० घ० पुस्तकयोः ।
(२) तै. ब्रा. १-५-२ ।
(३) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तमते ।
(४) रुदतीं क० ख० ग० पुस्तकेषु पाठः ।
(५) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।
(६) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रत्वेन परिगणितं हरदत्ताचार्यैः ।

अथ द्वितीयः पटलः

चतुर्थः खण्डः

सुहृदस्समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात् ॥ १ ॥
तानादितो द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत ॥ २ ॥
स्वयं दृष्ट्वा तृतीयां जपेत् ॥ ३ ॥
चतुर्थ्या समीक्षेत ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठेनोपमध्यमया चाङ्गुल्या दर्भं संगृह्योत्तरेण यजुषा तस्या भ्रुवोरन्तरं संमृज्य प्राचीनं निरस्येत् ॥ ५ ॥
प्राप्ते निमित्त उत्तरां जपेत् ॥ ६ ॥
युग्मान्समवेतान् मन्त्रवत उत्तरयाऽद्भ्यः प्रहिणुयात् ॥ ७ ॥
उत्तरेण यजुषा तस्याश्शिरसि दर्भेण्वं निधाय तस्मिन्नुत्तरया दक्षिणं युगच्छिद्रं प्रतिष्ठाप्य छिद्रे सुवर्णमुत्तरयान्तर्धायोत्तराभिः पञ्चभिस्स्नापयित्वोत्तरयाऽहतेन वाससाऽऽच्छाद्योत्तरया योक्त्रेण सन्नह्यति ॥ ८ ॥
अथैनामुत्तरया दक्षिणे हस्ते गृहीत्वाऽग्निमभ्यानीयापरेणाग्निमुदगग्रं कटमास्तीर्य तस्मिन्नुपविशत उत्तरो वरः ॥ ९ ॥
अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽथैनामादितो द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत ॥ १० ॥
अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणमुत्तानं हस्तं गृह्णीयात् ॥ ११ ॥
(१) यदि कामयेत स्त्रीरेव जनयेयमित्यङ्गुलीरेव गृह्णीयात् ॥ १२ ॥
(२) यदि कामयेत पुंस एव जनयेयमित्यङ्गुष्ठमेव सोऽभीवाङ्गुष्ठमभीव लोमानि गृह्णाति ॥ १३ ॥
'गृभ्णामि त' इत्येताभिश्चतसृभिः ॥ १४ ॥
अथैनामुत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदा प्राचीमुदीचीं वा दिशमभि प्रक्रमय'त्येकमिष' इति ॥ १५ ॥
सखेति सप्तमे पदे जपति ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने चतुर्थः खण्डः ।

पञ्चमः खण्डः

(३) प्राग्घोमात् प्रदक्षिणमग्निं कृत्वा यथास्थानमुपविश्यान्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्जुहोति 'सोमाय जनिविदे स्वाहे'त्येतैः प्रतिमन्त्रम् ॥ १ ॥
अथैनामुत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदाऽश्मानमास्थापयत्यातिष्ठेति ॥ २ ॥
अथास्या अञ्जलावुपस्तीर्य द्विर्लाजानोप्याभिघारयति ॥ ३ ॥
तस्यास्सोदर्यो लाजानावपतीत्येके ॥ ४ ॥

---

(१) इदमग्रिमं च सूत्रमेकं सूत्रं ख—पुस्तके ।
(२) ग—पुस्तके हरदत्तमते च 'अङ्गुष्ठमेव' इत्यन्तमेव' सूत्रं । ततोऽपरम् ।
(३) हरदत्तमते—'प्राग्घोमात्' इत्येकं सूत्रम् । 'प्रदक्षिण'मित्यारभ्य'पतिमन्त्र' मित्यन्तमपरम् । सुदर्शनमतेऽपि 'ख' पुस्तके 'कृत्वे' त्यन्तमेकं सूत्रं ततोऽपरम् ।

जुहोती 'यं नारी'ति ॥ ५ ॥
उत्तराभिस्तिसृभिः प्रदक्षिणमग्निं कृत्वाऽश्मानमास्थापयति यथा पुरस्तात् ॥६॥
होमश्चोत्तरया ॥ ७ ॥
(१) पुनः परिक्रमणम् ॥ ८ ॥
आस्थापनम् ॥ ९ ॥
होमश्चोत्तरया ॥ १० ॥
पुनः परिक्रमणम् ॥ ११ ॥
जयादि प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
परिषेचनान्तं कृत्वोत्तराभ्यां योक्त्रं विमुच्य तां ततः प्र वा वाहयेत् प्र वा हारयेत् ॥ १३ ॥
समोप्यैतमग्निमनुहरन्ति ॥ १४ ॥
(२) नित्यः ॥ १५ ॥
धार्यः ॥ १६ ॥
अनुगतो मन्थ्यः ॥ १७ ॥
श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहार्यः ॥ १८ ॥
(३) उपवासश्चान्यतरस्य भार्यायाः पत्युर्वा ॥ १९ ॥
अनुगतेऽपि वोत्तरया जुहुयान्नोपवसेत् ॥ २० ॥
उत्तरा रथस्योत्तम्भनी ॥ २१ ॥
(४) वाहावुत्तराभ्यां युनक्ति दक्षिणमग्रे ॥ २२ ॥
आरोहतीमुत्तराभिरभिमन्त्रयते ॥ २३ ॥
(५) सूत्रे वर्त्मनोर्व्यवस्तृणात्युत्तरया नीलं दक्षिणस्यां लोहितमुत्तरस्याम् ॥ २४ ॥
ते उत्तराभिरभियाति ॥ २५ ॥
तीर्थस्थाणुचतुष्पथव्यतिक्रमे चोत्तरां जपेत् ॥ २६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने पञ्चमः खण्डः ॥

षष्ठः खण्डः

नावमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ १ ॥
न च नाव्याँ स्तरती वधूः पश्येत् ॥ २ ॥
तीर्त्वोत्तरां जपेत् ॥ ३ ॥
(६) श्मशानादिव्यतिक्रमे भाण्डे रथे वा रिष्टेऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं करोति ॥ ४ ॥
क्षीरिणामन्येषां वा लक्षमण्यानां वृक्षाणां नदीनां धन्वनां च व्यतिक्रम उत्तरे यथालिङ्गं जपेत् ॥ ५ ॥

---

(१) पुनः परिक्रमणमास्थापनं इत्येकं सूत्रं हरदत्तमते ॥
(२) सूत्रद्वयमिदमेकं सूत्रं हरदत्तस्य ।
(३) 'अनुगते' इत्यन्तं सूत्रं हरदत्तस्य ।
(४) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते । 'युनक्ति' इत्यन्तं प्रथमसूत्रम् ॥
(५) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते । उत्तरया, दक्षिणस्यां, उत्तरस्यां, इति यथाक्रमं सूत्रान्तानि ।
(६) ट—श्मशानादिव्य । हरदत्तमते सूत्रत्रयमिदम् । 'समाधानादी'त्यन्तमेकम् 'प्रतिपद्यते' इत्यन्तमपरम् । शिष्टमन्यत् ॥

गृहानुत्तरया सङ्काशयति ॥ ६ ॥

(१) वाहावुत्तराभ्यां विमुञ्चति दक्षिणमग्रे ॥ ७ ॥

लोहितं चर्माऽऽनडुहं प्राचीनग्रीवमुत्तरलोम मध्येऽगारस्योत्तरयाऽऽस्तीर्य गृहान् प्रपादन्नुत्तरां वाचयति दक्षिणेन पदा ॥ ८ ॥

न च देहलीमभि (२) तिष्ठति ॥ ९ ॥

(३) उत्तरपूर्वे देशेऽगारस्याग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वोत्तरया चर्मण्युपविशत उत्तरो वरः ॥ अथास्याः पुँस्वोर्जीवपुत्रायाः पुत्रमङ्क उत्तरयोपवेश्य तस्मै फलान्युत्तरेण यजुषा प्रदायोत्तरे जपित्वा वाचं (४) यच्छत आ नक्षत्रेभ्यः ॥ ११ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्योत्तराभ्यां यथालिङ्गं ध्रुवमरुन्धतीं च दर्शयति॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने षष्ठः खण्डः ।

इति द्वितीयः पटलः

अथ तृतीयः पटलः

सप्तमः खण्डः

अथैनामाग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयति ॥ १ ॥

पत्न्यवहन्ति ॥ २ ॥

(५) श्रपयित्वाभिघार्य प्राचीनमुदीचीनं वोद्वास्य प्रतिष्ठितमभिघार्याग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायाँ स्थालीपाकाज्जुहोति ॥ ३ ॥

सकृदुपस्तरणाभिघारणे द्विरवदानम् ॥ ४ ॥

(६) अग्निर्देवता स्वाहाकारप्रदानः ॥ ५ ॥

अपि वा सकृदुपहत्य जुहुयात् ॥ ६ ॥

अग्निस्स्विष्टकृत् द्वितीयः ॥ ७ ॥

सकृदुपस्तरणावदाने द्विरभिघारणम् ॥ ८ ॥

मध्यात् पूर्वस्यावदानम् ॥ ९ ॥

मध्ये होमः ॥ १० ॥

---

(१) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते । विमुञ्चतीत्यन्तं प्रथमसूत्रम् ।

(२) ख०ग०—देहलीमधि ।

(३) हरदत्तमते सूत्रत्रयमिदम् । प्रथमं "समाधानादी"त्यन्तम् । द्वितीयं 'प्रतिपद्यते' इत्यन्तम् । वर इत्यन्तं तृतीयम् ॥

(४) क—यच्छत्यानक्षत्रेभ्यः ॥

(५) हरदत्तमते सूत्रद्वयमिदम् । 'समाधानादी'त्यन्तमेकम् । शिष्टमन्यत् ।

(६) हरदत्तमते "स्वाहाकारप्रदान" इति सूत्रान्तरम् ।

उत्तरार्धादुत्तरस्य ॥ ११ ॥
उत्तरार्धपूर्वार्धे होमः ॥ १२ ॥
(१) लेपयोः प्रस्तरवत् तूष्णीं बर्हिरङ्क्त्वाग्नौ प्रहरति ॥ १३ ॥
(२) सिद्धमुत्तरं परिषेचनम् ॥ १४ ॥
तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजयेत् ॥ १५ ॥
योऽस्यापचितस्तस्मा ऋषभं ददाति ॥ १६ ॥
एवमत ऊर्ध्वं दक्षिणावर्जमुपोषिताभ्यां पर्वसु कार्यः ॥ १७ ॥
(३) पूर्णपात्रस्तु दक्षिणेत्येके ॥ १८ ॥
सायं प्रातरत ऊर्ध्वं हस्तेनैते आहुती तण्डुलैर्यवैर्वा जुहुयात् ॥ १९ ॥
स्थालीपाकवद्दैवतम् ॥ २० ॥
(४) सौरी पूर्वाहुतिः प्रातरित्येके ॥ २१ ॥
उभयतः परिषेचनं यथा पुरस्तात् ॥ २२ ॥
पार्वणेनातोऽन्यानि कर्माणि व्याख्यातान्याचाराद्यानि गृह्यन्ते ॥ २३ ॥
(५) यथोपदेशं देवताः ॥ २४ ॥
अग्निं स्विष्टकृतं चान्तरेण ॥ २५ ॥
अविकृतमातिथ्यम् ॥ २६ ॥
वैश्वदेवे विश्वे देवाः ॥ २७ ॥
पौर्णमास्यां पौर्णमासी यस्यां क्रियते ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने सप्तमः खण्डः ।

अष्टमः खण्डः

(६) उपाकरणे समापने च ऋषिर्यः प्रज्ञायते ॥ १ ॥
सदसस्पतिर्द्वितीयः ॥ २ ॥
स्त्रियाऽनुपेतेन क्षारलवणावरान्नसंसृष्टस्य च होमं परिचक्षते ॥ ३ ॥
यथोपदेशं काम्यानि बलयश्च ॥ ४ ॥
(७) सर्वत्र स्वयं प्रज्वलितेऽग्नावुत्तराभ्यां समिधावादध्यात् ॥ ५ ॥
आपन्माश्रीः श्रीर्मागादिति वा ॥ ६ ॥
एतदहर्विजानीयाद्यदहर्भार्यामावहते ॥ ७ ॥
त्रिरात्रमुभयोरधश्शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जनं च ॥ ८ ॥
तयोश्शय्यामन्तरेण दण्डो गन्धलिप्तो वाससा सूत्रेण वा परिवीतस्तिष्ठति ॥९॥

---

(१) ठ० अक्त्वा ।
(२) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते ।
(३) "दक्षिणेत्येक" इति पृथक्सूत्रं हरदत्तमतं इति Dr. Winternitz महाशयोऽभिप्रैति, परं तु अनाकुलापुस्तकान्तरेषु एकसूत्रत्वेनैव लिखितम् ।
(४) हरदत्तमते 'इत्येके' इति नास्तीति Winternitz महाशयः । अन्यत्र तूपलभ्यन्ते ।
(५) सूत्रद्वयमप्येकं सूत्रं हरदत्तस्य ।
(६) इदमग्रिमञ्च सूत्रं एकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।
(७) इदमग्रिमं च सूत्रं एकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेनेति 'क' 'ख' पुस्तकयोः ।

(१) तं चतुर्थ्यामपररात्र उत्तराभ्यामुत्थाप्य प्रक्षाल्य निधायाग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निं प्राचीमुपवेश्य तस्याश्शिरस्याज्यशेषाद्व्याहृतिभिरोङ्कारचतुर्थाभिरानीयोत्तराभ्यां यथालिङ्गं मिथस्समीक्ष्योत्तरयाऽऽज्यशेषेण हृदयदेशौ संमृज्योत्तरास्तिस्रो जपित्वा शेषं समावेशने जपेत् ॥ १० ॥

(२) अन्यो वैनामभिमन्त्रयेत ॥ ११ ॥

यदा मलवद्वासाः स्यादथैनां ब्राह्मणप्रतिषिद्धानि कर्माणि सँशास्ति (३) 'यां मलवद्वासस' मित्येतानि ॥ १२ ॥

रजसः प्रादुर्भावात् स्नातामृतुसमावेशने उत्तराभिरभिमन्त्रयेत ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने अष्टमः खण्डः ।

नवमः खण्डः

चतुर्थीप्रभृत्याषोडशीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिःश्रेयसमृतुगमन इत्युपदिशन्ति ॥ १ ॥

अथ प्राध्वस्य परिप्लवे परिकासने चाप उपस्पृश्योत्तरे यथालिङ्गं जपेत् ॥ २ ॥

एवमुत्तरैर्यथालिङ्गं चित्रियं वनस्पतिं शकुन्द्रीति सिग्वातं शकुनिमिति ॥ ३ ॥

(४) उभयोर्हृदयसंसर्गेऽप्सु त्रिरात्रावरं ब्रह्मचर्यं चरित्वा स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायाँ स्थालीपाकादुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते परिषेचनान्तं कृत्वा तेन सर्पिष्मता युग्मान् द्व्यवरान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा सिद्धिं वाचयीत ॥ ४ ॥

श्वस्तिष्येणेति त्रिस्सप्तैर्यवैः पाठां परिकिरति "यदि वारुण्यसि वरुणात्त्वा निष्क्रीणामि यदि सौम्यसि सोमात्त्वा निष्क्रीणामि"इति ॥ ५ ॥

श्वोभूते उत्तरयोत्थाप्योत्तराभिस्तिसृभिरभिमन्त्र्योत्तरया प्रतिच्छन्नां हस्तयोराबध्य शय्याकाले बाहुभ्यां भर्तारं परिगृह्णीयादुपधानलिङ्गया ॥ ६ ॥

वश्यो भवति ॥ ७ ॥

सपत्नीबाधनञ्च ॥ ८ ॥

एतेनैव कामेनोत्तरेणानुवाकेन सदाऽऽदित्यमुपतिष्ठते ॥ ९ ॥

यक्ष्मगृहीतामन्यां वा ब्रह्मचर्ययुक्तः पुष्करसंवर्तमूलैरुत्तरैर्यथालिङ्गमङ्गानि संमृश्य प्रतीचीनं निरस्येत् ॥ १० ॥

वधूवास उत्तराभिरेतद्विदे दद्यात् ॥ ११ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने नवमः खण्डः ।

समाप्तस्तृतीयः पटलः

---

(१) इदं सूत्रं सूत्रत्रयं चकार हरदत्तः । 'आज्यभागान्त' इति द्वितीयसूत्रस्यारम्भः, 'परिषेचनान्त'मिति तृतीयस्य ।

(२) 'अन्यो वैनावभिमन्त्रयेत'इति हरदत्तसम्मतः पाठः । (३) तै. सं. २-५-१ ।

(४) सूत्रमिदं त्रेधा विभक्तं हरदत्तेन ......समाधानादि ॥ ......प्रतिपद्यते ॥ ......वाचयीत ॥ इति विभागप्रकारः ।

अथ चतुर्थः पटलः

दशमः खण्डः

उपनयनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत ॥ २ ॥

(१) गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ॥ ३ ॥

वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण ॥ ४ ॥

ब्राह्मणान्भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा कुमारं भोजयित्वाऽनुवाकस्य प्रथमेन यजुषाऽपः संसृज्योष्णाश्शीतास्वानीयोत्तरया शिर उनत्ति ॥ ५ ॥

त्रींस्त्रीन् दर्भानन्तर्धायोत्तराभिश्चतसृभिः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं प्रवपति ॥ ६ ॥

(२) वपन्तमुत्तरयानुमन्त्रयते दक्षिणतो माता ब्रह्मचारी वा ॥ ७ ॥

आनडुहे शकृत्पिण्डे यवान्निधाय तस्मिन् केशानुपयम्योत्तरयोदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वा निदधाति ॥ ८ ॥

स्नातमग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते पालाशीं समिधमुत्तरयाऽऽधाप्योत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदाऽश्मानमास्थापयत्यातिष्ठेति ॥ ९ ॥

वासःसद्यःकृत्तोतमुत्तराभ्यामभिमन्त्र्योत्तराभिस्तिसृभिःपरिधाप्य परिहितमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ १० ॥

(३) मौञ्जीं मेखलां त्रिवृतां त्रिःप्रदक्षिणमुत्तराभ्यां परिवीयाजिनमुत्तरमुत्तरया ॥११॥

उत्तरेणाग्निं दर्भान् संस्तीर्य तेष्वेनमुत्तरयाऽवस्थाप्योदकाञ्जलिमस्मा अञ्जलावानीयोत्तरया त्रिः प्रोक्ष्योत्तरैर्दक्षिणे हस्ते गृहीत्वोत्तरैर्देवताभ्यः परीदायोत्तरेण यजुषोपनीय 'सुप्रजा' इति दक्षिणे कर्णे जपति ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने दशमः खण्डः ।

एकादशः खण्डः

'ब्रह्मचर्यमागा'मिति कुमार आह ॥ १ ॥

(४) प्रष्टं परस्य प्रतिवचनं कुमारस्य ॥ २ ॥

शेषं परो जपति ॥ ३ ॥

प्रत्यगाशिषं चैनं वाचयति ॥ ४ ॥

---

(१) वपन्तमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ ६ ॥
दक्षिणतो माता ... निदधाति ॥ इति हरदत्तमते सूत्रच्छेदः ।
'यत्क्षुरेणे'त्यनुमन्त्रणमाचार्यकर्तृकमेवेति हरदत्ताशयः ॥

(२) मौञ्जीमित्यादि 'उत्तरया' इत्यन्तमेकं सूत्रं, तत 'उत्तरेणे'त्यारभ्य 'जपती' त्यन्तं सूत्रान्तरतया परिगणितं क. ख. घ. पुस्तकेषु । ग. पुस्तके तु एकसूत्रतया ॥

(३) इदं च सूत्रद्वयमिति क. ख. पुस्तकयोः ।

(४) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ॥

(१) उक्तमाज्यभागान्तम् ॥ ५ ॥

अत्रैनमुत्तरा आहुतीर्हावयित्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निमुदगग्रं कूर्चं निधाय तस्मिन्नुत्तरेण यजुषोपनेतोपविशति ॥ ७ ॥

पुरस्तात् प्रत्यङ्ङासीनः कुमारो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमन्वारभ्याह 'सावित्रीं भो अनुब्रूहि' इति ॥ ८ ॥

(२) तस्मा अन्वाह 'तत्सवितुरि'ति ॥ ९ ॥

पच्छोऽर्धर्चशस्ततस्सर्वाम् ॥ १० ॥

(३) व्याहृतीर्विहृताः पादादिष्वन्तेषु वा तथार्धर्चयोरुत्तमां कृत्स्नायाम् ॥ ११ ॥

कुमार उत्तरेण मन्त्रेणोत्तरमोष्ठमुपस्पृशते ॥ १२ ॥

कर्णावुत्तरेण ॥ १३ ॥

दण्डमुत्तरेणाऽऽदत्ते ॥ १४ ॥

(४) पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैय्यग्रोधस्स्कन्धजोऽवाङग्रो राजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य ॥ १५ ॥

वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति ॥ १६ ॥

'स्मृतं च म' इत्येतद्वाचयित्वा गुरवे वरं दत्वोदायुषेत्युत्थाप्योत्तरैरादित्यमुपतिष्ठते ॥ १७ ॥

यं कामयेत (५) नायमाच्छिद्येतेति तमुत्तरया दक्षिणे हस्ते गृह्णीयात् ॥ १८ ॥

(६) त्र्यहमेतमग्निं धारयन्ति ॥ १९ ॥

क्षारलवणवर्जनं च ॥ २० ॥

परि त्वे'ति परिमृज्य तस्मिन्नुत्तरैर्मन्त्रैस्समिध आदध्यात् ॥ २१ ॥

(७) एवमन्यस्मिन्नपि सदाऽऽरण्यादेधानाहृत्य ॥ २२ ॥

उत्तरया सँशास्ति ॥ २३ ॥

वासश्चतुर्थीमुत्तरयाऽऽदत्तेऽन्यत् परिधाप्य ॥ २४ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकादशः खण्डः

चतुर्थः पटलः समाप्तः

---

(१) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।

(२) सूत्रद्वयमपीदं एकमेव सूत्रं हरदत्तस्य ।

(३) इदं सूत्रद्वयं हरदत्तमते । 'अन्तेषु वा' इत्यन्तं प्रथमसूत्रम्, ततोऽपरम् ।

(४) हरदत्तमते 'पालाशो दण्ड' इत्यादि 'उपदिशन्ती' त्यन्तमेकसूत्रतया परिगणितं 'क''ख' पुस्तकयोः । सूत्रचतुष्टयमिति ग.घ. पुस्तकयोः । तत्र सूत्रच्छेदः······ब्राह्मणस्य ॥······राजन्यस्य ॥······वैश्यस्य ॥······उपदिशन्ति ॥ इति ।

(५) क—नायं मच्छिद्येत ।

(६) द्वयमपीदं एकसूत्रं हरदत्तमते इति 'क''ख' पुस्तके ।

(७) सूत्रद्वयमिदं हरदत्तस्य ।

*अथोपाकर्मोत्सर्जनपटलः

अथात उपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
श्रवणापक्ष ओषधीषु जातासु हस्तेन पौर्णमास्यां वाऽध्यायोपाकर्म ॥ २ ॥

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धेषु काण्डऋषिभ्यो जुहोति सदसस्पतये सावित्र्या ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदायाथर्वणवेदायेति हुत्वा उपहोमो वेदाहुतीनामुपरिष्टात्सदसस्पतिमित्येके ॥ ३ ॥
परिषेचनान्तं कृत्वा त्रीननुवाकानादितोऽधीयीरन् ॥ ४ ॥
प्रथमोत्तमावनुवाकौ वा ॥ ५ ॥
त्र्यहमेकाहं वा क्षम्याधीयीरन् ॥ ६ ॥
अथोपाकरणमध्यायः ॥ ७ ॥
तैषीपक्षस्य रोहिण्यां पौर्णमास्यां वोत्सर्गः ॥ ८ ॥

प्राचीमुदीचीं वा सगणो दिशमुपनिष्क्रम्य यत्रापः पुरस्तात् सुखाः सुखावगाहा अवकिन्यः शङ्खिन्यः तासामन्तं गत्वाऽभिषेकान् कृत्वा सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमनीभिरिति मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन त्रीन् प्राणायामान् धारयित्वोत्तीर्याऽऽचम्योपोत्थाय दर्भानन्योन्यस्मै सम्प्रदाय शुचौ देशे प्राक्कूलैर्दर्भैरासनानि कल्पयन्ति ॥ ९ ॥

ब्रह्मणे प्रजापतये बृहस्पतयेऽग्नये वायवे सूर्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यः ऋतुभ्यस्संवत्सराय इन्द्राय राज्ञे सोमाय राज्ञे यमाय राज्ञे वरुणाय राज्ञे वैश्रवणाय राज्ञे वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्साध्येभ्यो मरुद्भ्य ऋभुभ्यो भृगुभ्योऽङ्गिरोभ्य इति देवगणानाम् ॥ १० ॥

अथर्षयः—विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजो गौतमोऽत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तर्षयः, सप्तर्षिभ्यः कल्पयित्वा दक्षिणतोऽगस्त्याय कल्पयन्ति ॥ ११ ॥
ततो यावदेकवैद्यन्तैः कल्पयन्ति ॥ १२ ॥

---

* अयमुपाकर्मोत्सर्जनाख्यः पटलः'क''ख'ङ,संज्ञितेषु अनाकुलापुस्तकेषु न दृश्यते। परं तु ग, घ, च, पुस्तकेषूपलभ्यते। अग्रिमखण्डादिस्थसुदर्शनव्याख्यापर्यालोचनया चात्रैव प्रकरणेऽस्यास्तिताप्यनुमीयते। सूत्राणि त्वेतानि आपस्तम्बेन प्रणीतानि न वेति न निश्चेतुं शक्यते। मूलसूत्रपुस्तके एतानि नोपलभ्यन्ते। सत्याषाढभारद्वाजसूत्रैः सह प्रायशस्संवदन्त्येतत्सूत्राक्षराणि। किन्तु तान्येवेत्यपि न सुदृढं वक्तुं पार्यते। अतः हरदत्ताचार्यैः गृह्यान्तरस्थानि सूत्राण्यर्थतोऽनूदितानि वा आपस्तम्बेनैव प्रणीतानि वेत्यत्र मूकीभावः शरणमस्माकम्। किञ्चादर्शपुस्तकेषु त्रिष्वपि कानि सूत्राक्षराणि कानि च व्याख्यागतानीत्यादिपरिचायकं किञ्चिदपि चिह्नं नोपलभ्यते। अभ्यूहेन परं मयैवं विभागः कृतः। आदर्शान्तरालाभेन लब्धादर्शेभ्यश्च निर्णेतुमशक्ताः काश्चिदशुद्धयोऽपि तथैव मुद्रिताः। अतो विद्वद्भिः त्रुटिरत्रत्या स्वबुद्धिबलेन वा आदर्शान्तरावलोकनेन वा पूरणीया।

प्राचीनावीतानि कृत्वा दक्षिणतो वैशम्पायनाय पैङ्ग्ये तित्तिरये उखायात्रेयाय पदकाराय, कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय, बौधायनाय प्रवचनकाराय, आपस्तम्बाय सूत्रकाराय, भरद्वाजाय सूत्रकाराय, सत्याषाढाय हिरण्यकेशाय, आचार्येभ्य ऊर्ध्वरेतोभ्य, एकपत्नीभ्यो वानप्रस्थेभ्यः कल्पयामीति ॥ १३ ॥

अथ यथास्वं पितृभ्यः कल्पयन्ति मातामहेभ्यश्च पृथक् ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतानि कृत्वा तेष्वेव देशेषु तथैवानुपूर्व्या तैरेव नामभिर्देवानृषींश्च तर्पयन्ति वैशम्पायनप्रभृतींस्तु मातुः प्रपितामहपर्यन्तान् प्राचीनावीतिनस्तर्पयन्ति असुं तर्पयाम्यसुं तर्पयाम्यसुं तर्पयामीति ॥ १५ ॥

अभिप्यन्ते वाऽन्योन्यम् ॥ १६ ॥

यज्ञोपवीतानि कृत्वा त्रीनादितोऽनुवाकानधीयीरन् ॥ १७ ॥

काण्डादीन् प्रथमोत्तमौ वा ॥ १८ ॥

'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती'तिद्वाभ्यामुपोदके दूर्वा रोपयन्ति ॥ १९ ॥

अपः प्रगाह्योदधिं कुर्वन्ति ॥ २० ॥

सर्वतः परिवार्योर्मिमन्तः कुर्वन्ति ॥ २१ ॥

उद्गाह्याऽऽतमितोराजिं धावन्ति ॥ २२ ॥

प्रत्येत्याभिदानानि सक्तुभिरोदनेनेति ब्राह्मणान् भोजयित्वा वाचयति ॥ २३ ॥

एवं पारायणसमाप्तौ च काण्डादि दूर्वारोपणोदधिधावनवर्जम् ॥ २४ ॥

प्रत्येत्य ब्राह्मणभोजनादि कर्म प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

एवमेवाद्भिरहरहर्देवानृषीन् पितृंश्च तर्पयेत् ॥ २६ ॥

इत्युपाकर्मोत्सर्जनपटलः

अथ पञ्चमः पटलः

द्वादशः खण्डः

वेदमधीत्य स्नास्यन् प्रागुदयाद् व्रजं प्रविश्यान्तर्लोम्ना चर्मणा द्वारमपिधायाऽऽस्ते ॥ १ ॥

नैनमेतदहरादित्योऽभितपेत् ॥ २ ॥

(१) मध्यन्दिनेऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते पालाशीं समिधमुत्तरयाऽऽधायापरेणाग्निं कट एरकायां वोपविश्योत्तरया क्षुरमभिमन्त्र्योत्तरेण यजुषा वप्त्रे प्रदायापां संसर्जनाद्याकेशनिधानात् समानम् ॥ ३ ॥

जघनार्धे व्रजस्योपविश्य विस्रस्य मेखलां ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति ॥ ४ ॥

तां स उत्तरेण यजुषोदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वोपगूहति ॥ ५ ॥

एवं विहिताभिरेवाद्भिरुत्तराभिष्षड्भिरस्नात्वोत्तरयोदुम्बरेण दतो धावते ॥ ६ ॥

(२) स्नानीयोच्छादितस्स्नातः ॥ ७ ॥

---

(१) इतः प्रभृति षट् सूत्राण्येकीकरोति हरदत्तः इति क० पुस्तके ।

(२) इदमग्रिमसूत्रं चैकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।

उत्तरेण यजुषाऽहतमन्तरं वासः परिधाय सार्वसुरभिणा चन्दनेनोत्तरैर्देवताभ्यः प्रदायोत्तरयानुलिप्य मणिं सौवर्णं सोपधानं सूत्रोतमुत्तरयोदपात्रे त्रिः प्रदक्षिणं परिप्लाव्योत्तरया ग्रीवास्वाबध्यैवमेव बादरं मणिं मन्त्रवर्जं सव्ये पाणावाबध्याहतमुत्तरं वासो 'रेवतीस्त्वेति' समानम् ॥ ८ ॥

तस्य दशायां प्रवर्तौ प्रबध्य दर्व्यामाधायाज्येनाभ्यानायन्नुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

परिषेचनान्तं कृत्वैताभिरेव दक्षिणे कर्ण आबध्नीतैताभिस्सव्ये ॥ १० ॥

एवमुत्तरैर्यथालिङ्गं स्रजशिरस्याञ्जनमादर्शावेक्षणमुपानहौ छत्रं दण्डमिति ॥ ११ ॥

(१) वाचं यच्छत्यानक्षत्रेभ्यः ॥ १२ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्योत्तरेणार्धर्चेन दिश उपस्थायोत्तरेण नक्षत्राणि चन्द्रमसमिति ॥ १३ ॥

रातिना सम्भाष्य यथार्थं गच्छति ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वादशः खण्डः ।

त्रयोदशः खण्डः

अथैतदपरं तूष्णीमेव तीर्थे स्नात्वा तूष्णीं समिधमादधाति ॥ १ ॥

यत्रास्मा अपचितिं कुर्वन्ति तत्कूर्च उपविशति यथापुरस्तात् ॥ २ ॥

एवमुत्तराभ्यां यथालिङ्गं राजा स्थपतिश्च ॥ ३ ॥

'आपः पाद्या' इति प्राह ॥ ४ ॥

उत्तरयाऽभिमन्त्र्य दक्षिणं पादं पूर्वं ब्राह्मणाय प्रयच्छेत्सव्यँ शूद्राय ॥ ५ ॥

प्रक्षालयितारमुपस्पृश्योत्तरेण यजुषाऽऽत्मानं प्रत्यभिमृशेत् ॥ ६ ॥

कूर्चाभ्यां परिगृह्य मृन्मयेना 'र्हणीया आप' इति प्राह ॥ ७ ॥

उत्तरयाऽभिमन्त्र्याञ्जलावेकदेश आनीयमान उत्तरं यजुर्जपेत् ॥ ८ ॥

शेषं पुरस्तान्निनीयमानमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ ९ ॥

दधि मध्विति संसृज्य कांस्येन वर्षीयसा पिधाय कूर्चाभ्यां परिगृह्य 'मधुपर्क' इति प्राह ॥ १० ॥

त्रिवृतमेके घृतं च ॥ ११ ॥

पाङ्क्तमेके धानास्सक्तूंश्च ॥ १२ ॥

उत्तराभ्यामभिमन्त्र्य यजुर्भ्यामप आचामति पुरस्तादुपरिष्टाच्चोत्तरया त्रिः प्राश्यानुकम्प्याय प्रयच्छेत् ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्यैव राजा स्थपतिर्वा पुरोहिताय ॥ १४ ॥

(२) गौरिति गां प्राह ॥ १५ ॥

(३) उत्तरयाऽभिमन्त्र्य तस्यै वपां श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति ॥ १६ ॥

---

(१) इदमुत्तरं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेन ।

(२) इतः प्रभृति पञ्चसूत्राण्येकीकरोति हरदत्तः इति क० पुस्तके ।)

(३) उत्तरयाभिमन्त्र्य ॥ १६ ॥ तस्यै वपां जुहोति ॥ १७ ॥ इति विभागो हरदत्तेन कृतः इति ग० घ० पुस्तकयोः ।

यद्युत्सृजेदुपांशूत्तरां जपित्वोमुत्सृजतेत्युच्चैः ॥ १७ ॥
अन्नं प्रोक्तमुपांशूत्तरैरभिमन्त्र्य "ॐ कल्पयत"त्युच्चैः ॥ १८ ॥
आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्य एतत्कार्यम् ॥१९॥
सकृत्प्रवक्त्रे चित्राय ॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने त्रयोदशः खण्डः ।

पञ्चमश्च पटलः समाप्तः
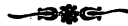
अथ षष्ठः पटलः

चतुर्दशः खण्डः

सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि ॥ १ ॥
(१) ब्राह्मणान्भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वाऽग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
परिषेचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निं प्राचीनमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभिर्दर्भपुञ्जीलैश्शलालुग्लप्सेनेत्यूर्ध्वं सीमन्तमुन्नयति व्याहृतीभिरुत्तराभ्यां च ॥ ३ ॥
'गायत' मिति वीणागायिनौ संशास्ति ॥ ४ ॥
(२) उत्तरयोः पूर्वा साल्वानां ब्राह्मणानामितरा ॥ ५ ॥
नदीनिर्देशश्च यस्यां वसन्ति ॥ ६ ॥
यवान् विरूढानाबध्य वाचं यच्छत्यानक्षत्रेभ्यः ॥ ७ ॥
उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य वत्समन्वारभ्य व्याहृतीश्च जपित्वा वाचं विसृजेत् ॥ ८ ॥
पुँसुवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण ॥ ९ ॥
न्यग्रोधस्य या प्राच्युदीची वा शाखा ततस्सवृषणां शुङ्गामाहृत्य सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि ॥ १० ॥
अनवस्नातया कुमार्या दृषत्पुत्रे दृषत्पुत्रेण पेषयित्वा परिप्लाव्यापरेणाग्निं प्राचीमुत्तानां निपात्योत्तरेण यजुषाऽङ्गुष्ठेन दक्षिणे नासिकाच्छिद्रेऽपि नयति ॥ ११ ॥
पुमांसं जनयति ॥ १२ ॥
क्षिप्रं सुवनम् ॥ १३ ॥
अनाप्रीतेन शरावेणानुस्रोतसमुदकमाहृत्य पत्तस्तूर्ष्यन्तीं निधाय मूर्धञ्छोष्यन्तीमुत्तरेण यजुषाऽभिमृश्यैताभिरद्भिरुत्तराभिरवोक्षेत् ॥ १४ ॥
यदि जरायु न पतेदेवंविहिताभिरेवाद्भिरुत्तराभ्यामवोक्षेत् ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने चतुर्दशः खण्डः ।

---

(१) एतत्सूत्रं द्विधा विभक्तं हरदत्तेन । तत्र 'समाधानादिः' इत्यन्तमेकम् । ततोऽपरम् ।
(२) इदं सूत्रं द्विधा विभक्तं हरदत्ताचार्यैः ।

पञ्चदशः खण्डः

जातं वात्सप्रेणाभिमृश्योत्तरेण यजुषोपस्थ आधायोत्तराभ्यामाभिमन्त्रणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्णे जापः ॥ १ ॥
नक्षत्रनाम च निर्दिशति ॥ २ ॥
तद्रहस्यं भवति ॥ ३ ॥
मधु, घृतमिति संसृज्य तस्मिन् दर्भेण हिरण्यं निष्टक्यं बध्वाऽवदायोत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयित्वोत्तराभिः पञ्चभिस्स्नापयित्वा दधि घृतमिति संसृज्य कांस्येन पृषदाज्यं व्याहृतीभिरोङ्कारचतुर्थाभिः कुमारं प्राशयित्वाऽग्निश्शेषं संसृज्य गोष्ठे निनयेत् ॥ ४ ॥
(१) उत्तरया मातुरुपस्थ आधायोत्तरया दक्षिणं स्तनं प्रतिधाप्योत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृश्योत्तरेण यजुषा संविष्टम् ॥ ५ ॥
उत्तरेण यजुषा शिरस्त उदकुम्भं निधाय सर्षपान् फलीकरणमिश्रानञ्जलिनोत्तरैस्त्रिस्त्रिप्रतिस्वाहाकारं हुत्वा संशास्ति—प्रविष्टे प्रविष्ट एव तूष्णीमग्नावावपतेति ॥ ६ ॥
एवमहरहरानिर्दशतायाः ॥ ७ ॥
(२) दशम्यामुत्थितायां स्नातायां पुत्रस्य नाम दधाति पिता मातेति ॥ ८ ॥
द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नामपूर्वमाख्यातोत्तरं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं घोषवदाद्यन्तरन्तस्थम् ॥ ९ ॥
अपि वा यस्मिन् स्वित्युपसर्गस्स्यात् तद्धि प्रतिष्ठितमिति हि ब्राह्मणम् ॥ १० ॥
अयुजाक्षरं कुमार्याः ॥ ११ ॥
प्रवासादेत्य पुत्रस्योत्तराभ्यामभिमन्त्रणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्ण उत्तरान् मन्त्रान् जपेत् ॥ १२ ॥
कुमारीमुत्तरेण यजुषाऽभिमन्त्रयते ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने पञ्चदशः खण्डः ।

षोडशः खण्डः

(३) जन्मनोऽधि षष्ठे मासि ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा दधि मधु घृतमोदनमिति संसृज्योत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयेत् ॥ १ ॥
तैत्तिरेण (४) मांसेनेत्येके ॥ २ ॥
(५) जन्मनोऽधि तृतीये वर्षे चौलं पुनर्वस्वोः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणानां भोजनमुपायनवत् ॥ ४ ॥
सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि ॥ ५ ॥

---

(१) 'क' 'ख' पुस्तकानुसारेण हरदत्तेन एतदादिसूत्रत्रयं सूत्रद्वयीकृतं—उत्तरया मातु··· निधाय ॥ सर्षपान्··· तायाः ॥ इति ॥

(२) 'क' 'ख' पुस्तकानुसारेण सूत्रद्वयमिदं हरदत्तमते । स्नातायामित्यन्तं प्रथमसूत्रम् तत उत्तरम् ।

(३) इदमग्रिमं च सूत्रं 'क' ख. पुस्तकानुसारेण एकसूत्रं हरदत्तमते ।

(४) ङ. ग. तैत्तिरीयेण ।

(५) इदमग्रिमं च सूत्रं क ख पुस्तकरीत्या एकसूत्रं हरदत्तमते ।

(१) अपरेणाग्निं प्राञ्चमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभिर्दर्भपुञ्जीलैः शलालुग्लप्सेनेति तूष्णीं केशान् विनीय यथर्षि शिखा निदधाति ॥ ६ ॥
यथा वैषां कुलधर्मः स्यात् ॥ ७ ॥
अपाँ संसर्जनाद्याकेशनिधानात्समानम् ॥ ८ ॥
(२) क्षुरँ प्रक्षाल्य निदधाति ॥ ९ ॥
तेन त्र्यहं कर्मनिवृत्तिः ॥ १० ॥
वरं ददाति ॥ ११ ॥
एवं गोदानमन्यस्मिन्नपि नक्षत्रे षोडशे वर्षे ॥ १२ ॥
अग्निगोदानो वा स्यात् ॥ १३ ॥
संवत्सरं गोदानव्रत (३) मेक उपदिशन्ति ॥ १४ ॥
एतावन्नाना सर्वान् केशान् वापयते ॥ १५ ॥
उदकोपस्पर्शनमिति छन्दोगाः ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने षोडशः खण्डः ।

षष्ठश्च पटलः समाप्तः

अथ सप्तमः पटलः

सप्तदशः खण्डः

(४) दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणमगारावकाशमुद्धत्य पलाशेन शमीमयेन वोदूहेनैतामेव दिशमुत्तरयोदूहति ॥ १ ॥
एवं त्रिः ॥ २ ॥
(५) क्लृप्तमुत्तरयाऽभिमृश्य प्रदक्षिणं स्थूणागर्तान् खानयित्वाऽभ्यन्तरं पाँसूनुदुप्योत्तराभ्यां दक्षिणां द्वारस्थूणामवदधाति ॥ ३ ॥
एवमितराम् ॥ ४ ॥
यथाखातमितरा अन्ववधाय वँशमाधीयमानमुत्तरेण यजुषाऽभिमन्त्रयते ॥५॥
सम्मितमुत्तरैर्यथालिङ्गम् ॥ ६ ॥
पालाशं शमीमयं वेध्ममादीप्योत्तरयर्चाऽग्निमुद्धृत्योत्तरेण यजुषाऽगारं प्रपाद्योत्तरपूर्वदेशेऽगारस्योत्तरयाऽग्निं प्रतिष्ठापयति ॥ ७ ॥
तस्माद्दक्षिणमुदधानायतनं भवति ॥ ८ ॥
तस्मिन्विषूचीनाग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषूत्तरया व्रीहियवान् न्युप्य तत्रोदधानं प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥
तस्मिन्नुत्तरेण यजुषा चतुर उदकुम्भानानयति ॥ १० ॥
दीर्घमुत्तरयाऽनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥

---

(१) इत आरभ्य सूत्रत्रयमेकं सूत्रं 'क' 'ख' पुस्तकानुरोधेन हरदत्तमते ।
(२) इत आरभ्य सूत्रत्रयमेकं सूत्रं क. ख. पुस्तकानुसारेण हरदत्तमते ।
(३) मित्येके, इति. क. पुस्तकपाठः ।
(४) 'क' ख. पुस्तकानुसारेण इदमग्रिमं च सूत्रमेकं हरदत्तमते ।
(५) इदमग्रिमं च सूत्रमेवं पठितं हरदत्तमते—क्लृप्तमुत्तरयाभिमृश्य ॥३॥ प्रदक्षिण...... एवमितराम् ॥ ४ ॥ इति 'क' ख. पुस्तकयोः

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्ते उत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥१२॥
परिषेचनान्तं कृत्वोत्तरेण यजुषोदकुम्भेन त्रिः प्रदक्षिणमन्तरतोऽगारं निवेशनं वा परिषिच्य ब्राह्मणान् भोजयेदपूपैस्सक्तुभिरोदनेनेति ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने सप्तदशः खण्डः।

अष्टादशः खण्डः

श्वग्रहगृहीतं कुमारं तपोयुक्तो जालेन प्रच्छाद्य कंसं किङ्किणिं वा ह्रादयन्नद्वारेण सभां प्रपाद्य सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्यावोक्ष्याक्षान्न्युप्याक्षेषूत्तानं निपात्य दध्ना लवणमिश्रेणाञ्जलिनोत्तरैरवोक्षेत्प्रातर्मध्यन्दिने सायम् ॥ १ ॥
अगदो भवति ॥ २ ॥
शङ्खिनं कुमारं तपोयुक्त उत्तराभ्यामभिमन्त्र्योत्तरयोदकुम्भेन शिरस्तोऽवनयेत् प्रातर्मध्यन्दिने सायम् ॥ ३ ॥
अगदो भवति ॥ ४ ॥
(१) श्रावण्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकः ॥ ५ ॥
पार्वणवदाज्यभागान्ते स्थालीपाकाद्धुत्वाञ्जलिनोत्तरैः प्रतिमन्त्रं किंशुकानि जुहोति ॥ ६ ॥
उत्तराभिस्तिसृभिरारग्वधमय्यस्समिधः ॥ ७ ॥
आज्याहुतीरुत्तराः ॥ ८ ॥
जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥
(२) परिषेचनान्तं कृत्वा वाग्यतस्संभारानादाय प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थण्डिलं कल्पयित्वा तत्र प्राचीरुदीचीश्च तिस्रस्तिस्रो लेखा लिखित्वाऽद्भिरुपनिनीय तासूत्तरया सक्तून्निवपति ॥ १० ॥
तूष्णीं सम्पुक्ता धाना लाजानाञ्जनाभ्यञ्जने स्थगरोशीरमिति ॥ ११ ॥
उत्तरैरुपस्थायापः परिषिच्याप्रतीक्षस्तूष्णीमेत्या 'पश्चेत पदे'त्याभ्यामुदकुम्भेन त्रिः प्रदक्षिणमन्तरतोऽगारं निवेशनं वा परिषिच्य ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्नेऽष्टादशः खण्डः।

एकोनविंशः खण्डः

धानाः कुमारान् प्राशयन्ति ॥ १ ॥
(३) एवमत ऊर्ध्वं यदशनीयस्य सक्तूनां वैतं बलिं हरेदामार्गशीर्ष्याः ॥ २ ॥
मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकः ॥ ३ ॥
अहार्षमिति बलिमन्त्रस्य सन्नामः ॥ ४ ॥

---

(१) एतत्प्रभृति सूत्रपञ्चकमेकं सूत्रं 'क' ख. पुस्तकानुसारतो हरदत्तमते।
(२) इतः प्रभृति सूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं 'क' ख. पुस्तकयोर्हरदत्तमते।
(३) एतत्प्रभृति सूत्रचतुष्टयं हरदत्तमते एकसूत्रमिति 'ख' पुस्तके। 'क' पुस्तके यद्यपि प्रथमतः एकत्वेन पठितं तथापि पुनरत्र तत्र व्याख्यानावसरे पृथक्पृथगपि लिखितम्।

अत्रैनमुत्सृजति ॥ ५ ॥

(१) अनाहिताग्नेराग्रयणम् ॥ ६ ॥

नवानां स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यो हुत्वा तण्डुलानां मुखं पूरयित्वा गीर्त्वाऽऽचम्यौदनपिण्डं संवृत्योत्तरेण यजुषाऽगारस्तूप उद्विद्धेत् ॥ ७ ॥

(२) हेमन्तप्रत्यवरोहणम् ॥ ८ ॥

उत्तरेण यजुषा प्रत्यवरुह्योत्तरैर्दक्षिणैः पार्श्वैः नवस्वस्तरे संविशन्ति ॥ ९ ॥

(३) दक्षिणतः पितोत्तरा मातैवमवशिष्टानां ज्येष्ठोज्येष्ठोऽनन्तरः ॥ १० ॥

संहायोत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति ॥ ११ ॥

एवं संवेशनादि त्रिः ॥ १२ ॥

ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा चैत्रपत्यं च प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थण्डिलं कल्पयित्वाऽग्नेरुपसमाधानादि ॥ १३ ॥

अपरेणाग्निं द्वे कुटी कृत्वा ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकोनविंशः खण्डः

विंशः खण्डः

(४) उत्तरया दक्षिणस्यामीशानमावाहयति ॥ १ ॥

(५) लौकिक्या वाचोत्तरस्यां मीढुषीम् ॥ २ ॥

मध्ये जयन्तम् ॥ ३ ॥

(६) यथोढमुदकानि प्रदाय त्रीनोदनान् कल्पयित्वाऽग्निमभ्यानीयोत्तरैरुपस्पर्शयित्वा

---

(१) 'ख' पुस्तकानुसारेण सूत्रद्वयमिदं एकसूत्रं हरदत्तमते ।

(२) 'ख' पुस्तकानुसारेण—हेमन्त···रुह्य ॥ उत्तरैदक्षि···विशन्ति ॥ इति सूत्रद्वयरूपेणच्छेदः । 'क' 'ङ' पुस्तकानुसारेण 'हेम···णम् ॥ उत्तर···विशन्ति ॥ इति सूत्रत्रयात्मकतयात्मकतया छेदो हरदत्तमते । ग, घ, पुस्तकयोस्तु 'हेमन्तेत्यादिसंविशन्ती'त्यन्तमेकं सूत्रम् ।

(३) दक्षिणः पितोत्तरा माता ॥ अविशिष्टानां ज्येष्ठो ज्येष्ठोऽनन्तरः ॥ संहायोत्तराभ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति ॥ एवं संवेशनादि त्रिः ॥ इति 'ग' 'घ' पुस्तकयोः पाठः । 'क' 'ख' 'ङ' पुस्तकेषु तु दक्षिण···संहाय ॥ उत्तराभ्यां···नादि त्रिः ॥ इति च्छेदो दृश्यते ॥

(४) एतदादि सूत्रत्रयमेकं सूत्रं हरदत्तमते । इति 'ख' 'ङ' पुस्तकयोः ।

(५) एतत्सूत्रद्वयमेकसूत्रं हरदत्तमते ग. घ. पुस्तकानुसारतः ।

(६) इदमग्रिमं च सूत्रं सूत्रपञ्चकतया विभक्तं हरदत्तमते 'क' 'ख' पुस्तकयोः । विभागक्रमश्चैषः—यथोढमुदकानि प्रदाय ॥ त्रीनोदनान् कल्पयित्वा ॥ अग्निमभ्यानीय । उत्तरैरुपस्पर्शयित्वा ॥ उत्तरैर्यथास्वमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषाग्निं स्विष्टकृतं···दशोत्तराभ्यः ॥ इति ॥ 'ङ' पुस्तके तु 'यथोढ···दाय ॥ त्रीनोद···यित्वा ॥ अग्निमभ्या···हुत्वा ॥ उत्तरै···स्थाय ॥ उत्तरैस्सहो···त्तराभ्यः ॥ इति षोढा विभागः कृतः ॥

उत्तरैर्यथास्वमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषाग्निं स्विष्टकृतम् ॥
उत्तरेण यजुषोपस्थायोत्तरैस्सहोदनानि पर्णान्येकैकेन द्वे द्वे दत्वा देवसेनाभ्यो दशोत्तराभ्यः ॥ ५ ॥

(१) पूर्ववदुत्तरैः ॥ ६ ॥
ओदनपिण्डं संवृत्य पर्णपुटेऽवधायोत्तरेण यजुषा वृक्ष आसजति ॥ ७ ॥
अत्र रुद्रान् जपेत् ॥ ८ ॥

(२) प्रथमोत्तमौ वा ॥ ९ ॥
अभित एतमग्निं गास्स्थापयति यथैता धूमः प्राप्नुयात् ॥ १० ॥
ता गन्धैर्दर्भग्रमुष्टिनाऽवोक्षति वृषाणमेवाग्रे ॥ ११ ॥
गवां मार्गेऽनग्नौ क्षेत्रस्य पतिं जयते ॥ १२ ॥
ईशानवदावाहनम् ॥ १३ ॥
चतुर्षु सप्तसु वा पर्णेषु नामादेशं दधाति ॥ १४ ॥
क्षिप्रं यजेत पाको देवः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यामुपतिष्ठते ॥ १६ ॥
स्थालीपाकं ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १७ ॥
क्षेत्रपत्यं प्राश्नन्ति ये सनाभयो भवन्ति ॥ १८ ॥
यथा वैषां कुलधर्मस्स्यात् ॥ १९ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने विंशः खण्डः ॥

अथाष्टमः पटलः

एकविंशः खण्डः

मासि श्राद्धस्यापरपक्षे यथोपदेशं कालाः ॥ १ ॥
शुचीन् मन्त्रवतो योनिगोत्रमन्त्रासम्बन्धानयुग्मांस्त्र्यवराननर्थावेक्षो भोजयेत् ॥

(३) अन्नस्योत्तराभिर्जुहोति ॥ ३ ॥
आज्याहुतीरुत्तराः ॥ ४ ॥
एतद्वा विपरीतम् ॥ ५ ॥
सर्वमुत्तरैरभिमृशेत् ॥ ६ ॥
क्लृप्तान्वा प्रतिपूरुषम् ॥ ७ ॥
उत्तरेण यजुषोपस्पर्शयित्वा ॥ ८ ॥
भुक्तवतोऽनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य द्वैधं दक्षिणाग्रान् दर्भान् संस्तीर्य तेषूत्तरैरपो

---

(१) एतदादि सूत्रत्रयमेकं सूत्रं हरदत्तमते इति क. ख. पुस्तकयोः।
(२) एतत्सूत्रप्रभृति आखण्डसमाप्ति एकसूत्रतया परिगणितं क. ख. ङ. च. पुस्तकेषु हरदत्तमते।
(३) सूत्रत्रयमेतदादि हरदत्तमते एकसूत्रं क. ख. ङ. च. पुस्तकानुसारेण

दत्त्वोत्तरैर्दक्षिणापवर्गान् पिण्डान्दत्त्वा पूर्ववदुत्तरैरपो दत्त्वोत्तरैरुपस्थायोत्तरयोदपात्रेण त्रिः प्रसव्यं परिषिच्य न्युब्ज्य पात्राण्युत्तरं यजुरनवानं त्र्यवरार्ध्यं मावर्तयित्वा प्रोक्ष्यपात्राणि द्वन्द्वमभ्युदाहृत्य सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषाशेषस्य प्रासवरार्ध्यं प्राश्नीयात् ॥ या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद्व्यष्टका तस्यामष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्याचक्षते ॥ १० ॥

(१) तस्यास्सायमौपकार्यम् ॥ ११ ॥

(२) अपूपं चतुश्शरावं श्रपयति ॥ १२ ॥

अष्टाकपाल इत्येके ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने एकविंशः खण्डः ॥

द्वाविंशः खण्डः

पार्वणवदाज्यभागान्तेऽञ्जलिनोत्तरयाऽपूपाज्जुहोति ॥ १ ॥

(३) सिद्धश्शेषस्तमष्टधा कृत्वा ब्राह्मणेभ्य उपहरति ॥ २ ॥

श्वोभूते दर्भेण गामुपाकरोति 'पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमी'ति ॥ ३ ॥

तूष्णीं पञ्चाज्याहुतीर्हुत्वा तस्यै वपां श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति ॥ ४ ॥

माँसोदनमुत्तराभिः ॥ ५ ॥

पिष्टान्नमुत्तरया ॥ ६ ॥

आज्याहुतीरुत्तराः ॥ ७ ॥

स्विष्टकृत्प्रभृति समानमापिण्डनिधानात् ॥ ८ ॥

अन्वष्टकायामेवैके पिण्डनिधानमुपदिशन्ति ॥ ९ ॥

अथैतदपरं दध्न एवाञ्जलिना जुहोति यथाऽपूपम् ॥ १० ॥

अत एव यथार्थं मासं शिष्ट्वा श्वोभूतेऽन्वष्टकाम् ॥ ११ ॥

तस्या मासिश्राद्धेन कल्पो व्याख्यातः ॥ १२ ॥

सनिमित्वोत्तरान् जपित्वाऽर्थं ब्रूयात् ॥ १३ ॥

रथं लब्ध्वा योजयित्वा प्राञ्चमवस्थाप्योत्तरया रथचक्रे अभिमृशति पक्षसी वा ॥१४॥

उत्तरेण यजुषाऽधिरुह्योत्तरया प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिप्रयाय यथार्थं यायात् ॥ १५ ॥

अश्वमुत्तरैरारोहेत् ॥ १६ ॥

हस्तिनमुत्तरया ॥ १७ ॥

ताभ्यां रेषणे पूर्ववत् पृथिवीमभिमृशेत् ॥ १८ ॥

संवादमेष्यन् सव्येन पाणिना छत्रं दण्डञ्चाऽऽदत्ते ॥ १९ ॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने द्वाविंशः खण्डः ।

---

(१) हरदत्तमते इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं 'घ' पुस्तके ।

(२) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रं हरदत्तमते इति क. ख. पुस्तकयोः ।

(३) 'सिद्धश्शेषः' इत्येकं सूत्रम् 'तमष्टधे'त्याद्यपरं सूत्रं क. घ. पुस्तकानुसारेण हरदत्तमते ।

त्रयोविंशः खण्डः

(१) दक्षिणेन फलीकरणमुष्टिमुत्तरया हुत्वा गत्वोत्तरां जपेत् ॥ १ ॥
क्रुद्धमुत्तराभ्यामभिमन्त्रयेत विक्रोधो भवति ॥ २ ॥
असंभवेप्सुः परेषां स्थूलाढारिकाजीवचूर्णानि कारयित्वोत्तरया सुप्तायासम्बाध उपवपेत् ॥ ३ ॥

(२) सिद्ध्यर्थे बभ्रुमूत्रेण प्रक्षालयीत ॥ ४ ॥
सिद्ध्यर्थे यदस्य गृहे पण्यं स्यात्तत उत्तरया जुहुयात् ॥ ५ ॥
यं कामयेत नायं मच्छिद्येतेति जीवविषाणे स्वं मूत्रमानीय सुप्तमुत्तराभ्यां त्रिः प्रसव्यं परिषिञ्चेत् ॥ ६ ॥

येन पथा दासकर्मकराः पलायेरन् तस्मिन्निण्वान्युपसमाधायोत्तरा आहुतीर्जुहुयात् ॥ यद्येनं वृक्षात् फलमभिनिपतेद्वयो वाऽभिविक्षिपेदवर्षतक्ष्ये वा बिन्दुरभिनिपतेत्तदुत्तरैर्यथालिङ्गं प्रक्षालयीत ॥ ८ ॥

(३) आगारस्थूणाविरोहणे मधुन उपवेशने कुप्वां कपोतपददर्शनेऽमात्यानां शरीररेषणेऽन्येषु चाद्भुतोत्पातेष्वमावास्यायां निशायां यत्रापां न शृणुयात्तदग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्त उत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥
परिषेचनान्तं कृत्वाऽभिमृतेभ्य उत्तरया दक्षिणतोऽश्मानं परिधिं दधाति ॥१०॥

इत्यापस्तम्बीये गृह्यप्रश्ने त्रयोविंशः खण्डः ।

समाप्तस्तथाऽष्टमश्च पटलः

समाप्तोऽयमापस्तम्बगृह्यसूत्रपाठः

---

(१) एतदादि सूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तमत इति ख. ङ. पुस्तकयोः ।
(२) इतः परं सूत्रपञ्चकं सूत्रद्वयरूपेण परिगणितं हरदत्तेन इति क. ख. पुस्तकयोः । विभागप्रकारश्चेत्थम्—सिध्यर्थे बभ्रु········पलायेरन् ॥ तस्मिन्निण्वानि········प्रक्षालयीत ॥
(३) इदमग्रिमं च सूत्रमेकसूत्रतया परिगणितं हरदत्तेनेति. क. पुस्तकम् ।

आपस्तम्बगृह्यसूत्राणामकारादिवर्णक्रमेण सूची

* एतच्चिह्नाङ्कितानि सूत्राणि उपाकर्मोत्सर्जनपटलस्थानीत्यवगन्तव्यम् ।

सूत्रान्तर्गत नामों एवं विषयों की अनुक्रमणिका